रामजस-कालिज दिल्ली के भूतपूर्व संस्कृत-विभागाध्यक्ष,

पाणिनीय व्याकरण के अद्वितीय विद्वान्,

स्वर्गीय गुरुवर्य,

श्रद्धेय पं० गंगाराम जी शर्मा, एम०ए०, शास्त्री

की

पुण्य स्मृति में

कृतज्ञतापूर्वक सादर समर्पित

प्राक्कथन

डा० रामगोपाल के इस ग्रन्थ को इसके अधिकारी पाठकों के उपयोगार्थ प्रस्तुत करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता प्रतीत होती है, कारण, भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी में वैदिक भाषासंबंधी विशद जानकारी प्राप्त करा सकने वाले ग्रन्थ के निर्माण करने का यह सर्व-प्रथम और पर्याप्त रूप में सफल प्रयास है। इस ग्रन्थ के महत्त्व का प्रतिपादन करने वाला यह हेतु भारत की भाषाओं में केवल हिन्दी तक ही सीमित न रह कर उक्त सभी भाषाओं पर लागू होता है।

प्राचीन समय में वेद की एक-एक शाखा से विशेषतः सम्बन्धित होने के कारण प्रातिशाख्य कहे जाने वाले ग्रन्थों में अवश्य वैदिक भाषा के स्वरूप का उपवर्णन पाया जाता है, परन्तु एक तो वह उक्त प्रकार से एक-एक शाखा की ही परिधि के अन्दर रहता है, और साथ ही, वह ध्वनि-निरूपण, सन्धि तथा पदपाठ की किन्हीं विशेषताओं के क्षेत्र से आगे नहीं बढ़ पाता। व्याकरण के आदित्य-स्वरूप आचार्य पाणिनि ने अपने शब्दानु-शासन के आठ अध्यायों में भिन्न-भिन्न प्रकरणों के अनुसार वैदिक भाषा की सभी विशेषताओं का उल्लेख करते जाने का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया है। ऐसा होते हुए भी उनकी अष्टाध्यायी को विशुद्ध वैदिक व्याकरण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनके नियम-निरूपण का प्रधान क्षेत्र था उनके समय के विद्वन्-मण्डल के मध्य में व्यवहार पाने वाली संस्कृत भाषा का शिष्ट अर्थात् प्रामाणिक प्रयोग, जिससे किसी भी अंश में भिन्न रूप में पाये जाने वाले वैदिक प्रयोग को उन्होंने व्यत्ययमात्र के रूप में निर्दिष्ट किया है, अपने मुख्य लक्ष्य के रूप में नहीं। उक्त आचार्य के समय से लेकर आज दिन तक जो कुछ भी संस्कृत में अथवा भारत की दूसरी उत्तरकालीन भाषाओं में व्याकरणसम्बन्धी लेख-कार्य हुआ है, उसमें भी प्रथम तो वैदिक भाषा का प्रवेश है ही नहीं, और यदि कहीं-कहीं हुआ भी है, तो वह उन्हीं आचार्य-प्रवर की कही बातों की व्याख्या आदि के रूप में ही हुआ है। इस लिए प्रस्तुत प्रयास अत्यन्त विशिष्ट तथा महनीय है।

प्राक्कथन

इस ग्रन्थ में एक ओर जहां पाणिनीय व्याकरण के साथ अन्य शिक्षा तथा व्याकरणसम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थों की तुलना की गई है, वहां साथ ही आधुनिक पश्चिमी भाषा-शास्त्रियों की अभिमत धारणाओं को भी तुलनात्मक रीति से अंकित कर दिया गया है। इस कारण इस ग्रन्थ के पाठ द्वारा प्राचीन प्रणाली से व्याकरण-शास्त्र के पढ़ने-पढ़ाने के कार्य में लगा हुआ विद्या-रसिक वर्ग भी अपने शास्त्र से सम्बन्धित उक्त आधुनिक पश्चिमी मान्यताओं से भली भाँति परिचित हो सकेगा।

अभी इस ग्रन्थ का प्रथम भाग प्रकाशित हो रहा है, जिस के छः अध्यायों में वैदिक ध्वनि, सन्धि, पद-पाठ, नामिक, समास तथा तद्धित प्रकरणों का समावेश हुआ है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त में जो टिप्पण दिए गए हैं, वे भी बहुत उपयोगी हैं। उनमें तुलना के लिए प्रस्तुत किए गए प्राचीन ग्रन्थों के केवल पते ही नहीं दिए गए, अपितु उनके सूत्रों आदि को भी उद्धृत कर दिया गया है। इससे उक्त मूल ग्रन्थों के साथ मिलान करके अध्ययन करने के लिए पाठकों के पास यदि वे ग्रन्थ नहीं भी होंगे, तो भी उनको इन टिप्पणों के द्वारा पूरा लाभ हो सकेगा। आशा है, वे सब लोग, अध्यापक भी और छात्र भी, जिनके उद्देश्य से इस उत्तम ग्रन्थ के योग्य लेखक ने बड़े परिश्रमपूर्वक इसका निर्माण किया है इससे पूरा-पूरा लाभ उठा सकेंगे।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान
साधु आश्रम, होशियारपुर।
४-८-१९६५

विश्वबन्धु

भूमिका

भारत में वैदिकभाषा के अध्ययन का इतिहास अतिप्राचीन है और वास्तव म भारतीय व्याकरण-शास्त्र का इतिहास वैदिकभाषा के अध्ययन से प्रारम्भ होता है। जब वैदिक मन्त्रों की भाषा दुरूह तथा कठिन प्रतीत होने लगी, तब इनके व्याख्यान का प्रयास प्रारम्भ हुआ। ब्राह्मणों में वैदिक व्याख्यान का आदि रूप उपलब्ध होता है। शाकल्य प्रभृति पदकारों ने वैदिक पदों के विश्लेषण द्वारा इनके व्याख्यान को सरल करने का स्तुत्य प्रयास किया। पदपाठ के आधार पर शौनक, कात्यायन आदि प्रातिशाख्यकारों ने वैदिक पदों के शुद्ध उच्चारण, सन्धि तथा स्वर आदि के सम्बन्ध में नियम बनाये। वैदिक पदों के अर्थबोध के निमित्त निघण्टुनामक वैदिककोष का संकलन किया गया। नैरुक्तों ने अपने-अपने ढंग से निघण्टु में संकलित वैदिक पदों का निर्वचन किया। यास्कीय निरुक्त के अनेक वाक्यों से यह स्पष्ट होता है कि यास्क से पूर्व अनेक प्रसिद्ध नैरुक्त तथा वैयाकरण हो चुके थे और व्याकरणशास्त्र का अध्ययन भी इतनी प्रगति कर चुका था कि निरुक्त उसका पूरक माना जाता था। इसमें सन्देह नहीं कि यास्क के पूर्ववर्ती वैयाकरणों ने वैदिकभाषा की विशेषताओं पर अवश्य ही विचार किया होगा। परन्तु खेद का विषय है कि यास्क के पूर्ववर्ती सभी नैरुक्तों तथा वैयाकरणों का नाम-मात्र अवशिष्ट है। और यास्कीय निरुक्त तथा पाणिनीय व्याकरण के अतिरिक्त इस विषय पर कोई प्राचीन ग्रन्थ नहीं मिलता है। आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, पाणिनीय व्याकरण यास्कीय निरुक्त से अर्वाचीन है। मेरा यह मत है कि पाणिनीय व्याकरण तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य, ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, वाजसनेयि-प्रातिशाख्य तथा अथर्ववेद-प्रातिशाख्य (शौनकीया चतुराध्यायिका) से भी अर्वाचीन है और पाणिनीय सूत्रों के साथ इन प्रातिशाख्यों के नियमों की तुलना से इस मत का समर्थन होता है (दे० प्रथम तथा द्वितीय अध्याय की टिप्पणियां)। परन्तु डा० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित अथर्वप्रातिशाख्य पाणिनीय व्याकरण, वार्तिक तथा पातञ्जल महाभाष्य से भी अर्वाचीन है।

यास्क के समय तक वैदिकभाषा के साथ-साथ तत्कालीन लौकिक संस्कृत के रूपों पर भी तुलनात्मक विचार करने की प्रवृत्ति का उद्भव हो चुका था। अत

एव यास्क अपने निरुक्त में अनेक वार कहता है कि वैदिकभाषा में (अन्वध्यायम्) और तत्कालीन लौकिक संस्कृत (भाषायाम्) में ऐसा प्रयोग-भेद है। तु०—निरुक्त १, ४—"नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्। उभयमन्वध्यायम्।" १, ५—"शश्वदिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। ···। नूनमिति विचिकित्सार्थीयो भाषायाम्। उभयमन्वध्यायम्···।" यद्यपि व्याकरण को मुख्य वेदाङ्ग माना गया है और वैदिक शब्दों की व्याकृति ही इस का मौलिक प्रयोजन रहा होगा, तथापि ज्यों-ज्यों इस शास्त्र का विकास होता गया तत्कालीन लौकिक संस्कृत के रूपों का विवेचन भी इसका अभिन्न अङ्ग बनता गया। यही कारण है कि पाणिनीय व्याकरण में वैदिकभाषा तथा तत्कालीन लौकिक संस्कृत का समन्वित वर्णन किया गया है और इसके अधिकतर सूत्र वैदिक तथा लौकिक संस्कृत दोनों के लिये समान रूप से लागू होते हैं। वास्तव में वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में आधारभूत मौलिक समानता है और केवल विकास-क्रम से उत्पन्न होने वाली विशेषताओं का अन्तर है। उदाहरणार्थ यदि ऋग्वेद और हितोपदेश की भाषाओं की तुलना की जाय, तो इनमें बहुत विशाल अन्तर प्रतीत होता है। परन्तु ऐतिहासिक क्रम से भाषा के विकास का अन्वीक्षण करने से स्पष्ट होता है कि वैदिकभाषा की विशेषताएं धीरे-धीरे क्षीण होती गईं और अन्ततः यह लौकिक संस्कृत की धारा में विलीन हो गई। प्राचीन वैदिकभाषा की शब्दावलि अंशतः भिन्न है और इसमें कुछ ऐसे शब्द मिलते हैं, जो उत्तरकालीन संस्कृत में प्रयुक्त नहीं किये गये हैं। वैदिक नामों और आख्यातों के कुछ ऐसे विरल रूप भी मिलते हैं जो लौकिक संस्कृत में सर्वथा अप्राप्य हैं। ईम् इत्यादि अनेक वैदिक निपातों का लौकिक संस्कृत में कोई प्रयोग नहीं मिलता है। लौकिक संस्कृत के तुमुन् प्रत्यय के अर्थ में वैदिकभाषा में आधा दर्जन से अधिक प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है। लेट् लकार का प्रयोग केवल वैदिकभाषा में मिलता है और अन्य लकारों के प्रयोग के सम्बन्ध में भी वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में विशेष भेद है। उपसर्गों के प्रयोग के विषय में भी वैदिक और लौकिक संस्कृत का अन्तर है। इसी प्रकार सन्धि-नियमों के सम्बन्ध में भी वैदिकभाषा की अपनी कुछ विशेषताएं हैं। उदात्तादि स्वर भी प्राचीन वैदिकभाषा की विशेषता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रूप-रचना तथा अन्य विशेषताओं की दृष्टि से वैदिकभाषा लौकिक संस्कृत से अधिक सम्पन्न है; अर्थात् वैदिकभाषा में प्रायेण वे सब रूप मिलते हैं जो लौकिक संस्कृत में

प्रयुक्त होते हैं, और इनके अतिरिक्त वैदिकभाषा में ऐसे रूप तथा प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं जो लौकिक संस्कृत में अप्राप्य हैं। परन्तु वैदिकभाषा की इन विशेषताओं का उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। ऋग्वेद की भाषा की तुलना में अथर्ववेद, यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों की भाषा में उपर्युक्त वैदिक विशेषताएं न्यूनतर हैं और कल्पसूत्रों की भाषा लगभग लौकिक संस्कृत के समान है। अत एव वैदिक तथा लौकिक संस्कृत की समानताओं पर निरन्तर दृष्टि रखने वाले पाणिनि प्रभृति आचार्य साधारण नियमों का विधान करने के अतिरिक्त वैदिक तथा तत्कालीन लौकिक संस्कृत की विशेषताओं का भी उल्लेख करते हैं। पाणिनीय व्याकरण के जो विशेष नियम केवल तत्कालीन लौकिक संस्कृत के लिये लागू होते हैं, उनके साथ पाणिनि "भाषायाम्" जोड़ देता है (तु० पा० ३,२,१०८; ४,१,६२; ६, १, १८१; ७,२,८८; ८,२,९८) और इसके अतिरिक्त उस समय भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बोली जाने वाली संस्कृत-भाषा की विशेषताओं की ओर भी पाणिनि संकेत करता है; यथा—उदीचाम् (पा० ३,४,१९; ४,१,१३०.१५३. १५७; ६, ३, ३२; ७, २,४६), उशीनरेषु (पा० ४,२,११८), प्राचाम् (पा० ३,१,९०; ४,१,१७.१६०; ४,२,१२०. १२३. १३९; ७,३,१४. २४; ८,२,८६), प्राच्यभरतेषु (पा० २,४,६६; ४,२, ११३; ८,३, ७५), सौवीरेषु (पा० ४, १, १४८), सौवीर-साल्व-प्राक्षु (पा० ४,२,७६)। परन्तु तत्कालीन लौकिक संस्कृत की तुलना में वैदिकभाषा की विशेषताओं का निर्देश करने वाले सूत्र अधिक हैं। जो सूत्र साधारणतया वैदिक (मन्त्रों तथा ब्राह्मणों की) भाषा की विशेषता बतलाते हैं, उनके साथ पाणिनि "छन्दसि" जोड़ देता है। पाणिनीय व्याकरण के सौ से अधिक सूत्रों में "छन्दसि" का प्रयोग मिलता है और दर्जनों सूत्रों में इसकी अनुवृत्ति चलती है। "छन्दसि" के द्वारा सामान्य संकेत करके ही पाणिनि ने वैदिक भाषा के विवेचन को अस्पष्ट नहीं छोड़ा है, अपितु मन्त्रभाग (तु० "मन्त्रे"—पा० २,४, ८०; ३,२, ७१; ३,३,९६; ४, ४, १२५; ६, १, १५१.२१०; ६, ३, १३१; ६, ४, ५३; "मन्त्रेषु"—पा० ६, ४, १४१; "निगमे—पा० ६, ३, ११३; ६,४, ९; ७, २, ६४; ७, ३, ८१; ७, ४, ७४) तथा ब्राह्मणभाग (तु० "ब्राह्मणे"— पा० २, ३, ६०; "अमन्त्रे"—पा० ३, १, ३४) की भाषा की विशेषताओं का पृथक् उल्लेख भी किया है। और पाणिनि ने वैदिक वाङ्मय के विभिन्न ग्रन्थों की भाषा की विशेषताओं का भी स्पष्ट निर्देश किया है; यथा—"ऋचि" (पा०

कौ० के वैदिक-प्रकरणम् तथा स्वर-प्रकरणम् में वैदिकभाषा-सम्बन्धी नियमों का संग्रह करके उन का व्याख्यान किया है। इस में सन्देह नहीं कि भट्टोजिदीक्षित ने काशि० इत्यादि पूर्ववर्ती ग्रन्थों से पूर्ण सहायता ली है, तथापि अनेक स्थलों पर भट्टोजिदीक्षित का व्याख्यान काशि० के व्याख्यान से अधिक समीचीन है (दे० पृ० ३७० पर टि० ७०)। यद्यपि कहीं-कहीं काशि० तथा सि० कौ० दोनों का व्याख्यान स्वीकार्य नहीं है (दे० पृ० ३७९ पर टि० १७४), तथापि इन दोनों में दिये गये व्याख्यान वैदिकभाषा के विद्यार्थियों के लिये उपयोगी हैं। उवट, महीधर तथा सायण प्रभृति वैदिक भाष्यकारों ने अपने-अपने भाष्यों में पाणिनीय व्याकरण के आधार पर वैदिक भाषा की समस्याओं का समाधान किया है और अनेक वैदिक शब्दों के व्याख्यान में सायण आदि का काशि० तथा सि० कौ० से मतभेद है (दे० पृ० ३७९, टि० १७४; पृ० ४६६, टि० ७९; द्वितीय भाग, सप्तम अध्याय की टि० २४५, इत्यादि)। काशि० तथा सि० कौ० के अधिकतर भारतीय संस्करणों में वैदिक उदाहरणों का शुद्ध तथा सप्रमाण रूप देने का प्रयास नहीं किया गया है (उदाहरणार्थ दे० पा० ८, २, ९१ पर काशि० तथा सि० कौ० में वैदिक "व्रीहि" के अशुद्ध रूप; पृ० १५०, टि० २४ ङ)। इन ग्रन्थों के ऐसे संस्करणों की आवश्यकता है जिन में वैदिक उदाहरण शुद्ध रूप में, सस्वर तथा प्रमाण-सहित दिये गये हों।

उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों ने वैदिक भाषा की विशेषताओं का व्याख्यान करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यह नितान्त सत्य है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों के वैदिक भाषा-सम्बन्धी अध्ययनों के सम्यक् ज्ञान के बिना कोई भी व्यक्ति वैदिकभाषा को पूर्णतया जानने का दावा नहीं कर सकता। इस के साथ यह भी मानना पड़ेगा कि वैदिक भाषा सम्बन्धी आधुनिक अनुसन्धानों के ज्ञान के बिना भी वैदिकभाषा का ज्ञान अपूर्ण रहता है और तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण संकीर्ण रहता है।

आधुनिक युग में जब पाश्चात्य विद्वान् वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन में रुचि लेने लगे, तो प्रारम्भ में वे सायणादि के भाष्यों के आधार पर ही वैदिकभाषा को समझने का प्रयास करते थे। और विल्सन द्वारा अंग्रेजी में अनूदित ऋग्वेद इस प्रवृत्ति का परिचायक है। परन्तु कुछ काल तक वैदिक ग्रन्थों का

६, ३, १३३; ७, ४, ३९), "ऋक्षु" (पा० ८, ३, ८), "यजुषि" (पा० ६, १, ११७; ८, ३, १०४), "यजुषि काठके" (पा० ७, ४, ३८)। इस के अतिरिक्त पाणिनि ने वैदिक रूपों के विषय में इतनी सूक्ष्मता से विचार किया है कि वैदिक पाद के अन्त में (तु० पा० ७,१, ५७; चतुर्थ अध्याय टि० २२७) और पाद के मध्य में (तु० पा० ८,३,१०) किस प्रकार के रूप प्रयुक्त होते हैं। ऋग्वेद की भाषा की कुछेक प्रमुख विशेषताओं पर पाणिनि ने विशेष ध्यान दिया है; यथा—पा० ८,२,१०२ में ऋ० १०, १२९, ५ में प्रयुक्त प्लुति के स्वर के सम्बन्ध में (दे० अनु० ४५); पा० ७, १, ४३ में ऋ० ८, २, ३७ के "यजध्वैनम्" के सम्बन्ध में (दे० वैदिक व्याकरण के द्वितीय भाग में अनु० २१८ तथा सप्तम अध्याय की टि० ५८); इस के अतिरिक्त दे० उपर्युक्त "ऋचि" तथा "ऋक्षु"। वैदिक भाषा की जो सूक्ष्म विशेषताएं पाणिनि के सूत्रों द्वारा अस्पृष्ट रह गई थीं, उन में से बहुत सी विशेषताओं की ओर कात्यायन ने अपने वार्तिकों में संकेत किया है (दे० सि० कौ० का "वैदिक-प्रकरणम्")। मैं उन विद्वानों से पूर्णतया सहमत नहीं हूं जो यह मानते हैं कि संस्कृत-भाषा के क्रमिक विकास के कारण उस में जो नये परिवर्तन आ गये थे उन का समाधान करने के लिये वार्तिक बनाये गये। वस्तु-स्थिति यह है कि पाणिनीय व्याकरण वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के शब्दों के सम्बन्ध में उपदेश करने का दावा करता है। अत एव वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के जो शब्द पाणिनि की दृष्टि से ओझल रह गये थे उन के समाधान के लिये कात्यायन ने वार्तिक बनाये और इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण को अधिक उपयोगी बनाया। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में वैदिक भाषा-सम्बन्धी बहुत से सूत्रों तथा वार्तिकों का स्पष्ट व्याख्यान किया है और अनेक मन्त्र अंशतः उद्धृत किये हैं। पा० ३,१,८५ "व्यत्ययो बहुलम्" के व्याख्यान में पतञ्जलि ने एक कारिका भी दी है (दे० वैदिक व्याकरण, द्वितीय भाग, सप्तम अध्याय की टि० ७१)। काशिकावृत्ति ने सूत्र, वार्तिक तथा महाभाष्य के आधार पर वैदिक भाषा-सम्बन्धी नियमों का विशद व्याख्यान किया है और वैदिक वाङ्मय से उपयुक्त उदाहरण उद्धृत किये हैं। परन्तु काशि० में उद्धृत कतिपय वैदिक उदाहरणों का स्रोत शून्य है; यथा—पा० ७, १, १०— "बहुलं छन्दसि" पर काशि० कहती है "अत इत्युक्तमनतोऽपि भवति–नद्यैरिति"। वर्तमान वैदिक वाङ्मय में "नद्यैः" रूप नहीं मिलता है। भट्टोजिदीक्षित ने सि०

कौ० के वैदिक-प्रकरणम् तथा स्वर-प्रकरणम् में वैदिकभाषा-सम्बन्धी नियमों का संग्रह करके उन का व्याख्यान किया है। इस में सन्देह नहीं कि भट्टोजिदीक्षित ने काशि० इत्यादि पूर्ववर्ती ग्रन्थों से पूर्ण सहायता ली है, तथापि अनेक स्थलों पर भट्टोजिदीक्षित का व्याख्यान काशि० के व्याख्यान से अधिक समीचीन है (दे० पृ० ३७० पर टि० ७०)। यद्यपि कहीं-कहीं काशि० तथा सि० कौ० दोनों का व्याख्यान स्वीकार्य नहीं है (दे० पृ० ३७९ पर टि० १७४), तथापि इन दोनों में दिये गये व्याख्यान वैदिकभाषा के विद्यार्थियों के लिये उपयोगी हैं। उवट, महीधर तथा सायण प्रभृति वैदिक भाष्यकारों ने अपने-अपने भाष्यों में पाणिनीय व्याकरण के आधार पर वैदिक भाषा की समस्याओं का समाधान किया है और अनेक वैदिक शब्दों के व्याख्यान में सायण आदि का काशि० तथा सि० कौ० से मतभेद है (दे० पृ० ३७९, टि० १७४; पृ० ४६६, टि० ७९; द्वितीय भाग, सप्तम अध्याय की टि० २४५, इत्यादि)। काशि० तथा सि० कौ० के अधिकतर भारतीय संस्करणों में वैदिक उदाहरणों का शुद्ध तथा सप्रमाण रूप देने का प्रयास नहीं किया गया है (उदाहरणार्थ दे० पा० ८, २, ९१ पर काशि० तथा सि० कौ० में वैदिक "व्रीहि" के अशुद्ध रूप; पृ० १५०, टि० २४ ङ)। इन ग्रन्थों के ऐसे संस्करणों की आवश्यकता है जिन में वैदिक उदाहरण शुद्ध रूप में, सस्वर तथा प्रमाण-सहित दिये गये हों।

उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों ने वैदिक भाषा की विशेषताओं का व्याख्यान करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यह नितान्त सत्य है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों के वैदिक भाषा-सम्बन्धी अध्ययनों के सम्यक् ज्ञान के विना कोई भी व्यक्ति वैदिकभाषा को पूर्णतया जानने का दावा नहीं कर सकता। इस के साथ यह भी मानना पड़ेगा कि वैदिक भाषा सम्बन्धी आधुनिक अनुसन्धानों के ज्ञान के विना भी वैदिकभाषा का ज्ञान अपूर्ण रहता है और तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण संकीर्ण रहता है।

आधुनिक युग में जब पाश्चात्य विद्वान् वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन में रुचि लेने लगे, तो प्रारम्भ में वे सायणादि के भाष्यों के आधार पर ही वैदिकभाषा को समझने का प्रयास करते थे। और विल्सन द्वारा अंग्रेजी में अनूदित ऋग्वेद इस प्रवृत्ति का परिचायक है। परन्तु कुछ काल तक वैदिक ग्रन्थों का

अनुशीलन करने के पश्चात् योरोपीय संस्कृतज्ञों को सायणादि भारतीय भाष्यकारों के व्याख्यान से असन्तोष होने लगा। और वे सायणादि भाष्यकारों की इस पद्धति को दोषपूर्ण समझने लगे कि वैदिकभाषा की अधिकतर गुत्थियों को सुलझाने के लिये "व्यत्ययो बहुलम्", "छन्दसि बहुलम्", "वा छन्दसि" इत्यादि पाणिनीय सूत्रों का अन्धाधुन्ध प्रयोग किया जाता है और स्पष्ट अर्थ न सूझने पर एक ही शब्द के अनेक वैकल्पिक तथा काल्पनिक अर्थ सुझा दिये जाते हैं। ऐसे व्याख्यानों से तो यह सिद्ध होगा कि वैदिकभाषा में कोई निश्चित नियम नहीं हैं और वैदिक मन्त्रों का कोई निश्चित अर्थ नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों ने यह सिद्धान्त रक्खा कि अन्य भाषाओं की भांति वैदिकभाषा में भी निश्चित नियम हैं और वैदिकमन्त्रों का निश्चित अर्थ है, जिसका निर्णय स्वयं वेद की सहायता से किया जा सकता है और बाह्य भाष्यों के आधार पर नहीं। अत एव रॉट प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने यह अभिमत प्रस्तुत किया कि वैदिकभाषा को समझने के लिये सायण प्रभृति भारतीय भाष्यकारों का अन्धानुकरण व्यर्थ है और इसके लिये वैदिकभाषा के स्वतन्त्र अध्ययन की आवश्यकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये पाश्चात्य विद्वानों ने अन्तःसाक्ष्य के आधार पर वैदिकभाषा का स्वतन्त्र अनुशीलन आरम्भ किया। और इस पद्धति के अनुसार रॉट ने वैदिकभाषा के अध्ययन में जो महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है वह "St. Petersburg Wörterbuch" (S P W.; दे० संक्षेप-सूची) के रूप में चिर-स्मरणीय रहेगा। इस ग्रन्थ ने वैदिकभाषा के अध्ययन को एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया। इसमें प्रत्येक वैदिक शब्द का तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। इस कोष में लौकिक संस्कृत के शब्दों का विवेचन बोट्लिंक द्वारा किया गया है। रॉट के पश्चात् अनेक आधुनिक विद्वानों ने वैदिकभाषा के विभिन्न पक्षों का स्वतन्त्र तथा सुव्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया है। ग्रासमैन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "Wörterbuch Zum Rigveda" (W Z R.) में ऋग्वेद के प्रत्येक शब्द के प्रयोग, अर्थ तथा व्याकरणविषयक वैशिष्ट्य पर विचार किया है। वैदिकभाषा के अध्ययन के इतिहास में यह अनुपम ग्रन्थ है और ऋग्वेद से भिन्न वैदिकग्रन्थों के शब्दों के व्याख्यान के लिये भी ऐसे कोष की परम आवश्यकता है। ह्विट्निक ने "Das Altindische Verbum" (Alt. V.) में और अवरी ने "Verb-Inflection in Sanskrit" (Avery, J. A. O. S., Vol. X, pp. 219–

324) में वैदिकभाषा के आख्यातों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान किया है। डेल्ब्रिक प्रणीत "Altindische Syntax" (Alt. S.) वैदिकभाषा की वाक्य-रचना पर प्रकाश डालता है। वैदिकभाषा में प्रयुक्त नामिक रूपों के सम्बन्ध में लैन्मैन का लेख "Noun-Inflection in the Veda" (Lanman, J. A. O. S., Vol. X, pp. 325-602) विशेषतया उल्लेखनीय है। ह्विट्ने ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "Sanskrit Grammar" (Skt. Gr.) में लौकिक संस्कृत के साथ-साथ वैदिकभाषा के नियमों और विशेषताओं का सुव्यवस्थित तथा तथ्य-युक्त परिचय दिया है और इस व्याकरण के परिशिष्ट-रूपी पृथक् पुस्तक "The Roots, Verb-forms and Primary Derivatives of the Sanskrit Language" (Roots) में वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के धातु-रूपों का प्रामाणिक वर्णन किया है। ओल्डनबर्ग ने "Die Hymnen des Rigveda. Metrische und textgeschichtliche Prolegomena" (Prolegomena) तथा "Rigveda. Textkritische und exegetische Noten" (Rig. Noten) में ऋग्वेद के छन्द तथा भाषा की प्रमुख विशेषताओं पर विद्वत्तापूर्ण विचार किया है। गैल्डनर तथा पिशल ने "Vedische Studien" (Ved. St.) में चुने हुए कठिन वैदिक शब्दों के अर्थों पर अनुसन्धान किया है। वाकरनागल ने अपने विशाल ग्रन्थ "Altindische Grammatik" (Alt. Gr.) में वैदिक तथा लौकिक संस्कृत का ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। मोनियर-विलियम्स ने अपने सुविख्यात कोष " A Sanskrit-English Dictionary" (MWD.) में वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के शब्दों के सम्बन्ध में प्रामाणिक तथ्य प्रस्तुत किये हैं और महत्त्वपूर्ण शब्दों के अर्थों के विषय में पाश्चात्य तथा प्राच्य पण्डितों के मतों का संक्षिप्त निर्देश किया है। आर्नोल्ड ने "Vedic Metre" (Ved. Mtr.) में वैदिक छन्दों का सूक्ष्म अध्ययन किया है। डा० विश्वबन्धु-कृत "वैदिक-पदानुक्रम-कोषः" में सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के पदों का निश्चित परिचय दिया गया है और टिप्पणियों में महत्त्वपूर्ण पदों का विवेचन भी किया गया है। वैदिक-भाषा-सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए यह कोष परम उपयोगी है। उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त अनेक आधुनिक विद्वानों ने वैदिक भाषा की विशेषताओं का गहन अनुशीलन करके महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान किये हैं। परन्तु यहां पर उन सब का उल्लेख असम्भव है।

भूमिका

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक प्रणीत संस्कृत-व्याकरणों में वैदिक तथा लौकिक संस्कृत का परिचय एक ही ग्रन्थ में साथ-साथ दिया जाता रहा। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वैदिकभाषा के लिये स्वतन्त्र रूप से पृथक् व्याकरण लिखने की प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ। और १९१० ई० में मैक्डानल-प्रणीत "Vedic Grammar" (Ved. Gr.) के प्रकाशन से इस दिशा में प्रथम प्रयास का श्रीगणेश हुआ। इस के छः वर्ष पश्चात् १९१६ ई० में मैक्डानल के द्वितीय ग्रन्थ "A Vedic Grammar for Students" (Ved. Gr. Stu.) का प्रकाशन हुआ। यद्यपि मैक्डानल का द्वितीय ग्रन्थ अधिकांश में प्रथम ग्रन्थ का संक्षेप-मात्र है, तथापि विद्वान् लेखक ने द्वितीय ग्रन्थ में उपयोगी परिवर्तन तथा परिवर्धन भी किये हैं और कुछ प्रकरण ऐसे भी जोड़े हैं जो प्रथम ग्रन्थ में नहीं थे (यथा—वाक्यरचना और छन्द)। १९५२ ई० में रैनू द्वारा प्रणीत "Grammaire de la Langue Védique" (Gr. Lg. Ved.) का प्रकाशन हुआ। इन व्याकरणों में वैदिक-भाषा-सम्बन्धी आधुनिक अनुसन्धानों का सारांश दिया गया है। अंग्रेजी भाषा जानने वाले वैदिक विद्यार्थियों में मैक्डानल के दोनों व्याकरण गत पचास वर्षों से सर्वप्रिय रहे हैं। परन्तु इन व्याकरणों में वैदिक-भाषा का सारा वर्णन पाश्चात्य पद्धति से किया गया है और प्राचीन भारतीय विद्वानों ने वैदिक-भाषा के वर्णन में जो महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है उस की पूर्ण उपेक्षा की गई है। इस का परिणाम यह है कि जिन विद्यार्थियों का ज्ञान इन व्याकरणों तक सीमित है वे वैदिक भाषा की विशेषताओं से तो परिचित हो जाते हैं, परन्तु पदपाठ, प्रातिशाख्यों तथा सायणादि के वैदिक भाष्यों को समझने में उन्हें अवश्य काठिन्य होता है। अत एव एक ऐसे वैदिक व्याकरण की आवश्यकता थी जिस में पद-पाठ, पाणिनीय व्याकरण, प्रातिशाख्यों तथा वैदिकभाष्यों के मतों के साथ-साथ आधुनिक अनुसन्धानों का समन्वित सार प्रस्तुत किया गया हो, ताकि ऐसे वैदिक व्याकरण की सहायता से विद्यार्थी वैदिक भाषा-सम्बन्धी प्राचीन भारतीय मत तथा आधुनिक अनुसन्धानों से परिचित हो सके। इसी अभाव की पूर्ति के लिये प्रस्तुत वैदिक व्याकरण की रचना का संकल्प किया गया था और उसका प्रथम भाग आज विद्वद्वृन्द के कर-कमलों में समर्पित है। आशा है कि भगवत्कृपा और उदार, निष्पक्ष तथा गुणग्राही मनीषियों के आशीर्वाद से द्वितीय भाग भी शीघ्र प्रकाशित हो सकेगा।

ह्विटने ने अपने संस्कृत-व्याकरण की भूमिका में लिखा है कि प्रत्येक व्याकरण अवश्य ही अधिकांश में पूर्ववर्ती व्याकरणों पर आधारित होता है।

प्रस्तुत वैदिक व्याकरण को इस साधारण नियम का अपवाद तो नहीं माना जा सकता, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इस व्याकरण की रचना में पूर्ववर्ती व्याकरणों से पूर्ण सहायता लेने के साथ-साथ वैदिक कोषों, अनुसन्धानात्मक लेखों, प्रातिशाख्यों, वैदिकभाष्यों तथा मूल वैदिक ग्रन्थों का पूर्ण उपयोग किया गया है। इस व्याकरण में सभी उदाहरणों को मूल वैदिक ग्रन्थों से मिलाकर उद्धृत किया गया है और जहां कहीं पूर्ववर्ती व्याकरणों के उदाहरणों या नियमों से मेरा मत-भेद है, वहां पर इस बात की ओर संकेत किया गया है; यथा—पृ० ४८, ४९, ७६, १४६, १५९, १६५, १६६, १६८, १६९, ३७६, ३८२ इत्यादि पर मैकडानल के वैदिक व्याकरण के कतिपय ऐसे स्थलों की ओर संकेत किया गया है, जिन में मेरे मतानुसार संशोधन की आवश्यकता है। वैदिक व्याकरण में वैदिक पदों के अनेक ऐसे उदाहरण दिये गये हैं जो पूर्ववर्ती वैदिक व्याकरणों में नहीं दिये गये थे; यथा— एतद्, एन, अन्य, इतर तथा सर्व इत्यादि सर्वनामों के रूपों की तुलना कीजिए। परन्तु पूर्ववर्ती व्याकरणों में उद्धृत जिन वैदिक उदाहरणों का मूल स्रोत मुझे नहीं मिला है उन के सम्बन्ध में मैंने अपनी असमर्थता प्रकट की है; यथा दे०— पृ० ३७२ टि० ९०, पृ० ३९५ टि० २९४, पृ० ३८९ टि० २३८, पृ० ३७३ टि० १०७, पृ० ३६६ टि० ३५-३६, पृ० १६३ टि० ६७ ग, पृ० ३९७ टि० ३००। जो वैदिक रूप बहुत से ग्रन्थों में मिलते हैं उन के सामने ग्रन्थ-नाम का निर्देश नहीं किया गया है। परन्तु जो रूप वैदिकभाषा में विरल हैं या किसी एक ही ग्रन्थ में मिलते हैं उनके सामने कोष्ठक में ग्रन्थ-नाम का निर्देश किया गया है; यथा— पृ० ३४० युवोः (ऋ०), पृ० २४१ युवे (अ० ७,१०९,५), पृ० ३३९ युष्माः (वा० सं० १,१३; ११,४७), पृ० २५४ द्रोष्णः (शत० ब्रा० ३, ८, ३, १७)। जिस किसी वैदिक उदाहरण के व्याकरण-सम्बन्धी व्याख्यान के विषय में मतभेद है, उस का संक्षिप्त परिचय टिप्पणियों में निष्पक्ष रूप से दिया गया है और आवश्यकतानुसार लेखक ने अपना मत भी व्यक्त किया है।

पाठकों की सुविधा के लिये अंग्रेजी, जर्मन तथा फ्रेञ्च भाषा में लिखित ग्रन्थों का स्थल-निर्देश पाश्चात्य-पद्धति के अनुसार रोमन-लिपि में किया गया है

और ग्रन्थों के नाम तथा संक्षेप भी रोमन-लिपि में दिये गये हैं। ऋग्वेदादि जो वैदिक ग्रन्थ स्वरांकित हैं उनसे उद्धृत पद स्वर-चिह्नों के साथ दिये गये हैं और इस व्याकरण में हम ने स्वर-चिह्न लगाने की उस पद्धति का ग्रहण किया है जो ऋ०, अ०, वा० सं०, तै० सं० तथा तै० ब्रा० में प्रचलित है अर्थात् उदात्त के लिये कोई स्वर-चिह्न नहीं लगाया जाता है और यथानियम अनुदात्त तथा स्वरित का चिह्न प्रयुक्त किया जाता है (कहीं-कहीं अनुदात्त का चिह्न भी नहीं लगाया जाता है इत्यादि विस्तृत नियम वैदिक व्याकरण के "स्वर-प्रकरणम्" में मिलेंगे)। अत एव सा०, मै० सं०, का० सं० तथा शत० ब्रा० से उद्धृत पदों को भी उपर्युक्त ऋग्वेदादि में प्रचलित पद्धति के अनुसार स्वरांकित किया गया है, क्योंकि ऋग्वेदादि में प्रचलित पद्धति वैदिक वाङ्मय के अधिकतम ग्रन्थों में अपनायी गई है। इसलिये प्रधानता के आधार पर हम ने इस पद्धति का ग्रहण किया है और आधुनिक विद्वानों के पथ का अनुसरण नहीं किया है जिसके अनुसार केवल उदात्त तथा स्वतन्त्र स्वरित (Independent Svarita) का चिह्न लगाया जाता है। इस ग्रन्थ में वैदिक पदों का स्वर मूल वैदिक प्रयोग के अनुसार ही दिखलाया गया है; उदाहरणार्थ यदि किसी सम्बोधन या आख्यात पद के सभी वैदिक प्रयोग सर्वानुदात्त हैं तो उन्हें सर्वानुदात्त ही दिखलाया गया है, यथा पृ० ३११ पर रुथ्या, रुथ्युः। वैदिक व्याकरण में प्रयुक्त महत्त्वपूर्ण पदों की अनुक्रमणी सम्पूर्ण व्याकरण के अन्त में जोड़ी जायगी।

इस बात पर पूरा ध्यान दिया गया है कि मुद्रण की कोई अशुद्धि न रहने पाये और यह विशेष प्रसन्नता तथा गौरव का विषय है कि इतने स्वर-चिह्नों, तथा अङ्कों के होते हुए भी मुद्रण की अशुद्धियां लगभग नगण्य हैं। बीस के लगभग जो अशुद्धियां रह गई हैं उनका शुद्धि-पत्र जोड़ दिया गया है। परन्तु मुद्रण के समय मशीन में ए, ऐ आदि की मात्राएं तथा हलन्त-चिह्नों के टूटने से जो शब्द कहीं-कहीं अंशतः विकृत हो गये हैं उन्हें अशुद्धियों में नहीं गिनाया गया है, क्योंकि पाठकों को इनसे कोई भ्रान्ति नहीं हो सकती। विश्वेश्वरानन्द-वैदिक-शोध-संस्थान-प्रेस तथा पं० देवदत्त शास्त्री ने इस ग्रन्थ के शुद्ध मुद्रण में मुझे सराहनीय सहयोग दिया है जिसके लिये मैं इनका आभारी हूं।

जिन विद्वानों के ग्रन्थों तथा लेखों से इस ग्रन्थ की रचना में सहायता ली गई है, टिप्पणियों में उन सबका यथावत् उल्लेख किया गया है और उन

सबके प्रति मैं पुनः अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूं। डा० विश्वबन्धु के प्रति विशेष आभार का प्रदर्शन करना मैं अपना सुखद कर्तव्य समझता हूं, क्योंकि इन्होंने अपने सुविख्यात "वैदिकपदानुक्रमकोषः" के द्वारा दिये गये साहाय्य के अतिरिक्त वैदिक व्याकरण के लिये प्राक्कथन लिख कर मुझे विशेषतया अनुगृहीत किया है। अन्ततः मैं अपने श्रद्धेय गुरुवर्य स्वर्गीय पं० गंगाराम शर्मा तथा स्वर्गीय डा० लक्ष्मीधर के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ जिनके अमर आशीर्वाद से इस ग्रन्थ की रचना सम्भव हो सकी है। पं० गंगाराम शर्मा ने जिस स्नेह तथा सौहार्द से मुझे पाणिनीय व्याकरण के मर्म समझाये उसके बिना संस्कृतभाषा का मौलिक ज्ञान असम्भव था। भाषा के मौलिक ज्ञान के अभाव में विद्यार्थी प्रायः अनुवादों के अनुचर बने रहते हैं। डा० लक्ष्मीधर ने जिस ऐतिहासिक, आलोचनात्मक, तुलनात्मक तथा निष्पक्ष दृष्टिकोण का उद्बोधक दर्शन प्रदान किया उसके बिना वैदिक व्याकरण का वर्तमान रूप असम्भव था। दिल्ली-विश्वविद्यालय के संस्कृत एम० ए० में लब्धांकों का नया रेकार्ड स्थापित करने और पं० रघुवरदयाल-स्मारक-स्वर्णपदक तथा पं० गौरीशंकर-जेतली-स्वर्ण-पदक प्राप्त करने का जो उत्कर्ष मुझे प्राप्त हुआ उसका श्रेय श्रद्धेय गुरुवर्यों के प्रेरणापूर्ण वैदुष्य तथा विद्यावर्धक प्रोत्साहन को ही है। दिल्ली-विश्वविद्यालय के आल-इण्डिया-रिसर्च-फैलो के रूप में डा० लक्ष्मीधर के पुनीत चरणों में बैठ कर दो वर्ष तक इनकी ज्ञानधारा से तृप्ति प्राप्त करने का जो अनुपम अवसर प्राप्त हुआ और इनके विद्वत्तापूर्ण पथ-प्रदर्शन के फलस्वरूप दिल्ली-विश्वविद्यालय की प्रथम संस्कृत पी-एच० डी० उपाधि प्राप्त करने का जो गौरवपूर्ण सुयोग मिला उसके लिये मैं सर्वदा कृतज्ञ रहूंगा।

इस ग्रन्थ में सुधार के प्रत्येक सुझाव का मैं सहर्ष स्वागत करूंगा और आगामी संस्करण में सभी उपयोगी सुझावों के लिये विद्वानों के प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन करूंगा।

पंजाब-विश्वविद्यालय,

चण्डीगढ़.

१ जून, १९६५.

रामगोपाल

विषय-सूची

संक्षेप-सूची

अ०=अथर्ववेदसंहिता (शौनकशाखा)
अदा०=अदादिगण
अनु०=अनुच्छेद (Paragraph)
अ० प्रा०=अथर्ववेदप्रातिशाख्य (ह्विटने-सम्पादित)
अ० प्रा० (सूर्यकान्त) = अथर्वप्रातिशाख्य (डा० सूर्यकान्त-सम्पादित)
अमो० शि०=अमोघानन्दिनी शिक्षा
अव्य०=अव्यय
अस०=अव्ययीभावसमास
आ०=आत्मनेपद
आप० गृ० सू०=आपस्तम्बगृह्यसूत्र
आप० ध० सू०=आपस्तम्बधर्मसूत्र
आप० श्रौ० सू०=आपस्तम्बश्रौतसूत्र
आलि०=आशीर्लिङ्
आश्व० गृ० सू०=आश्वलायनगृह्यसूत्र
आश्व० श्रौ० सू०=आश्वलायनश्रौतसूत्र
इ० यो०=इण्डो-योरोपीय (मूलभाषा)
उ० या उ० पु०=उत्तम पुरुष
उप०= उपनिषद्
उप० स०=उपपदसमास
ऋ०=ऋग्वेदसंहिता
ऋ० प्रा०=ऋग्वेदप्रातिशाख्य
ए०=एकवचन
ऐ० आ०=ऐतरेयारण्यक
ऐ० उप०=ऐतरेयोपनिषद्
ऐ० ब्रा०=ऐतरेयब्राह्मण
क० प्र०=कर्मप्रवचनीय
कपि० सं०=कपिष्ठलसंहिता
कवा०=कर्मवाच्य
कान०=कानजन्त
काशि०=काशिकावृत्ति
का० शि०=कात्यायनी शिक्षा
का० श्रौ०=कात्यायनश्रौतसूत्र
का० सं०=काठकसंहिता
के० शि०=केशवी शिक्षा
कौ० उप०=कौषीतकि उपनिषद्
कौ० ब्रा०=कौषीतकि-ब्राह्मण
कौशि०=कौशिकसूत्र
क्रि०=क्रियापद
क्रि० वि०=क्रियाविशेषण
क्र्या०=क्र्यादिगण
क्त०=क्तवन्त
खि०=खिलसूक्त
ग० स०=गतिसमास
गृ० सू०=गृह्यसूत्र
गो० गृ० सू०=गोभिलगृह्यसूत्र
गो० ब्रा०=गोपथब्राह्मण
गौ० ध० सू०= गौतमधर्मसूत्र
च०=चतुर्थी विभक्ति
चु०=चुरादिगण
छा० उप०=छान्दोग्योपनिषद्
जु०=जुहोत्यादिगण
जै० ब्रा०=जैमिनीयब्राह्मण
जै० सं०=जैमिनीयसंहिता
टि०=टिप्पणी

तना०=तनादिगण
त० बो०=तत्त्वबोधिनी टीका (सि० कौ० पर)
त० स०=तत्पुरुषसमास
तु०=तुलना कीजिये
तुदा०=तुदादिगण
तृ०=तृतीया विभक्ति
तै० आ०=तैत्तिरीयारण्यक
तै० प्रा०=तैत्तिरीयप्रातिशाख्य
तै० ब्रा०=तैत्तिरीयब्राह्मण
तै० सं=तैत्तिरीयसंहिता
दि०=दिवादिगण
दे०=देखिये
द्वि०=द्विवचन
द्विती०=द्वितीया विभक्ति
ध० सू०=धर्मसूत्र
धापा०= पाणिनीयधातुपाठ
न०=नपुंसकलिङ्ग
ना०=नामपद
ना० धा०=नामधातु
नि०=निपात
प०=परस्मैपद
पं०=पंचमी विभक्ति
पं० ब्रा०=पंचविंशब्राह्मण
पपा०=पदपाठ
पा०=पाणिनीयाष्टाध्यायी
पाभे०=पाठभेद
पा० शि०=पाणिनीयशिक्षा
पुं०=पुँल्लिङ्ग
पृ०=पृष्ठ
पै० सं०=पैप्लादसंहिता
प्रथ०=प्रथमा विभक्ति
प्र० या प्र० पु०=प्रथम पुरुष
प्र० सू०=प्रतिज्ञासूत्र
प्रा० शि०=प्रातिशाख्यशिक्षा
ब० या बहु०=बहुवचन
बस०=बहुव्रीहिसमास
बृ० उप०=बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ० दे०=बृहद्देवता
बौ० गृ० सू०=बौधायनगृह्यसूत्र
बौ० श्रौ० सू०=बौधायनश्रौतसूत्र
ब्रा०=ब्राह्मणग्रन्थ
भा० गृ० सू०=भारद्वाजगृह्यसूत्र
भा० श्रौ० सू०=भारद्वाजश्रौतसूत्र
भा० वि०=भाषाविज्ञान (डा० मंगलदेव शास्त्रिकृत)
भ्वा०=भ्वादिगण
म० या म० पु०=मध्यमपुरुष
महाभा०=महाभाष्य (पातञ्जल)
मा० गृ० सू०=मानवगृह्यसूत्र
मा० शि०=माण्डूकीशिक्षा
मा० श्रौ० सू०=मानवश्रौतसूत्र
मु० उप०=मुण्डकोपनिषद्
मै० सं०=मैत्रायणीसंहिता
य०=यजुर्वेद
या० शि०=याज्ञवल्क्यशिक्षा
रुधा०=रुधादिगण
ल० शि०=लघुमाध्यन्दिनीयशिक्षा
ल० शे०=लघुशब्देन्दुशेखर
ला० श्रौ०=लाट्यायनश्रौतसूत्र
लि०=लिट्
लु०=लुङ्

लृ०=लृट्
लें०=लेट्
लो०=लोट्
लो० शि०=लोमशी शिक्षा
व० प्र० शि०=वर्णरत्नप्रदीपिका शिक्षा
वा० प्रा०=वाजसनेयिप्रातिशाख्य
वा० सं०=वाजसनेयिसंहिता(माध्यन्दिनी)
वा० सं० का०=वाजसनेयिसंहिता (काण्व शाखा)
वि०=विशेषण
विमू० या वि० मू०=विधिमूलक लकार (Injunctive)
विलि०=विधिलिङ्
वै०=वैदिक
वै० गृ० सू०=वैखानसगृह्यसूत्र
वै० प० को०=वैदिकपदानुक्रमकोषः (डा० विश्वबन्धुकृत)
वै० स्व० मी०=वैदिकस्वरमीमांसा (पं० युधिष्ठिरमीमांसककृत)
शत्र०=शत्रन्त
श० ब्रा० या शत० ब्रा०=शतपथब्राह्मण
शां० आ०=शांखायनारण्यक
शां० गृ० सू०=शांखायनगृह्यसूत्र
शां० श्रौ० सू०=शांखायनश्रौतसूत्र
शान०=शानजन्त या शाननन्त
शि० सं=शिक्षासंग्रह (पं० युगलकिशोर व्याससम्पादित)
श्रौ० सू०=श्रौतसूत्र
श्वे० उप०=श्वेताश्वतरोपनिषद्
ष०=षष्ठी विभक्ति
ष० ब्रा०=षड्विंशब्राह्मण
सं०=संहिता
स०=सप्तमी विभक्ति
सना०=सर्वनाम
स० श्रौ० सू०=सत्याषाढश्रौतसूत्र
सम्बो०=सम्बोधन
सा०=सामवेद
सि० कौ०=वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (बालमनोरमातत्त्वबोधिनीटीका-सहित; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली)।
स्त्री०=स्त्रीलिङ्ग
स्वा०=स्वादिगण
हि० गृ० सू०=हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र

AIOC. = All-India Oriental Conference (Proceedings).
Alt. S. = Altindische Syntax von B. Delbrück, Halle, 1888.
Alt. V. = Das Altindische Verbum von B. Delbrück, Halle, 1874.
A. Prat. or Pr. = The Atharva-Veda-Prātiśākhya translated by W. D. Whitney (JAOS., Vol. VII)
Arm. = Armenian.
Av. = Avesta.
Avery = Verb-Inflection in Sanskrit by J. Avery (JAOS. Vol. X, pp. 219–324).

Critical Studies = Critical Studies in the phonetic observations of Indian grammarians by S. Varma, London, 1929.

f. n. = footnote.

Germ. = German.

Gk. = Greek.

Goth. = Gothic.

Gr. Lg. Ved. = Grammaire de la Langue Vèdique par L. Renou, Paris, 1952.

H. S. L. = A History of Sanskrit Literature by A. A. Macdonell, Fifth Edition Delhi, 1958.

Hitt. = Hittite.

HOS. = Harvard Oriental Series.

Ind. Stu. = Indische Studien, herausgegeben von A Weber.

I-Ir. = Indo-Iranian.

Ind. V. K. = India of Vedic Kalpa Sūtras by Ram Gopal, Delhi, 1959.

JAOS. = Journal of the American Oriental Society.

Lat. = Latin.

Ling. Intr. = Linguistic Introduction to Sanskrit by B K. Ghosh, Calcutta, 1937.

Lith. = Lithunian.

MWD. = A Sanskrit-English Dictionary by Sir Monier Monier-Williams, Reprint of IInd Edition Oxford, 1956.

N. = Note.

N. I. V. = Noun-Inflection in the Veda by C. R. Lanman (JAOS., Vol. X, pp. 325-601).

O. Sl. = Old Slavonic.

N. V. N. = Notes on Vedic Noun-Inflection by F. B. J. Kuiper.

p. = page.

Phon. An. Ind = Phonetics in ancient India by W. S. Allen, Oxford, 1953.

Prolegomena = Die Hymnen des Rigveda, I. Metrische und textgeschichtliche Prolegomena von H. Oldenberg, Berlin, 1888.

Rig. Noten = Rigveda. Textkritische und exegetische Noten von H. Oldenberg, Berlin, 1909–12.

Roots = The Roots, Verb-Forms and Primary Derivatives of the Sanskrit Language by W. D. Whitney, Reprint Delhi, 1963.

SBE. = Sacred Books of the East.

Skt. Gr. = Sanskrit Grammar by W. D. Whitney, Seventh Issue, 1950.

Skt. Lg. = The Sanskrit Language by T. Burrow, London, 1955.

SPW. = Sanskrit-Wörterbuch von O. Böhtlingk und R. Roth, St. Petersburg, 1852–1875 (popularly called St. Petersburg Wörterbuch).

Tait. Prat. or Pr. = The Taittirīya-Prātiśākhya translated by W. D. Whitney (JAOS., Vol. IX).

Ved. Gr. = Vedic Grammar by A. A. Macdonell, Strassburg, 1910.

Ved. Gr. Stu. = A Vedic Grammar for Students by A. A. Macdonell, Oxford, 1916.

Ved. Mtr. = Vedic Metre in its historical development by E. V. Arnold, Cambridge, 1905.

Ved. Stu. = Vedische Studien von R. Pischel und K. Geldner, Stuttgart, 1889–1901.

Ved. Skt. S. = Vedische und Sanskrit–Syntax von J. Speyer, Strassburg, 1896.

W Z R. = Wörterbuch Zum Rigveda von H. Grassmann, Leipzig, 1873.

Zd. = Zend.

ZDMG. = Zeitschrift der Deutschen Morgenländischen Gesellschaft.

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७६	३ (नीचे से)	अनुसार	अनुस्वार
८३	१८	भुवन्तूक्ष्णं	भुवन्तूक्ष्णंः
८४	७	इन्द्र	इन्द्रं
११७	१२	देवर्ष्विट्	देवीष्विट्
१२२	१९	द्रूडाश्	दूडाश्
१३१	१६	तन्वंम्	तुन्वंम्
१३१	१८	विभ्वंम्	त्रिभ्वंम्
१९९	८	प्र० ए०	प्रथ० ए०
२०५	१३	टि० ९०	अनु० ९०
२०६	२ (नीचे से)	इति मीळहुषे	इति मीळहुषे
२१६	८ (नीचे से)	द्यावापृथिवी	द्यावापृथिवी
२२०	१२	अक्ताङ्ग	अशक्ताङ्ग
२२१	२	अजादि । असर्वनामस्थान	अजादि असर्वनामस्थान
२२५	२ (नीचे से)	उरु-व्यञ्च्	उरु-व्यञ्च्
२३२	१०	द्वि०	द्विती०
२३४	४	पादः	पार्दः
२३५	९	द्वि०	द्विती०
२३६	१२	उषर्बुध	उषर्बुधे
२८७	१४	प्रियाणाम्	प्रियाणाम्
२९३	१३	स० ए०	स० ब०
३१६	११	प्र० ए०	प्रथ० ए०
३१९	९	प्रातिपादिकों	प्रातिपदिकों

प्रथमोऽध्यायः

ध्वनि-प्रकरणम्

१. वर्ण-समाम्नायः (Alphabet)

१. वैदिक भाषा के वर्ण-समाम्नाय में बावन ऐसे वर्ण मिलते हैं जिन का लिखित आकार निश्चित है, और इन के अतिरिक्त भी कुछ विशिष्ट ध्वनियां हैं जिन का पूर्ण वर्णन नीचे किया गया है[१]। इस सम्बन्ध में यह तथ्य विशेषतया उल्लेखनीय है कि ळ, ळ्ह को छोड़ कर शेष पचास वर्ण लौकिक संस्कृत में भी ज्यों के त्यों मिलते हैं। इन निश्चित आकार वाले बावन वर्णों में से तेरह स्वर और उन्तालीस व्यञ्जन हैं। जिन वर्णों के उच्चारण में अन्य वर्णों की सहायता अपेक्षित न हो, उन्हें स्वर कहते हैं और जिन वर्णों का उच्चारण स्वरों पर आश्रित हो वे व्यञ्जन कहलाते हैं[१क]। स्वरों तथा व्यञ्जनों का विस्तृत वर्णन निम्नलिखित है।

२. **स्वर** (Vowels)—वैदिक भाषा के स्वरों को दो श्रेणियों में प्रविभक्त किया जाता है—(१) **समानाक्षर** और (२) **सन्ध्यक्षर**। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ समानाक्षर (Simple Vowels) कहलाते हैं और ए ओ ऐ औ के लिए सन्ध्यक्षर (Diphthongs) संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। प्रातिशाख्यों में इन सब के लिए **स्वर** तथा **अक्षर** दोनों संज्ञाओं का प्रयोग मिलता है। परन्तु पाणिनीय व्याकरण में इनके लिए अच् प्रत्याहार का प्रयोग किया गया है। इन स्वरों में अ इ उ ऋ ऌ ह्रस्व हैं और शेष सब दीर्घ हैं। जिस स्वर के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है उसे ह्रस्व कहते हैं और जिस के उच्चारण में दो मात्रा का समय लगे वह दीर्घ कहलाता है। यह बात विशेषतया उल्लेखनीय है कि ऌ का दीर्घ नहीं मिलता है[२]। जब किसी स्वर के उच्चारण में तीन[२क] मात्रा का समय लगे, तब उसे प्लुत कहते हैं। लेखबद्ध

संहिताओं में प्लुति के बहुत थोड़े उदाहरण मिलते हैं; यथा—ऋ० प्रा० (१,३१) के अनुसार ऋ० में प्लुति के केवल तीन (१०,१२९,५; १०, १४६,१) उदाहरण मिलते हैं। अ० प्रा० (१,१०५) के अनुसार अ० में प्लुति के पन्द्रह उदाहरण मिलते हैं। वा० प्रा० (२,५०-५४) ने वा० सं० (८,१०; २३,८.४९; ३३,७४; ४०,१७) में प्लुति के सात उदाहरण बतलाए हैं। तै० सं० में प्लुति के लगभग चालीस उदाहरण मिलते हैं (दे० JAOS., IX, p. 323)। प्लुत-प्रयोगों के सम्बन्ध में देखिए अनु० ४५[क]।

३. **व्यञ्जन**—वैदिक भाषा में निम्नलिखित व्यञ्जनों का प्रयोग मिलता है।

(क) **स्पर्शाः**
- (१) कवर्ग—क् ख् ग् घ् ङ्।
- (२) चवर्ग—च् छ् ज् झ् ञ्।
- (३) टवर्ग—ट् ठ् ड् (ळ)[३] ढ् (ळ्ह)[३] ण्।
- (४) तवर्ग—त् थ् द् ध् न्।
- (५) पवर्ग—प् फ् ब् भ् म्।

(ख) **अन्तस्थाः**—य् र् ल् व्।

(ग) **ऊष्माणः**[४]—श् ष् स् ह्।

(घ) **अयोगवाहाः**[५]—विसर्जनीय (:), जिह्वामूलीय (ᳵक, ᳵख), उपध्मानीय (ᳶप, ᳶफ), अनुस्वार[६] (ं), यम तथा नासिक्य अयोगवाह कहलाते हैं। यमों का व्याख्यान भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। भट्टोजिदीक्षित का कथन है कि वर्गों के आद्य चार वर्णों में से किसी एक से परे जब किसी भी वर्ग का पञ्चम वर्ण आए, तब उनके मध्य पूर्व वर्ण के सदृश जो ध्वनि होती है उसे यम कहते हैं। ऋ० प्रा० कहता है कि अनुनासिक स्पर्शों से पूर्व आने वाले अननुनासिक स्पर्शों को यमापत्ति होती है; यथा—पलिक्नीः (ऋ० ५,२,४), चख्नथुः, जग्मतुः (ऋ० १०,४०,१४), जघ्नथुः (ऋ० ७,९९,४), परिज्मानम् (ऋ० १, २०, ३), तथा क्षप्नस्वतीम् (ऋ० १,११२,२४) में क्रमशः क् ख् ग् घ् ज् प् के सदृश ध्वनिया यम कहलाती हैं। पूर्व वर्ण से जुड़ी होने के कारण इस ध्वनि को यम (अर्थात् यमल twin) कहते हैं। कुछ प्रातिशाख्यकार यम को एक आगम

मानते हैं। यमों के स्वरूप तथा संख्या के विषय में विस्तृत विवेचन पीछे टिप्पणी में देखिए[७]।

(ङ) **नासिक्य**—कुछ आचार्य पूर्ववर्ती हकार तथा परवर्ती अनुनासिक स्पर्श के मध्य एक नासिक्य ध्वनि का आगम मानते हैं; यथा—अह्नाम्[८]।

२. उच्चारण (Pronunciation)

४. **उच्चारण**—अति प्राचीन काल से वेदों के शुद्ध उच्चारण को विशेष महत्त्व दिया गया है। शुद्ध उच्चारण की अविच्छिन्न परम्परा के अक्षुण्ण प्रभाव से सहस्रों वर्षों तक लेखबद्ध किए विना भी श्रुति की अनुपम रक्षा होती रही है। शत० ब्रा० का मत है कि असुर लोग अशुद्ध उच्चारण के कारण पराभूत हुए थे, इस लिए ब्राह्मण कदापि वाणी को म्लेच्छित न करें[९]। प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों में वर्णों के शुद्ध उच्चारण की विधि के साथ-साथ उच्चारण-सम्बन्धी दोषों का विवरण भी दिया गया है। प्रातिशाख्य, शिक्षा, व्याकरण तथा शिष्ट वैदिक पण्डितों की परम्परागत पारायण-विधि के द्वारा वैदिक ध्वनियों के शुद्ध उच्चारण को जानने में हमें पर्याप्त सहायता मिलती है। पाश्चात्य संस्कृतज्ञों के मतानुसार, जो संस्कृत शब्द प्राचीन काल में ग्रीक आदि विदेशी भाषाओं में लिखे गए थे, वे भी संस्कृत ध्वनियों के पूर्वकालीन उच्चारण पर कुछ प्रकाश डालते हैं[१०]। मैक्डानल का मत है कि वैदिक संहिताओं की भाषा के ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी आभ्यन्तर प्रमाण तथा भाषा-विज्ञान से उपलब्ध बाह्य प्रमाण के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि संहिता-काल में वैदिक ध्वनियों का उच्चारण प्रायेण वैसा ही था जैसा कि पाणिनि के काल में[११]। प्रातिशाख्य, शिक्षा, व्याकरण, वैदिक-परम्परा तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के द्वारा वैदिक ध्वनियों के उच्चारण के सम्बन्ध में जो तथ्य उपलब्ध होते हैं, उन्हें यहां संक्षेपतः प्रस्तुत किया गया है।

५. **स्वरोच्चारण**—प्रत्येक भाषा का स्वरूप उस के स्वरों के उच्चारण पर विशेषतः आधारित होता है। इस लिये स्वरों के उच्चारण का प्रभाव व्यञ्जनों के उच्चारण पर भी कुछ अंश तक अवश्य ही पड़ता है।

स्वरों के शुद्ध उच्चारण पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। आधुनिक भारतीय भाषाओं में कुछ स्वरों का उच्चारण विभिन्न प्रकार से किया जाता है और वैदिक ध्वनियों का उच्चारण भी कुछ लोग उसी प्रकार करते हैं। परन्तु ऐसा करना अनुचित है और वैदिक ध्वनियों का उच्चारण वैदिक ध्वनि-सिद्धान्तों के अनुसार ही करना चाहिए। यहां पर प्रत्येक स्वर के प्रयत्न तथा स्थान आदि पर विचार किया गया है। व्यञ्जनोच्चारण के प्रसंग में प्रयत्नों पर विस्तृत विवेचन किया गया है। स्वरों के प्रयत्नों के विषय में टि० ३४,३७,३८ तथा ४१ देखिए।

(क) **अ**—अ का उच्चारण-स्थान निःसन्देह कण्ठ है। परन्तु इस के आभ्यन्तर प्रयत्न का विषय विशेषतया विचारणीय है। अ० प्रा० (१,३६) तथा वा० प्रा० (१,७२) के अनुसार, अ का आभ्यन्तर प्रयत्न संवृत है। और पाणिनीय सूत्र (८ ४,६८) तथा अष्टाध्यायी के व्याख्याकार भी इस मत की पुष्टि करते हैं। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि संस्कृत शब्दों के ग्रीक उच्चारण से भी अ के प्राचीनकालीन संवृत उच्चारण का समर्थन होता है[१२]। यद्यपि लिखित ऋ० में ए तथा ओ के पश्चात् प्रायेण (दे० अनु० ४४) अ का पूर्वरूप हो जाता है, तथापि छन्दःपरिमाण की दृष्टि से ऐसे पूर्वरूप के लिये कोई औचित्य नहीं दीख पड़ता। इस से प्रतीत होता है कि ऋचाओं के रचना-काल में अ का आभ्यन्तर प्रयत्न संभवतः विवृत रहा होगा।

(ख) **आ**—आ का उच्चारण-स्थान कण्ठ है और इसका आभ्यन्तर प्रयत्न साधारणतया विवृत माना जाता है। परन्तु अ० प्रा० (१,३५) आ का प्रयत्न विवृततम मानता है।

(ग) **इ ई**—इन दोनों स्वरों का उच्चारण-स्थान तालु और आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है।

(घ) **उ ऊ**—इन दोनों स्वरों का उच्चारण-स्थान ओष्ठ और आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है। तै० प्रा० का मत है कि उ-वर्ण के उच्चारण में ओष्ठ उपसंहृत (सन्निकृष्ट हो कर आगे की ओर निकले हुए) होते हैं[१३]।

(ङ) ऋ, ॠ, ऌ—ऋकार तथा लृकार के उच्चारण के विषय में आचार्यों में बहुत मतभेद है। ऋ० प्रा० (१, ४१) के अनुसार ऋकार तथा लृकार का उच्चारण-स्थान जिह्वामूल है। वा० प्रा० (१,६५) तथा ऋक्तन्त्र (४) भी ऋकार को जिह्वामूलीय मानते हैं। तै० प्रा० (२, १८) का मत है कि ऋ, ॠ तथा ऌ के उच्चारण में जिह्वा का अग्रभाग वर्स्वों (दन्तपङ्क्ति के ऊपर उभरे हुए प्रदेश) से उपसंहृत (अधिक सन्निकृष्ट) होता है। परन्तु पा० शि० ऋकार को मूर्धन्य और लृकार को दन्त्य मानती है[१४]। वा० प्रा० (१, ६९) भी लृकार को दन्त्य मानता है। ऋकार तथा लृकार को सवर्ण घोषित करने वाला वार्तिक प्रातिशाख्यों के इस मत का समर्थन करता है कि इन दोनों स्वरों का उच्चारण-स्थान सिद्धान्ततः एक ही माना जाता है[१५]।

आजकल उत्तर भारत में ऋ का उच्चारण प्रायेण रि के सदृश तथा ऌ का उच्चारण लृ के सदृश किया जाता है। परन्तु दक्षिण भारत में अनेक विद्वान् ऋ का उच्चारण रु के सदृश करते हैं और प्राचीन काल में भी वहां इस प्रकार का उच्चारण रहा होगा। इस लिये अनेक दक्षिण-भारतीय शिलालेखों में ऋ के स्थान पर रु मिलता है[१६]। ऋ० प्रा० (१४, ३८) ने ऋकार के सरेफ उकार-सदृश रु उच्चारण को एक दोष माना है। प्राचीन पाण्डुलिपियों तथा विदेशी भाषाओं में लिखे गए संस्कृत-शब्दों के उच्चारण से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में भी ऋ का उच्चारण अंशतः 'रि' के सदृश होता था[१७]। उत्तरकालीन भारतीय भाषाओं में संस्कृत ऋ के स्थान पर इकार तथा उकार वाली ध्वनियों के विकास से प्रतीत होता है कि अति प्राचीनकाल से ऋ के उच्चारण में दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां विद्यमान रही होंगी; यथा—घृत=घी; शृगाल=सियार; ऋक्ष=रीछ; परन्तु वृक्ष=रूख; पृच्छा=पूछ; वृद्ध=बूढ़ा। कतिपय वैदिक शाखाओं में ऋ का उच्चारण रे के सदृश भी किया जाता था[१८]।

मूलतः ऋ तथा ऌ क्रमशः रेफ तथा लकार की स्वरीभूत ध्वनियां थीं। अत एव प्रातिशाख्य तथा शिक्षा ऋ तथा ऌ में क्रमशः र् तथा ल् का अंश स्वीकार करते हैं[१९]। अवेस्ता में वैदिक ऋ का प्रतिनिधि əɾə है, यथा— भृत= अवेस्ता का bərəta.

अनेक पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि लेखबद्ध ऋग्वेदसंहिता के अनेक मन्त्रों में ॠ के लिए भी ह्रस्व ध्वनि ऋ का लेख मिलता है और इस लिए ऐसे स्थलों पर छन्दःपरिमाण की दृष्टि से उस का दीर्घ उच्चारण ही उचित है[२०]; यथा—मृड् धातु के क्रिया-रूपों में तथा तृह् और दृह् धातुओं के क्तान्त रूपों (तृळ्ह, दृळ्ह) में छन्दःपरिमाण की दृष्टि से ऋ के स्थान पर ॠ का उच्चारण वाञ्छनीय है, और इसी प्रकार नॄणाम् तथा तिसॄणाम् (ऋ० ५,६९,२) में ऋ के स्थान पर ॠ का उच्चारण उचित माना जाता है[२१]।

ऋ० प्रा० तथा अ० प्रा० के अनुसार, ॠ के पूर्वार्द्ध में रेफ का तत्त्व है (दे० टि० १९)।

(च) ए, ओ, ऐ, औ—प्रातिशाख्यों में ये चारों स्वर **सन्ध्यक्षर** (Diphthongs) कहलाते हैं। पाणिनीय व्याकरण में ए, ओ (तथा अ) गुण-संज्ञक और ऐ, औ (तथा आ) वृद्धिसंज्ञक हैं। चारों सन्ध्यक्षरों का आभ्यन्तर प्रयत्न साधारणतया विवृत माना जाता है। अ० प्रा० (१,३४) ए ओ का प्रयत्न विवृततम मानता है। ऋ० प्रा० (१,४२.४७) के अनुसार, ए तथा ऐ का उच्चारण-स्थान तालु और ओ तथा औ का उच्चारण-स्थान कण्ठ है। अन्यत्र ऋ० प्रा० (१३, ३८) में कहा गया है कि कतिपय आचार्य सन्ध्यक्षरों को **सन्ध्यानि** (सन्धि से उत्पन्न) मानते हैं और तदनुसार प्रत्येक सन्ध्यक्षर के उच्चारण-स्थान दो हैं। इस से आगे ऋ० प्रा० (१३,३९) ने शाकटायन का मत उद्धृत किया है जिसके अनुसार ए तथा ऐ का पूर्वार्द्ध अकार और उत्तरार्द्ध इकार है, और इसी प्रकार ओ तथा औ का पूर्वार्द्ध अकार और उत्तरार्द्ध उकार है। शिक्षाग्रन्थ भी इस मत का अनुसरण करते हैं। अत एव पा० शि० ए ऐ को कण्ठतालव्य और ओ औ को कण्ठोष्ठज मानती है और सन्ध्यक्षरों में संहित स्वरों की मात्रा के सम्बन्ध में यह शिक्षा कहती है—"एकार तथा ओकार में कण्ठ्य (अ) की अर्धमात्रा होनी चाहिए और ऐकार तथा औकार में कण्ठ्य की एक मात्रा होनी चाहिए। इन दो का प्रयत्न विवृत और संवृत है"[२२]। अ० प्रा० के अनुसार यद्यपि चारों सन्ध्यक्षरवर्ण स्वरों के संयोग से बने हैं, तथापि स्थानविधि (उच्चारण-स्थान) की दृष्टि से ए तथा ओ की वृत्ति एकवर्ण (Monophthong) के सदृश है, परन्तु

ऐ तथा औ की वृत्ति एकवर्ण के समान नहीं है[२३]। इसी प्रकार ऋ० प्रा० ने भी उच्चारण-सम्बन्धी विशेषता की दृष्टि से ए ओ तथा ऐ औ के मध्य भेद बतलाया है[२४]। ए ओ की एकवर्णवत् वृत्ति को स्वीकार करते हुए तै० प्रा० और वा० प्रा० केवल ऐ औ के अवयवात्मक तत्त्वों का वर्णन करते हैं, परन्तु इस सम्बन्ध में वे ए ओ का उल्लेख नहीं करते हैं। तै० प्रा० कहता है कि ऐ तथा औ के आदि भाग में अर्धमात्रा उस अकार की है जिस का प्रयत्न संवृततर है और ऐ में शेष डेढ़ मात्रा इकार की तथा औ में उकार की है[२५]। वा० प्रा० के अनुसार ऐ औ में पूर्व-मात्रा कण्ठ्य (अकार की) है और उत्तर मात्रा क्रमशः तालु और ओष्ठ की है[२६]। प्रातिशाख्यों के उक्त नियमों से ज्ञात होता है कि प्रातिशाख्यों के काल में ए तथा ओ का उच्चारण एकवर्ण (monophthong) के सदृश होता था। प्रतीत होता है कि संहिताकाल में भी ए तथा ओ का उच्चारण एकवर्णवत् होने लगा था, क्योंकि ए तथा ओ से परे आने वाले अ का पूर्वरूप करने की प्रवृत्ति का उपक्रम संहिता-काल में ही हो चुका था (दे० द्वितीय अध्याय में अभिनिहित-सन्धि)। प्राकृत आदि अन्य भाषाओं में लिए गए संस्कृत-शब्दों के उच्चारण से भी यह स्पष्ट होता है कि ए तथा ओ का उच्चारण एकवर्णवत् होने लगा था[२७]।

कुछ विशेष प्रकार के याज्ञिक पाठों में अर्ध ओकार के प्रयोग का उल्लेख मिलता है[२८]। परन्तु वैदिक भाषा में साधारणतया इस प्रकार के अर्ध ओकार के प्रचलन का कोई संकेत नहीं मिलता है।

इस में सन्देह नहीं कि मूलतः ए तथा ओ दोनों सन्ध्यक्षर थे, क्योंकि अकार के साथ इकार तथा उकार की सन्धि से क्रमशः ए तथा ओ बनते हैं। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान से भी इस मत का समर्थन होता है; यथा—वेद "मैं जानता हूं" =Av. Vaēdā, Goth. wait; ओजस्=Av. aogarə, Lat. augustus.

आज कल ऐ औ का उच्चारण क्रमशः अइ अउ के सदृश होता है और प्रातिशाख्यों के काल में भी इन का उच्चारण लगभग इसी प्रकार का था। परन्तु मूलतः ऐ औ क्रमशः आइ आउ का प्रतिनिधित्व करते हैं, क्योंकि सन्धि में ऐ औ का क्रमशः आय् आव् बनता है।

प्रथमोऽध्यायः

(छ) **अनुनासिक स्वर**—स्वरों के शुद्ध रूप के अतिरिक्त इन के अनुनासिक रूप अँ आँ इँ ईं इत्यादि भी मिलते हैं। अनुनासिक स्वर का उच्चारण अपने मुख्य स्थान (तालु कण्ठ आदि) तथा नासिका द्वारा किया जाता है (दे० टि० ५१)।

६. **व्यञ्जनोच्चारण**—व्यञ्जनों के उच्चारण के विषय में हम इन के काल (*मात्रा*), *प्रयत्न तथा स्थान आदि का पूर्ण विवेचन करेंगे।*

मात्रा—अ० प्रा० (१, ६०) व्यञ्जन का उच्चारण-काल एक **मात्रा** मानता है। परन्तु दूसरे प्रातिशाख्य तथा वैयाकरण व्यञ्जन का उच्चारण-काल **अर्धमात्रा** मानते हैं[२९]।

प्रयत्न दो प्रकार के माने गए हैं—**आभ्यन्तर** तथा **बाह्य**। व्यञ्जनों के उच्चारण के सम्बन्ध में इन का ज्ञान अत्यावश्यक है।

(क) **आभ्यन्तर प्रयत्न**—आभ्यन्तर-प्रयत्न[३०] के आधार पर व्यञ्जनों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—

स्पर्श—कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग तथा पवर्ग का आभ्यन्तर प्रयत्न **स्पृष्ट** है और ये **स्पर्श** (mutes or stops) कहलाते हैं[३१]।

ईषत्स्पृष्ट—य् र् ल् व् का आभ्यन्तर प्रयत्न **ईषत्स्पृष्ट** हैं[३२] और ये **अन्तस्था** कहलाते हैं[३३]। कुछ ग्रन्थों में **अन्तःस्था** पाठ भी मिलता है, परन्तु **अन्तस्था** पाठ अधिक प्रामाणिक है। दे० विसर्जनीय-सन्धि।

ईषद्विवृत—**ऊष्मों** का आभ्यन्तर प्रयत्न **ईषद्विवृत** माना जाता है[३४]। ऊष्म संज्ञा के व्याख्यान के सम्बन्ध में टि० ४ देखिए।

विवृत तथा संवृत—हम यह पहले बतला चुके हैं कि अ का आभ्यन्तर प्रयत्न **संवृत** और अन्य स्वरों का आभ्यन्तर प्रयत्न **विवृत** माना जाता है।

(ख) ***बाह्य प्रयत्न***—*बाह्य-प्रयत्न*[३५] के आधार पर भी व्यञ्जनों को कई *श्रेणियों* में विभक्त किया जाता है। यद्यपि भट्टोजिदीक्षित ने कैय्यट का अनुसरण करते हुए—**विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण** के साथ **उदात्त, अनुदात्त** तथा **स्वरित** को भी बाह्य प्रयत्नों में गिनाया है, परन्तु पतञ्जलि ने उदात्त आदि स्वरों को प्रयत्नों में नहीं माना है[३६] और आठ बाह्य प्रयत्नों का उल्लेख किया है। ऋ० प्रा० ने इन प्रयत्नों

का निम्नलिखित वर्णन किया है—"जब वक्ता बोलने की चेष्टा करता है, तब फेफड़ों से निकला हुआ प्राणनामक वायु कण्ठ-विवर (Larynx) के खुले रहने पर **श्वासता** को प्राप्त होता है और कण्ठ-विवर के संकुचित रहने पर **नादता** को प्राप्त होता है। जब कण्ठ-विवर साम्यावस्था में हो अर्थात् विवार और संकोच के मध्य की अवस्था में हो, तब प्राण श्वासता तथा नादता दोनों को प्राप्त होता है। श्वासता, नादता तथा उभयात्मिका अवस्था—ये तीन सब वर्णों की प्रकृतियां हैं। **अघोष** वर्णों की प्रकृति **श्वास** है और शेष अर्थात् **सघोष** वर्णों की प्रकृति **नाद** है। वर्गों के चतुर्थ वर्ण (घ् झ् ढ् ध् भ्) तथा ह् की प्रकृति श्वास तथा नाद दोनों हैं"[३७]।

तै० प्रा० भी शब्दोत्पत्ति का वर्णन करते हुए इन प्रयत्नों के विषय में इसी प्रकार के विचार व्यक्त करता है—"शरीरस्थ वायु की प्रेरणा से कण्ठ और उर के सन्धान (मध्यदेश) में ध्वनि की उत्पत्ति होती है। उर, कण्ठ, सिर, मुख तथा नासिका उस ध्वनि को स्पष्टतया प्रतिध्वनित कराने वाले स्थान हैं। जब कण्ठ संकुचित (संवृत) होता है, तब **नादसंज्ञक** ध्वनि उत्पन्न होती है। जब कण्ठ खुला (विवृत) होता है, तब **श्वास-संज्ञक** ध्वनि उत्पन्न होती है। जब कण्ठ संवृत और विवृत के मध्य की अवस्था में होता है, तब **हकार-संज्ञक** ध्वनि (जो ह् घ् झ् ढ् ध् भ् का अनुप्रदान है) उत्पन्न होती है। वर्णों की ये तीन प्रकृतियां हैं। स्वरों तथा सघोष वर्णों में **अनुप्रदान** (मूलकारण) **नाद** है; ह् घ् झ् ढ् ध् भ् में अनुप्रदान **हकार** है; अघोष वर्णों में अनुप्रदान **श्वास** है; और वर्गों के प्रथम वर्णों (क् च् ट् त् प्) से अन्य अघोष वर्णों में **अधिक श्वास** अनुप्रदान होता है"[३८]।

प्रत्येक वर्ग के प्रथम तथा द्वितीय वर्ण, श् ष् स् , विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और अनुस्वार **अघोष** (surds) कहलाते हैं और शेष व्यञ्जन **सघोष** (sonants) कहलाते हैं[३९]। ऊष्म तथा वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण प्रातिशाख्यों में **सोष्माणः** (aspirates) कहलाते हैं[४०]। वरदराज ने आठ बाह्य प्रयत्नों का निम्नलिखित सरल विभाजन किया है[४१]—

विवार, श्वास, अघोष—वर्गों के प्रथम तथा द्वितीय वर्ण और श् ष् स् के बाह्य प्रयत्न विवार, श्वास और अघोष हैं।

संवार, नाद, घोष—वर्गों के तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम वर्ण और य् र् ल् व् ह् के बाह्य प्रयत्न संवार, नाद, घोष हैं।

अल्पप्राण—वर्गों के प्रथम, तृतीय तथा पञ्चम वर्ण और य् र् ल् व् अल्पप्राण प्रयत्न वाले हैं।

महाप्राण—वर्गों के द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण और श् ष् स् ह् महाप्राण प्रयत्न वाले हैं।

(ग) **स्थान तथा करण**—वर्णों के उच्चारण को भलीभांति समझने के लिये उन के स्थान तथा करण का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। जिन स्थलों पर आभ्यन्तर प्रयत्न के लिये करण शब्द का प्रयोग किया गया है, उनके लिये टि० ३१ तथा ३५ देखिए। इस के अतिरिक्त तै० प्रा० स्थान और करण के भेद को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट करता है—"स्वरों का स्थान वह (मुखभाग) है, जहां उपसंहार (approximation) होता है; और उन का करण वह (मुखावयव) है, जो उपसंहार करता है। अन्य वर्णों (अर्थात् व्यञ्जनों) का स्थान वह (मुखभाग) है जहां स्पर्शन (contact) होता है; और उन का करण वह (मुखावयव) है, जिस के द्वारा स्पर्शन करता है"[४२]। इस का उदाहरण आगे कवर्ग की उत्पत्ति में भी स्पष्टतया दिया गया है।

कवर्ग—अनेक प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाओं के अनुसार, कवर्ग का उच्चारण-स्थान जिह्वामूल है[४३]। अ० प्रा० जिह्वामूलीय वर्णों (कवर्ग आदि) का करण हनुमूल मानता है; परन्तु इसके विपरीत तै० प्रा० हनुमूल को कवर्ग का स्थान और जिह्वामूल को करण मानते हुए कहता है कि कवर्ग की उत्पत्ति के समय जिह्वामूल के द्वारा अध्येता हनुमूल पर स्पर्श करता है[४४]। चन्द्रगोमी, भट्टोजिदीक्षित तथा कतिपय अन्य वैयाकरण कवर्ग का स्थान कण्ठ मानते हैं और इन वर्णों के लिये कण्ठ्य संज्ञा का प्रयोग करते हैं[४५]।

चवर्ग—प्रातिशाख्य, शिक्षा तथा वैयाकरणों के अनुसार, चवर्ग का स्थान तालु है; और अ० प्रा० तथा तै० प्रा० जिह्वा के मध्य भाग को चवर्ग का

करण मानते हैं[४६]। तालु-स्थान होने के कारण चवर्ग के वर्ण तालव्य कहलाते हैं।

टवर्ग—टवर्ग का स्थान मूर्धा है और ये वर्ण इसी लिये मूर्धन्य कहलाते हैं[४७]। ळ तथा ळ्ह भी मूर्धन्यों में गिने जाते हैं। कुछ प्रातिशाख्यों के अनुसार, टवर्ग के उच्चारण के समय वक्ता जिह्वा को पीछे की ओर मोड़ कर जिह्वाग्र से मूर्धा का स्पर्श करता है[४७क]। अतः टवर्ग का करण जिह्वाग्र है। तै० प्रा० के त्रिभाष्यरत्न का मत है कि मूर्धन् शब्द मुख-विवर के उपरिभाग का वाचक है।

तवर्ग—कतिपय प्रातिशाख्यों के अनुसार, तवर्ग का स्थान दन्तमूल और करण जिह्वाग्र है, परन्तु अनेक प्रातिशाख्यकार, शिक्षाकार तथा वैयाकरण इन वर्णों का स्थान दन्त मानते हैं[४८]। अत एव ये वर्ण दन्त्य कहलाते हैं।

पवर्ग—सभी आचार्य पवर्ग का स्थान ओष्ठ मानते हैं और वा० प्रा० के अनुसार पवर्ग का करण भी ओष्ठ है, परन्तु अ० प्रा० तथा तै० प्रा० के भाष्यकारों का मत है कि पवर्ग का स्थान उत्तरोष्ठ और करण अधरोष्ठ है[४९]।

(घ) **अनुनासिक स्पर्श**—वर्गों के पञ्चम वर्ण अर्थात् ङ् ञ् ण् न् म् अनुनासिक[५०] कहलाते हैं। इन का उच्चारण अपने वर्गसम्बन्धी स्थान तथा नासिका द्वारा होता है[५१]। अनुनासिक का स्थान तथा करण समान माना जाता है (दे० टि० ४९)।

(ङ) **अन्तस्थाः**—य् र् ल् व् के उच्चारण के सम्बन्ध में वैदिक संहिताओं की अनेक विशेषताएं हैं। अतः इन सब विशेषताओं पर पूर्ण ध्यान देना अत्यावश्यक है।

य्—सभी प्रातिशाख्यकार, शिक्षाकार तथा वैयाकरण य् का स्थान तालु मानते हैं। तै० प्रा० (२,४०) का कथन है कि यकार के उच्चारण के समय जिह्वा के मध्यभाग के किनारों से वक्ता तालु का स्पर्श करता है। प्रतीत होता है कि कालान्तर में कतिपय यजुर्वेदी यकार का

उच्चारण जकार के समान करने लगे थे। इसीलिये या० शि० का मत है कि पादादि, पदादि, संयोग तथा अवग्रह में 'जः' और इस से भिन्न 'यः' माना जाता है[५२]।

(च) व्—वकार के उच्चारण-स्थान के सम्बन्ध में बहुत मतभेद मिलता है। ऋ० प्रा० (१,४७) तथा वा० प्रा० (१,७०) के अनुसार, वकार का स्थान ओष्ठ है; और आगे चल कर वा० प्रा० (१,८१) दन्ताग्र को ओष्ठ्य वकार का करण मानता है। तैं० प्रा० का मत है कि ओष्ठान्तों (ओष्ठों के किनारों) तथा दान्तों से वकार का उच्चारण किया जाता है[५३]। दान्त तथा ओष्ठ दोनों के द्वारा उच्चारण होने के कारण शिक्षा-ग्रन्थों तथा व्याकरणों में वकार का स्थान दन्तोष्ठ माना गया है और इसी लिये यह दन्तोष्ठ्य कहलाता है[५४]।

(छ) य् व् का उच्चारण-वैशिष्ट्य—यद्यपि लौकिक भाषा में य् व् का उच्चारण सर्वत्र लिखित पाठ के अनुसार क्रमशः य् व् ही किया जाता है, तथापि लेखबद्ध वैदिक संहिताओं में अनेक स्थलों पर य् व् का उच्चारण क्रमशः इय् उव् उचित माना जाता है। इस मत के समर्थन में निम्न-लिखित प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) ऋ० प्रा० कहता है कि पाद में छन्दःपरिमाण की दृष्टि से जहां अक्षर की न्यूनता दीख पड़े वहां पाद को पूरा करने के लिए मिले अक्षरों (एकाक्षरीभावान्) को पृथक् पृथक् कर देना चाहिए, और संयुक्त व्यञ्जनों में आने वाले य् व् को उन के सदृश स्वर (अर्थात् क्रमशः इ उ) के द्वारा संयुक्त व्यञ्जनों से व्यवहित करें। अर्थात् य् व् के स्थान पर क्रमशः इय् उव् का उच्चारण करना चाहिए; यथा—प्रेता जयता नरः= प्र इता जयता नरः (ऋ० १०,१०३,१३)। त्र्यम्बकं यजामहे= त्रियम्बकं यजामहे (ऋ० ७,५९,१२)[५५]। ये दोनों उदाहरण गायत्री-छन्दः के पाद हैं।

(२) ईकारान्त तथा ऊकारान्त प्रातिपदिकों के विभक्त्यन्त रूपों में अनेक बार य् व् के स्थान पर क्रमशः इय् उव् भी मिलते हैं। पा० ६,४,७७ पर कात्यायन ने "इयङुवङ्प्रकरणे

तन्वादीनां छन्दसि बहुलमुपसंख्यानम्" (काशिकापाठ) वार्तिक के द्वारा इस मत का समर्थन किया है और पतञ्जलि ने इस के व्याख्यानार्थ निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—तुन्वं पुषेम (ऋ० १०,१२८,१) =तुनुवं पुषेम (तै० सं ४,७,१४,१); विष्वं पश्य=विषुवं पश्य; स्वुर्गं लोकम् (अ० १८, ३, ४) =सुवुर्गं लोकम् (तै० सं० ५,३, ७, १); त्र्यम्बकं यजामहे (ऋ० ७, ५९, १२) =त्रियम्बकं यजामहे। इन उदाहरणों के विषय में नागेश कहता है कि ऋग्वेदियों का पाठ यणादेश वाला है और यजुर्वेदियों का पाठ उवङ्विशिष्ट है। पाणिनि ने "छन्दस्युभयथा" (६, ४, ८६) सूत्र द्वारा यह स्वीकार किया है कि वेद में भू तथा सुधी से परे विभक्ति का अच् आने पर इन के ऊ तथा ई को यण् तथा इयङुवङ् दोनों प्रकार के विकार देखने में आते हैं। इस के उदाहरणार्थ काशिका तथा सि० कौ० ने निम्नलिखित मन्त्रभाग उद्धृत किए हैं—वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे (ऋ० ४, ७, १); वनेषु चित्रं विभुवं विशेविशे (तै० सं० १, ५, ५, १)। सुध्यो३ नव्यमग्ने (ऋ० ६,१,७); सुधियो नव्यमग्ने (तै० ब्रा० ३,६,१०,३)।

(३) ऋग्वेदसंहिता के इस प्रकार के य् व् के स्थान पर कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं में—और विशेषतया तै० सं० में—क्रमशः इय् उव् पाठ मिलते हैं; यथा उपरिनिर्दिष्ट उदाहरण के अनुसार ऋ० के विभ्वम् के स्थान पर तै० सं० में विभुवम् पाठ मिलता है। तै० सं० (६,१, २, ५-६) ऋ० (५,५०,१) के मन्त्र को निम्नप्रकार से परिवर्तित रूप में उद्धृत करती है—

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वृणीत सुख्यम्।
विश्वो राय इषुध्यसि द्युम्नं वृणीत पुष्यसे॥

और आगे तै० सं० इस मन्त्र की अक्षर-संख्या पर विवेचन करते हुए कहती है—"सप्ताक्षरं प्रथमं पदमष्टाक्षराणि त्रीणि।" तै० सं० के इस कथन के अनुसार इस मन्त्र के द्वितीय पाद में आठ अक्षर हैं, परन्तु लेखबद्ध संहिता के अनुसार द्वितीय पाद में केवल सात अक्षर हैं। इस से अनुमान होता है कि प्राचीन काल में इस पाद के 'सुख्यम्' का उच्चारण 'सुखियम्' किया जाता होगा। ऋ० प्रा० का उपर्युक्त नियम इस

अनुमान का समर्थन करता है। तै० सं० में इकारान्त तथा ईकारान्त प्रातिपदिकों के इ ई को अजादि विभक्ति से पूर्व प्रायेण इय् आदेश होता है, यदि इ ई से पूर्व संयुक्त व्यञ्जन हों। परन्तु ऋग्वेदसंहिता के लिखित-पाठ के अनुसार इस प्रकार के इ ई को यण् आदेश ही होता है। यथा—तै० सं० १,३,१२ इन्द्राग्नियोः=ऋ० ८,४०,८ इन्द्राग्न्योः; तै० सं० २,१,५,२ लक्ष्मियां (=लक्ष्म्या)। तद्धित प्रत्यय 'य' से बने रूपों में 'य्' के स्थान पर 'इय्' मिलता है; यथा—तै० सं० २,२,१२,८ अश्वियम् (=ऋ० ७,९२,३ अश्व्यम्); तै० सं० ३,२,८,३ धिष्णियाः (=अ० २, ३५, १ धिष्ण्याः)[५६]। उकारान्त, ऊकारान्त प्रातिपदिकों के विभक्त्यन्त रूपों में तथा कुछ अन्य पदों में संयुक्त व्यञ्जनों से परे आने वाले 'व्' के लिये तै० सं० में 'उव्' लिखा जाता है; यथा—तै० सं० १,५,५,४ तनुवां (=ऋ० तन्वां); तै० सं० १,७,१३,२ बाहुवोः (=ऋ० ७,२५,१ बाह्वोः); तै० सं० सुवः (=ऋ० स्वः); तै० सं० सुवर्गः (=ऋ० स्वर्गः)। शत० ब्रा० (२,१,४,१४; ११,१,६,५ इत्यादि) भी स्वः में दो अक्षर मानता है। (४) छन्दःपरिमाण की दृष्टि से निम्नलिखित वैदिक शब्दों में लिखित य् व् के स्थान पर क्रमशः इय् उव् का उच्चारण अनेक आधुनिक विद्वानों के मतानुसार समीचीन है[५७]। (क)-भ्यस् विभक्ति और यत् प्रत्यय (तद्धित तथा कृत्य) के लिखित य के स्थान पर इय का उच्चारण उचित माना जाता है, जब इन का य संयुक्त व्यञ्जनों से परे हो अथवा उस व्यञ्जन से परे हो जिस के पूर्व दीर्घ स्वर है; यथा—मरुद्भ्यः (ऋ० १, ८५, ८), शुन्ध्याव्यः (ऋ० ५, ८३, ८), वृष्ण्यान् (ऋ० ५, ८३, ३), दैव्यस्य (ऋ० १,३५,५), वार्याणि (ऋ० १,३५,८)। ऐ० ब्रा० (३,१२) के—"उक्थं वाचीन्द्राय देवेभ्य इत्याह शस्त्वैकादशाक्षरम्"—इस कथन से प्रतीत होता है कि वाचि और इन्द्राय के बीच की गई सवर्णदीर्घ-सन्धि का विच्छेद करने के अतिरिक्त देवेभ्यः को चार अक्षरों वाला बनाने के लिये इस का उच्चारण देवेभियः करना चाहिए[५८]; अन्यथा इस मन्त्र में अक्षरों की संख्या ग्यारह नहीं हो सकती। (ख)—पाद के प्रारम्भ में अथवा गुरु अक्षर से परे आने वाले त्य और त्वम् सर्वनामों का उच्चारण क्रमशः तिय और तुवम् माना जाता है[५९]; यथा—त्यम् (ऋ० १,३७,११), त्ये

(ऋ० ७,७५,३), त्वम् (ऋ० १०,१५,१३), त्वम् (ऋ० १,४८,१२)। परन्तु जब ये सर्वनाम ह्रस्व स्वर के पश्चात् आएं, तब इन का उच्चारण लिखित रूप के अनुसार ही माना जाता है। इसी प्रकार दीर्घ स्वर के पश्चात् त्व-सर्वनाम का उच्चारण तुव-माना जाता है, परन्तु ह्रस्व स्वर के पश्चात् इस का उच्चारण लिखित रूप के अनुसार ही होता है; यथा—ब्रह्मा त्वः (ऋ० १०, ७१, ११) =ब्रह्मा तुवः।

(ग) दीर्घ स्वर से परे आने वाले ज्यायस्-के प्रथम 'य्' और पाद के प्रारम्भ में तथा दीर्घ स्वर से परे आने वाले ज्या-तथा ज्याका-के य् के स्थान पर इय् उच्चारण उचित माना जाता है[५८क]; यथा—स्वस्रे ज्यायस्यै (ऋ० १,१२४,८); ज्या इयम् (ऋ० ६, ७५, ३); ज्याका अधि (ऋ० १०, १३३,१)।

(ज) र्—रेफ के उच्चारण के सम्बन्ध में प्रातिशाख्यों तथा शिक्षाग्रन्थों में बहुत मतभेद है। अनेक प्रातिशाख्यकार तथा शिक्षाकार रेफ का उच्चारण-स्थान दन्तमूल मानते हैं[५९]। वा० प्रा० जिह्वाग्र को रेफ का करण मानता है और तै० प्रा० का कथन है कि रेफ के उच्चारण के समय जिह्वाग्र के मध्य भाग से दन्तमूलों के पीछे अर्थात् उपरिभाग में स्पर्श किया जाता है[६०]। कतिपय आचार्य रेफ का उच्चारण-स्थान बर्स्व ('दन्तपंक्ति के ऊपर का उच्च-प्रदेश'—त्रिभाष्यरत्न) मानते हैं[६१]। कुछ शिक्षाकार तथा वैयाकरण रेफ का स्थान मूर्धा मानते हैं[६२]। अनेक विद्वानों का मत है कि रेफ के प्रभाव से 'न्' का 'ण्' में परिणत होना रेफ के मूर्धन्यत्व का ज्ञापक है[६३]।

(झ) ल्—लकार के उच्चारण-स्थान के सम्बन्ध में भी प्रातिशाख्यों और शिक्षाग्रन्थों में मतभेद मिलता है। ऋ० प्रा० (१,४५) तथा तै० प्रा० (२,४२) के अनुसार, लकार का स्थान दन्तमूल है। परन्तु वा० प्रा०, पा० शि० तथा अनेक वैयाकरणों के मतानुसार, लकार का उच्चारण-स्थान दन्त है[६४]।

(ञ) अनुनासिक अन्तस्थाः—य् व् ल् के अनुनासिक रूप यँ वँ लँ भी मिलते हैं। इन का उच्चारण अपने स्थान, तालु आदि, तथा नासिका के द्वारा किया जाता है (दे० टि० ५१)।

प्रथमोऽध्यायः

७. ऊष्माणः (श् ष् स् ह्)

श्—प्रातिशाख्यों, शिक्षाओं तथा वैयाकरणों के मतानुसार, श् तालव्य ध्वनि है (दे० टि० ४६) और सन्धि-नियमों से भी इस मत की पुष्टि होती है (दे० अनु० ५०)।

ष्—षकार का उच्चारण-स्थान निःसन्देह मूर्धा है। मूर्धन् शब्द का अर्थ टवर्ग के उच्चारण के सम्बन्ध में बतला चुके हैं। षकार के करण का विचार करते हुए अ० प्रा (१,२३) कहता है कि षकार के उच्चारण के समय जिह्वा मुड़कर द्रोणिका (trough नांद) के आकार की बन जाती है। इस प्रकार की जिह्वा षकार का करण है। शुक्लयजुर्वेदसम्बन्धी शिक्षाग्रन्थों में दिये गये नियमों से ज्ञात होता है कि उन ग्रन्थों की रचना से पूर्व ष् के स्थान पर ख् का उच्चारण करने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो चुकी थी[६५]। इन नियमों के अनुसार, बहुत से शुक्लयजुर्वेदी षकार का उच्चारण प्रायेण खकार के समान करते हैं। परन्तु यह प्रवृत्ति उत्तर-कालीन है और प्रातिशाख्यों के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है।

स्—अधिकतर प्रातिशाख्यकार, शिक्षाकार तथा वैयाकरण लकार और सकार का उच्चारण–स्थान समान मानते हैं। इसलिये सकार के उच्चारण के सम्बन्ध में प्रायेण वही मतभेद है जो लकार के सम्बन्ध में मिलता है। ऋ० प्रा० के अनुसार, सकार का स्थान दन्तमूल है, परन्तु कात्यायन प्रभृति अन्य आचार्य सकार को दन्त्य मानते हैं (दे० टि० ६४)।

ह्—अधिकतर प्रातिशाख्यकार, शिक्षाकार तथा वैयाकरण हकार का उच्चारण-स्थान कण्ठ मानते हैं; परन्तु ऋ० प्रा० का कथन है कि कतिपय आचार्य हकार तथा विसर्जनीय का स्थान उरस् (छाती) मानते हैं[६६]। तै० प्रा० कहता है कि कतिपय आचार्यों के मतानुसार हकार का स्थान वही है जो उस के परवर्ती स्वर के आदिम भाग का है[६७]।

८. अयोगवाहाः

(क) विसर्जनीय—अधिकतर आचार्य विसर्जनीय का उच्चारण-स्थान कण्ठ मानते हैं[६८]। परन्तु कतिपय आचार्य हकार के समान विसर्जनीय को भी औरस्य मानते हैं (दे० टि० ६६)। कतिपय आचार्यों का मत है कि विसर्जनीय का उच्चारण-स्थान वही है जो इसके पूर्ववर्ती स्वर के अन्तिम भाग का है[६९]।

(ख) **जिह्वामूलीय**—जिह्वामूलीय के नाम से ही स्पष्ट है कि इस का स्थान जिह्वामूल है। जिह्वामूलीय का करण हनुमूल माना जाता है (दे० टि० ४४)।

(ग) **उपध्मानीय**—उपध्मानीय का उच्चारण-स्थान ओष्ठ है और इस का करण भी ओष्ठ ही माना जाता है (दे० टि० ४९)। पा० शि० के अनुसार अयोगवाह-ध्वनियों का स्थान वही है जो इन के पूर्ववर्ती स्वर का है (दे० टि० ६९)।

(घ) **अनुस्वार, यम, नासिक्य**—इन अयोगवाह-ध्वनियों के उच्चारण में नासिका की प्रधानता रहती है। लगभग सभी आचार्य इन का उच्चारण-स्थान नासिका मानते हैं[७०]। वा० प्रा० (१,८०-८३) के अनुसार, अनुस्वार का करण हनुमूल, यमों का करण नासिकामूल और नासिक्य का करण नासिका है। तै० प्रा० का मत है कि यमों का स्थान केवल नासिका या मुखसहितनासिका है और इन का करण अपने-अपने वर्ग के करण के समान होता है[७१]।

संयोगविषयक उच्चारण-वैशिष्ट्य

१. **स्वरभक्ति**—प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों के अनुसार, परवर्ती व्यञ्जन के साथ रेफ का संयोग होने पर संयुक्त व्यञ्जनों के मध्य एक ह्रस्व स्वर के अंश का उच्चारण किया जाता है। उसे स्वरभक्ति अर्थात् "स्वर के भाग" की संज्ञा दी जाती है। अ० प्रा० का मत है कि रेफ से परे जब कोई ऊष्म आए और उस ऊष्म से परे कोई स्वर हो, तब रेफ तथा ऊष्म के मध्य अर्ध अकार का आगम होता है, परन्तु कतिपय आचार्य ऐसी स्थिति में अकार के चतुर्थ भाग का आगम मानते हैं, और रेफ से परे ऊष्म से भिन्न व्यञ्जन आने पर वे रेफ के पश्चात् $\frac{1}{2}$ या $\frac{1}{4}$ अकार की स्वरभक्ति मानते हैं[७२]; यथा—दुर्शः, घ्रर्हिः, अर्य्र्मा, पर्व, धर्मणा। ऋ० प्रा० तथा तै० प्रा० के अनुसार, रेफ के साथ अन्य व्यञ्जन या ऊष्म के संयोग में ऋकार के सदृश स्वरभक्ति होती है[७३]; यथा कर्हि, अर्कम्। वा० प्रा० का मत है कि 'र्' से

परे ऋकार-सदृश और ल् से परे ऌकार-सदृश स्वरभक्ति का उच्चारण होता है[७४]; यथा—गार्हपत्यः, शतवल्शः। ऋ० प्रा० का कथन है कि कतिपय आचार्य स्वरभक्ति का रूप पूर्वस्वर या उत्तरस्वर के अनुसार मानते हैं—अर्थात् स्वरभक्ति को केवल ऋकाररूप वाली ही नहीं, अपितु पूर्वस्वर या उत्तरस्वर के अनुसार इकाररूप या उकाररूप वाली भी मानते हैं[७५]। "शतवलिशः" (शतवल्शः) उदाहरण में स्वरभक्ति के इकाररूप उच्चारण को शुद्ध मानते हुए, मा० शि० स्वरभक्ति के अकाररूप तथा उकाररूप उच्चारणों को सदोष मानती है और उनका निषेध करती है[७६]। र् तथा ल् के साथ संयुक्त होने वाले ऊष्मों के अनुसार, या० शि० स्वरभक्ति के पांच भेद मानती है और स्वरभक्ति के इकाररूप, उकार-रूप तथा ग्रस्त उच्चारण के दोषों का निषेध करती है[७७]। के० शि० के अनुसार, स्वरभक्ति का एकाररूप उच्चारण शुद्ध है, यथा— दर्शतम् = दरेशतम्; पर्शव्येन = परेशव्येन; शतवल्शः = शतवलेशः; ह्वार्षीत् = ह्वारेषीत्[७८]। कतिपय आचार्य विशेष परिस्थितियों में स्वरभक्ति का अभाव मानते हैं और कुछ अन्य आचार्य इस का सर्वत्र अभाव मानते हैं[७९]। स्वरभक्ति के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गये मतों से प्रतीत होता है कि वैदिक शाखा-परम्परा तथा देश-भेद के कारण प्राचीन काल में भी उच्चारण-भिन्नता अवश्य रही होगी।

इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि छन्दःपरिमाण की दृष्टि से ऋग्वेद में रेफ तथा अन्य संयुक्त व्यञ्जन के मध्य प्रायेण एक अतिह्रस्व स्वर का उच्चारण करना चाहिए; यथा–दुर्श्रुत–, इन्द्र–, प्र–[८०]। इसी प्रकार जब किसी व्यञ्जन से परे य्, व्, या म् आयें, तो अनुनासिक स्पर्श तथा अन्य संयुक्त व्यञ्जन के मध्य एक अतिह्रस्व स्वर का उच्चारण कुछ विशेष परिस्थितियों में छन्दः-परिमाण की दृष्टि से वाञ्छनीय है[८०क]; यथा–यज्ञः, ग्ना इत्यादि।

१०. अभिनिधान—प्रातिशाख्यों तथा शिक्षा-ग्रन्थों में अभिनिधान का वर्णन मिलता है। अ० प्रा० (१,४८) के अनुसार अभिनिधान के लिए आस्थापित संज्ञा का प्रयोग भी किया जाता है। अभिनिधान का

शाब्दिक अर्थ है—समीप स्थापित करना। दो समीपवर्ती व्यञ्जनों के उच्चारण-सान्निध्य में जब पूर्व व्यञ्जन की ध्वनि कुछ दब सी जाती है, उसे **अभिनिधान** कहते हैं। ऋ० प्रा० (६,१७) के अनुसार जब सन्धि में स्पर्श परे होने पर पूर्ववर्ती स्पर्शों तथा (रेफवर्जित) अन्तस्था वर्णों का उच्चारण उनकी ध्वनि को कुछ दबा कर किया जाता है, उसे अभिनिधान कहते हैं; यथा—अुर्वाग्देवाः में द् से पूर्व ग् का और मरुद्भिः में भ् से पूर्व द् का उच्चारण अभिनिहित है। अ० प्रा० (१,४३) का मत है कि व्यञ्जन का **विधारण** (पृथक् धारण) अभिनिधान है और अभिनिहित ध्वनि दबी हुई (पीडित), दुर्बलतर (सन्नतर) और श्वास तथा नाद से हीन होती है। और इस से आगे अ० प्रा० (१,४४-४७), स्पर्श परे रहते हुए और पदान्त तथा अवग्रह में स्पर्श का अभिनिधान, ऊष्म परे रहते हुए लकार का अभिनिधान, और हकार परे रहते हुए ङ् ण् न् का अभिनिधान मानता है। ऋ० प्रा० (६, १८-१९) अवसान में स्पर्शों का अभिनिधान मानता है और कहता है कि स्वकीय वर्ण परे रहते अननुनासिक तथा अनुनासिक अन्तस्था वर्णों का अभिनिधान होता है; यथा—वाक्, यँयँ युयँ युञ्जम्। ऋ० प्रा० (६, २०-२३) में उद्धृत शाकल्य के मतानुसार, ऊष्म परे रहते लकार का अभिनिधान होता है और पदादि य् र् व् तथा ऊष्म परे रहते क् से म् तक के पदान्तीय स्पर्शों का अभिनिधान होता है। परन्तु व्याडि आचार्य (ऋ० प्रा० ६, ४३-४४) का मत है कि, सिवाय उस परिस्थिति के जब परवर्ती व्यञ्जन का द्वित्व हुआ है या स्पर्श से पूर्व कोई स्वर या रेफ है, अभिनिधान का सर्वत्र लोप अर्थात् अभाव होता है।

११. **ध्रुव**—ऋ० प्रा० (६, ३९-४२) अभिनिधान के प्रसङ्ग में ध्रुव का भी वर्णन करता है। इस प्रातिशाख्य के अनुसार, सघोष व्यञ्जन के अभिनिधान के तुरन्त पश्चात् उसी अभिनिधान के समान उच्चारणकाल वाले नाद (resonance) का आगम होता है उसे ध्रुव कहते हैं; यथा—अुर्वाग्देवाः (ऋ १०,१२९,६)। अघोष अभिनिधान से पीछे आने वाला ध्रुव सुनाई नहीं पड़ता और अनुनासिक अभिनिधान से पीछे आने वाले ध्रुव का उच्चारण नासिका से होता है। अन्तस्था के पीछे आने वाला ध्रुव अन्तस्था-स्वरूप वाला ही होता है।

प्रथमोऽध्यायः

१२.(क) **स्फोटन**—संयोगविषयक उच्चारण-वैशिष्ट्य में **स्फोटन** का व्याख्यान अत्यावश्यक है। अ० प्रा० (२, ३८) के अनुसार, संहिता में वर्ग-विपर्यय होने पर (अर्थात् पूर्वस्थानीय वर्ग के वर्ण से पूर्व परस्थानीय वर्ग का वर्ण आने पर) स्फोटन होता है, यदि पूर्व वर्ण विराम (पदान्त) में हो। अ० प्रा० (१, १०३) के व्याख्याकार ने स्फोटन के लिए व्यञ्जक शब्द का प्रयोग किया है। स्फोटन एक प्रकार की आंशिक स्वर-ध्वनि है जो पूर्ववर्ती व्यञ्जन के उच्चारण को व्यक्त करती है। अ० प्रा० (१, १०३) के अनुसार, स्फोटन का काल ह्रस्व अकार के अष्टम भाग के समान है; यथा—"यद्गा॑युत्रे" (अ० ९,१०, १) में कवर्ग के गकार से पूर्व तवर्ग का दकार वर्गविपर्यय का उदाहरण है। इस दकार तथा गकार के उच्चारण के मध्य स्फोटन है। इसी प्रकार "अ॒नु॒ष्टुप्क्रु॒थम्" (अ० ८,९, २०) में स्फोटन है।

वा० प्रा० (४, १६३) का मत है कि स्पर्श से परे कवर्ग (अर्थात् कवर्ग के किसी भी वर्ण) के रहते हुए स्फोटन करना विकल्प से दोष माना जाता है; यथा—काण्डात्काण्डात्। इस सूत्र पर भाष्य करते हुए उवट स्फोटन का व्याख्यान निम्न प्रकार से करता है—"स्फोटनं नाम पिण्डीभूतस्य संयोगस्य पृथगुच्चारणम्। स्फोटनाख्यो दोषो वा न दोषः।" व० प्र० शि० १८५-१८६ (शि० सं० पृ० १३३) ने भी स्फोटन का यही व्याख्यान किया है।

(ख) **कर्षण**—स्फोटन का अपवाद बतलाते हुए, अ० प्रा० (२, ३९) कहता है कि जब वर्गविपर्यय में चवर्ग से पूर्व टवर्ग आये तब स्फोटन न होकर कालविप्रकर्ष (संयोग के उच्चारण-काल का दीर्घीकरण, "घसीटना") होता है; और इसे कर्षण कहते हैं; यथा—षड्जा॒ता (अ० ८,९, १९)।

१३. **वर्णक्रम (द्वित्व Doubling of Consonants).**

प्रातिशाख्यों ने व्यञ्जनों के उच्चारण के सम्बन्ध में एक और विशेषता का वर्णन किया है जिस के अनुसार विशेष परिस्थितियों में कुछ व्यञ्जनों का द्वित्व कर दिया जाता है। इस उच्चारण-वैशिष्ट्य के लिए ऋ० प्रा० (६, १) ने क्रम और तै० प्रा० (२४,६) ने "वर्णक्रम" संज्ञा का प्रयोग

किया है जब कि तै० प्रा० (१४,१), वा० प्रा०, अ० प्रा० और पा० कहते हैं कि व्यञ्जन का दो बार उच्चारण अर्थात् द्वित्व हो जाता है। यद्यपि वर्णक्रम के सम्बन्ध में अनेक मत-भेद मिलते हैं, तथापि इन सब ग्रन्थों के अनुसार वर्णक्रम के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(क) स्वर के पश्चात् जो संयुक्त व्यञ्जन आते हैं उनमें से प्रथम व्यञ्जन का द्वित्व हो जाता है[८१]। यथा—आ त्त्वा (ऋ० ८, ६८, १); उरु प्प्रथस्व (तै० सं० १, १,८,१); वृक्क्षः (अ० ४,७,५)।

(ख) यदि स्वर से परे आने वाले संयुक्त व्यञ्जनों के आदि में र् तथा ह् आएं तो इन का द्वित्व नहीं होता है और संयोग में इन के पश्चात् आने वाले व्यञ्जन का द्वित्व होता है[८१क]; यथा—अर्क्क्येण (तै० ७,५, ९,१); बाह्व्वोः (वा० सं० २४,१)।

(ग) इसी प्रकार संयोग में ऊष्म तथा अन्तस्था वर्णों के पश्चात् आने वाले स्पर्शों का द्वित्व होता है और स्वर से परे संयोग के आदि में आने वाले ऊष्म तथा अन्तस्था वर्णों का द्वित्व नहीं होता है[८१ख]; यथा—अश्म्मा (वा० सं० १८, १३); उल्ब्वम् (ऋ० १०,५१,१)।

(घ) वर्गों के द्वितीय तथा चतुर्थ वर्णों को द्वित्व प्राप्त होने पर, द्वितीय वर्ण का द्वित्व वर्ग के प्रथम वर्ण से और चतुर्थ का द्वित्व वर्ग के तृतीय वर्ण के द्वारा किया जाता है[८१ग]; यथा—विक्ख्यार्य (वा० सं० ११, २०); अग्द्धम् (ऋ० ७, १८,१६)।

(ङ) संयोग के आदि में न होने पर भी पद या पदान्त के स्वर से परे आने वाले छ् का द्वित्व हो जाता है, और उपर्युक्त नियम (घ) के अनुसार छ् से पूर्व च् का उच्चारण किया जाता है[८१घ]; यथा—आयच्छन्दयः (तै० सं० ४, ५, ३,२); उप च्छायाम् (ऋ० ६,१६,३८)।

(च) ह्रस्व स्वर के पश्चात् आने वाले ङ् न् से परे स्वर आने पर उन का द्वित्व हो जाता है [दे० अनु० ५१क तथा ४२क]। वैदिक वाङ्मय में पदान्तीय ण् का उदाहरण नहीं मिलता है।

प्रथमोऽध्यायः

(छ) विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अनुस्वार का द्वित्व नहीं होता है; तीन या अधिक संयुक्त व्यञ्जन आने पर द्वित्व नहीं होता है; संयोग में सवर्ण व्यञ्जन परे आने पर भी द्वित्व नहीं होता; श् ष् स् से परे स्वर आने पर द्वित्व का निषेध किया जाता है; कतिपय आचार्यों के मतानुसार दीर्घ स्वर से परे आने वाले संयुक्त व्यञ्जन का द्वित्व नहीं होता; अन्य आचार्यों के अनुसार अवसान में द्वित्व नहीं होता; और शाकल्य के मतानुसार कहीं पर भी द्वित्व नहीं होता है[८१छ]।

अक्षर-विभाजन (Syllabication)

१४. प्रातिशाख्यों ने अक्षर (Syllable) के स्वरूप पर विचार किया है और यह निश्चय करने का प्रयास किया है कि शब्द में आने वाले अक्षरों का विभाजन किस आधार पर किया जा सकता है। प्रातिशाख्यों के मतानुसार, स्वर ही अक्षर का मूल आधार है। इस लिए स्वर अकेला या व्यञ्जन के साथ मिल कर अक्षर वनता है, परन्तु स्वर के आश्रय के विना अकेला व्यञ्जन अक्षर नहीं वन सकता और अक्षर में वह स्वर का अङ्ग वन कर रहता है[८२]। अक्षर-विभाजन के सम्बन्ध में प्रातिशाख्यों ने निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है—

(क) प्रारम्भ तथा मध्य में आने वाले व्यञ्जन परवर्ती स्वर के और अवसान में आने वाले व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग वनते हैं[८२क]; यथा—वाक्, गो, दे/वा/य (=देवाय), इ/मान् (=इमान्), ऊर्क्।

(ख) स्वरों के मध्य में आने वाले संयुक्त व्यञ्जनों का प्रथम व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग वनता है[८२ख]; यथा—अन्/तः (=अन्तः)।

(ग) यम, स्वरभक्ति, तथा 'क्रम' से उत्पन्न होने वाला व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग वनता है[८२ग]; यथा—रुक्/मम् (=रुक्मम्), अग्ग्/निः (=अग्ग्निः), अर्क्/कः (=अर्क्कः)।

(घ) जिस व्यञ्जन का क्रम के नियम से द्वित्व होता है उस से परे स्पर्श रहने पर वह क्रमज व्यञ्जन के साथ पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग बनता है परन्तु अन्तस्था तथा ऊष्म वर्ण परे रहने पर वह परवर्ती स्वर का अङ्ग बनता है[८२घ]; यथा—पार्‌ष्ण्/ण्यां (=पाष्ण्र्यां), अद्/ध्य्/व्/सा/यं (=अद्‌ध्यवसायं), अश्/श्लों/ण/या (=अश्श्लोंणया), वत्/त्सः (=वत्त्सः)।

(ङ) अनुस्वार तथा विसर्जनीय पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग बनते हैं[८२ङ]; यथा—अन्/तः (=अन्तः), हं/सः (हंसः)।

३. प्रयोगात्मक तथा तुलनात्मक विवेचन

पाश्चात्य संस्कृतज्ञों ने वैदिक ध्वनियों के प्रयोग तथा तुलनात्मक इतिहास के सम्बन्ध में सराहनीय अनुसन्धान किया है। निम्नलिखित पंक्तियों में उन अनुसन्धानों का निष्कर्षमात्र अति संक्षेप रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

१५. समानाक्षर—

अ—इस ध्वनि का वैदिक भाषा में सर्वाधिक प्रयोग मिलता है और आ की तुलना में अ का प्रयोग दुगने से भी अधिक है। अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वैदिक ध्वनि अ साधारणतया इण्डोयोरोपीय मूल भाषा की ă ĕ ŏ ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करती है[८३]; यथा—

अ=ă—अज्र "खेत"=Lat. *ager*, Engl. acre.

अ=ĕ—अस्ति "है"=Lat. *est*; मध्यं=Lat. *medius*.

अ=ŏ—अवि "भेड़"=Lat. *ovis*.

इस के अतिरिक्त अ मूलभाषा के सघोष नासिक्य (sonant nasal) के स्थान पर भी आता है, जहां यह अनुदात्त अक्षर (अन् अम्) के ह्रसित रूप (reduced form) का प्रतिनिधित्व करता है; यथा—असि-"तलवार"=Lat. *ensis*; शतम् "सौ"=Lat. *centum*, Goth. *hund*; √गम् से गत तथा √मन् से मत इत्यादि।

बने चकर्र और कृत; √ग्रभ् से बने ग्रभं और गृभीत तथा जुग्रभं और गृभ्णामि की तुलना करनी चाहिए।

ॠ—ऋ की तुलना में ॠ का प्रयोग कई गुना कम है और इस का प्रयोग केवल ऋकारान्त (पुं०, स्त्री०, नपुं०) प्रातिपदिकों की द्वितीया तथा षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में और ऋकारान्त (नपुं०) की प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में मिलता है। ऋ० प्रा० (१३, ३४) तथा अ० प्रा० (१, ३८) के अनुसार ॠ के पूर्वार्द्ध में "र्" का तत्त्व है। आधुनिक भाषाशास्त्रियों के मतानुसार, अर् की दीर्घ ह्रासावस्था (lengthened low grade) में इस के स्थान पर ॠ आता है; यथा—पितृ से बने पितरम् और पितॄन् की तुलना कीजिये।

ऌ—ऌ का प्रयोग-क्षेत्र अत्यधिक सीमित है। और √कृप् "समर्थ होना" (पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार √क्लृप्) से बने कुछ तिङन्त तथा कृदन्त रूपों में ऌ का प्रयोग मिलता है; यथा—चाक्लृपुः, चाक्लृप्रे, चीक्लृपाति, क्लृप्त, क्लृप्तिः। इनके अतिरिक्त इस धातु से "ल्" वाले रूप कल्पस्व, कल्पं इत्यादि भी बनते हैं। ऋ० प्रा० के प्रारम्भिक पद्य (९) में कहा गया है कि ऌकार पदों के आदि तथा अन्त में नहीं आता है। पाश्चात्य विद्वान् ऌ को ल् का स्वरीकृत (vocalised) रूप और अल् की ह्रासावस्था (low grade) में इसका प्रतिनिधि मानते हैं; यथा—कल्पं और क्लृप्तिः की तुलना कीजिये। हम पहले यह बतला चुके हैं कि प्रातिशाख्यकार ऌ में ल् का तत्त्व मानते हैं।

१६. सन्ध्यक्षर—

ए—अन्य सन्ध्यक्षरों की तुलना में ए का प्रयोग सर्वाधिक है। यह ध्वनि इण्डो-योरोपीय मूलभाषा के सन्ध्यक्षर ăi, ĕi तथा ŏi का प्रतिनिधि है; यथा—एधस् "ईन्धन" =Av. *aesma*,Gk. a' ithō; एति "जाता है" =Lith. *eiti*; ते "वे" =Gk. toi. गुणसन्धि से बना ए, अ आ के साथ इ ई के एकरूप का परिचायक है। कुछ शब्दों में यह अक्षर द्, ध्, ह से पूर्व आने वाली उस इण्डो-ईरानियन ध्वनि az का प्रतिनिधित्व करता है जो अब तक अवेस्ता में सुरक्षित है; यथा मेधा

=Av. mazdaə; नेदीयस् =Av. nazdyō; देहि =Av. dazdi. √अस् धातु से बने रूप एधि का व्याख्यान भी इसी आधार पर किया जाता है।

ओ—प्रयोग की दृष्टि से ए के पश्चात् ओ का स्थान आता है। ओ का अधिकतर प्रयोग पदों के मध्य में मिलता है। पदों के आदि तथा अन्त में इसका प्रयोग बहुत कम है। ओ इण्डो-योरोपीय मूलभाषा के सन्ध्यक्षर ău, ĕu तथा ŏu का प्रतिनिधित्व करता है; यथा ओजस् "बल" =Av. aogarə (तु० Lat. *augustus*); बोधामि "मैं समझता हूं" =Gk. *peútho-mai*; लोक =Lith. *laũkas*. गुण-सन्धि में अ आ और उ ऊ के एकरूप आदेश से ओ बनता है। भकारादि विभक्तियों से पूर्व और यकारादि तथा वकारादि तद्धित प्रत्ययों से पूर्व —अस् अन्त वाले शब्दों के रूपों में ओ इण्डो-इरानियन ध्वनि az का प्रतिनिधित्व करता है; यथा— द्वेषोभिः (द्वेषस्+भिस्), अंहोयु (अंहस्+यु); तथा सहोवन् (सहस्+वन्)। षष् पूर्वपद वाले समासों में भी ओ az का प्रतिनिधि है; यथा—षोडश (षष्+दश) और षोढा (षष्+धा)। इसी प्रकार वोढुम् (वह्+तुमुन्) में ओ az का प्रतिनिधि है।

ऐ औ—इन दोनों सन्ध्यक्षरों का प्रयोग अन्य स्वरों की तुलना में बहुत कम मिलता है और औ का प्रयोग सब से कम है। तद्धितप्रत्ययान्त पदों से अन्य पदों के प्रारम्भ में इन का प्रयोग अतीव विरल है। अ आ के साथ ए ओ की एकरूपसन्धि होने पर क्रमशः ऐ औ बनते हैं। और जब ऐ औ से परे कोई स्वर आए तो इन को क्रमशः आय् आव् आदेश होता है। इसलिये आधुनिक भाषा-शास्त्री ऐ औ को क्रमशः āi āu इ० यो० मूल ध्वनियों का प्रतिनिधि मानते हैं; यथा— नौः "नाव" =Gk. *naus*, Lat. *navis;* द्यौः "आकाश" =Gk. *Zeús*; गौः "गाय" =Gk. *Boũs*.

स्वरावस्था-विकृति (Vowel gradation)

१७. इण्डो-योरोपीय परिवार की भाषाओं की यह एक विशेषता है कि सुबन्त, तिङन्त, तद्धित तथा कृदन्त रूपों की रचना के समय मूल स्वरों

आ—यह ध्वनि इण्डो-योरोपीय मूल भाषा की ā ē ō ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करती है; यथा—

आ=ā—मातृ "मां"=Lat. *māter.*

आ=ē—सामि "आधा"=Lat. *sēmi.*

आ=ō—आस् "मुख"=Lat. *ōs.*

सन्धि में यह ध्वनि दो अकारों के एकादेश को प्रकट करती है; यथा—इह+अस्ति=इहास्ति। अ के सदृश आ प्रायः सघोष नासिक्य के स्थान पर भी आता है; यथा—√खन् से खात; √जन् से जात इत्यादि।

इ—इस ध्वनि का वैदिक भाषा में प्रचुर प्रयोग मिलता है। यह इण्डो-योरोपीय मूल भाषा की *i* ध्वनि का प्रतिनिधित्व करती है; यथा—रिचन्ति "वे छोड़ते हैं"=Lat. *linquunt.* धातुओं तथा प्रत्ययों में इ प्रायेण ए तथा य की ह्रासावस्था ((low grade) का प्रतिनिधि है; यथा—√विद् "जानना" से बने वेद रूप में धातु उदात्तसहित है और विद्म में धातु उदात्तरहित है। इस के अतिरिक्त आकारान्त धातुओं में आ की ह्रासावस्था में इस के स्थान पर इ वर्ण आता है; यथा—√शास् से बने शास्ति के साथ शिष्ट की तुलना कीजिये। इसी प्रकार √स्था से स्थित और √धा से हित बनते हैं।

ई—इ की तुलना में ई का प्रयोग बहुत कम है। ई वर्ण इण्डो-योरोपीय मूल भाषा की ī ध्वनि का प्रतिनिधित्व करता है; यथा—जीव "जीवित" =Lat. *vīvus.* सन्धि में ई दो इकारों के एकादेश को प्रकट करता है; यथा—ईषुः=इ+इष्+उस (लि० प्र० पु० ब०)।

इस के अतिरिक्त ई प्रायेण या की ह्रासावस्था (low grade) में या के स्थान पर आता है; यथा—√अश् "प्राप्त करना" से बने अश्याम् रूप के साथ अशीमहि की तुलना कीजिये। इसी प्रकार √ज्या से बने ज्यायस् और जीत (अ०) की तुलना कीजिये[४]।

उ—इ की तुलना में उ का प्रयोग अल्पतर है। परन्तु ऊ की तुलना में उ का प्रयोग कई गुना है। उ ध्वनि इण्डोयोरोपीय मूल भाषा की u ध्वनि का प्रतिनिधित्व करती है; यथा—रुधिर "लाल" =Lat. *ruber*; स्नुषा "पुत्रवधू" =Lat. *nurus*, O. sl. *snŭcha*. इसके अतिरिक्त ओ तथा व की ह्रासावस्था (low grade) में उ इन के स्थान पर आता है; यथा—√युज् से वने योग के साथ युग की तुलना कीजिये। इसी प्रकार √स्वप् से वने स्वप्न तथा सुप्त पर ध्यान दीजिये।

ऊ—ऊ का प्रयोग उ की अपेक्षा कई गुना कम है और ई से भी इस का प्रयोग बहुत कम है। यह ध्वनि इण्डोयोरोपीय मूल भाषा की ū ध्वनि का प्रतिनिधित्व करती है; यथा—धूम "धूँआ" =Lat. *fūmus*, O. sl. *dymŭ*. इसके अतिरिक्त औ तथा वा की ह्रासावस्था (low grade) में इन के स्थान पर ऊ आता है; यथा—स्वादते के साथ सुषूदति की तुलना कीजिए। इसी प्रकार √धौ से वने धावति के साथ क्तान्त रुप धूत की तुलना करनी चाहिए। सवर्णदीर्घ सन्धि में ऊ दो उकारों का प्रतिनिधित्व भी करता है; यथा—सूक्तम्=सु+उक्तम्।

ऋ—वैदिक भाषा में ऋ का प्रयोग लगभग ऊ के प्रयोग के बराबर है। जैसा कि पहले वतलाया जा चुका है, प्रातिशाख्यकार ऋ में र् का तत्त्व मानते हैं। वैदिक ऋ की तुलना में अवेस्ता में ərə मिलता है। इसलिये इस सम्बन्ध में आधुनिक भाषा-शास्त्रियों का मत है कि वास्तव में र् का स्वरीकृत (vocalised) रूप ही ऋ है। अर् तथा र की ह्रासावस्था (low grade) में इन के स्थान पर ऋ हो जाता है। अर् तथा ऋ के परिवर्तन के उदाहरण प्रायेण "-तृ" अन्त वाले प्रातिपदिकों के रूपों में मिलते हैं; और र तथा ऋ के परिवर्तन के उदाहरण प्रायेण धातुओं के तिङन्त रूपों में मिलते हैं; यथा—जनितृ "पैदा करने वाला" से वने जनितरि, जनितारः और जनितृभ्याम् की तुलना कीजिये। इसी प्रकार √कृ से

बने सुकर और कृत; √ग्रभ् से बने ग्रभ और गृभीत तथा जग्रभ और गृभ्णामि की तुलना करनी चाहिए।

ॠ—ऋ की तुलना में ॠ का प्रयोग कई गुना कम है और इस का प्रयोग केवल ऋकारान्त (पुं०, स्त्री०, नपुं०) प्रातिपदिकों की द्वितीया तथा षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में और ऋकारान्त (नपुं०) की प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के बहुवचन में मिलता है। ऋ० प्रा० (१३, ३४) तथा अ० प्रा० (१, ३८) के अनुसार ॠ के पूर्वार्द्ध में "र्" का तत्त्व है। आधुनिक भाषाशास्त्रियों के मतानुसार, अर् की दीर्घ ह्रासावस्था (lengthened low grade) में इस के स्थान पर ॠ आता है; यथा—पितृ से बने पितरम् और पितॄन् की तुलना कीजिये।

ऌ—ऌ का प्रयोग-क्षेत्र अत्यधिक सीमित है। और √कृप् "समर्थ होना" (पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार √क्लृप्) से बने कुछ तिङन्त तथा कृदन्त रूपों में ऌ का प्रयोग मिलता है; यथा—चाक्लृपुः, चाक्लृप्रे, चीक्लृपाति, क्लृप्त, क्लृप्तिः। इनके अतिरिक्त इस धातु से "ल्" वाले रूप कल्पस्व, कल्प इत्यादि भी बनते हैं। ऋ० प्रा० के प्रारम्भिक पद्य (९) में कहा गया है कि ऌकार पदों के आदि तथा अन्त में नहीं आता है। पाश्चात्य विद्वान् ऌ को ल् का स्वरीकृत (vocalised) रूप और अल् की ह्रासावस्था (low grade) में इसका प्रतिनिधि मानते हैं; यथा—कल्प और क्लृप्तिः की तुलना कीजिये। हम पहले यह बतला चुके हैं कि प्रातिशाख्यकार ऌ में ल् का तत्त्व मानते हैं।

१६. सन्ध्यक्षर—

ए—अन्य सन्ध्यक्षरों की तुलना में ए का प्रयोग सर्वाधिक है। यह ध्वनि इण्डो-योरोपीय मूलभाषा के सन्ध्यक्षर ăi, ĕi तथा ŏi का प्रतिनिधि है; यथा—एधस् "ईन्धन"=Av. *aēsma*, Gk. a' ithō; एति "जाता है"=Lith. *eĭti*; ते "वे" =Gk. toi. गुणसन्धि से बना ए, अ आ के साथ इ ई के एकरूप का परिचायक है। कुछ शब्दों में यह अक्षर द, ध्, ह से पूर्व आने वाली उस इण्डोइरानियन ध्वनि az का प्रतिनिधित्व करता है जो अब तक अवेस्ता में सुरक्षित है; यथा मेधा

=Av. mazdā; नेदीयस् =Av, nazdyō; देहि =Av. dazdi. √अस् धातु से बने रूप एधि का व्याख्यान भी इसी आधार पर किया जाता है।

ओ—प्रयोग की दृष्टि से ए के पश्चात् ओ का स्थान आता है। ओ का अधिकतर प्रयोग पदों के मध्य में मिलता है। पदों के आदि तथा अन्त में इसका प्रयोग बहुत कम है। ओ इण्डो-योरोपीय मूलभाषा के सन्ध्यक्षर ău, ĕu तथा ŏu का प्रतिनिधित्व करता है; यथा ओजस् "बल" =Av. aogarə (तु० Lat. *augustus*); बोधामि "मैं समझता हूं" =Gk. *peútho-mai*; लोक =Lith. *laũkas.* गुण-सन्धि में अ आ और उ ऊ के एकरूप आदेश से ओ बनता है। भकारादि विभक्तियों से पूर्व और यकारादि तथा वकारादि तद्धित प्रत्ययों से पूर्व –अस् अन्त वाले शब्दों के रूपों में ओ इण्डो-इरानियन ध्वनि az का प्रतिनिधित्व करता है; यथा—द्वेषोभिः (द्वेषस्+भिस्), अंहोयु (अंहुस्+यु), तथा सहोवन् (सहस्+वन्)। षष् पूर्वपद वाले समासों में भी ओ az का प्रतिनिधि है; यथा—षोडश (षष्+दश) और षोढा (षष्+धा)। इसी प्रकार वोढुम् (वह्+तुमुन्) में ओ az का प्रतिनिधि है।

ऐ औ—इन दोनों सन्ध्यक्षरों का प्रयोग अन्य स्वरों की तुलना में बहुत कम मिलता है और औ का प्रयोग सब से कम है। तद्धितप्रत्ययान्त पदों से अन्य पदों के प्रारम्भ में इन का प्रयोग अतीव विरल है। अ आ के साथ ए ओ की एकरूपसन्धि होने पर क्रमशः ऐ औ बनते हैं। और जब ऐ औ से परे कोई स्वर आए तो इन को क्रमशः आय् आव् आदेश होता है। इसलिये आधुनिक भाषा-शास्त्री ऐ औ को क्रमशः āi āu इ० यो० मूल ध्वनियों का प्रतिनिधि मानते हैं; यथा— नौः "नाव" =Gk. *naus*, Lat. *navis;* द्यौः "आकाश" =Gk. *Zeús;* गौः "गाय" =Gk. *Boũs.*

स्वरावस्था-विकृति (Vowel gradation)

१७. इण्डो-योरोपीय परिवार की भाषाओं की यह एक विशेषता है कि सुबन्त, तिङन्त, तद्धित तथा कृदन्त रूपों की रचना के समय मूल स्वरों

(ख) **वृद्धि अवस्था** (Lengthened grade) ऐ औ आर्— अनेक सुवन्त, तद्धित, तिङन्त तथा कृदन्त रूपों में गुण के स्थान पर वृद्धि (ऐ औ आर्) मिलती है। पाश्चात्य भाषाशास्त्री इस प्रकार के ऐ औ आर् को गुण (अर्थात् क्रमशः ए ओ अर्) की वृद्धि अवस्था (Lengthened grade) मानते हैं। यह वृद्धि सर्वदा उसी अक्षर पर होती है जहां गुण होता है। इस के निम्नलिखित उदाहरण उल्लेखनीय हैं—

(१) सुवन्तरूप—गौः, द्यौः।

(२) तद्धितरूप—औशिज (उशिज् का अपत्य), श्रौत्र (श्रोत्र-सम्बन्धी), हैरण्य (हिरण्य का)।

(३) तिङन्तरूप—√यु से यौमि; √क्ष्णु से क्ष्णौमि; √जि से जैषुः, अजैषम्; √भृ से अभार्षम्।

(४) कृदन्तरूप—√कृ से कारक; √भृ से भार्य।

(ग) **गुण तथा वृद्धि की ह्रासावस्था**— (Low grade) ई, ऊ, ईर्, ऊर्—गुण (ए ओ अर्) तथा वृद्धि (ऐ औ आर्) दोनों प्रकार के अक्षरों की ह्रासावस्था में इन के स्थान पर कहीं कही यथाविधि ई, ऊ, ईर् ऊर् भी आ सकते हैं; यथा— √भी से बिभेमि (गुण) और बिभाय (वृद्धि) की तुलना में भीत बनता है। इसी प्रकार √ह्वे से ह्वोम और जुहाव की तुलना में हूत; √तॄ से ततर, ततार तथा तिरते की तुलना में तीर्ण; √स्तॄ से तस्तरे और तस्तार की तुलना में स्तीर्ण; और √पॄ से पिपर्ति तथा पपार की तुलना में पूर्ण इत्यादि रूप बनते हैं।

(घ) **ह्रासावस्था के अक्षर ई, ऊ, ईर्, ऊर् का पुनर्ह्रास**— उपर्युक्त ह्रासावस्था वाले अक्षरों (ई, ऊ, ईर्, ऊर्) का पुनर्ह्रास होने पर इनके स्थान पर ह्रस्व अक्षर इ उ ऋ आ जाते हैं। यह पुनर्ह्रास उस अवस्था में होता है जब उपर्युक्त ई, ऊ, ईर् या ऊर् वाले शब्द का उदात्त समास या सम्बोधन में अपने साधारण स्थान से हट कर शब्द के प्रथम अक्षर पर चला जाता है; यथा समास में—√शी से बना रूप निशिता "रात्रि"; √सू से बने रूप सूतिका की तुलना में सुपुति

"अच्छा जन्म"; √स्तृ से बने रूप स्तीर्ण की तुलना में अस्तृत; √ह्वे "बुलाना" से बने रूप हूति की तुलना में आहुति इत्यादि उदाहरण ध्यान देने योग्य हैं। इसी प्रकार सम्बोधन में—देवी से देवि और श्वश्रू से श्वश्रु इत्यादि उदाहरण उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त उन आख्यात रूपों में जिनमें द्वित्व के कारण उदात्त अपने साधारण स्थान से हट जाता है, ई, ऊ, ईर्, ऊर् को इ, उ, ऋ के रूप में पुनर्ह्रास प्राप्त होता है; यथा—√पृ "भरना" से पूर्ण तथा पूर्त की तुलना में पिपृताम् बनता है।

य व र की ह्रासावस्था (Low grade) सम्प्रसारण

१९. पाणिनीय व्याकरण (१,१,४५) के अनुसार, य् व् र् के स्थान पर क्रमशः प्रयुज्यमान इ उ ऋ की संप्रसारण संज्ञा है। और अन्य सूत्र (६,१, १०८) के अनुसार, संप्रसारण-संज्ञक इ उ ऋ से परे आने वाले अच् तथा सम्प्रसारण का पूर्वरूप एकादेश हो जाता है; यथा—यज्, वप्, ग्रह् धातुओं के य व र का क्रमशः इ, उ, ऋ सम्प्रसारण बनता है। इसके सम्बन्ध में पाश्चात्य भाषा-शास्त्रियों का मत है कि गुण की तुलना में जब य व र पर उदात्त स्वर हो तो वह य व र की साधारण अवस्था (Normal grade) है। परन्तु रूप-रचना में जब उदात्त य व र से हट कर परवर्ती अच् पर चला जाए, तब य व र के स्थान पर इनकी ह्रासावस्था (Low grade) के अक्षर इ उ ऋ आ जाते हैं; यथा—√यज् से बने इयाज की तुलना में इष्ट; √वश् "इच्छा करना" से बने वष्टि की तुलना में उश्मसि, √ग्रह् से बने जग्रह की तुलना में जगृहुः इत्यादि आख्यातिक उदाहरण प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार युवन् "जवान" से बने युवभिः की तुलना में यूनः, और श्वन् "कुत्ता" से बने श्वभिः की तुलना में शुनाम् इत्यादि उदाहरण ध्यान देने योग्य हैं। सम्प्रसारण-सम्बन्धी नियमों के विषय में पा० ६,१,१३-४४ तथा ६,४,१३१-१३३ द्रष्टव्य है।

या वा रा की ह्रासावस्था (Low grade)

२०. य व र की भांति या वा रा से उदात्त के हट जाने पर इनकी

की अवस्था में कई प्रकार के विकार होते हैं। इस स्वरावस्था-विकृति के लिए जर्मनभाषा में Ablaut और इंगलिशभाषा में Vowel gradation संज्ञा का व्यवहार किया जाता है। इस स्वरावस्था-विकृति के लिए कतिपय भारतीय विद्वान् अपश्रुति संज्ञा का व्यवहार करते हैं, परन्तु मैं उनसे सहमत नहीं हूँ, क्योंकि संस्कृतभाषा के प्रयोग तथा व्याकरण के आधार पर अपश्रुति शब्द से ऐसा कोई अर्थ नहीं निकल सकता। संस्कृत वैयाकरण अतिप्राचीन काल में भी इस प्रकार की स्वरावस्थाविकृति से परिचित थे और उन्होंने इस सम्बन्ध में गुण, वृद्धि, सम्प्रसारण आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया। पाश्चात्य भाषा-शास्त्रियों तथा संस्कृत वैयाकरणों के दृष्टिकोण में मुख्य भेद यह है कि संस्कृत वैयाकरण स्वरों की ह्रस्वावस्था (इ उ ऋ ऌ) को साधारण अवस्था (normal grade) मान कर उस के आधार पर गुण, वृद्धि आदि अवस्था-विकृति का व्याख्यान करते हैं (दे० पा० १,१,३)। और इस के विपरीत पाश्चात्य भाषा-शास्त्री गुण (अ ए ओ अर् अल्) को साधारण अवस्था (normal grade) मान कर उस के आधार पर ह्रासावस्था (low grade) तथा वृद्धि अवस्था (lengthened grade) आदि का व्याख्यान करते हैं। इस पक्ष के समर्थन में उनकी प्रधान युक्ति यह है कि स्वरावस्था-विकृति मुख्यतः उदात्त स्वर के स्थान-परिवर्तन के कारण होती है, क्योंकि उदात्त ही पद का प्रमुख स्वर माना जाता है। जब तक किसी पूर्ण अक्षर पर उदात्त स्वर रहता है, तब तक वह अक्षर अविकृत रहता है। परन्तु जब उदात्त के स्थान-परिवर्तन के कारण अक्षर अनुदात्त हो जाता है, तब वह ह्रासावस्था (low grade) को प्राप्त होता है। क्योंकि उदात्त स्वर से युक्त अवस्था में ही अक्षर पूर्ण माना जाता है और उदात्त स्वर प्रायेण गुण अवस्था में ही पाया जाता है, इसलिए पाश्चात्य भाषाशास्त्री गुण (अ ए ओ अर् अल्) को साधारण अवस्था मानते हैं। इस सम्बन्ध में √जि से बने निम्नलिखित उदाहरणों पर ध्यान दीजिए—

(१) साधारण अवस्था (Normal grade)—जेतुम्, जयति।

(२) वृद्धि अवस्था (Strengthened or lengthened grade or Dehnstufe)—अजैषम्, जैपुः (अ०)।

(३) ह्रासावस्था (Low grade)—जित।

यद्यपि संस्कृत वैयाकरणों ने इ उ ऋ ऌ को साधारण अवस्था मान कर गुण, वृद्धि आदि का व्याख्यान किया है, तथापि गुण और उदात्त का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध उनकी दृष्टि से ओझल नहीं था। पाणिनि (३,४,७८,९२) ने धातुओं से परे आने वाले उन प्रत्ययों को जो धातु के इ उ ऋ को अवश्य गुण करते हैं पित् किया है; यथा— शप्, तिप्, सिप्, मिप् और लोट् के उत्तम पुरुष का आट् आगम। और ३.१,४ में पाणिनि ने पित् प्रत्यय को अनुदात्त बनाकर पद के उदात्त का स्थान धातु के गुण अक्षर पर निश्चित कर दिया है। इसी प्रकार के बहुत से अन्य उदाहरण भी मिलते हैं। नीचे विभिन्न स्वरावस्थाओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

गुण (ए ओ अर् अल्) की अवस्थाएं

१८. (क) **ह्रासावस्था** (Low grade) इ उ ऋ ऌ—धातुओं से बने तिङन्त तथा कृदन्त रूपों में जहां पर ए ओ अर् अल् आते हैं वहां उन पर प्रायेण उदात्त आता है। यह गुण की साधारण अवस्था है। परन्तु जिन रूपों में उदात्त का स्थान-परिवर्तन हो जाता है, उन में गुण अर्थात् ए ओ अर् अल् के स्थान पर क्रमशः इ उ ऋ ऌ हो जाते हैं। पाश्चात्य भाषा-शास्त्री उदात्त स्वर के आधारभूत गुण को साधारण अवस्था (normal grade) मानते हुए इ उ ऋ ऌ को गुण (अर्थात् क्रमशः ए ओ अर् अल्) की ह्रासावस्था (Low grade) मानते हैं; यथा— √इ से बने रूप एमि तथा इमः; √आप् से बने रूप आप्नोमि तथा आप्नुमः; √दृश् से बने रूप ददर्श तथा ददृशुः; और √कृप् से बने रूप कल्पते तथा चुक्लृपे इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य हैं। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, संस्कृत वैयाकरणों के मतानुसार उपर्युक्त उदाहरणों में मूल अक्षर इ उ ऋ ऌ के आधार पर गुण अर्थात् गौण अक्षर ए ओ अर् अल् का व्याख्यान किया जाता है (दे० पा० १,३,८४,८६)।

ह्रासावस्था में क्रमशः ई ऊ ईर् इनके स्थान पर आ जाते हैं। इनके उदाहरण मुख्यतया तिङन्त तथा तद्धित रूपों में मिलते हैं; यथा—√प्याय् "फूलना" से बने प्यायते की तुलना में पीन, √ब्रू से बने ब्रूयात् की तुलना में ब्रुवीत; √स्वाद् से बने स्वादते की तुलना में सुषूदति; और दीर्घ की तुलना में द्राघीयस् तथा द्राघिष्ठ इत्यादि उदाहरण ध्यान देने योग्य हैं।

अ की अवस्थाएं

२१. अनेक धातुओं तथा नामरूपों में आनेवाला अ गुण अवस्था (Normal grade) में मिलता है और पाणिनि ने भी "अदेङ्गुणः" सूत्र (१,१,२) में अ की गुण अवस्था स्वीकार की है। पाश्चात्य भाषा-शास्त्रियों का मत है कि गुण अवस्था वाला अ प्रायेण इण्डो-योरोपीय मूलभाषा की ĕ या ŏ ध्वनि का प्रतिनिधित्व करता है। यद्यपि ह्रासावस्था (low grade) में साधारणतया इस प्रकार के अ का लोप सम्भाव्य है, तथापि इस का लोप सर्वत्र वाञ्छनीय नहीं है, क्योंकि कुछ रूपों में अ का लोप होने से उनका उच्चारण ही असम्भव है। तब भी ह्रासावस्था वाले बहुत से रूपों में अ का लोप हो जाता है; यथा—√अस् से बने अस्ति की तुलना में सन्ति; √गम् से बने जगाम की तुलना में जग्मुः; √हन् से बने हन्ति की तुलना में घ्नन्ति इत्यादि उदाहरणों में अ का लोप हुआ है।

गुण अ की वृद्धि अवस्था (lengthened grade) में इस के स्थान पर आ हो जाता है (दे० पा० १, १,१–वृद्धिरादैच्)। वृद्धि अवस्था के उदाहरण सुबन्त, तद्धित, तिङन्त तथा कृदन्त रूपों में मिलते हैं; यथा—महत् की तुलना में महान्; वपुस् की तुलना में वापुष; √यम् "फैलाना" से बना तिङन्त रूप अयांसम् और √वह् "ले जाना" से बना कृदन्तरूप वाहस् "हविः" इत्यादि उदाहरण उल्लेखनीय हैं।

आ की अवस्थाएं

२२. पाश्चात्य-भाषाशास्त्रियों के मतानुसार, कुछ धातुओं में आने वाला आ गुण अर्थात् साधारण अवस्था (normal grade) का प्रतिनिधि माना जाता

है और वह अ की वृद्धि-अवस्था (lengthened grade) का प्रतिनिधि नहीं है। साधारण-अवस्था वाले आ की ह्रासावस्था (low grade) में इस के स्थान पर प्रायेण इ आता है, परन्तु सादृश्य के कारण कहीं-कहीं ई भी आता है। और कभी-कभी गौण उदात्त स्वर के साथ अ भी आता है; यथा–√स्था से बने स्थाः (लु० म० पु० ए०) की तुलना में स्थित; √धा से बने दधाति की तुलना में धित; √पा "पीना" से बने पातवे की तुलना में पीत इत्यादि उदाहरण आ के स्थान पर आने वाले इ तथा ई का स्पष्ट व्याख्यान करते हैं (दे० पा० ७,४,४०-४५; ६,४, ६६)। इसी प्रकार गाहते की तुलना में आने वाले गहन तथा गह्वर इत्यादि उदाहरण भी ध्यान देने योग्य हैं। (१) आकारान्त धातुओं से बने लिट् के रूपों में अजादि प्रत्ययों से पूर्व; (२) √दा "देना" और √धा "रखना" इत्यादि धातुओं के अभ्यास वाले रूपों में सब प्रकार के प्रत्ययों से पूर्व; (३) अजन्त उपसर्ग के साथ समस्त √दा "देना" और √दो "काटना" धातुओं के क्तान्त रूपों में; (४) और √हा "छोड़ना" इत्यादि कुछ अन्य धातुओं से बने तिङन्त रूपों में ह्रासावस्था (low grade) को प्राप्त हुए आ का लोप हो जाता है; यथा– (१) √स्था से तस्थुः (लि० प्र० पु० ब०–दे० पा० ६, ४, ६४); (२) √दा से दद्युः तथा दद्मसि और √धा से दधुः तथा दध्मसि (दे० पा० ६, ४, ११२); (३) प्र+√दा से प्रत्त तथा आ+√दा से आत्त और अव+√दो से अवत्त (दे० पा० ७, ४, ४७); (४) और √हा से विधिलिङ् में जह्यात (दे० पा० ६,४,११८) इत्यादि उदाहरण उल्लेखनीय हैं।

ऐ तथा औ की अवस्थाएं

२३. (क) **ऐ की ह्रासावस्था (Low grade) ई**–संस्कृत वैयाकरणों ने कुछ धातुओं के अन्त में ऐ माना है; यथा—√गै "गाना" तथा √श्यै "जमना" इत्यादि। अजादि प्रत्ययों से पूर्व सन्धि के कारण इनका ऐ साधारणतया आय् के रूप में प्रकट होता है। ह्रासावस्था (Low grade) में ऐ के स्थान पर ई की ध्वनि आती है; यथा—√गै से गायति की तुलना में गीत; और √श्यै से श्यायते की तुलना में शीत तथा शीन इत्यादि।

(ख) औ की ह्रासावस्था (Low grade) ऊ—पाश्चात्य भाषाशास्त्री ऊ को औ की ह्रासावस्था का प्रतिनिधि मानते हैं और इस मत के समर्थन में प्रायेण निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—धावति "धोता है" की तुलना में धूत "धोया गया"; और धावति "भागता है" की तुलना में धूम "धूँआ" (दे० Ved. Gr., p. 19)। परन्तु ये उदाहरण पूर्णतया असंदिग्ध नहीं माने जा सकते।

व्यञ्जन

२४. **कण्ठ्य स्पर्श** (क् ख् ग् घ् ङ्)—वैदिक भाषा में ककार का प्रयोग अन्य चारों कण्ठ्य स्पर्शों की तुलना में सब से अधिक है और ङकार का प्रयोग सब से कम है। ङकार के प्रयोग के सम्बन्ध में यह तथ्य विशेषतया उल्लेखनीय है कि इसका अधिकतर प्रयोग कवर्ग के स्पर्शों से पूर्व मिलता है; यथा—अङ्क, अङ्कर्य, अङ्ग, जङ्घा इत्यादि। अन्य स्पर्शों से पूर्व ङकार तभी आता है जब किसी कण्ठ्य स्पर्श ध्वनि का लोप हुआ हो, यथा—युङ्धि=युञ्ज्+धि (लोट् म० पु० ए० में ज् का ग् बन कर लोप हुआ)। इसी प्रकार जहां किसी उत्तरवर्ती कण्ठ्य स्पर्श का लोप हुआ हो वहां पदान्त में भी ङकार मिलता है; यथा—क्रीदृश् से क्रीदृङ् और प्रत्यञ्च् से प्रत्यङ् इत्यादि। वैदिक भाषा के कण्ठ्य स्पर्श प्रायेण इ० यो० मूल भाषा के मध्य कण्ठ्य स्पर्शों (Velars) का प्रतिनिधित्व करते हैं[5]; यथा—कक्ष "बगल" =Lat. *coxa*; अङ्क "गोद" = Lat. *uncus*; आगस् "पाप" =Gk. *'ágos*; मेघ "बादल"=Goth. *miglu*. वैदिक भाषा के कुछ कण्ठ्य स्पर्शों का उद्गम इ० यो० मूलकण्ठ्य स्पर्शों (Labio-velars) से भी माना जाता है; यथा—कः "कौन" = Lat. quis; गौः "गाय" = Gk. *Boûs*, Lat. bōs. इस के अतिरिक्त कुछ विशेष परिस्थितियों में वैदिक भाषा के कण्ठ्य स्पर्श तालव्य ध्वनियों के स्थान पर भी आते हैं; यथा—दिक्षु इत्यादि के क्ष् (क्+ष्) में मूलतः श् तथा स् का संयोग है, और श् के स्थान पर क् बनने से सन्धि के परिणाम-स्वरूप स् का मूर्धन्य हो गया है (दे० अनु० ७६)। इसी प्रकार वाक् इत्यादि रूपों में च् के स्थान पर क् आता है (दे० अनु० ७६)। कुछ रूपों में सकारादि प्रत्ययों से पूर्व ष् के स्थान पर भी क् आता है; यथा—

√द्विष् "द्वेष करना" से द्विक्षत् (अडागमरहित लु० प्र० पु० ए०) (दे० अनु० ७४)।

२५. **तालव्य व्यञ्जन**—वैदिक भाषा में अन्य तालव्य स्पर्शों की अपेक्षा च् का प्रयोग अधिक मिलता है और प्रयोग की दृष्टि से च् से दूसरे स्थान पर ज् आता है। छ् का प्रयोग च् की तुलना में केवल १/६ है। झ् का प्रयोग सारे ऋग्वेद में केवल एक बार आता है और अथर्ववेद में एक बार भी नहीं आता है। उत्तरकालीन वैदिक भाषा में झ् के कुछेक प्रयोग मिलते हैं। ञ् का प्रयोग भी बहुत थोड़े वैदिक शब्दों में मिलता है। ञ् कभी पद के प्रारम्भ में नहीं आता और यह प्रायेण छ् से पूर्व और च् या ज् के पहले या पीछे आता है। यह विशेषतया उल्लेखनीय है कि कोई भी तालव्य व्यञ्जन पदान्त में नहीं आता है[१]।

पाश्चात्य भाषा-शास्त्रियों ने वैदिक भाषा के तालव्य व्यञ्जनों के सम्बन्ध में बहुत अनुसन्धान करने के उपरान्त यह मत स्थापित किया है कि ये ध्वनियां इ० यो० मूल भाषा की कण्ठ्य ध्वनियों से विकसित हुई हैं। कुछ विद्वान् इन का विकास इण्डो-इरानियन काल से मानते हैं। विकास-क्रम की दृष्टि से वैदिक तालव्य व्यञ्जनों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—(क) पूर्वकालीन तालव्य (Old palatals) और (ख) उत्तरकालीन तालव्य (New palatals)। छ्, श् और कुछ रूपों में प्रयुक्त ज् तथा ह् पूर्वकालीन तालव्य माने जाते हैं[२]। च् और कुछ अन्य रूपों में प्रयुक्त ज् तथा ह् उत्तरकालीन तालव्य माने जाते हैं। विभिन्न परिस्थितियों में होने वाले विकारों से यह निश्चय किया जाता है कि कौन से ज् तथा ह् का वर्गीकरण पूर्वकालीन तालव्यों के साथ और कौन से का वर्गीकरण उत्तरकालीन तालव्यों के साथ किया जा सकता है। पदान्त में अथवा स्पर्शों से पूर्व मूर्धन्य में परिणत होने वाले ज् तथा ह् पूर्वकालीन तालव्य माने जाते हैं (दे० अनु० ७३ तथा ७५); यथा— √यज् (Av. yaz) से इष्ट (यज्+क्त); √मृज् (Av. marez) से मृष्ट (मृज्+क्त); √सृज् (Av. harez) से सृष्ट (सृज्+क्त); √वह् (Av. vaz) से ऊढ (वह्+क्त);

√सह् (Av. haz) से सोढ; √लिह् (Av. raēz) से लीढ (लिह् + क्त)। पदान्त में अथवा स्पर्शों से पूर्व कण्ठ्य स्पर्शों में परिणत होने वाले ज् तथा ह् उत्तरकालीन तालव्य माने जाते हैं (दे० अनु० ७२ तथा ७६); यथा— √निज् "धोना" (Av. naēǰ) से निक्त (निज् + क्त); √युज् "जोड़ना", (Av. yaoǰ) से युक्त; (युज् + क्त); √द्रुह् (Av. druǰ) से द्रुग्ध (द्रुह् + क्त); √दुह् से दुग्ध (दुह् + क्त)।

पूर्वकालीन तालव्यों का विकास इ० यो० मूल भाषा के तालुकण्ठ्य स्पर्शों (Palatal gutturals– k̑ k̑h ĝ ĝh) से माना जाता है। इस सम्बन्ध में अधिकतर पाश्चात्य भाषा-शास्त्रियों का यह मत है कि प्रथम तालव्यीकरण (First Palatalisation) इ० यो० मूलभाषा से इण्डो-इरानियन भाषा की पृथक्ता से पूर्व ही हो चुका था। इस तालव्यीकरण के अनुसार इण्डो-इरानियन भाषा में इ० यो० मूलभाषा के k̑ ĝ ĝh के स्थान पर क्रमशः ś ź źh हुए और कालान्तर में इन के स्थान पर वैदिक भाषा में क्रमशः श् ज् ह् बन गए और अवेस्ता में क्रमशः s, z, z बन गए; यथा—

k̑ : श्वन् "कुत्ता", Av. span, Gk. kúōn, Lat. cánis.
ĝ : जानु "घुटना", Av. zānu, Gk. gónu, Lat genu.
ĝh : हिम "बर्फ़", Av. zima, Lat. hiems.

उत्तरकालीन तालव्यों का विकास इ० यो० मूलभाषा से इण्डो-इरानियन भाषा की पृथक्ता के पश्चात् माना जाता है। परन्तु इ० यो० मूलभाषा के ĕ का इण्डो-इरानियन भाषा के ă में विलीन होने से पूर्व यह विकास सम्पन्न हो चुका था। इस द्वितीय तालव्यीकरण (Second Palatalisation) के अनुसार, ĕ, ĭ तथा y से पूर्व इ० यो० q, g तथा तथा gh क्रमशः č ǰ, तथा ǰh में परिणत हो गए। वैदिक भाषा में

इन के स्थान पर क्रमशः च् ज् तथा ह् बन गए और इरानियन में ǰh के स्थान पर भी J̌ बन गया । यथा—

k : पञ्च, Gk. Pénte, Lat. quinque, zd. pañcan.

g : जीव, Gk. bíos, Lat. vīvus, Lith. gīvas, Av. J̌vaiti.

gh : हन्ति, Av. J̌ainti, Hitt. kuenzi.

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तुलनात्मक भाषाविज्ञान की दृष्टि से वैदिक भाषा के ज् तथा ह् कुछ शब्दों में पूर्वकालीन तालव्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं और अन्य शब्दों में वे उत्तरकालीन तालव्यों के प्रतिनिधि हैं ।

(क) **पूर्वकालीन तालव्य**— छ्, श्, ज्, ह्—अब हम प्रत्येक ध्वनि के विषय में विचार करेंगे ।

छ्—इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह ध्यान रखना आवश्यक है कि छ् मूलतः एक संयुक्त ध्वनि है । इसी लिये पद के मध्य में यह नियमपूर्वक और अन्यत्र विकल्प से च्छ् लिखा जाता है (दे० पा० ६,१,७३-७६; अनु० १३ क) । यद्यपि प्रातिशाख्यकार, शिक्षाकार तथा संस्कृत वैयाकरण छ् को चवर्ग का द्वितीय वर्ण मानते हुए च् तथा छ् के मध्य वैसा ही सम्बन्ध स्वीकार करते हैं जैसा कि क् तथा ख् अथवा प् तथा फ् के मध्य माना जाता है, तथापि पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों का मत इस से सर्वथा भिन्न है । उन के मतानुसार श् तथा छ् के बीच लगभग वैसा ही सम्बन्ध है जैसा कि क् तथा ख् अथवा प् तथा फ् के मध्य माना जाता है । इस मत के समर्थन में वे उस सन्धि-नियम का भी निर्देश करते हैं जिस के अनुसार श् का छ् बनता है (दे० अनु० ५०) । संयुक्त ध्वनि छ् प्रायेण इ० यो० s+k̂h का प्रतिनिधित्व करती है; यथा—√छिद् "काटना" =Gk. *skhid*, Lat. *scindo*, Goth. *skeida*, Av. *saēd*; छाया=Gk. *skia*, Persian *sāyah*. परन्तु कहीं-कहीं छ् इ० यो० s+k̂ का प्रतिनिधित्व भी करता है; यथा—गच्छति= Gk. *báskō*, Av. *ǰasaiti*.

श्—यह ध्वनि इ० यो० k̂ का प्रतिनिधित्व करती है; यथा— शतम्=Gk. *he-katón*, Lat. *centum*, Lith. *szimtas*, Av. *satəm*.

ज्—यह ष् मूलतः श् से सम्बद्ध घोष (sonant) माना जाता है, अर्थात् श् जिस प्रकार इ० यो० k̂ का प्रतिनिधित्व करता है उसी प्रकार यह ज् इ० यो० ĝ का प्रतिनिधित्व करता है। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं इण्डो-इरानियन भाषा में g के स्थान पर ź और अवेस्ता में z माना जाता है। अतएव यह ज् पदान्त में और स्पर्शों से पूर्व मूर्धन्य ध्वनि के रूप में पहिचाना जा सकता है; यथा— √यज् से अयाट् (लु० प्र० पु० ए०), यष्टृ (√यज्+तृच्), तथा इष्ट (√यज्+क्त) इत्यादि।

ह्—जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, पूर्वकालीन तालव्य ह् इ० यो० ĝh का प्रतिनिधित्व करता है और इण्डो-इरानियन भाषा में इस के स्थान पर źh माना जाता है। वैदिक भाषा में यह पदान्त में अथवा दन्त्य से पूर्व मूर्धन्य के रूप में पहिचाना जा सकता है; यथा— √वह् से अवाट् (लु० प्र० पु० ए०), वोढृ (√वह्+तृच्) तथा ऊढ (√वह्+क्त) इत्यादि।

(ख) **उत्तरकालीन तालव्य**—च् ज् ह्—जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, इ० यो० मूलभाषा की मध्य कण्ठ्य ध्वनियां (Velars) द्वितीय तालव्यीकरण (Second Palatalisation) के कारण तालव्य व्यञ्जनों में परिणत हो गई और वैदिक भाषा के च् ज ह् उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। इन वैदिक ध्वनियों का मूल कण्ठ्यत्व इस तथ्य से भी प्रमाणित होता है कि रूप-रचना के समय इनके स्थान पर बहुधा कण्ठ्य ध्वनियां प्रकट होती हैं; यथा—

च्—√शुच् "चमकना" से शोचति के साथ-साथ शोक "ज्वाला" तथा शुक्र "चमकता हुआ" इत्यादि रूप बनते हैं जिन में च् के स्थान पर क् आता है।

ज्—√युज् "जोतना" से युयुजे के साथ-साथ युग तथा योग इत्यादि रूप बनते हैं जिन में ज् के स्थान पर ग् आता है।

ह्—√हन् "मारना" से हन्ति के साथ-साथ घ्नन्ति, जघान तथा घातयति इत्यादि रूप बनते हैं जिन में ह् के स्थान पर घ् आता है (दे० पा० ७, ३,५४-५६; ७,४,६२)।

२६. **मूर्धन्य स्पर्श** (ट् ठ् ड् ढ् ण्)—वैदिक भाषा में मूर्धन्य स्पर्शों का प्रयोग बहुत कम मिलता है। मूर्धन्य स्पर्श प्रायेण शब्दों के मध्य में अथवा अन्त में आते हैं और मूर्धन्य स्पर्श से प्रारम्भ होने वाले शब्द वैदिक भाषा में अति विरल हैं। ण् कभी पद के आदि या अन्त में नहीं मिलता है। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, ळ ळ्ह क्रमशः ड ढ के स्थान पर केवल स्वरों के मध्य ऋग्वेद में प्रयुक्त होते हैं।

सभी मूर्धन्य व्यञ्जन मूल ध्वनियों के विकृत रूप माने जाते हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि द्रविड़ लोगों की भाषा के प्रभाव से प्राचीन आर्यभाषा की मूलध्वनियों में इस प्रकार का विकार उत्पन्न हुआ, क्योंकि इण्डो-इरानियन भाषा में इस प्रकार की मूर्धन्य ध्वनियां नहीं थीं। कुछ विद्वान् तो यह भी मानते हैं कि कुण्ड, पिण्ड इत्यादि अनेक नये शब्द द्रविड़ लोगों की भाषा से वैदिक भाषा में आये हैं (दे० **अनु०६१**)। अधिकतर मूर्धन्य स्पर्श षकार से परे आने वाले दन्त्य स्पर्शों के विकार के परिणामस्वरूप (दे० पा० ८,४,४१) प्रकट होते हैं (दे० **अनु० ६१-६५**); यथा—वृष्टि (√वृष्+क्तिन्); दुष्टर "अजेय" (दुस्+तर); वष्टि "चाहता है" (√वश्+ति); मृष्ट "शुद्ध किया गया" (√मृज्+क्त); राष्ट्र (√राज्+त्र)। मूलध्वनि स्, श् तथा ज् में विकार के परिणाम-स्वरूप यह ष् प्रकट होता है (दे० पा० ८,२,३६; ८,३,५९-७७) और ये श् तथा ज् पूर्वकालीन तालव्य हैं जिनका विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है। कुछ मूर्धन्य स्पर्श उन दन्त्य स्पर्शों के विकार-स्वरूप हैं जिनसे पूर्व आने वाली *z ध्वनि के लोप की कल्पना की जाती है। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य भाषाशास्त्री यह मानते हैं कि अ आ से भिन्न स्वर से परे आने पर *z का *ẓ बन गया और यह ध्वनि पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ तथा परवर्ती दन्त्य स्पर्श को मूर्धन्य बना कर लुप्त हो गई"; यथा—नीड "घोंसला" =*Nizdó (=*नि+सेद्), Lat. *Nidus*, Eng. *Nest*; दूळभ "जिस को धोखा देना कठिन है"

=*duz+dabha (=*दुस्+दभ); दूढी "बुरी बुद्धि वाला" =*duz+dhi (=*दुस्+धी)। प्रातिशाख्य तथा वैयाकरण इन रूपों में दुर् उपसर्ग मानते हैं (दे० अनु ५९ तथा टि० ११०क)। बहुत से शब्दों में पूर्ववर्ती र्, ऋ तथा ॠ के प्रभाव से न् का ण् में परिवर्तन हुआ है (दे० अनु० ६३-६५)। पदान्त में मूर्धन्य स्पर्श पूर्वकालीन तालव्य ज्, श् तथा ह् के स्थान पर आते हैं (दे० अनु० ७३ ख तथा ७५); यथा—राज् से राट् "राजा"; भ्राज् से भ्राट् "प्रभा"; विपाश् से विपाट् "व्यास नदी"; √अश् से आनट् (लु० प्र० पु० ए०); √वह् से अवाट् (लु० प्र० पु० ए०); और -साह् से -षाट् (तुरा-षाट् इत्यादि)। ळ एक प्रकार का मूर्धन्य लकार है और उसी का महाप्राण ळ्ह बनता है; यथा—इळा, अषाळ्ह "अजेय", इत्यादि।

२७. **दन्त्य स्पर्श** (त् थ् द् ध् न्)—वैदिक भाषा में दन्त्य स्पर्शों का प्रचुर प्रयोग मिलता है और अन्य सभी स्पर्शों की अपेक्षा इनका प्रयोग अधिक है। अन्य अनुनासिक स्पर्शों की अपेक्षा न् का प्रयोग बहुत अधिक मिलता है और यह वर्ण सभी स्थितियों में—पद के आदि, मध्य तथा अन्त में—प्रयुक्त होता है। दन्त्य स्पर्श इ० यो० मूलभाषा के दन्त्य स्पर्शों का प्रतिनिधित्व करते हैं; यथा—तनु "पतला"=Gk. *tanu-*, Lat. *tenuis;* दश =Gk. déka, Lat. *decem,* इत्यादि। कई रूपों में स से पूर्ववर्ती स् के स्थान पर भी वैदिक भाषा में त् हो जाता है (दे० अनु ७७); यथा—√वस्+स्य+ति =वत्स्यति "वह चमकेगा"; अ+√वस्+स्+ई+त् =अवात्सीत् "वह रहा है"। अप् "जल" के रूपों में भकारादि विभक्तियों से पूर्व प् के स्थान पर त् आता है (दे० अनु० ७७); यथा—आर्पः, अद्भिः, अद्भ्यः। इसी प्रकार भकारादि विभक्तियों से पूर्व मास्, स्ववस्, स्वतवस् तथा उषस् शब्दों के स् का त् हो जाता है[१]; यथा—माद्भिः; स्ववद्भिः, स्वतवद्भ्यः, उषद्भिः इत्यादि। सन्धि के साधारण नियम के अनुसार त् का द् बन जाता है (अनु० ४८क)।

२८. **ओष्ठ्य स्पर्श (प् फ् ब् भ् म्)**—वैदिक भाषा में ओष्ठ्य स्पर्शों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। इनमें से फ् का प्रयोग सबसे कम और म् का प्रयोग सबसे अधिक है। ब् की अपेक्षा भ् का प्रयोग कुछ अधिक है। साधारणतया ओष्ठ्य स्पर्श इ० यो० मूलभाषा के ओष्ठ्य स्पर्शों का प्रतिनिधित्व करते हैं; यथा—पञ्च =Gk. *pénte;* भरं 'ले जाओ' =Gk. *phéro;* मातरम् =Lat. *mater;* नाम =Lat. *nómen.* अधिकतर वैदिक शब्दों का ब् इ०यो० मूलध्वनि का प्रतिनिधित्व नहीं करता है और यह भ् अथवा प् का विकारज है; यथा—√भू से बभूव (लि० प्र० पु० ए०); √रभ् से रब्ध (रभ्+क्त); तथा अप् "जल" से अब्जा इत्यादि। इसी प्रकार वैदिक शब्द पिब्दन "स्थिर" में प् के स्थान पर ब् माना जाता है और अनेक प्रमुख विद्वानों का मत है कि पद् धातु का द्वित्व हो कर पिप्दन के स्थान पर पिब्दन बना है[१०]। कुछ वैदिक शब्दों के ब् का सम्बन्ध किसी भी इ० यो० मूलध्वनि के साथ निश्चित नहीं किया जा सका है। इसलिए यह माना जाता है कि इस प्रकार के शब्द किसी अन्य भाषा से लिये गये हैं; यथा—बृबु, अर्बुद, शम्बर। इस प्रकार के अधिकतर शब्द संज्ञावाचक हैं।

२९. **अन्तस्था (य् र् ल् व्)**—इन वर्णों की अन्तस्था संज्ञा के सम्बन्ध में हम पहले ही विचार कर चुके हैं (दे० टि० ३३)। वैदिक भाषा में प्रयोग की दृष्टि से इन वर्णों का क्रम इस प्रकार है—र्, व्, य्, ल्। प्राचीनतम वैदिकभाषा में ल् का प्रयोग अत्यल्प था और कालान्तर में इसका प्रयोग बढ़ने लगा। आगे चल कर हम इस विषय पर विस्तृत विवेचन करेंगे। स्वरसन्धि में य् व् र् ल् क्रमशः इ उ ऋ ऌ के स्थान पर आते हैं और अनेक परिस्थितियों में ये इन स्वरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके अतिरिक्त य् व् र् ल् के सम्प्रसारण क्रमशः इ उ ऋ ऌ हैं। इससे स्पष्ट है कि अन्तस्था वर्णों तथा इन स्वरों के मध्य विशेष सम्बन्ध है।

य्—जैसा कि हमने अभी संकेत किया है, स्वर-सन्धि में य् इकार का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु जिन वैदिक शब्दों में य् इकार का प्रतिनिधित्व नहीं करता है, वहां यह इ० यो० मूलध्वनि *i̯* (=Gk. *spiritus asper*)

का प्रतिनिधि है; यथा—युवन् "जवान" =Lat. *iuvenis;* यकृत् "जिगर" =Lat. *iecur;* यः "जो" =Gk. *'ós;* √यज् "यज्ञ करना" =Gk. *'ágios*. कुछ वैदिक शब्दों का य् इ० यो० मूलभाषा के सघोष तालव्य ऊष्म (= Gk. z) का प्रतिनिधित्व करता है; यथा—यव =Gk. *zeiá;* √यस् "उबालना" (पा० धातुपाठ- "यसु प्रयत्ने") = Gk. *zéo;* √युज् "जोतना" =Gk. *zug*, Goth. *juk*.

कतिपय विद्वानों का मत है कि मूलतः भिन्न ध्वनियों के प्रतिनिधि होने के कारण धातुओं के प्रारम्भ में आने वाले सभी यकार द्वित्व में समान रूप नहीं धारण करते हैं; यथा—यज् धातु के य् को इयाज इत्यादि द्वित्व वाले रूपों में सम्प्रसारण प्राप्त होता है, परन्तु यम्, यस् इत्यादि धातुओं के य् को द्वित्व में सम्प्रसारण नहीं होता है। वैदिक भाषा के कुछ शब्दों में आने वाले यकार का समुचित तुलनात्मक समाधान नहीं किया जा सका है; यथा— √दा से अदायि, √धा से अधायि, √ज्ञा से अज्ञायि, यूयम्, भूयिष्ठ इत्यादि।

व्—जैसा कि हम ने ऊपर संकेत किया है, स्वरसन्धि में व् उकार का प्रतिनिधित्व करता है। बहुत से वैदिक शब्दों में व् इ० यो० मूलध्वनि u̯ का प्रतिनिधित्व करता है; यथा— अवि "भेड़" =Lat. *ovis*; वाच् =Lat. vōx. वच्, वप्, वह् इत्यादि धातुओं के वकार को द्वित्व में तथा कुछ अन्य परिस्थितियों में सम्प्रसारण हो जाता है; यथा— √वच् से उवाच तथा उक्त; √वप् से उवाप तथा उप्त; √वह् से उवाह तथा ऊढ इत्यादि।

र्, ल्—बहुत से वैदिक शब्दों के र्, ल् क्रमशः इ० यो० मूलभाषा की r l ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करते हैं; यथा—भर "ले जाओ"=Gk. *phéro*, Lat. *fero;* राजन् "नृप" = Lat. *rēx;* रुधिर "लाल" = Gk. *'eruthrós;*, Lat. *ruber*, Lith., *rùdas*, German *rot*, Eng. *red;* लोक "स्थान"=Lat. *lūcus*, Lith. *laúkas;* श्लोक "कीर्ति"=Gk. klúō. परन्तु प्राचीन वैदिक भाषा के अनेक शब्दों का रेफ इ० यो० मूलध्वनि l का प्रतिनिधि है; यथा—रघु "शीघ्रगामी" = Gk. *'elakhús*, Lat. *levis;* गर्भ = Gk. *delphós*, Germ. *kalb*, Eng. *calf;* √रिच् "खाली करना" से रिणक्ति =Lat. linquit. इसी प्रकार रक्ष्, रभ्, रिप्,

रिह् इत्यादि धातुओं का तथा कुछ अन्य शब्दों का र् इ० यो० मूल-ध्वनि I का प्रतिनिधि माना जाता है। इस सम्बन्ध में कतिपय विद्वान् यह समाधान प्रस्तुत करते हैं कि इण्डो-इरानियन भाषा की जिस उपभाषा से अवेस्ता का विकास हुआ उस में सर्वत्र ल् के स्थान पर र् कर दिया गया था। अतएव वैदिक भाषा के जिन शब्दों में इ० यो० मूलध्वनि ल् के स्थान पर र् मिलता है उन शब्दों का आधार भी वही रेफ-प्रधान इण्डो-इरानियन उपभाषा है। इसके अतिरिक्त वैदिक भाषा में एक ऐसी इण्डो-इरानियन उपभाषा का समावेश भी माना जाता है जिस में इ० यो० मूलध्वनि र् तथा ल् दोनों का पृथक् अस्तित्व बना रहा। और वैदिक भाषा के स्रोतों में एक ऐसी उपभाषा की गणना भी की जाती है जिस में सर्वत्र र् का ल् बन गया। यह निर्विवाद सत्य है कि ऋग्वेद की भाषा में ल् की तुलना में र् का प्रयोग सातगुना है। परन्तु ऋग्वेद के दशम मण्डल में लकार का प्रवृद्ध प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। अतएव ऋग्वेद के पहले नव मण्डलों में जिन शब्दों में र् का प्रयोग मिलता है उन्हीं शब्दों में दशम मण्डल में र् के स्थान पर ल् प्रयुक्त होता है; यथा— √म्रुच् "डूबना", √रभ् "पकड़ना", रोमन् "वाल" तथा रोहित "लाल" के स्थान पर दशम मण्डल में क्रमशः √म्लुच्, √लभ्, लोमन् तथा लोहित का प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के रचना-काल से प्रारम्भ करके सूत्रकाल तक र् के स्थान पर ल् के प्रयोग की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। इसलिए अथर्ववेद में र् की अपेक्षा ल् का प्रयोग आठगुना है। अ० प्रा० (१,६६) ने अङ्गुरि इत्यादि कुछ अथर्ववेदीय शब्दों में र् के स्थान पर ल् का विधान किया है। उत्तरकालीन भाषा में भी कहीं-कहीं र् तथा ल् का प्रयोग साथ-साथ चलता रहा; यथा—शुक्र, शुक्ल; मिश्र, मिश्ल; गिर, गिल इत्यादि। रेफ के वैकल्पिक लत्व के सम्बन्ध में वार्तिककार ने भी कतिपय शब्दों की परिगणना की है[१०क]। इन ध्वनियों के प्रयोग में इस प्रकार की अव्यवस्था के कारण कालान्तर में "रलयोरभेदः" या "रलयोरैकत्व-स्मरणम्" (पा० ८,२,१८ पर काशिका) जसी उक्तियों का प्रचलन हुआ। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि लकार ध्वनि वाले कुछ वैदिक

का प्रतिनिधि है; यथा—युवन् "जवान" =Lat. *iuvenis;* यकृत् "जिगर" =Lat. *iecur;* यः "जो" =Gk. *'ós;* √यज् "यज्ञ करना" =Gk. *'dgios.* कुछ वैदिक शब्दों का य् इ० यो० मूलभाषा के सघोष तालव्य ऊष्म (=Gk. z) का प्रतिनिधित्व करता है; यथा—यव =Gk. *zeid;* √यस् "उबालना" (पा० धातुपाठ- "यसु प्रयत्ने") =Gk. *zéo;* √युज् "जोतना" =Gk. *zug,* Goth. *juk.*

कतिपय विद्वानों का मत है कि मूलतः भिन्न ध्वनियों के प्रतिनिधि होने के कारण धातुओं के प्रारम्भ में आने वाले सभी यकार द्वित्व में समान रूप नहीं धारण करते हैं; यथा—यज् धातु के य् को इयाज इत्यादि द्वित्व वाले रूपों में सम्प्रसारण प्राप्त होता है, परन्तु यम्, यस् इत्यादि धातुओं के य् को द्वित्व में सम्प्रसारण नहीं होता है। वैदिक भाषा के कुछ शब्दों में आने वाले यकार का समुचित तुलनात्मक समाधान नहीं किया जा सका है; यथा— √दा से अदायि, √धा से अधायि, √ज्ञा से अज्ञायि, यूयम्, भूयिष्ठ इत्यादि।

व्—जैसा कि हम ने ऊपर संकेत किया है, स्वरसन्धि में व् उकार का प्रतिनिधित्व करता है। बहुत से वैदिक शब्दों में व् इ० यो० मूलध्वनि u̯ का प्रतिनिधित्व करता है; यथा— अवि "भेड़" =Lat. *ovis*; वाच् =Lat. vōx. वच्, वप्, वह् इत्यादि धातुओं के वकार को द्वित्व में तथा कुछ अन्य परिस्थितियों में सम्प्रसारण हो जाता है; यथा— √वच् से उवाच तथा उक्त; √वप् से उवाप तथा उप्त; √वह् से उवाह तथा ऊढ इत्यादि।

र् ल्—बहुत से वैदिक शब्दों के र् ल् क्रमशः इ० यो० मूलभाषा की r l ध्वनियों का प्रतिनिधित्व करते हैं; यथा—भर "ले जाओ"=Gk. *phéro,* Lat. *fero;* राजन् "नृप" =Lat. *rēx;* रुधिर "लाल" =Gk. *'eruthrós;*, Lat. *ruber,* Lith., *rùdas,* German *rot,* Eng. *red;* लोक "स्थान"=Lat. *lūcus,* Lith. *laúkas;* श्लोक "कीर्ति"=Gk. klúō. परन्तु प्राचीन वैदिक भाषा के अनेक शब्दों का रेफ इ० यो० मूलध्वनि l का प्रतिनिधि है; यथा—रघु "शीघ्रगामी" =Gk. *'elakhús,* Lat. *levis;* गर्भ =Gk. *delphós,* Germ. *kalb,* Eng. *calf;* √रिच् "खाली करना" से रिणक्ति =Lat. linquit. इसी प्रकार रक्ष्, रभ्, रिप्,

रिह् इत्यादि धातुओं का तथा कुछ अन्य शब्दों का र् इ० यो० मूल-ध्वनि l का प्रतिनिधि माना जाता है। इस सम्बन्ध में कतिपय विद्वान् यह समाधान प्रस्तुत करते हैं कि इण्डो-इरानियन भाषा की जिस उपभाषा से अवेस्ता का विकास हुआ उस में सर्वत्र ल् के स्थान पर र् कर दिया गया था। अतएव वैदिक भाषा के जिन शब्दों में इ० यो० मूलध्वनि ल् के स्थान पर र् मिलता है उन शब्दों का आधार भी वही रेफ-प्रधान इण्डो-इरानियन उपभाषा है। इसके अतिरिक्त वैदिक भाषा में एक ऐसी इण्डो-इरानियन उपभाषा का समावेश भी माना जाता है जिस में इ० यो० मूलध्वनि र् तथा ल् दोनों का पृथक् अस्तित्व बना रहा। और वैदिक भाषा के स्रोतों में एक ऐसी उपभाषा की गणना भी की जाती है जिस में सर्वत्र र् का ल् बन गया। यह निर्विवाद सत्य है कि ऋग्वेद की भाषा में ल् की तुलना में र् का प्रयोग सातगुना है। परन्तु ऋग्वेद के दशम मण्डल में लकार का प्रवृद्ध प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। अतएव ऋग्वेद के पहले नव मण्डलों में जिन शब्दों में र् का प्रयोग मिलता है उन्हीं शब्दों में दशम मण्डल में र् के स्थान पर ल् प्रयुक्त होता है; यथा— √म्रुच् "डूबना", √रभ् "पकड़ना", रोमन् "बाल" तथा रोहित "लाल" के स्थान पर दशम मण्डल में क्रमशः √म्लुच्, √लभ्, लोमन् तथा लोहित का प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के रचना-काल से प्रारम्भ करके सूत्रकाल तक र् के स्थान पर ल् के प्रयोग की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती चली गई। इसलिए अथर्ववेद में र् की अपेक्षा ल् का प्रयोग आठगुना है। अ० प्रा० (१,६६) ने अङ्गुरि इत्यादि कुछ अथर्ववेदीय शब्दों में र् के स्थान पर ल् का विधान किया है। उत्तरकालीन भाषा में भी कहीं-कहीं र् तथा ल् का प्रयोग साथ-साथ चलता रहा; यथा—शुक्र, शुक्ल; मिश्र, मिश्ल; गिर, गिल इत्यादि। रेफ के वैकल्पिक लत्व के सम्बन्ध में वार्तिककार ने भी कतिपय शब्दों की परिगणना की है[१०क]। इन ध्वनियों के प्रयोग में इस प्रकार की अव्यवस्था के कारण कालान्तर में "रलयोरभेदः" या "रलयोरैक्य-स्मरणम्" (पा० ८,२,१८ पर काशिका) जसी उक्तियों का प्रचलन हुआ। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि लकार ध्वनि वाले कुछ वैदिक

शब्द—नीलं "नीला", जलाप "स्वस्थ करने वाला", तितिवक्ष "उपजाऊ" इत्यादि—अन्य भाषाओं से लिये गये हैं।

३०. ऊष्माणः (श् ष् स् ह्)—यद्यपि ये चारों वर्ण ऊष्म कहलाते हैं (दे० टि० ४), तथापि इन में विशेष अन्तर यह है कि श् ष् स् अघोष हैं और ह् सघोष है। इन में से सकार का प्रयोग सर्वाधिक है और द्वितीय स्थान श् का है। ष् का प्रयोग सब से कम है।

श्—जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, श् इ० यो० मूलध्वनि $\hat{k}$ का प्रतिनिधित्व करता है। इसी लिये शतम्, अश्व तथा श्वन् इत्यादि शब्दों का श् मूलध्वनि $\hat{k}$ का प्रतिनिधि है। स् से पूर्व (दे० अनु० ७६ख) और कहीं-कहीं पदान्त में (दे० अनु० ७६क) श् के स्थान पर क् हो जाता है और यह परिवर्तन इस के मूल कण्ठ्यत्व का परिचायक है। यथा—√दृश् से द्रक्ष्यति (लृ०) तथा अद्राक्षीत् (लु०) और दिश् "दिशा" से दिक् इत्यादि। व्यञ्जनसन्धि में तालव्य व्यञ्जनों से पूर्व स् के स्थान पर श् हो जाता है; यथा— अग्निस्+च=अग्निश्च (दे० अनु० ५५घ)।

ष्—मूर्धन्य स्पर्शों की भांति षकार भी अन्य ध्वनियों के विकार-स्वरूप प्रकट होता है और इसे मौलिक ध्वनि नहीं माना जाता है। कुछ शब्दों में पूर्वकालीन तालव्य (old palatals) श् तथा ज् के स्थान पर ष् प्रकट होता है (दे० अनु० ७५) यथा— √नश् से नष्ट (नश्+क्त), √स्पृश् से स्पृष्ट (स्पृश्+क्त), √सृज् से सृष्ट (सृज्+क्त), √यज् से इष्ट (यज्+क्त)। अ आ से भिन्न स्वर तथा क् र् ष् से परे आने वाले स् के स्थान पर ष् हो जाता है (दे० अनु० ६३-६५); यथा—अग्निषु, भक्तुषु, नृषु, विक्षु (विश्+सु), गोषु तथा हविष्षु इत्यादि।

स्—यह इ० यो० मूलध्वनि s का प्रतिनिधित्व करता है; यथा—सनं "पुराना" =Lat. *senex*; सः "वह" =Goth. *sa*; सूनुः "पुत्र" =Goth. *sunus*; अस्थि "हड्डी" =Lat. *os*, Gk. *'ostéon*. जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, सन्धि में सकार कहीं शकार में और कहीं षकार में परिणत हो जाता है।

ह्—तालव्य व्यञ्जनों के विवेचन के समय हम यह बतला चुके हैं कि कुछ वैदिक शब्दों का हकार पूर्वकालीन तालव्य है और कुछ अन्य शब्दों में यह उत्तरकालीन तालव्य है। पूर्वकालीन तालव्य हकार इ० यो० मूल ध्वनि ǵh (इण्डो-इरानियन źh) का प्रतिनिधित्व करता है और विशेष परिस्थितियों में यह मूर्धन्य में परिणत हो जाता है; यथा—√वह् "लेजाना" से वहति के अतिरिक्त वोढुम् (वह्+तुमुन्), ऊढ (वह्+क्त) तथा अवाट् (लु० प्र० पु० ए०) इत्यादि रूप बनते हैं। उत्तरकालीन तालव्य हकार उस इ० यो० मूलध्वनि gh का प्रतिनिधि है जो द्वितीय तालव्यीकरण के कारण तालव्य (=इण्डो-इरानियन ǰh) में परिणत हो गई। इसी लिये विशेष परिस्थितियों में (दे० अनु० ७३) इस हकार के स्थान पर कण्ठ्य स्पर्श प्रकट होता है; यथा—√हन् से हन्ति तथा हत के साथ-साथ घ्नन्ति तथा जघान; और द्रुह् "हानि पहुंचाना" से दुद्रोह (लि० प्र० पु० ए०) के साथ-साथ दुग्ध (द्रुह्+क्त) तथा द्रोघ "हानि पहुंचाने वाला" इत्यादि रूप बनते हैं। इस के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि वास्तव में हकार एक गौण ध्वनि है और यह अनेक महाप्राण सघोष स्पर्शों के उत्तरार्द्ध महाप्राणांशमात्र का प्रतिनिधित्व करता है; अर्थात् उपर्युक्त उदाहरणों में यह इ० यो० मूल ध्वनि ǵh तथा gh के उत्तरार्द्ध h का प्रतिनिधि है। इसी प्रकार यह कुछ वैदिक शब्दों में ध् तथा भ् के उत्तरार्द्ध महाप्राणांश का प्रतिनिधित्व करता है और इसी लिये वैदिक धातुओं के अनेक रूपों में ध् तथा भ् के स्थान पर ह् भी दृष्टिगोचर होता है; यथा √धा "रखना" से धित (धा+क्त) तथा हित (धा+क्त) दोनों प्रकार के रूप बनते हैं। इसी प्रकार सह "साथ" के अतिरिक्त सध भी वैदिक भाषा में इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। √ग्रभ् "पकड़ना" और √भृ "भरण पोषण करना" धातुओं के हकार वाले रूप क्रमशः √ग्रह् तथा √हृ भी वैदिक भाषा में प्रयुक्त होते हैं। इसीलिए ग्राभ तथा ग्रह और गृभ्णाति तथा गृह्णाति इत्यादि दोनों प्रकार के रूप मिलते हैं। परन्तु इस विषय में यह विशेषतया उल्लेखनीय है कि प्राचीनतम वैदिक भाषा में ग्रह्,

भृ इत्यादि मूल ध्वनि वाले धातुओं का प्रयोग अधिक मिलता है और पीछे की भाषा में धीरे-धीरे ग्रह्, हृ इत्यादि गौणध्वनि वाले धातुओं का प्रयोग बढ़ने लगा। लौकिक संस्कृत में √ग्रभ् का प्रयोग सर्वथा लुप्त हो गया और √भृ का प्रयोग भी अति सीमित है। इस लिए लौकिक संस्कृत में प्रचलित ग्रह् तथा हृ धातुओं के आधार पर ग्रभ् तथा भृ का समाधान करते हुए संस्कृत वैयाकरण कहते हैं कि वैदिक भाषा में हृ तथा ग्रह् के हकार को भकार हो जाता है[१]। ऐतिहासिक तथ्य इस समाधान के सर्वथा विपरीत है।

अयोगवाहाः (विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार)

३१. (क) **विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय**—पाणिनि (८,३,१५) के अनुसार, खर् (ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स) से पूर्व तथा अवसान (Pausa) में विसर्जनीय र् का प्रतिनिधित्व करता है (दे० अनु० ५५)। क् ख् से पूर्व विसर्जनीय के स्थान पर **जिह्वामूलीय** और प् फ् से पूर्व **उपध्मानीय** हो जाता है। परन्तु ये दोनों वैकल्पिक हैं और संहिताओं में इन के स्थान पर अधिकतर विसर्जनीय ही लिखा जाता है (दे० अनु० ५५)। पाणिनि के अनुसार, कुछ परिस्थितियों में विसर्जनीय के स्थान पर स् या ष् भी आते हैं (दे० अनु० ५५)। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् विसर्जनीय को र् के अतिरिक्त स् का प्रतिनिधि भी मानते हैं[१]। इस लिये पाणिनि द्वारा उल्लिखित परिस्थितियों में विसर्जनीय के स्थान पर आने वाला स् अपने मूलरूप में प्रकट होता है और वहां पर स् को विसर्जनीय का प्रतिनिधि नहीं माना जाता है।

(ख) **अनुस्वार तथा अनुनासिक**—प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों ने इन ध्वनियों के स्वरूप तथा प्रयोग के विषय में पर्याप्त विचार किया है। शिक्षाग्रन्थों के अनुसार, अनुस्वार अन्य वर्णों अर्थात् स्वरों पर आश्रित रहने वाली ध्वनि है। पा० शि० ५ पर पञ्जिकाटीका में कहा गया है—"स्वरमनु भवतीत्यनुस्वारः, [स्वरम्] अनु अकाराद्यनुगमनेनानुस्वारः। वक्ष्यति च 'दन्तमूल्यः स्वराननु' इति।" अत एव अनेक विद्वान् अनुस्वार

के लिए अनुगामि-ध्वनि (after-sound) संज्ञा का प्रयोग करते हैं। अनुस्वार का समीचीन प्रयोग-क्षेत्र ऊष्मों से पूर्व ही है (दे० टि० ९४)। परन्तु अनुस्वार-चिह्न के लिखने की सुविधा के कारण इसके प्रयोग का क्षेत्र निरन्तर बढ़ता रहा है। स्पर्शों से पूर्व आने वाले अनुनासिक स्पर्शों के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग होने लगा और कालान्तर में अनुस्वार ने अनुनासिक के स्थान पर भी आधिपत्य जमा लिया। इस सम्बन्ध में अनुस्वार को वैकल्पिक अधिकार देने वाले पाणिनीय सूत्रों (८,३,४;८,४,५९) ने अनुस्वार के प्रयोग-क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया (दे० अनु० ५३)। प्राकृतवैयाकरणों ने तो स्वरों से पूर्व भी अनुस्वार का विधान कर दिया है।

ऋ० प्रा० (१,५) के अनुसार, अनुस्वार स्वर या व्यञ्जन है। परन्तु तै० प्रा० २,३० के वैदिकाभरणभाष्य में ऋ० प्रा० के मत का निराकरण करके यह स्थापित किया गया है कि यजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा में अनुस्वार केवल व्यञ्जन है और इसका उच्चारण अर्द्धगकार के सदृश है। इस सम्बन्ध में डा० सिद्धेश्वर वर्मा (Critical Studies, p. 151) का मत है कि तै० प्रा० १,३२-३४ के नियमानुसार अनुस्वार का स्वरूप पूर्णतः व्यञ्जनात्मक नहीं है, क्योंकि इन नियमों में ह्रस्वस्वर के समान अनुस्वार का काल भी एक मात्रा माना गया है। वा० प्रा० (४,१४८-४९) पूर्ववर्ती स्वर तथा अनुस्वार का काल दो मात्रा मानते हुए कहता है कि ह्रस्व स्वर के साथ अनुस्वार का काल डेढ़ मात्रा और ह्रस्व स्वर का काल अर्द्धमात्रा है और दीर्घस्वर के साथ अनुस्वार का काल अर्द्धमात्रा और दीर्घस्वर का काल डेढ़ मात्रा है।

ऋ० प्रा०, वा० प्रा०, तै० प्रा०, शिक्षाग्रन्थों, सि० कौ० तथा अनेक संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार, अनुनासिक और अनुस्वार एक दूसरे से भिन्न हैं। अनुस्वार केवल व्यञ्जनों से पूर्व आ सकता है, जबकि अनुनासिक स्वरों से पूर्व तथा कहीं-कहीं अवसान में भी आ सकता है। मुख तथा नासिका दोनों से जिन वर्णों का उच्चारण होता है वे अनुनासिक

भृ इत्यादि मूल ध्वनि वाले धातुओं का प्रयोग अधिक मिलता है और पीछे की भाषा में धीरे-धीरे ग्रह्, हृ इत्यादि गौणध्वनि वाले धातुओं का प्रयोग चढ़ने लगा। लौकिक संस्कृत में √ग्रभ् का प्रयोग सर्वथा लुप्त हो गया और √भृ का प्रयोग भी अति सीमित है। इस लिए लौकिक संस्कृत में प्रचलित ग्रह् तथा हृ धातुओं के आधार पर ग्रभ् तथा भृ का समाधान करते हुए संस्कृत वैयाकरण कहते हैं कि वैदिक भाषा में हृ तथा ग्रह् के हकार को भकार हो जाता है[१]। ऐतिहासिक तथ्य इस समाधान के सर्वथा विपरीत है।

अयोगवाहाः (विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार)

२१. (क) **विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय**—पाणिनि (८,३,१५) के अनुसार, खर् (ख फ छ ठ थ च ट त क प श ष स) से पूर्व तथा अवसान (Pausa) में विसर्जनीय र् का प्रतिनिधित्व करता है (दे० अनु० ५५)। क् ख् से पूर्व विसर्जनीय के स्थान पर जिह्वामूलीय और प् फ् से पूर्व उपध्मानीय हो जाता है। परन्तु ये दोनों वैकल्पिक हैं और संहिताओं में इन के स्थान पर अधिकतर विसर्जनीय ही लिखा जाता है (दे० अनु० ५५)। पाणिनि के अनुसार, कुछ परिस्थितियों में विसर्जनीय के स्थान पर स् या ष् भी आते हैं (दे० अनु० ५५)। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् विसर्जनीय को र् के अतिरिक्त स् का प्रतिनिधि भी मानते हैं[११]। इस लिये पाणिनि द्वारा उल्लिखित परिस्थितियों में विसर्जनीय के स्थान पर आने वाला स् अपने मूलरूप में प्रकट होता है और वहां पर स् को विसर्जनीय का प्रतिनिधि नहीं माना जाता है।

(ख) **अनुस्वार तथा अनुनासिक**—प्राचीन तथा अर्वाचीन विद्वानों ने इन ध्वनियों के स्वरूप तथा प्रयोग के विषय में पर्याप्त विचार किया है। शिक्षाग्रन्थों के अनुसार, अनुस्वार अन्य वर्णों अर्थात् स्वरों पर आश्रित रहने वाली ध्वनि है। पा० शि० ५ पर पञ्जिकाटीका में कहा गया है—"स्वरमनु भवतीत्यनुस्वारः, [स्वरम्] अनु अकाराद्यनुगमनेनानुस्वारः। वक्ष्यति च 'दन्तमूल्यः स्वराननु' इति।" अत एव अनेक विद्वान् अनुस्वार

के लिए अनुगामि-ध्वनि (after-sound) संज्ञा का प्रयोग करते हैं। अनुस्वार का समीचीन प्रयोग-क्षेत्र ऊष्मों से पूर्व ही है (दे० टि० ९४)। परन्तु अनुस्वार-चिह्न के लिखने की सुविधा के कारण इसके प्रयोग का क्षेत्र निरन्तर बढ़ता रहा है। स्पर्शों से पूर्व आने वाले अनुनासिक स्पर्शों के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग होने लगा और कालान्तर में अनुस्वार ने अनुनासिक के स्थान पर भी आधिपत्य जमा लिया। इस सम्बन्ध में अनुस्वार को वैकल्पिक अधिकार देने वाले पाणिनीय सूत्रों (८,३,४;८,४,५९) ने अनुस्वार के प्रयोग-क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया (दे० अनु० ५३)। प्राकृतवैयाकरणों ने तो स्वरों से पूर्व भी अनुस्वार का विधान कर दिया है।

ऋ० प्रा० (१,५) के अनुसार, अनुस्वार स्वर या व्यंजन है। परन्तु तै० प्रा० २,३० के वैदिकाभरणभाष्य में ऋ० प्रा० के मत का निराकरण करके यह स्थापित किया गया है कि यजुर्वेद की तैत्तिरीयशाखा में अनुस्वार केवल व्यञ्जन है और इसका उच्चारण अर्द्धगकार के सदृश है। इस सम्बन्ध में डा० सिद्धेश्वर वर्मा (Critical Studies, p. 151) का मत है कि तै० प्रा० १,३९-३४ के नियमानुसार अनुस्वार का स्वरूप पूर्णतः व्यञ्जनात्मक नहीं है, क्योंकि इन नियमों में ह्रस्वस्वर के समान अनुस्वार का काल भी एक मात्रा माना गया है। वा० प्रा० (४,१४८-४९) पूर्ववर्ती स्वर तथा अनुस्वार का काल दो मात्रा मानते हुए कहता है कि ह्रस्व स्वर के साथ अनुस्वार का काल डेढ़ मात्रा और ह्रस्व स्वर का काल अर्द्धमात्रा है और दीर्घस्वर के साथ अनुस्वार का काल अर्द्धमात्रा और दीर्घस्वर का काल डेढ़ मात्रा है।

ऋ० प्रा०, वा० प्रा०, तै० प्रा०, शिक्षाग्रन्थों, सि० कौ० तथा अनेक संस्कृत वैयाकरणों के अनुसार, **अनुनासिक** और **अनुस्वार** एक दूसरे से भिन्न हैं। **अनुस्वार** केवल व्यञ्जनों से पूर्व आ सकता है, जबकि अनुनासिक स्वरों से पूर्व तथा कहीं-कहीं अवसान में भी आ सकता है। मुख तथा नासिका दोनों से जिन वर्णों का उच्चारण होता है वे **अनुनासिक**

कहलाते हैं; यथा य् व् ल् तथा सब स्वरों का अनुनासिक भेद—यँ वँ लँ अँ आँ इँ ईँ इत्यादि। अनुनासिकत्व इन वर्णों का गुण है और अनुनासिक कोई पृथक् वर्ण नहीं है। परन्तु अनुस्वार अ आ इ ई इत्यादि स्वरों से भिन्न एक नासिक्य ध्वनि है। स्वरों के साथ अनुस्वार का आगम माना जाता है और इसके उच्चारण-काल (मात्रा) का निर्देश भी किया जाता है। अनुनासिक स्वर के लिए प्रातिशाख्यों में रक्त संज्ञा का प्रयोग मिलता है और अनुनासिकत्व के लिए राग या रङ्ग संज्ञा प्रयुक्त की गई है[५१]। अनेक शिक्षाग्रन्थों में रङ्ग का विशद वर्णन मिलता है और कांस्य-ध्वनि तथा सौराष्ट्रिका नारी की तक्राँ ध्वनि के साथ अनुनासिक ध्वनि की उपमा दी जाती है[५१क]। पा० शि० में अनुस्वार का उच्चारण अलाबुवीणा-निर्घोष के समान बताया गया है[५४]। ऋ० प्रा० में अनुस्वार का करण अस्पृष्ट तथा स्थित माना गया है[५४क]। परन्तु आचार्य व्याडि (ऋ० प्रा० १३,३७) अनुस्वार के स्वरूप के विषय में सन्दिग्ध थे और उन के मतानुसार अनुस्वार का स्थान नासिका या मुखनासिका है। अधिकतर संस्कृत-ग्रन्थों में अनुस्वार के लिए बिन्दु ं का चिह्न और अनुनासिक के लिए अर्द्धचन्द्रबिन्दु ँ का चिह्न प्रयुक्त किया जाता है।

अ० प्रा० में अनुनासिक का विशद वर्णन मिलता है, परन्तु अनुस्वार का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। अत एव इस आधार पर तथा प्राचीन पाण्डुलिपियों में कहीं-कहीं अनुस्वार और अनुनासिक के लिये समान चिह्न के प्रयोग की प्रवृत्ति को देखते हुए, प्रो० ह्विटने ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि वास्तव में अनुस्वार तथा अनुनासिक में कोई भेद नहीं है[५५]। अनुनासिक तथा अनुस्वार के भेद को स्पष्ट करते हुए प्रो० मैक्डानल कहता है—"The pure nasal, when called *Anunāsika*, combines with the preceding vowel to form a single sound, a nasalized vowel, as in the French 'bon'; when called *Anusvāra* (*after-sound*), it forms in combination with the preceding vowel two successive sounds, a pure

vowel immediately followed by the pure nasal, though seeming to form a single sound, as in the English 'ba-ng' (where, however, the nasal is guttural, not pure)''[१६]. परन्तु प्रो० मैक्डानल ने इसी पुस्तक में अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार संज्ञा का प्रयोग किया है और उदाहरणों में सर्वत्र अनुनासिक दिखलाया है[१७]। इस में सन्देह नहीं कि कुछ प्राचीन पाण्डु-लिपियों में अनुस्वार तथा अनुनासिक दोनों के लिए अर्द्धचन्द्रबिन्दु ँ प्रयुक्त किया गया है, परन्तु अनुस्वार तथा अनुनासिक के स्वरूप तथा वास्तविक प्रयोग-क्षेत्र के विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति के लिए अवकाश नहीं हो सकता। इन के प्रयोगक्षेत्र के विषय में सन्धिप्रकरणम् में दिया हुआ विस्तृत वर्णन ध्यान देने योग्य है।

टिप्पणियां

१. वैदिक तथा लौकिक संस्कृत के वर्णों की संख्या के विषय में आचार्यों में गहरा मतभेद है। वा० प्रा० ८, १-१५ के अनुसार, निम्नलिखित पैंसठ वर्ण हैं—अ आ आ३ इ ई ई३ उ ऊ ऊ३ ऋ ॠ ॠ३ ऌ ॡ ॡ३; ए ए३ ओ ओ३ ऐ ऐ३ औ औ३; क् ख् ग् घ् ङ्; च् छ् ज् झ् ञ्; ट् ठ् ड् ढ् ण्; त् थ् द् ध् न्; प् फ् ब् भ् म्; य् र् ल् व्; श् ष् स् ह्; जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, विसर्जनीय, नासिक्य तथा चार यम। इन में से तेईस स्वर और बयालीस व्यञ्जन हैं—वा० प्रा० ८, २८—"त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः। द्वाचत्वारिंशद् व्यञ्जनानि तावान्वर्णसंग्रहः॥" परन्तु वा० प्रा० ८,२९-३० इस तथ्य को स्वीकार करता है कि माध्यन्दिनशाखा में ळ, ळ्ह, जिह्वा-मूलीय, उपध्मानीय, नासिक्य तथा दीर्घ ॡकार नहीं मिलते हैं और वा० प्रा० २, ५०—५४ में उक्त सात प्लुतों को छोड़ अन्य प्लुत स्वर भी नहीं मिलते हैं—"तस्मिन् ळ्हलजिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्य-

न्दिनानाम् ॥२९॥ लृकारो दीर्घः प्लुताश्चोक्तवर्जम् ॥३०॥" शिक्षाग्रन्थों में वर्णों की संख्या 'त्रिषष्टिः' (६३) या 'चतुःषष्टिः' (६४) मानी गई है; यथा—पा० शि० ३-४—"त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः सम्भवतो (पाभे० शम्भुमते) मताः। प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयंभुवा ॥३॥ स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः। यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः ॥४॥" व० प्र० शि० १०-१५ (शि० सं० पृ० ११८), षोडशश्लोकी शिक्षा २ (शि० सं० पृ० १६४) और कौटिल्य के अर्थशास्त्र (२, १०, १५) में भी वर्णसंख्या 'त्रिषष्टिः' मानी गई है। षोडशश्लोकी शिक्षा में स्वरों की संख्या बाईस और व्यञ्जनों की संख्या इकतालीस मानी गई है, परन्तु उपर्युक्त अन्य शिक्षाओं के अनुसार निम्नलिखित इक्कीस स्वर और बयालीस व्यञ्जन माने गए हैं—वा० प्रा० के अनुसार पूर्व-परिगणित सभी ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत स्वर, परन्तु लृकार का केवल ह्रस्व रूप; पच्चीस स्पर्श, चार अन्तस्था, चार ऊष्म, अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और चार यम। पा० शि० की पञ्जिकावृत्ति और उसी में उद्धृत औदव्रजि का मत है कि ह्रस्व तथा दीर्घ के भेद से दो अनुस्वार मानने से वर्णों की संख्या चौंसठ हो जाती है। पञ्जिका—"चतुःषष्टिः कथम्? अनुस्वारौ विसर्गश्चेति पाठान्तरात्। कथं पुनरनुस्वार-द्वयम्? ह्रस्वदीर्घभेदेनेति ब्रूमः। तथा चौदव्रजिः—'अनुस्वारावं आं इत्य-नुस्वारौ ह्रस्वाद्दीर्घो दीर्घाद्ध्रस्वो वर्णौ' इति। अत एव चतुःषष्टिः।" तै० प्रा० के त्रिभाष्यरत्न के अनुसार, तै० प्रा० (१, १-९; १, ३४; ८,५;२, ५२; १३, १६; २१, १२. १५) वर्णसमाम्नाय में निम्नलिखित साठ वर्णों को स्वीकार करता है— (१६ स्वर)— अ आ आ३ इ ई ई३ उ ऊ ऊ३ ऋ ॠ ऌ ए ऐ ओ औ।

(४४ व्यञ्जन)—पच्चीस व्यञ्जन, चार अन्तस्था, छः ऊष्म (श् ष् स् ह् जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय), अनुस्वार, विसर्जनीय, ळ, नासिक्य, चार यम और स्वरभक्ति। ऋ० प्रा० (१, १-३) ने आठ समानाक्षर और चार सन्ध्यक्षर कुल बारह स्वर माने हैं और अनुस्वार के विषय में ऋ० प्रा० (१,५) कहता है कि यह स्वर या व्यंजन है। ऋ० प्रा० ने स्वरों में लृकार की गणना नहीं की है। इस के अतिरिक्त ऋ०

प्रा० (१, ६-१०) ने पच्चीस स्पर्श, चार अन्तस्था और आठ ऊष्म माने हैं (दे० टि० ४)।

पाणिनि ने शिवसूत्रों में केवल ह्रस्व समानाक्षर (अ इ उ ऋ ऌ) और सन्ध्यक्षरों की परिगणना की है और व्यञ्जनों की परिगणना करते समय अयोगवाह छोड़ दिए हैं परन्तु सवर्णग्राहक सूत्र (१, १,६९) से पाणिनि अपने शास्त्र में दीर्घ, प्लुत, अनुनासिक आदि का ग्रहण कर लेता है। तुलनात्मक तथा प्रयोगात्मक दृष्टिकोण से प्लुत और अनुनासिक वर्णों की पृथक् संख्या करना अनावश्यक है। और इसी प्रकार ळ ळ्ह को भी स्वतन्त्र वर्ण नहीं माना जा सकता, क्योंकि ये क्रमशः ड ढ के विकारमात्र हैं। यम तथा स्वरभक्ति आदि आंशिक ध्वनियां हैं और इनका लिखित आकार नहीं है। अत एव इन्हें भी पूर्ण वर्ण की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

१क. दे० पा० १,२,२९ पर महाभाष्य—"अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनम्। स्वयं राजन्ते इति स्वराः, अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति।" तै० प्रा० १,६ पर वैदिकाभरण— "परेण स्वरेण व्यज्यत इति व्यञ्जनम्।" पा० शि० ४ पर पञ्जिकावृत्ति— "स्वृ शब्दोपतापयोः, स्वर्यते शब्द्यतेऽनेन व्यञ्जनमिति करणेऽच्प्रत्ययः।"

२. पतञ्जलि ने पा० १,१,९ तथा ६,१,१०१ पर महाभाष्य करते हुए होतृ+ऌकार के सवर्णदीर्घ के उदाहरण में केवल ऋ का दीर्घ दिखलाया है, परन्तु ऌ का नहीं। इसी ज्ञापक के आधार पर काशिकाकार जयादित्य कहता है—"ऌवर्णस्य दीर्घा न सन्ति।" उत्तरकालीन अनेक वैयाकरणों ने इस मत का समर्थन किया है। आपिशलिशिक्षा और ऋक्तन्त्र ने ॡ स्वीकार किया है। और वा० प्रा० १, ६९ पर भाष्य में उवट ने भी ॡ का उल्लेख किया है। परन्तु उनका मत कल्पना पर आधारित प्रतीत होता है, क्योंकि वैदिक वाङ्मय में ॡ का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। या० शि० १२६— "ऌकारस्य तु दीर्घत्वं नास्ति वाजसनेयिनः॥" व० प्र० शि० १२—"ऌकारो ह्रस्व एव च।" दे० टि० १; Alt. Gr. I, p. 35.

२क. पा० ८,२,१०६ पर व्यक्त किए गए महाभाष्य के मतानुसार, प्लुत ऐ तथा औ चार मात्रा काल के होते हैं। दे० शांश्रौ. सू० १,२,३.

प्रथमोऽध्यायः

३. ऋ० में दो स्वरों के मध्य ड के लिए ळ और ढ के लिए ळ्ह लिखा जाता है। अतएव ऋ० प्रा० १,५२ में कहा गया है—

द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।
ळ्हकारतामेति स एव चास्य ढकारः सन्नूष्मणा संप्रयुक्तः।
इळा साळ्हा चात्र निदर्शनानि वीड्वङ्ग इत्येतदवग्रहेण ॥

दे० सि० कौ० (पा० ६,३,११३); ऋ० १,१,१ पर सायण-भाष्य; Alt. Gr. I, p. 255; Ved. Gr., p. 5 f. n. 5; Ved. Gr. Stu., p. 3 f. n. 2. वा० प्रा० ४,१४४—डढौ ळळ्हावेकेषाम् ॥ दे० वा० प्रा० ८,२९ (टि० १)।

४. ऋ० प्रा० १,१० के अनुसार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अनुस्वार भी ऊष्मों में सम्मिलित किए जाते हैं। ऋ० प्रा० के इस सूत्र पर भाष्य करते हुए उवट कहता है— "ऊष्मा वायुस्तत्प्रधाना वर्णा ऊष्माणः।" तै० प्रा० १,९ के अनुसार, श् ष् स् ह्, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ऊष्म है। वा० प्रा० ८,१६-१७, सि० कौ० पृ० २३ तथा अनेक वैयाकरणो के अनुसार श् ष् स ह् ऊष्म कहलाते हैं।

५. अयोगवाह का व्याख्यान अनेक विद्वानों द्वारा किया गया है। पतञ्जलि महाभाष्य, १,१,२ में (पञ्चम शिव-सूत्र पर) कहता है— "के पुनरयोगवाहाः ? विसर्जनीय-जिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारानुनासिक्य-यमाः। कथं पुनरयोगवाहाः ? यदयुक्ता वहन्त्यनुपदिष्टाश्च शिष्यन्ते।" महाभाष्य के इस अंश पर कैयट कहता है— "अयुक्ताः प्रत्याहारलक्षणेन।" पा० शि० १६ पर पञ्जिकावृत्ति— "न विद्यते योगः संयोगो वर्णान्तरेण येषां ते अयोगवाहाः।"

वा० प्रा० ८,१८ पर उवटभाष्य— "अकारादिना वर्णसमाम्नायेन सहिताः सन्त एते वहन्त्यात्मलाभं प्राप्नुवन्त्ययोगवाहाः।"

६. ऋ० प्रा० १,५ के अनुसार, अनुस्वार स्वर या व्यञ्जन है। इस सूत्र पर उवट कहता है— "अं इत्यनुस्वारो वर्णसमाम्नाये पठ्यते। स कांश्चित्स्वरधर्मान्गृह्णाति कांश्चिद्व्यञ्जनधर्मान्।"

७. सि० कौ०, पृ० २१; ऋ० प्रा० ६,२९— "स्पर्शा यमाननुनासिकाः स्वान्परेषु स्पर्शेष्वनुनासिकेषु।" इस पर भाष्य करते हुए उवट कहता

है— "तस्मादिह स्पर्शा यमाननुनासिका इत्युच्यमाने विंशतित्वात्स्थानिनामादेशानामपि यमानां विंशतित्वप्रसङ्गः । स मा भूत् । चतुर्णामेव *यमानां प्रथमाः प्रथमं द्वितीया द्वितीयमेवमा पञ्चमादापद्येरन्नित्युच्यते ।"* इसी प्रकार ऋ० प्रा० १,५० पर भाष्य में उवट कहता है— "एवं विंशतिर्यमा बह्वृचानां भवन्ति । स्वरूपैश्चत्वार एव ।" पा० शि० ४; व० प्र० शि० १७.१७६ तथा मा० शि० ११६ ने चार यम माने हैं। ना० शि० २,२,८— "अनन्त्यश्च भवेत्पूर्वोऽन्त्यश्च परतो यदि । तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेत्सवर्णः पूर्वपूर्णयोः ॥" तै० प्रा० २१,१२ नासिक्यों का लक्षण देता है— "स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः" और अगले सूत्र में कहता है कि कुछ आचार्य इन नासिक्यों को यम कहते हैं। इस सूत्र पर त्रिभाष्यरत्न कहता है— "उत्तमपरादनुत्तमात्स्पर्शादानुपूर्व्याद् यथाक्रमं नासिक्या आगमा भवन्ति । प्रथमस्पर्शात्प्रथमानुनासिक्यो द्वितीयाद्द्वितीय एवमन्यत्रापि ।" अ० प्रा० १,९९ भी यमों को आगम मानता है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि अननुनासिक स्पर्श की आंशिक अनुनासिक ध्वनि ही वास्तव में यम है। दे० Skt. Gr., p. 79; Gr. Lg. Ved., p. 20; वा० प्रा० ४,१६३; ८,२४ ॥

८. अ० प्रा० १,१००— "हकारान्नासिक्येन" ॥ तै० प्रा० २१, १४— "हकारान्नणमपरान्नासिक्यम्" । इस सूत्र पर त्रिभाष्यरत्न कहता है— "हकारादिति कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी । तस्मान्नणमपरं हकारमारुह्य नासिक्यं भवति । सानुनासिक्यो हकारः स्यादित्यर्थः" । वा० प्रा० ८,१३— हुँ इति नासिक्यः । वा० प्रा० (१,७४.८०) नासिक्य के उच्चारण के सम्बन्ध में नियम बनाता है। ऋ० प्रा० १,४८ यम तथा अनुस्वार के साथ नासिक्य का उल्लेख अवश्य करता है, परन्तु इसके सम्बन्ध में और कुछ नहीं कहता । महाभाष्य ने अयोगवाहों में नासिक्य का उल्लेख किया है (दे० टि० ५) । दे० Skt. Gr., p. 79; Gr. Lg. Ved., p. 20; Phon. An Ind., p. 77.

९. शत० ब्रा० ३,२,१,२३-२४— "तेऽसुरा आत्तवचसो हेऽलवो हेऽलव इति वदन्तः पराबभूवुः । तत्रैतामपि वाचमूदुः । उपजिज्ञास्यां स म्लेच्छस्तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेदसुर्या वा वाक्" । सायण के व्याख्यानानुसार

असुरों ने 'हेऽरयः' के स्थान पर उसका अशुद्ध उच्चारण 'हेऽलवः' किया था। इसी लिए उनका पराभव हुआ। परन्तु काण्वशाखीय शत० ब्रा० में इसके स्थान पर "हैलो हैल इति" पाठ मिलता है। अत एव पाश्चात्य विद्वान् सायण के व्याख्यान को संदिग्ध मानते हैं। दे० SBE, XXVI, p. 31, f. n. 3; Vedic Index II, pp. 279, 517. पतञ्जलि महाभाष्य (पस्पशाह्निक) में कहता है— "तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः परावभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः"। प्राचीन काल में शुद्ध उच्चारणज्ञान के उपरान्त वैदिक शब्दों का उपदेश किया जाता था। अतः पतञ्जलि महाभाष्य (पस्पशाह्निक) में कहता है— "संस्कारोत्तर-कालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते"।

१०. Alt. Gr. I, p. I; Ved. Gr., p. 5; Ved. Gr. Stu. p. 14.

११. Ved. Gr., p. 5; Ved. Gr. Stu., p. 14; तु० Alt. Gr. I., p. 1.

१२. Alt. Gr. I, p. 3; Ved. Gr., p. 6.

१३. तै० प्रा० २,२४—"ओष्ठोपसंहार उवर्णे"।

१४. पा० शि० १७— "स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः"। दे० सि० कौ० पृ० १७— "ऋटुरषाणां मूर्धा लृतुलसानां दन्ताः"। आपि० शि० २१। "ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्" पा० ८,४,१ पर दिए गए इस वार्तिक के द्वारा ऋकार के निमित्त से नकार का णकारादेश ऋकार के मूर्धन्यत्व का परिचायक है।

१५. पा० १,१,९ पर वार्तिक— "ऋकारलृकारयोः सवर्णसंज्ञा वक्तव्या"।

१६. Epigraphica Indica, 4,356; 5,32.

१७. Alt. Gr. I, p. 31; Ved. Gr., p. 8.

१८. मै० सं० १,६,१२— "मातुर्भ्रात्रेभ्यः" में भ्रातृभ्यः के स्थान पर भ्रात्रेभ्यः; मु० उ० १,१,६ में अदृश्यम् के स्थान पर अद्रेश्यम् मिलता है। कात्यायनोक्ता स्वरभक्तिलक्षणपरिशिष्टा शिक्षा २६ (शि० सं० पृ० १७४)—हल्युक्तश्चऋकारस्तु रेकारश्छन्दसि स्मृतः। पितृणामिति पित्रेणा-

मित्यादि च निदर्शनम् । ल० माशि० २८ (शि० सं० पृ० ११६)—ऋकारः खलु सर्वत्र ह्येकारसदृशो भवेत् । तु० प्रा० शि० (शि० सं० पृ० २९२.२९६); प्र० सू० १६; Alt. Gr. I, p. 31; Gr. Lg. Ved; p. 12.

१९. अ० प्रा० १,३७-३९— संस्पृष्टरेफमृवर्णम् ॥ ३७ ॥ दीर्घप्लुतयोः पूर्वा मात्रा ॥३८॥ सलकारम् लृवर्णम् ॥ ३९ ॥ ऋलृ के व्यञ्जनात्मक तथा स्वरात्मक तत्त्वों के सम्बन्ध में अ० प्रा० १,३७ पर वृत्ति कहती है—"रेफो भवति संस्पृष्टो यथाऽङ्गुल्या नखं तथा, सूत्रे मणिरिवेत्येके, तृणे क्रिमिरिवेति च"। व० प्र० शि० ४२ (शि० सं० पृ० १२०)—"ऋलोर्मध्ये भवत्यर्द्धमात्रा रेफलकारयोः। तस्मादस्पृष्टता न स्यात् सम्भवे ऋलृकारयोः" तु० या० शि० २११ (शि० सं पृ० ३२) ॥ आपि० शि० १,२६— सरेफ ऋवर्णः ॥ ऋ० प्रा० १३,३४— रेफोऽस्त्यृकारे च परस्य चार्धे पूर्वे ह्रसीयाँस्तु न वेतरस्मात्। मध्ये सः ॥ सर्वसम्मतशिक्षा-ऋकारस्य स्वरूपं हि श्लिष्टं पादचतुष्टयम्। पादेषु तेषु विज्ञेयावाद्यावन्ते स्वरात्मकौ। अणू रेफस्य मध्ये तु विज्ञेयौ व्यञ्जनात्मकौ।

वा० प्रा० ४, १४६—"ऋलृवर्णे रेफलकारौ संश्लिष्टावश्रुतिधरावेकवर्णौ।" इस सूत्र पर भाष्य करते हुए उवट कहता है कि इन स्वरों के मध्य र् ल् अर्ध-मात्रिक होते हैं। इन स्वरों के व्यञ्जनात्मक तत्त्व के कारण कतिपय वैयाकरण इन के स्वरत्व पर भी शङ्का करते हैं। इस लिए महाभाष्य १, १, १ (पा० १, १, ९) "न च ऋकार लृकारो वाऽस्ति।" पर कैय्यट कहता है— "अन्ये त्वीषत्स्पृष्टकरणत्वादनयोर्ऋकारऌकारयोश्च विवृतत्वात्ताभ्यां तयोरग्रहणादनच्त्वमाहुः।"

२०. Alt. Gr. I, pp. 31-32; Ved. Gr., p. 8; Gr. Lg. Ved., pp. 12, 52.

२१. परन्तु इस सिद्धान्त के विपरीत ऋ० ७, ५६,१७ में √मृड् के क्रियारूप मृळन्तु में छन्दःपरिमाण की दृष्टि से भी ऋ का ह्रस्व उच्चारण स्वीकार्य है। दे० Arnold, Vedic Metre, p. 31; Alt. Gr., I, p. 31; Ved. Gr., p. 8 f. n. 5. यद्यपि ऋग्वेदसंहिता के अनेक भारतीय

भवतः। किमिदमपृथक्श्रुती इति? ए ओ इत्येतयोरिवर्णोवर्णयोः पृथक् श्रवणं न विद्यते क्षीरोदकवत्संप्रयुक्तत्वात्। एवं श्रुतिविशेषः।" यद्यपि उवट ने एक दूसरी योजना के अनुसार पृथक्श्रुती पाठ भी दिया है और डा० मङ्गलदेव शास्त्री ने पाणिनीय व्याकरण के सन्धि-नियम के आधार पर दूसरे पाठ को ग्राह्य माना है (दे० ऋ० प्रा० द्वितीय भाग पृ० २२४), तथापि अर्थ की दृष्टि से अपृथक्श्रुती पाठ तथा प्रथम व्याख्यान अधिक उचित प्रतीत होता है और अ० प्रा० (१,४०) भी इस व्याख्यान की पुष्टि करता है।

२५. तै० प्रा० २, २६-२९— "अकारार्धमैकारौकारयोरादिः। संवृतकरणतरमेकेषाम्। इकारोऽध्यर्धः पूर्वस्य शेषः। उकारस्तूत्तरस्य।" ऐ औ के आदि अवयव अकार के संवृत प्रयत्न के सम्बन्ध में टि० २२ देखिए।

२६. वा० प्रा० १,७३– "ऐकारौकारयोः कण्ठ्या पूर्वा मात्रा ताल्वोष्ठ्योरुत्तरा।" वा० प्रा० के भाष्यकार उवट के अनुसार अ+ए=ऐ और अ+ओ=औ। तु० वा० प्रा० ४, १४३— "ऐकारौकारौ च।"

२७. Alt. Gr. I, p. 35; Ved. Gr., p. 9.

२८. आश्व० श्रौ० सू० (७, ११) न्यूङ्ख उच्चारण के सम्बन्ध में अर्ध ओकार का विधान करते हुए कहता है— "तस्य तस्य चोपरिष्टादपरिमितान्षड् वाऽर्धौकाराननुदात्तान्।" महाभाष्यकार पतञ्जलि के कथन से प्रतीत होता है कि कतिपय सामवेदाध्यायी अर्ध एकार तथा अर्ध ओकार के उच्चारण को भी स्वीकार करते थे। इस सम्बन्ध में पतञ्जलि (शिवसूत्र ३-४ पर चतुर्थ वार्तिक का महाभाष्य) कहता है— "ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रि-राणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते— "सुजाते एश्वसूनृते" (सा० १, ५,१,४,३), "अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्" (सा० १, ६,१,२,३), "शुक्रं ते एन्यद् यजतं ते एन्यद्" (सा० १,१,२,८,३) इति। पार्षदकृतिरेषा तत्रभवतां, नैव हि लोके नान्यस्मिन्वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वाऽस्ति।" जैसा कि महाभाष्य के कथन से स्पष्ट है यह अर्ध एकार तथा अर्ध ओकार पार्षदविशेष की कृति थी और साधारणतया इस प्रकार का उच्चारण नहीं होता था। आश्व० श्रौ० सू० १, २, १४ (चतुर्मात्रोऽवसाने) के अनुसार, अवसान में आने वाला प्रणव (ओ३म्) चार मात्राओं का होता है। दे० शां श्रौ० सू० १, २, ३।

२९. ऋ० प्रा० १, ३४; वा० प्रा० १,५९; तै० प्रा० १, ३७। पा० १,१,५० पर महाभाष्य "आन्तर्यतोऽर्धमात्रिकस्य व्यञ्जनस्य…। नैव लोके नैव वेदे मात्रिको द्विमात्रिको वा यणस्ति। कस्तर्हि? अर्धमात्रिकः।"

३०. पाणिनि १, १, ९ तथा वा० प्रा० १, ४३ इस के लिए आस्य-प्रयत्न संज्ञा का प्रयोग करते हैं। उवट ने वा० प्रा० के भाष्य में आस्य-प्रयत्न का व्याख्यान मुखप्रयत्न किया है। पा० १,१,९ पर महाभाष्य में आस्य के अनेक व्याख्यान किए गए हैं और पतञ्जलि कहता है— "प्रयत्नविशेषण-मास्योपादानम्। सन्ति ह्यास्याद्बाह्याः प्रयत्नास्ते हापिता भवन्ति।" आगे चल कर पतञ्जलि कहता है—"आस्ये प्रयत्न आस्यप्रयत्नः।" और आस्य का व्याख्यान करते हुए पतञ्जलि कहता है–"ओष्ठात्प्रभृति प्राक्काकलकात्।" काकलक के व्याख्यान में कैय्यट कहता है— "काकलकं हि नाम ग्रीवाया-मुन्नतः प्रदेशः।" सि० कौ० पर तत्त्वबोधिनी टीका— "तत्रोत्पत्तेः प्राग्यदा जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानि तत्तद्वर्णोत्पत्तिस्थानं ताल्वादि सम्यक् स्पृशन्ति, तदा स्पृष्टता। ईषद्यदा स्पृशन्ति, तदा ईषत्स्पृष्टता समीपावस्थानमात्रे संवृतता। दूरत्वे विवृतता।" आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए करण संज्ञा का प्रयोग भी मिलता है। दे० टि० ३५।

३१. ऋ० प्रा० १३,९— "स्पृष्टमस्थितम्"। अस्थित पर उवट कहता है— "यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य मध्ये जिह्वा न सन्तिष्ठते तदस्थितमित्युच्यते"। अ० प्रा० १,२९— स्पृष्टं स्पर्शानां करणम्। पा० १,१, १० पर महा भा०—"स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्। दे० वा० प्रा० १,४९; ८,५-१३। सि० कौ० पृ० १७। तै० प्रा० १,७।

३२. अ० प्रा० १, ३०— "ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्"। पा० १, १, १० पर महाभाष्य में ये शब्द ज्यों के त्यों मिलते हैं। दे० सि० कौ० पृ० १७। ऋ० प्रा० १३,१० ईषत्स्पृष्ट के स्थान पर दुस्पृष्ट संज्ञा का प्रयोग करते हुए कहता है— "दुस्पृष्टं तु प्राग्घकाराच्चतुर्णाम्"। पा० शि० ३८। ऋक्तन्त्र २,१— "स्पृष्टं करणं स्पर्शानां दुःस्पृष्टमन्तःस्थानाम्"।

३३. ऋ० प्रा० १,९ पर उवट कहता है— "स्पर्शोष्मणामन्तर्मध्ये तिष्ठन्ती-त्यन्तःस्थाः"। SPW., . s. v, के अनुसार, अन्तस्थाः संज्ञा का कारण

संस्करणों के मन्त्र ५, ६९, २ में तिसृणाम् पाठ मिलता है (दे० वै० प० को०), तथापि यह निश्चित है कि तिसृणाम् पाठ प्रामाणिक है। दे० पा० ६, ४, ४-५। चतुर्थ अध्याय की टि० २३७। इन उदाहृत शब्दों के ऋ का उच्चारण कुछ उत्तरकालीन संहिताओं में ह्रस्व स्वर के रूप में किया जाने लगा और कहीं-कहीं तो उन शब्दों में भी ऋ का ग्रहण कर लिया गया जिन में ऋग्वेदसंहिता के लिखित पाठ के अनुसार भी ॠ है। उदाहरणार्थ तै० सं० में ऋकारान्त प्रातिपदिकों के षष्ठी बहुवचन में ऋ० के ॠ के स्थान पर ऋ मिलता है; यथा— पितृणाम् (१,३,६,१), नेतृणाम् (१, ३, ६, १), भ्रातृणाम् (४, ७, १४, ३), इत्यादि। सम्भवतः इसी प्रकार की प्रवृत्ति के फलस्वरूप ऋ. में अशुद्धि से कुछ शब्दों में ॠ के स्थान पर ऋ लिखा जाने लगा। दे० Alt. Gr. I, pp. 31-32; Ved. Gr., p. 8. प्रो० ओल्डनबर्ग (Prolegomena, p. 477) का मत है कि अ० के कई पदों का ऋ छन्दःपरिमाण की दृष्टि से दीर्घ है।

२२. पा० शि० (घोषसम्पादित) १२-१३—

एऐ तु कण्ठतालव्या ओ औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ ॥ १२ ॥
अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारौकारयोर्भवेत्।
एकारौकारयोर्मात्रा तयोर्विवृतसंवृतम् ॥ १३ ॥

अन्तिम पाद 'तयोर्विवृतसंवृतम्' का व्याख्यान संदिग्ध तथा विवादास्पद है। श्री मनोमोहन घोष ने The Pāṇinīya Śikṣā (Translation and Notes, p. 61) में इस का निम्नलिखित व्याख्यान किया है...... "The throat element of e and o is half a mātrā and of ai and au is (one) mātrā; these two latter (i. e., ai and au) are open-close sounds (i. e., their first half or a-element is open and the second half or i-and u-element is close)." दे० Varma, "Critical Studies...," p. 180, n. 5. परन्तु श्री घोष के मत को स्वीकार न करते हुए श्री ऐलन ("Phonetics in Ancient India" p. 63) ने इस के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किए हैं—"...; the passage continues with the words 'तयोर्विवृतसंवृतम्', literally 'in

them there is openness and closeness', which Ghosh interprets as referring to the fact that, in ऐ and औ, 'their first half or the a-element is open and the second half or i-and u-element is close'; but it is more probable that the words refer to the open आ which forms the first element of ऐ औ and the closer अ which forms the first element of the narrower diphthongs ए ओ. The latter interpretation is supported by a passage in the *Mahābhāshya*, where the संवृत अ of ए ओ is specifically contrasted with the more open आ of ऐ औ." [Mahābhāshya I, 1,4 on Pāṇini 1,1,9 (Kielhorn, 1,62) प्रश्लिष्टावर्णावेतौ (अर्थात् एङ्)। विवृततरावर्णावेतौ (अर्थात् ऐच्)]. तै० प्रा० (२,२७) कहता है कि कुछ आचार्यों के मतानुसार ऐ औ का आदि अवयव अर्ध अकार संवृततर है (दे० टि० २५)। इस सूत्र के आधार पर यह व्याख्यान किया जा सकता है कि ए ओ का आदि अवयव अकार विवृत है और ऐ औ का आदि अवयव अकार संवृत है। ए ओ के प्रयत्न को विवृततम मानने वाला अ० प्रा० (१,३४) का नियम इस मत का समर्थन करता है। पा ८,२,१०६ पर दिये गए महाभाष्य तथा सि० कौ० की सुबोधिनी टीका और शेखर के अनुसार ऐ औ में एक मात्रा अ की और एक मात्रा क्रमशः इ तथा उ की है। काशिका ने भी इस मत का उल्लेख किया है। दे० अनु० ४५ क; द्वितीय अध्याय की टि० २४ (च)।

२३. अ० प्रा० १, ४०-४१– सन्ध्यक्षराणि संस्पृष्टवर्णान्येकवर्णवद्वृत्तिः ॥४०॥ नैकारौकारयोः स्थानविधौ ॥४१॥

२४. ऋ० प्रा० १३,४०-४१–"मात्रासंसर्गादवरेऽपृथक्श्रुती॥ ह्रस्वानुस्वारव्यतिषङ्गवत्परे।" पहले सूत्र का व्याख्यान करते हुए उवट कहता है— "अवरे पूर्वे ए ओ इत्येते मात्रासंसर्गात्। मात्रयोः समयोः क्षीरोदकवत्संसर्गात्। न ज्ञायते क्वावर्णमात्रा क्व वेवर्णोवर्णयोरिति। तस्मात्ते अक्षरे अपृथक्श्रुती

भवतः। किमिदमपृथक्श्रुती इति? ए ओ इत्येतयोरिवर्णोवर्णयोः पृथक् श्रवणं न विद्यते क्षीरोदकवत्संप्रयुक्तत्वात्। एवं श्रुतिविशेषः।" यद्यपि उवट ने एक दूसरी योजना के अनुसार पृथक्श्रुती पाठ भी दिया है और डा० मङ्गलदेव शास्त्री ने पाणिनीय व्याकरण के सन्धि-नियम के आधार पर दूसरे पाठ को ग्राह्य माना है (दे० ऋ० प्रा० द्वितीय भाग पृ० २२४), तथापि अर्थ की दृष्टि से अपृथक्श्रुती पाठ तथा प्रथम व्याख्यान अधिक उचित प्रतीत होता है और अ० प्रा० (१,४०) भी इस व्याख्यान की पुष्टि करता है।

२५. तै० प्रा० २, २६-२९— "अकारार्धमैकारौकारयोरादिः। संवृतकरणतरमेकेषाम्। इकारोऽध्यर्धः पूर्वस्य शेषः। उकारस्तूत्तरस्य।" ऐ औ के आदि अवयव अकार के संवृत प्रयत्न के सम्बन्ध में टि० २२ देखिए।

२६. वा० प्रा० १,७३– "ऐकारौकारयोः कण्ठ्या पूर्वा मात्रा ताल्वोष्ठयोरुत्तरा।" वा० प्रा० के भाष्यकार उवट के अनुसार अ+ए=ऐ और अ+ओ=औ। तु० वा० प्रा० ४, १४३— "ऐकारौकारौ च।"

२७. Alt. Gr. I, p. 35; Ved. Gr., p. 9.

२८. आश्व० श्रौ० सू० (७, ११) न्यूङ्ख उच्चारण के सम्बन्ध में अर्ध ओकार का विधान करते हुए कहता है— "तस्य तस्य चोपरिष्टादपरिमितान्पञ्च वाऽर्धौकाराननुदात्तान्।" महाभाष्यकार पतञ्जलि के कथन से प्रतीत होता है कि कतिपय सामवेदाध्यायी अर्ध एकार तथा अर्ध ओकार के उच्चारण को भी स्वीकार करते थे। इस सम्बन्ध में पतञ्जलि (शिवसूत्र ३-४ पर चतुर्थ वार्तिक का महाभाष्य) कहता है— "ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रि-राणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते— "सुजाते एश्वसूनृते" (सा० १, ५,१,४,२), "अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्" (सा० १, ६,१,२,२), "शुक्रं ते एन्यद् यजतं ते एन्यद्" (सा० १,१,२,८,३) इति। पार्षदकृतिरेषा तत्रभवतां, नैव हि लोके नान्यस्मिन्वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वाऽस्ति।" जैसा कि महाभाष्य के कथन से स्पष्ट है यह अर्ध एकार तथा अर्ध ओकार पार्षदविशेष की कृति थी और साधारणतया इस प्रकार का उच्चारण नहीं होता था। आश्व० श्रौ० सू० १, २, १४ (चतुर्मात्रोऽवसाने) के अनुसार, अवसान में आने वाला प्रणव (ओ३म्) चार मात्राओं का होता है। दे० शां श्रौ० सू० १, २, ३।

२९. ऋ० प्रा० १, ३४; वा० प्रा० १,५९; तै० प्रा० १, ३७। पा० १,१,५० पर महाभाष्य "आन्तर्यतोऽर्धमात्रिकस्य व्यञ्जनस्य···। नैव लोके नैव वेदे मात्रिको द्विमात्रिको वा यणस्ति। कस्तर्हि? अर्धमात्रिकः।"

३०. पाणिनि १, १, ९ तथा वा० प्रा० १, ४३ इस के लिए **आस्य-प्रयत्न** संज्ञा का प्रयोग करते हैं। उवट ने वा० प्रा० के भाष्य में आस्य-प्रयत्न का व्याख्यान **मुखप्रयत्न** किया है। पा० १,१,९ पर महाभाष्य में आस्य के अनेक व्याख्यान किए गए हैं और पतञ्जलि कहता है— "प्रयत्नविशेषणमास्योपादानम्। सन्ति ह्यास्याद्बाह्याः प्रयत्नास्ते हापिता भवन्ति।" आगे चल कर पतञ्जलि कहता है—"आस्ये प्रयत्न आस्यप्रयत्नः।" और आस्य का व्याख्यान करते हुए पतञ्जलि कहता है–"ओष्ठात्प्रभृति प्राक्काकलकात्।" काकलक के व्याख्यान में कैय्यट कहता है— "काकलकं हि नाम ग्रीवाया-मुन्नतः प्रदेशः।" सि० कौ० पर तत्त्वबोधिनी टीका— "तत्रोत्पत्तेः प्राग्यदा जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानि तत्तद्वर्णोत्पत्तिस्थानं ताल्वादि सम्यक् स्पृशन्ति, तदा स्पृष्टता। ईषद्यदा स्पृशन्ति, तदा ईषत्स्पृष्टता समीपावस्थानमात्रं संवृतता। दूरत्वे विवृतता।" आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए **करण** संज्ञा का प्रयोग भी मिलता है। दे० टि० ३५।

३१. ऋ० प्रा० १३,९— "स्पृष्टमस्थितम्"। **अस्थित** पर उवट कहता है— "यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य मध्ये जिह्वा न सन्तिष्ठते तदस्थितमित्युच्यते"। अ० प्रा० १,२९— स्पृष्टं स्पर्शानां करणम्। पा० १,१, १० पर महा भा०—"स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्। दे० वा० प्रा० १,४९; ८,५-१३। सि० कौ० पृ० १७। तै० प्रा० १,७।

३२. अ० प्रा० १, ३०— "ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्"। पा० १, १, १० पर महाभाष्य में ये शब्द ज्यों के त्यों मिलते हैं। दे० सि० कौ० पृ० १७। ऋ० प्रा० १३,१० ईषत्स्पृष्ट के स्थान पर दुस्पृष्ट संज्ञा का प्रयोग करते हुए कहता है— "दुस्पृष्टं तु प्राग्घकाराच्चतुर्णाम्"। पा० शि० ३८। ऋक्तन्त्र ३,१— "स्पृष्टं करणं स्पर्शानां दुःस्पृष्टमन्तःस्थानाम्"।

३३. ऋ० प्रा० १,९ पर उवट कहता है— "स्पर्शोष्मणामन्तर्मध्ये तिष्ठन्तीत्यन्तःस्थाः"। SPW., . s. v, के अनुसार, अन्तस्थाः संज्ञा का कारण

यह है कि ये वर्ण पदान्त में नहीं ठहरते हैं और केवल पद के मध्य (अन्तः) में ठहरते हैं। इस व्याख्यान को अस्वीकार करते हुए ह्विट्ने ने यह सुझाव दिया है कि प्रयत्न की दृष्टि से स्वरों तथा व्यञ्जनों के मध्य की ध्वनियां होने के कारण ये वर्ण अन्तस्था (intermediate) कहलाते हैं। दे० Notes on A. Prat. I, 3; Skt. Gr., p. 18; Ved. Gr. Stu., p. 10; Ved. Gr., p. 40; Allen, Phonetics in Ancient India, p: 29; वा० प्रा० ४,१०२; निरुक्त २,२।

३४. अ० प्रा० १,३१— "ऊष्मणां विवृतं च"। इस सूत्र के व्याख्यान में च के द्वारा ईषत् की अनुवृत्ति मानी जाती है। पा० १,१,१० पर महाभाष्य में पतञ्जलि के निम्नलिखित कथन से भी इस मत की पुष्टि होती है— "विवृतमूष्मणाम्। ईषदित्येवानुवर्तते"। पा० शि० ३८ श् ष् स् ह् का आभ्यन्तर प्रयत्न नेमस्पृष्ट मानती है। मध्यसिद्धान्तकौमुदी का प्रणेता वरदराज उपर्युक्त महाभाष्य के अनुसार ऊष्मों का आभ्यन्तर प्रयत्न ईषद्विवृत मानता है। परन्तु भट्टोजिदीक्षित (पा० १,१,९ पर सि० कौ०) ने ऊष्मों तथा स्वरों का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत माना है और नागेश (ल० शे० पृ० ३०) भट्टोजिदीक्षित के समर्थन में कहता है— "स्वराणामूष्मणाञ्चैव विवृतं करणं स्मृतम्। तेभ्योऽपि विवृतावेङौ ताभ्यामैचौ तथैव च॥ इति शिक्षावाक्याद्विवृततरविवृततमयोः प्रतीत्या नाज्झलाविति सूत्रभाष्यादूष्मणामीषद्विवृतत्वस्य च प्रतीत्या चतुर्धेत्यसङ्गतमिति। तन्न। नाज्झलावितिसूत्रेण विवृतत्वव्याख्यानमेषां सवर्णसंज्ञानुपयुक्तत्वबोधनमित्याशयः"। इस सम्बन्ध में सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी टीका कहती है— "निष्कर्षपक्षे तु पञ्चधा। ऊष्मणामीषद्विवृतप्रयत्नाभ्युपगमात्"। पा० १,१,९ के व्याख्यान में काशिका ने केवल चार आभ्यन्तर प्रयत्न माने हैं और भट्टोजिदीक्षित ने उसी का अनुसरण किया है।

३५. बाह्य प्रयत्नों का व्याख्यान करते हुए नागेश (ल० शे०, पृ० ३४) कहता है— "काकलकाधस्ताद्गलविवरसङ्कोचविकासश्वासोत्पत्तिध्वनिविशेषरूपनादतद्विशेषरूपघोषाल्पघोषप्राणाल्पत्वमहत्त्वरूपकार्यकरत्वमेषाम्। ... ... गलविवरविकासादिकराश्वासयद्विर्भूतदेशे कार्यकरत्वाद्बाह्या इति"। इस

विषय में सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी टीका (पृ० १८) कहती है— "विवारसंवारादयस्तु वर्णोत्पत्तेः पश्चान्मूर्ध्नि प्रतिहते निवृत्ते प्राणाख्ये वायावुत्पद्यन्त इति बाह्या इत्युच्यन्ते"। पस्पशाह्निक में पतञ्जलि ने आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए करण तथा बाह्य प्रयत्न के लिए अनुप्रदान का प्रयोग किया है— "तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते"। इस पर उद्योतटीका में नागेश कहता है— "करणमाभ्यन्तरप्रयत्नः। अनुप्रदानं नादादिबाह्यप्रयत्नः"। सि० कौ० (पृ० २१) में भी बाह्यप्रयत्न के लिए अनुप्रदान संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

३६. पा० १,१,९ पर महाभाष्य— "अभेदका उदात्तादयः"। सि० कौ० की तत्त्वबोधिनी टीका (पृ० २१)— "यद्यपि भाष्येऽष्टावुक्ताः, उदात्तादयस्तु नोक्ताः, तथापि कैयटोक्तिमनुसृत्यैकादशोक्ता इति बोध्यम्"। इस विषय में नागेश (ल० शे० पृ० ३५) कहता है— "उदात्तादिजनकयत्नस्याभ्यन्तरकार्यकरत्वेऽपि उदात्तादिशब्दैर्विना बोधितानां तेषाम् "अनङ्दात्त" इत्यनेनाविवक्षाबोधनात् सवर्णसंज्ञानुपयुक्तत्वान्तरतम्यपरीक्षोपयुक्तत्वरूपसादृश्येन बाह्येषु गणनम्। इदं ह्रस्वत्वादेरानुनासिक्यस्य चोपलक्षणम्"।

३७. ऋ० प्रा० १३,१-६—

वायुः प्राणः कोष्ठ्यमनुप्रदानं कण्ठ्यस्य खे विवृते संवृते वा।
आपद्यते श्वासतां नादतां वा वक्त्रीहायाम् ॥ १ ॥

उभयं वान्तरोभौ ॥२॥ ता वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति ॥३॥ श्वासोऽघोषाणाम् ॥४॥ इतरेषां तु नादः ॥५॥ सोष्मोष्मणां घोषिणां श्वासनादौ ॥६॥ दे० आपि० शि० १,१; ऋक्तन्त्र १,१; पा० शि० ६, ७,९; सि० कौ० पर तत्त्वबोधिनी टीका (पृ० १९) "गलबिलस्य संकोचात्संवारः, तस्यैव विकासाद्विवारः। एतौ च संवृतविवृतरूपाभ्यामाभ्यन्तराभ्यां भिन्नावेव।"

३८. तै० प्रा० २,१-११— "अथ शब्दोत्पत्तिः। वायुशरीरसमीरणात्कण्ठोरसोः सन्धाने। तस्य प्रातिश्रुत्कानि भवन्त्युरः कण्ठः शिरो मुखं नासिके इति। संवृते कण्ठे नादः क्रियते। विवृते श्वासः। मध्ये हकारः। ता वर्णप्रकृतयः। नादोऽनुप्रदानं स्वरघोषवत्सु। हकारो ह-चतुर्थेषु। अघो-

षेषु श्वासः । भूयान्प्रथमेभ्योऽन्येषु ।" दे० अ० प्रा० १,१२-१३— "श्वासोऽघोषेष्वनुप्रदानः । नादो घोषवत्स्वरेषु ।"

३९. ऋ० प्रा० १,१०-१२—"उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः (दे० टि० ४)। अन्त्याः सप्त तेषामघोषाः । वर्गे वर्गे च प्रथमावघोषौ ।" तै० प्रा० १,१२-१४— "ऊष्म-विसर्जनीय-प्रथम-द्वितीया अघोषाः । न हकारः । व्यञ्जनशेषो घोषवान् ।" वा० प्रा० (१,५०-५३) में अघोष वर्णों के लिए जित्, सघोष वर्णों के लिए धि और श् ष् स् के लिए मुत् संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

४०. अ० प्रा० १,१०; ऋ० प्रा० १,१३ (तथा १,१०; दे० टि० ४); वा० प्रा० १,५४ (इस सूत्र के भाष्य मे उवट सोष्माणः का व्याख्यान महाप्राणाः करता है)। दे० पा० १,१,५० पर महाभाष्य तथा काशिका में सोष्माणः का प्रयोग।

४१. मध्य सि० कौ०, पृ० ३। दे० सि० कौ०, पृ० २२— "तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः खयस्तथा तेषामेव यमाः, जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ विसर्गः शषसाश्चेत्येतेषां विवारः श्वासोऽघोषश्च । अन्येषां तु संवारो नादो घोषश्च ॥ वर्गाणां प्रथमतृतीयपंचमाः प्रथमतृतीययमौ यरलवाश्चाल्पप्राणाः । अन्ये महाप्राणाः ।" सि० कौ० के अन्येषां का व्याख्यान करते हुए नागेश (ल० शे०, पृ० ३५) कहता है— "अन्येषामिति । अचामुक्तान्य-हलाश्चेत्यर्थः ।" इस से आगे यरलवाश्च के व्याख्यान में नागेश कहता है— "चेन अचामपि ग्रहणम् । 'सुपांसुलुक्' इति सूत्रे इकारस्यान्त-र्यतो दकार इति भाष्यात् घोषसंवारनादाल्पप्राणत्वमचाम् । अन्यथा तदौ पर्यायेण स्याताम् । अल्पप्राणत्वानङ्गीकारे दधौ पर्यायेण स्याताम् । अचां घोषत्वं 'परः संनिकर्षः' इति सूत्रे भाष्येऽपि स्पष्टम् ।" अन्ये महाप्राणाः के व्याख्यान में नागेश कहता है— "अन्ये इति । द्वितीयचतुर्थौ तद्यमौ शषसहा अयोगवाहाश्चेत्यर्थः ।" यह निर्विवाद है कि ऋ० प्रा० १,५ (टि० ३७), तै० प्रा० २,८ तथा अ० प्रा० १,१३ (टि० ३८) स्वरों का बाह्य प्रयत्न नाद स्वीकार करते हैं, जिसका आधार इन प्रातिशाख्यों के अनुसार (दे० टि० ३७,३८) संवार है। परन्तु तै० प्रा० तथा अ०

प्रा० के उक्त सूत्रों में और ऋ० प्रा० के उक्त सूत्र के उवट-भाष्य में स्वरों के साथ घोषवत् वर्णों का पृथक् उल्लेख मिलता है। इस से प्रतीत होता है कि इन प्रातिशाख्यों में स्वर घोषवत् नहीं माने गए हैं। ऋ० प्रा० १,११ (टि० ३९) के अनुसार, अनुस्वार अघोष है। परन्तु सि० कौ० के उपर्युक्त "अन्येषां तु" के व्याख्यान में त० बो० टीका अनुस्वार का बाह्य प्रयत्न संवार, नाद तथा घोष मानती है। प्रातिशाख्यों ने जिन वर्णों को सोष्माणः में नहीं गिना है, उनको अल्पप्राण मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

४२. तै० प्रा० २,३१-३४— "स्वराणां यत्रोपसँहारस्तत्स्थानम्। यदुपसँहरति तत्करणम्। अन्येषां तु यत्र स्पर्शनं तत्स्थानम्। येन स्पर्शयति तत्करणम्।" त्रिभाष्यरत्न के अनुसार उपसंहार का अर्थ "उपश्लेषविशेषः" है। और माहिषेय के अनुसार इस का अर्थ "संस्पर्शनातिसंश्लेषः" है। स्पर्शन का अर्थ माहिषेय ने "संश्लेषः" किया है। ह्विटने ने (तै० प्रा० अनुवाद में) करण का अनुवाद producing organ किया है और ऐलन ने (Phon. An. Ind., pp. 18.24) करण का अनुवाद Articulator किया है। अ० प्रा० के भाष्य में (सूत्र १,१९ तथा २५ पर) भी स्थान तथा करण के भेद के सम्बन्ध में कहा गया है— "किं पुनः स्थानम्? किं करणम्? ···यदुपक्रम्यते तत्स्थानम्। येनोपक्रम्यते तत्करणम्।" अर्थात् जिसका उपक्रमण (सान्निध्य) किया जाता है वह स्थान है, और जिसके द्वारा उपक्रमण किया जाता है वह करण है। यह कहा जा सकता है कि पारस्परिक अपेक्षा के विचार से वर्णोत्पत्ति में स्थान ध्रुव तथा निश्चेष्ट है और करण सक्रिय मुखावयव है।

४३. ऋ० प्रा० १,४१; वा० प्रा० १,६५; पा० शि० १८।

४४. अ० प्रा० १,२०— "जिह्वामूलीयानां हनुमूलम्" ॥ वा० प्रा० १,८३— "जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन" ॥ तै० प्रा० २,३५—"हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति ॥" ह्विटने (A. Prāt., p. 352) तै० प्रा० के मत का समर्थन करता है—"This is evidently the more natural way of defining the mode of production of the class, and the more analogous with the method of our

own treatise elsewhere, as in the cases of the throat-letters, palatals, and labials, the lower and more mobile of the two organs concerned being taken as the producer. But the usage of naming the class from the *sthāna* seems to have required that the *jihvā-mūlīya* be declared the *sthāna*, and not the *karaṇa*, of the sounds of which the well established name was *jihvā-mūlīya*. By *hanu-mūla*, 'root or base of the jaw,' must be here understood, it should seem, the posterior edge of the hard palate, which might well enough be regarded as the base of the upper jaw, or of the bony structure in which the upper teeth are set." ऐलन भी (Phon. An. Ind., p. 51) तै० प्रा० के नियम का समर्थन करते हुए कहता है—"The velar series (*ka-varga*) is most generally described as being produced at the *jihvā-mūla*, 'root of the tongue,' which is, strictly speaking, an articulator and not a place of articulation : the *sthāna* of this series is in fact the *hanu-mūla* or 'root of the (upper) jaw'—a rather inadequate though intelligible designation of the soft palate.—"

४५. चन्द्रगोमी (वर्णसूत्र ३)—"कण्ठः अकुहविसर्जनीयानाम्" । सि० कौ० पृ० १७—"अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः" । सि० कौ० के उक्त नियम पर टिप्पणी करते हुए नागेश (ल० शे० पृ० २८) कहता है—"अत्र कण्ठपदं कण्ठस्थानतत्समीपजिह्वामूलस्थानोभयपरम् । तेन "कण्ठ्यावहौ जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः" इति शिक्षया न विरोधः ।"

४६. ऋ० प्रा० १,४२; वा० प्रा० १,६६; पा० शि० १७; सि० कौ पृ० १७ । अ० प्रा० १,२१—"तालव्यानां मध्यजिह्वम् ।" तै० प्रा० २,३६—"तालौ जिह्वामध्येन चवर्गे ।" वा० प्रा० १,७९—"तालुस्थाना मध्येन ।"

४७. ऋ० प्रा० १,४३; वा० प्रा० १,६७; पा० शि० १७; सि० कौ० पृ० १७ ।

४७क. अ० प्रा० १, २२—"मूर्धन्यानां जिह्वाग्रं प्रतिवेष्टितम् ।" तै० प्रा०

२,४७—"जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि।" वा० प्रा० १,७८—"मूर्धन्याः प्रतिवेष्ट्याग्रम्।"

४८. ऋ० प्रा० १,४४—"दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः।" तै० प्रा० २,३८—"जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु॥" अ० प्रा० १,२४—"दन्त्यानां जिह्वाग्रं प्रस्तीर्णम् (फैला हुआ)॥" वा० प्रा० १,७६—"दन्त्या जिह्वाग्रकरणाः"॥ वा० प्रा० १,६९; ऋक्तन्त्र ७; पा० शि० १७; सि० कौ०, पृ० १७। सि० कौ० के इस नियम पर टिप्पणी करते हुए नागेश (ल० शे०, पृ० २८) कहता है—"दन्ता इति। दन्तसंयुक्तदेशा इत्यर्थः। अतो भग्नदन्तस्याप्युच्चारणं भवत्येव।" ऋ० प्रा० तथा तै० प्रा० का मत ही अधिक समीचीन है, क्योंकि तवर्ग के उच्चारण में जिह्वाग्र का स्पर्श वास्तव में दन्तमूल पर होता है।

४९. ऋ० प्रा० १,४७; वा० प्रा० १,७०; पा० शि० १७; सि० कौ०, पृ० १७; वा० प्रा० १,८०—"समानस्थानकरणा नासिक्यौष्ठ्याः।" अ० प्रा० १,२५—"ओष्ठ्यानामधरौष्ठम्।" तै० प्रा० २,३९—"ओष्ठाभ्यां पवर्गे।" त्रिभाष्यरत्ने—"अत्रोत्तरोष्ठः स्थानम् अधरोष्ठः करणम्।" दे० माहिषेय-भाष्य, पृ० २५।

५०. ऋ० प्रा० १,१४—"अनुनासिकोऽन्त्यः॥" ऋ० प्रा० १,३६—"रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः॥" अ० प्रा० १,११—"उत्तमा अनुनासिकाः॥" वा० प्रा० १,८९—"अनुनासिकाश्चोत्तमाः॥" तै० प्रा० २,३०—"अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः॥"

५१. ऋ० प्रा० १३,२०—"रक्तो वचनो मुखनासिकाभ्याम्।" अ० प्रा० १,२७—"अनुनासिकानां मुखनासिकम्॥" वा० प्रा० १,७५—"मुखनासिकाकरणोऽनुनासिकः।" पा० १,१,८—"मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः।"

५२. या० शि० १५०—"पादादौ च पदादौ च सँय्योगावग्रहेषु च। जः शब्द इति विज्ञेयो योऽन्यः स य इति स्मृतः।" शुक्लयजुर्वेद (माध्यन्दिनी शाखा) के अनुयायियों में इस प्रकार के उच्चारण का विशेष प्रचलन रहा है। इसी लिए यजुर्वेदाध्यायियों के ग्रन्थों में यकार और जकार के पार-

स्परिक परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं। दे० वा० प्रा० १,१६६; प्रतिज्ञा-सूत्र ९-१३; लघ्वमोघनन्दिनीशिक्षा १-५; केशवीशिक्षा सूत्र १-२; प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा (शि० सं० पृ० १९७); Weber, Ind. Stud., vol. IV, p. 271; Varma, Critical Studies, pp. 126f.

५३. तै० प्रा० २,४३— "ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारे।" इस सूत्र पर त्रिभाष्यरत्न कहता है— "वकारे कार्येऽधरोष्ठाभ्यामुत्तरदन्ताग्रैः सह स्पर्शयेत्। दन्तैरिति स्थाननिर्देशः। ओष्ठान्ताभ्यामिति करणनिर्देशः।" इसी प्रकार माहिषेय कहता है— "वकारे वक्ष्यमाणे ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैः स्पर्शयति। तत्र दन्ताः स्थानम्। ओष्ठान्तौ करणम्।" इन भाष्यकारों के अनुसार तै० प्रा० का मत वा० प्रा० के सर्वथा विपरीत है, क्योंकि वा० प्रा० ओष्ठ को वकार का स्थान और दन्ताग्रों को करण मानता है। ह्विटने (Tait. Prat., p. 75) भाष्यकारों के व्याख्यान से असन्तुष्ट होकर कहता है— "But then why does not the rule read *danteshu* instead of the instrumental *dantaih*?"

५४. पा० शि० १८— "दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः।" आपि० शि० १,१६-१७; सि० कौ०, पृ० १७— "वकारस्य दन्तोष्ठम्।"

५५. ऋ० प्रा० १७,२२-२३— "व्यूहेदेकाक्षरीभावान्पादेपूनेषु संपदे। क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान्व्यवेयात्सदृशैः स्वरैः।" दे० ऋ० प्रा० ८,४०।

५६. इन उदाहरणों के अतिरिक्त Alt. Gr. I., p. 200 (दे० Ved. Gr., p. 40) ने अग्रिय, अग्र्य; ऋत्विय, ऋत्विय, ऋत्व्य; शुभ्रिय, शुभ्र्य; समुद्रिय, समुद्र्य; मित्रिय, मित्र्य इत्यादि उदाहरण भी इसी सम्बन्ध में प्रस्तुत किए हैं। इस के अतिरिक्त स्वर-भेद से अग्रिय, शुभ्रिय इत्यादि रूप भी मिलते हैं। पा० ४,४,११६-११८ के अनुसार, अग्र्य में यत् प्रत्यय है और अग्रिय तथा शुभ्रिय घ प्रत्यय से सिद्ध होते हैं। पा० ४,४,११७ पर काशिका का मत है— "चकारस्तुग्राद्घनित्यस्यानुकर्षणार्थः। अग्रियम्। स्वरे विशेषः।" अग्रिय के दोनों रूपों के स्वरों का भेद स्पष्ट ही है। इस सूत्र पर न्यास का मत है— "घे विहिते अन्तोदात्तत्वं स्यात्। घनि तु सत्याद्युदात्तत्वम्।" उपरिनिर्दिष्ट पाश्चात्य

विद्वानों के अनुसार, य प्रत्यय ही दो प्रकार से (य तथा इय रूप में) लिखा गया है। परन्तु पाणिनि के अनुसार, एक प्रत्यय यत् है और दूसरा घ या घन् है।

इसी प्रकार तुर्य से तुग्र्य और तुग्रिय दो रूप बनते हैं। पा० ४,४,११५ ने तुग्रिय की सिद्धि के लिए घन् प्रत्यय का विधान किया है।

५७. Alt. Gr. I, p. 204; Ved. Gr., p. 41; Gr. Lg. Ved., p. 35,

५८. दे० Oldenberg, Prolegomena, p. 376. कीथ ने (HOS. Vol. XXII, p. 173 f.n. 2) अक्षरसंख्या ग्यारह करने के लिए **अवाचि** पाठ भी सुझाया है, और शां० श्रौ० सू० (८, १६, ३) में ऐसा पाठ मिलता है। तथापि कीथ देवेभियः को ही अधिक उपयुक्त समझता है। भट्टभास्कर देवेभ्यः के साथ च इत्यादि **पूरण** का सुझाव देता है। भट्टभास्कर तथा षड्गुरुशिष्य दोनों इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि **वाचीन्द्राय** की सवर्णदीर्घ-सन्धि का विच्छेद करके उच्चारण करना चाहिए।

५८ क. Alt. Gr. I, p. 204; Ved. Gr., p. 41.

५९. ऋ० प्रा० १, ४५—"सकाररेफलकाराद्य" ॥ वा० प्रा० १, ६८—"रो दन्तमूले" ॥ अ० प्रा० १, २८—"रेफस्य दन्तमूलानि" ॥ इस सूत्र पर ह्विटने (A. Prat., p. 358) की टिप्पणी देखिए। ऋक्तन्त्र ८—"रेफो मूले वा' (रेफस्तु दन्त्यो दन्तमूले वा इति—भाष्यम्) । या० शि० २१२ (शि० सं० पृ० ३३)—"एको दन्तमूलीयो रेफः" ॥ व० प्र० शि० (शि० सं० पृ० ११९)—"रेफश्च दन्तमूलोत्थो जिह्वाग्रेण विधीयते"।

६०. वा० प्रा० १, ७७—"रश्च" ॥ तै० प्रा० २, ४१—"रेफे जिह्वाग्रमध्येन प्रत्यग्दन्तमूलेभ्यः" ॥ "प्रत्यग्" के व्याख्यान में त्रिभाष्यरत्न कहता है—"प्रत्यगित्यभ्यन्तर उपरिभाग इत्यर्थः" ॥ दे० व० प्र० शि० का मत टि० ५९ में।

६१. ऋ० प्रा० १, ४६—"रेफं वर्त्स्यमेके' ॥ ऋ० प्रा० १,१ पर भाष्य करते हुए उवट कहता है—"एवमस्यां शाखायां दन्तमूलीयो वा वर्त्स्यो वा रेफ

इत्येतदवधारितम्" ॥ बर्स्व्यम् पाठ की प्रामाणिकता के लिए दे० डा० मंगलदेव शास्त्री का मत, Rigveda-Prātiśākhya, Vol. III, pp. 150f. डा० शास्त्री (भा० वि० पृ० २२४) के मतानुसार, कठोर तालु का सब से अगला भाग जो दांतों के पीछे उभरा हुआ है वह बर्स्व कहलाता है। तै० प्रा० २, १८ पर त्रिभाष्यरत्न में बर्स्वेषु का व्याख्यान इस प्रकार किया गया है—"बर्स्वेष्विति दन्तपंक्तेरुपरिष्टादुच्चप्रदेशेष्वित्यर्थः।"

६२. पा० शि० १७—"स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषाः" ॥ आपि० शि० १,१३-१४—"ऋटुरषा मूर्धन्याः। दन्तमूलस्थानमेकेषाम्" ॥ चन्द्रवृत्तिसूत्र ६—"मूर्धा ऋटुरषाणाम्"। सि० कौ० पृ० १७—"ऋटुरषाणां मूर्धा" ॥

६३. Skt. Gr., p. 18; Ved. Gr., p. 42; Gr. Lg. Ved., p. 16.

६४. वा० प्रा० १,६९—"लृलसिता दन्ते" ॥ पा० शि० १७; चन्द्रवृत्तिसूत्र ७; या० शि० २१२ (शि० सं० पृ० ३३); व० प्र० शि० ३० (शि० सं० पृ० ११९)। सि० कौ० पृ० १७—"लृतुलसानां दन्ताः" ॥ 'दन्ताः' पद पर टिप्पणी करते हुए नागेश (ल० शे० पृ० २८) कहता है—"दन्ता इति। दन्तसंयुक्तदेशा इत्यर्थः। अतो भग्नदन्तस्याप्युच्चारणं भवत्येव।"

६५. द्वितीयालघुमाध्यन्दिनीयशिक्षा (शि० सं० पृ० ११४)—"पकारस्य खकारः स्याट्टुकयोगे तु नो भवेत्" ॥ के० शि० (शि० सं० पृ० १४०) सूत्र ३—"षः खष्टुमृते च" ॥ शि० सं० पृ० १५१ (पद्य १४); प्र० सू० १८; का० शि० १७ (शि० सं० पृ० १७३); प्रा० शि० (शि० सं० पृ० २९९)।

६६. ऋ० प्रा० १, ४०—"केचिदेता उरस्यौ"। दे० पा० शि० १६—"हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम्। औरस्यं तं विजानीयात्कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्" ॥ ऋक्तन्त्र २,३; या० शि० १७७ (शि० सं० पृ० २६); लो० शि० ९ (शि० सं० पृ० ४५९); व० प्र० शि० २६ (शि० सं० पृ० ११९); सर्वसम्मतशिक्षा ४२।

६७. तै० प्रा० २, ४७—"उदयस्वरादिसस्थानो हकार एकेषाम् ॥" इस पर ह्विटने (Tait. Prat., p. 79) कहता है—"The rule would have

been made better by reading उदयवर्ण, instead of उदय-स्वरादि—'the following sound', instead of 'the beginning of the following vowel'—for the assimilation is not less true of the semi-vowels and nasals than of the vowels".

६८. ऋ० प्रा० १, ३९; तै० प्रा० २, ४६; वा० प्रा० १, ७१; या० शि० २१२ (शि० सं० पृ० ३३); व० प्र० शि० ३३ (शि० सं० पृ० १२०); चन्द्रवृत्तिसूत्र ३; सि० कौ० पृ० १७।

६९. तै० प्रा० २,४८—"पूर्वान्तसस्थानो विसर्जनीयः" ॥ पा० शि० २२—"अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः" ॥ ल० माशि० १६-२२ (शि० सं० पृ० ११५)।

७०. ऋ० प्रा० १, ४८—"नासिक्ययमानुस्वारान् (नासिक्यान्)" ॥ वा० प्रा० १,७४—"यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके।" पा० शि० २२—"अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमुच्यते" ॥ सि० कौ० पृ० १७—"नासिकानुस्वारस्य"।

७१. तै० प्रा० २,४९-५१—"नासिक्या नासिकास्थानाः ॥ मुखनासिक्या वा ॥ वर्गवच्चैषु" ॥ तै० प्रा० २१,१२-१३ के आधार पर त्रिभाष्यरत्न "नासिक्याः" का व्याख्यान "यमाः" करता है। परन्तु तै० प्रा० २, ४९ पर टिप्पणी करते हुए ह्विट्ने (Tait. Prat., p. 80) कहता है—"The 'nose-sounds', the *commentary says*, are the *Yamas* (xxi. 12, 13); but why the nāsikya (xxi. 14) should not be regarded as included among them I do not see".

७२. अ० प्रा० १,१०१-१०२—"रेफादूष्मणि स्वरपरे स्वरभक्तिरकारस्यार्धं चतुर्थमित्येके ॥ अन्यस्मिन्व्यञ्जने चतुर्थमष्टमं वा ॥"

७३. ऋ० प्रा० ६,४६—"रेफात्स्वरोपहिताद्व्यञ्जनोदयादृकारवर्णा स्वरभक्तिरुत्तरा" ॥ तै० प्रा० २१, १५—"रेफोष्मसंयोगे रेफस्वरभक्तिः" ॥ इस सूत्र पर माहिषेयभाष्य—"ऋकारावयवो भवतीति

यावत्। ऋकारस्य तु आदितः स्वरपरः पादमात्रः। अन्ते वा मध्यमे रेफोऽर्धमात्रः। एवंप्रकारस्य ऋकारस्य उत्तरार्धो भवतीत्यर्थः"। इस सूत्र पर त्रिभाष्यरत्न—"योऽस्य रेफस्य समानस्वरस्तद्भक्तिः स्यात्। ऋकारश्चास्य जिह्वाग्रकरणत्वेन रश्रुत्या च समानधर्मः। भक्तिरवयव एकदेश इति यावत्। एतदुक्तं भवति—ऋकारावयवो भवतीत्यर्थः"।

७४. वा० प्रा० ४,१७—"रलाभ्यां लवर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्र"॥ इस पर उवटभाष्य—"तौ स्वरावुत व्यञ्जनाविति। शृणु। ऋलृस्वरसदृशौ व्यञ्जनार्धमात्रकाविति ब्रूमः। तौ स्वरभक्तिरित्यन्येषु पदेषु प्रसिद्धौ। न चैतौ वर्णौ रेफलकारयोरूष्मणां च मध्यवर्तिनावपि सन्तौ संयोगस्य विघातं कुरुतः। स्वरसदृशत्वात्। तथा चाह शौनकः—"न संयोगं स्वरभक्तिर्विहन्ति" (ऋ० प्रा० ६,३५)॥ दे० च० प्र० शि ५३-५५ (शि० सं० पृ० १२१); प्रा० शि० (शि० सं पृ०२९३)।

७५. ऋ० प्रा० ६,५३—"पूर्वोत्तरस्वरसरूपतां च॥" इस पर उवटभाष्य—"पूर्वस्वरसरूपतां चोत्तरस्वरसरूपतां च स्वरभक्तेरेक आचार्या मन्यन्ते। न केवलमृकाररूपा स्वरभक्तिर्भवतीत्यर्थः। धूर्षम् (ऋ० १,१४३,७) इत्यूकाररूपा स्वरभक्तिः। बर्हिषदः (ऋ० ९,६८,१) इति इकाररूपा स्वरभक्तिः।"

७६. मा० शि० ९९-१०१ (शि० सं० पृ० ४७१-७२)—"ऊष्मस्थौ यत्र दृश्येते स्वरवर्णौ स्वरोदयौ। ऋलृवर्णौ तथा ज्ञेयौ स्वरभक्तीति संस्थितौ॥९९॥ तां ह्रस्वां प्रतिजानीयाद्यथा मात्रा भवेद् यदि। सम्यगेनां विजानीयाद् द्वौ दोषौ परिवर्जयेत्॥१००॥ सम्यगेनां यदा पश्येच्छतवल्शेति निदर्शनम्। अकारं चाप्युकारं च विच्छिन्नं विवृतन्तथा॥१०१॥" मै० सं० १,१,२ तथा कपि० सं० १,२ में शतवल्शम् पाठ मिलता है, जब कि तै० सं० १,१,२; का० सं० १,२ तथा अनेक अन्य ग्रन्थों में शतवल्शम् पाठ का प्रचलन है।

७७. या० शि० ९८-१०३ (शि० सं० पृ० १७)—"करिणी कुर्विणी चैव हरिणी हरिता तथा। तद्वदंसपदा नाम पञ्चैताः स्वरभक्तयः॥९८॥ करिणी रहयोर्योगे कुर्विणी लहकारयोः। हरिणी रशयोर्योगे हरिता लशा-

कारयोः ॥९९॥ या तु हंसपदा नाम सा तु रेफषकारयोः (१) देवं वर्हिरिति करिणी (२) उपवल्हेति कुर्विणी ॥१००॥ (३) हरिणी दर्शतमिति (४) शतवल्शेति हारिता । (५) वर्षो वर्षीयसीत्याहुस्तथा हंसपदेति च ॥१०१॥ रलाभ्यां पर ऊष्माणो यत्र स्युः स्वरितोदयाः । स्वरभक्तिरसौ ज्ञेया पूर्वमाक्रम्य पठ्यते ॥१०२॥ स्वरभक्तिं प्रयुञ्जानस्त्रीन्दोषान्परिवर्जयेत् । इकारं चाप्युकारं च ग्रस्तदोषं तथैव च ॥१०३॥" दे० का० शि० ३६-४१ (शि० सं० पृ० १७५); लो० शि० २,२-४ (शि० सं पृ० ४५७).

७८. के० शि० सूत्र ४ (शि० सं० पृ० १४१-१४२); दे० प्र० सू० २,३; ल० माशि० १०-१२ (शि० सं० पृ० ११५); प्रा० शि० (शि० सं० पृ० २९३)।

७९. तै० प्रा० २१,१६; ऋ० प्रा० ६,५० ।

८०. Alt. Gr. I, pp. 55 ff.; Ved. Gr., p. 13; Gr. Lg. Ved., p. 13. पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ऋकारान्त प्रातिपदिकों के षष्ठी तथा सप्तमी के द्विवचनान्त रूपों में—"ओः" का उच्चारण सदा दो अक्षरों वाला होना चाहिए। परन्तु ये विद्वान् इसे स्वरभक्ति नहीं मानते हैं और कहते हैं कि प्रत्ययान्त मूल रूप तरोः है। दे० Alt. Gr. I, p. 55; Oldenberg, Prolegomena, 374 A; Ved. Gr., p. 13 f. n.

८० क. Alt. Gr. I, pp. 55 ff; Oldenberg, Prolegomena, 374 A; Ved. Gr., p. 14; Gr. Lg. Ved., p. 40.

८१. वा० प्रा० ४,१००—स्वरात्संयोगादिर्द्विरुच्यते सर्वत्र ॥ अ० प्रा० ३, २८—संयोगादि स्वरात् ॥ तै० प्रा० १४,१—स्वरपूर्वं व्यञ्जनं द्विवर्णं व्यञ्जनपरम् ॥ ऋ० प्रा० ६,१—स्वरानुस्वारोपहितो द्विरुच्यते संयोगादिः स क्रमोऽविक्रमे सन् ॥ पा० ८,४,४७—अनचि च ॥

८१ क. वा० प्रा० ४,१०१—परं तु रेफहकाराभ्याम् ॥ अ० प्रा० ३,३१—रेफहकारौ परं ताभ्याम् ॥ तै० प्रा० १४,४—रेफात्परम् ॥ ऋ० प्रा० ६,४—परं रेफात् ॥ पा० ८,४,४६—अचो रहाभ्यां द्वे ॥ ऋ० प्रा० ६,८—न रेफः ॥ तै० प्रा० १४,१९—रेफपरश्च हकारः ॥

प्रथमोऽध्यायः

८१ख. वा० प्रा० ४,१०२—ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च स्पर्शः ॥ ऋ० प्रा० ६,५-६—स्पर्श एवं लकारात् ॥५॥ ऊष्मणो वा ॥६॥ तै० प्रा० १४,२—ल्वकार-पूर्व स्पर्शश्च पौष्करसादेः ॥१४,३—स्पर्श एवैकेषामाचार्याणाम् ॥ १४,६—रेफपूर्वयोश्च नित्यम् ॥ १४,७—लकारपूर्वे च ॥ १४,१७—प्रथमपरश्च प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः ॥१४,१८ ऊष्माघोषो हारीतस्य ॥ पा० ८,४,४७ पर वार्तिक—शरः खयो द्वे भवत इति वक्तव्यम् (काशिका) ॥ काशिका ने इस वार्तिक का दूसरा व्याख्यान भी किया है— "अथवा खय उत्तरस्य शरो द्वे भवतः। वत्स्सरः। अप्स्सराः।" परन्तु प्रातिशाख्यों के नियमों से स्पष्ट है कि दूसरे व्याख्यान के लिए कोई विशेष आधार नहीं है। दे० टि० ८१ ङ. (४)। पा० ८,४,४७ पर वार्तिक—यणो मयो द्वे भवत इति वक्तव्यम् (काशिका)। इस वार्तिक के दूसरे व्याख्यान— "यण इति पष्ठी मय इति पञ्चमी" (काशिका)— के लिए भी प्रातिशाख्यों में कोई आधार नहीं है और प्रथम व्याख्यान इस टिप्पणी में उद्धृत नियमों के अनुकूल हैं।

८१ग. वा० प्रा० ४,१०८—प्रथमैर्द्वितीयास्तृतीयैश्चतुर्थाः ॥ तै० प्रा० १४,५—द्वितीयचतुर्थयोस्तु व्यञ्जनोत्तरयोः पूर्वः ॥ ऋ० प्रा० ६,२—सोष्मा तु पूर्व्येण सहोच्यते सकृत्स्वेन ॥

८१घ. ऋ० प्रा० ६,३—असंयोगादिरपि च्छकारः ॥ तै० प्रा० १४,८ ॥ पा० (६,१,७३-७६) ने छ् का द्वित्व न करके पूर्ववर्ती स्वर को "तुक्" का आगम किया है। परिणाम समान ही है।

८१ङ. (१) वा० प्रा० ४,१०९;११४—नानुस्वारः ॥१०९॥ विसर्जनीयः ॥११४॥ अ० प्रा० ३,२९—(न) विसर्जनीयः ॥ तै० प्रा० १४,१५—अवसाने रविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः ॥

(२) पा० ८,४,५०—त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ॥

(३) वा० प्रा० ४, ११०—रवर्णे ॥ अ० प्रा० ३, ३०—रस्थाने च ॥ तै० प्रा० १४,२३—रवर्णसवर्गीयपरः ॥

(४) तै० प्रा० १४,१६—ऊष्मा स्वरपरः ॥ अ० प्रा० ३,३२—शषसाः

स्वरे ॥ पा० ८,४,४९—शरोऽचि ॥ ऋ० प्रा० ६,१०—न तूष्मा स्वरोष्मपरः ॥

(५) ऋ० प्रा० ६,१४—संयुक्तं तु व्यञ्जनं शाकलेन ॥ पा० ८,४,५२—दीर्घादाचार्याणाम् ॥

(६) ऋ० प्रा० ६,७—नावसितम् ॥ वा० प्रा० ४,११६—अवसितं च ॥ तै० प्रा० १४,१५ [दे० टि० ८१ङ (१)]। इस मत के विपरीत देखिए—अ० प्रा० ३,२६—पदान्ते व्यञ्जनं द्विः ॥ पा० ८,४,४७ पर वार्तिक—अवसाने च यरो द्वे भवत इति वक्तव्यम् (काशिका) ॥

(७) पा० ८,४,५१—सर्वत्र शाकल्यस्य ॥

८२. ऋ० प्रा० १८, ३२—सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम् ॥ वा० प्रा० १, ९९—स्वरोऽक्षरम् ॥ अ० प्रा० १, ९३—स्वरोऽक्षरम् ॥ तै० प्रा० २१, १—व्यञ्जनं स्वराङ्गम् ॥ ऋ० प्रा० १, २२—अनुस्वारो व्यञ्जनं चाक्षराङ्गम् ॥ पा० ६, १,२ पर महाभाष्य—"व्यञ्जनानि पुनर्नटभार्यावद्भवन्ति । तद्यथा—नटानां स्त्रियो रङ्गगता यो यः पृच्छति कस्य यूयं कस्य यूयमिति तं तं तव तवेत्याहुः । एवं व्यञ्जनान्यपि यस्य यस्याचः कार्यमुच्यते तं तं भजन्ते ।"

८२ क. ऋ० प्रा० १८, ३३—व्यञ्जनान्युत्तरस्यैव स्वरस्यान्त्यं तु पूर्वभाक् । १, २३—स्वरान्तरे व्यञ्जनान्युत्तरस्य ॥ वा० प्रा० १,१००, १०१,१०६—सहायैर्व्यञ्जनैः ॥१००॥ उत्तरैश्चावसितैः ॥१०१॥ अवसितं च ॥१०६॥ तै० प्रा० २१, २-३—तत्परस्वरम् ॥२॥ अवसितं पूर्वस्य ॥३॥ अ० प्रा० १, ५५, ५७—परस्य स्वरस्य व्यञ्जनानि ॥५५॥ पद्यं च ॥५७॥

८२ ख. वा० प्रा० १, १०२—संयोगादिः पूर्वस्य ॥ तै० प्रा० २१,४, संयोगादि ॥ अ० प्रा० १,५६ —संयोगादि पूर्वस्य ॥ ऋ० प्रा० १,२५—संयोगादिर्वा ॥ १८,३५—संयोगादिश्च वेवं च ॥ ऋ० प्रा० इस नियम में विकल्प करता है ।

८२ ग. वा० प्रा० १, १०३-१०४—यमश्च ॥१०३॥ क्रमजश्च ॥१०४॥ अ० प्रा० १,५८—रेफहकारक्रमजश्च ॥ तै० प्रा० २१,५-६—परेण चासंहितम् ॥५॥

प्रथमोऽध्यायः

अनुस्वारः स्वरभक्तिश्च ॥६॥ ऋ० प्रा० १, २६—च परक्रमे द्वे ॥ १८, ३६—सहक्रम्यः परक्रमे। ऋ० प्रा० यहां पर भी विकल्प करता है। ऋ० प्रा० १, ३२—स्वरभक्तिः पूर्वभागक्षराङ्गम् ॥ तै० प्रा० २१, ८ —"नासिक्याः" के अनुसार, यम परवर्ती स्वर के अङ्ग बनते हैं। दे० टि० ७।

८२ घ. वा० प्रा० १, १०५—तस्माच्चोत्तरं स्पर्शे ॥ तै० प्रा० २१, ७.९ नान्तस्थापरमसवर्णम् ॥७॥ स्पर्शश्चोष्मपर ऊष्मा चेत्परस्य (मद्रास-संस्करण) ॥९॥ व० प्र० शि० ४८ (शि० सं० पृ० १२१)—क्रमजाच्चोत्तरं स्पर्शे परे पूर्वाङ्गकं यथा। पार्ष्ण्यो पूर्वस्य रषपाः परस्याङ्गं णयात्मकम्।

८२ ङ. ऋ० प्रा० १८, ३४—विसर्जनीयानुस्वारौ भजेते पूर्वमक्षरम्। तै० प्रा० २१, ६ [टि० ८२ (ग)]।

८३. Alt. Gr. I, p. 4; Ved. Gr., p. 7. परन्तु प्रो० माक्सवालेज़े (दे० ZII., V., pp. 193-202) ने इस मत का प्रत्याख्यान किया है।

८४. पाणिनि (५,३,६१-६२) ने प्रशस्य तथा वृद्ध का ज्य आदेश मान कर उससे ज्यायान् सिद्ध किया है (दे० अनु० १९६क। (दे० पा० ६, ४, १६०)। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् ज्यायस् की व्युत्पत्ति ज्या धातु से करते हैं दे० WZR; MWD; अनु० १९६क।

८५. पाश्चात्य भाषा-शास्त्री वर्षों की खोज के अनन्तर इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि इ० यो० मूलभाषा में कण्ठ्य स्पर्शों की निम्नलिखित तीन श्रेणियां थीं—

(१) Labio-Velars (मूलकण्ठ्य स्पर्श)— q̑u q̑uh g̑u g̑uh.

(२) Velars (मध्यकण्ठ्य स्पर्श)— q qh g gh.

(३) Palatal gutturals (तालुकण्ठ्य स्पर्श)— k̑ k̑h g̑ g̑h.

८६. दे० ऋ० प्रा० १२,१; अ० प्रा० १,७; वा० प्रा० १,८५। दे० अनु० ३४।

८७. इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इ० यो० मूलभाषा के तालुकण्ठ्य महाप्राण घोष (g̑h) का प्रतिनिधि वैदिक ह् माना जाता है और अत्यल्प प्रयोग वाला ळ् अति अर्वाचीन माना जाता है।

८८. कुछ विद्वान् इस ẓ को इं० यो० मूलध्वनि z अथवा पूर्वकालीन तालव्य źh (=ǵh) का प्रतिनिधि मानते हैं। ष् की तुलना में ẓ सघोष ऊष्म है।

८९. पा० ७,४,४८ पर वार्तिक— "स्ववः स्वतवसोर्मास उषसश्च तकारादेश इष्यते" (काशिकापाठ)।

९०. दे० SPW., s. v.; WZR., s.v.; MWD., s. v; Alt. Gr. I, p. 181; Ved. Gr., p. 36; वै० प० को० में √पिब्द्+क्विप् (कर्तरि पा० ३,२,१५०) से इसका समाधान किया गया है। प्रो० रेनू पिब्दन के पूर्वभाग में अपि का अकारलोप वाला रूप मानता है। दे० Gr. Lg. Ved., p. 117n.

९० क. पा० ८,२,१८ पर वार्तिक (काशिका)—बालमूललघ्वसुरालमङ्गुलीनां वा रो लमापद्यत इति वक्तव्यम् ॥ कपिलकादीनां संज्ञाछन्दसोर्वा रो लमापद्यत इति वक्तव्यम् ॥ पा० ने र् के लत्वविधान के लिए पांच सूत्र (८,२, १८-२२) बनाए हैं।

९१. दे० सि० कौ० (पा० ३,१,८४ पर)—"हृग्रहोर्भश्छन्दसीति हस्य भः।" पा० ८,२,३५ पर काशिका में वार्तिक—"हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्येति वक्तव्यम्।"

९२. Alt. Gr. I, p. 259; Ved. Gr., p. 54.

९३. ऋ० प्रा० १, ३६— "रक्तसंज्ञोऽनुनासिकः।" दे० ऋ० प्रा० ११,३६; १४,५१; १४,५६। दे० अमो० शि० ४१-४६ (शि० सं० पृ० ९७); लो० शि० ६-९ (शि० सं० पृ० ४५६); मा० शि० ११२ (शि० सं० पृ० ४७३)।

९३ क. दे० सर्वसम्मतशिक्षा ४८—

कांस्य-ध्वनिसमं रङ्गं हृदयादुत्थितं भवेत्,
यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रँ इत्यभिभाषते।
एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः ॥

पा० शि० २६—

यथा सौराष्ट्रिका नारी तक्रँ इत्यभिभाषते।
एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्याः खे अराँ इव खेदया ॥

प्रथमोऽध्यायः

मा० शि० ११२-११३ (शि० सं० पृ० ४७३)—

यथा सौराष्ट्रिका नारी अरॉं इत्यभिभाषते ।
एवं रङ्गाः प्रयोक्तव्या ङ्कारपरिवर्जिताः ॥११२॥
नासादुत्पद्यते रङ्गः कंसेन सशमनिस्वनः ।
मृदु चैव द्विमात्रं स्याद् वृष्टिमाँ इति निदर्शनम् ॥११३॥

९४. पा० शि० २३—

"अलाबुवीणानिर्घोषो दन्तमूल्यः स्वराननु ।
अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं ह्रोः शषसेषु च ॥"

९४क. ऋ० प्रा० १३,११—स्वरानुस्वारोष्मणामस्पृष्टं स्थितम् ॥ स्थित. के व्याख्यान में उवट कहता है— "यत्र वर्णस्थानमाश्रित्य जिह्वावतिष्ठते तत्स्थितमुच्यते ।" दे० टि० ४२ ।

९५. A. Prat. I, 26; Tait. Prat. II, 30; JAOS., X, pp. LXXXVI ff; Skt. Gr., p. 25.

९६. Ved. Gr. Stu., p. 17.

९७. Ved. Gr. Stu., p. 31—"Final *n* before vowels is changed, after a long vowel, to Anusvāra:" सम्भवतः इस प्रयोग के समर्थन में प्रो० मैक्डानल का निम्नलिखित वाक्य प्रस्तुत किया जा सकता है जो इसी पुस्तक के पृ० १० पर है— "Distinct from the five class nasals is the pure nasal, *variously called Anusvāra and Anunāsika, ...*" परन्तु इसी पुस्तक के पृ० १७ पर दिए गए स्पष्टीकरण के पश्चात् इस प्रकार का अव्यवस्थित प्रयोग सर्वथा अनुचित है। प्रो० मैक्डानल द्वारा पृ० ३१ पर उद्धृत उदाहरणों में अनुनासिक के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग करना, ऋ० प्रा० (१४,३७) के अनुसार, दोष माना गया है।

द्वितीयोऽध्यायः

सन्धि-प्रकरणम्

३२. वर्णों के अत्यधिक सान्निध्य अथवा अर्धमात्रा-व्यवधान को सन्धि कहते हैं[1]। तै० प्रा० (२४,१-४) में संहिता के निम्नलिखित चार भेद माने गए हैं—(१) पदसंहिता (२) अक्षरसंहिता (३) वर्णसंहिता तथा (४) अङ्गसंहिता। इस प्रातिशाख्य के भाष्यकारों के मतानुसार, तै० प्रा० में प्रतिपादित संहिता-विषय इन चार भागों में विभक्त है। हम सुविधा के लिये सन्धि को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) पदसन्धि तथा (२) अन्तःपदसन्धि। पदान्त तथा पदादि में आने वाले वर्णों के मध्य जो सन्धि होती है उसे **पदसन्धि** कहते हैं[2] और पाश्चात्य विद्वान् इस के लिये External Sandhi संज्ञा का प्रयोग करते हैं। पद के अन्दर अङ्ग तथा प्रत्यय के बीच होने वाली सन्धि के लिये **अन्तःपदसन्धि** संज्ञा का प्रयोग किया जा सकता है। और पाश्चात्य विद्वान् इसके लिये Internal Sandhi संज्ञा का प्रयोग करते हैं। अन्तःपद शब्द इसी अर्थ में अनेक बार प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त किया गया है। यद्यपि पदसन्धि के प्रायः सभी नियम अन्तःपदसन्धि में भी लागू होते हैं, तथापि अन्तःपदसन्धि की कुछ अपनी विशेषताएं हैं। अत एव पदसन्धि तथा अन्तःपदसन्धि का पृथक् विवेचन वाञ्छनीय है।

पदसन्धि (External Sandhi)

३३. स्वाध्याय तथा विनियोग के समय वैदिक मन्त्रों का संहितापाठ अनिवार्य है। इसलिये वेदों की संहिताओं का विशेष महत्त्व माना जाता है। प्रातिशाख्यकार तथा यास्क पदों को संहिता की प्रकृति मानते हैं और पदों के आधार पर ही संहितासम्बन्धी विकारों का व्याख्यान किया जाता है[3]।

३४. हम ने अभी स्पष्ट किया है कि पदान्त तथा पदादि में आने वाले वर्णों के मध्य होने वाली सन्धि को पदसन्धि कहते हैं। अत एव पदसन्धि का

वर्णन करने से पूर्व यह बतलाना आवश्यक है कि वर्णसमाम्नाय के कौन-कौन से वर्ण वैदिक पदों के अन्त में तथा आदि में आते हैं, ताकि पदसन्धि के विवेचन में उन्हीं वर्णों के विकारों पर विशेष ध्यान दिया जा सके।

पदान्तीय वर्ण (The Law of finals)—वा० प्रा० (१, ८५) पदान्त में आने वाले वर्ण के लिये पदान्तीय (final) संज्ञा का व्यवहार करता है, जब कि अ० प्रा० (१, ३) में इस के लिये पद्य संज्ञा का प्रयोग किया गया है। हम इस ग्रन्थ में सर्वत्र पदान्तीय संज्ञा का प्रयोग करेंगे।

प्रातिशाख्यों के अनुसार, निम्नलिखित वर्ण पदान्तीय हैं—

(१) ऋ तथा ऌ के सिवाय सब स्वर[४]।

(२) च्, ञ् तथा ण् के सिवाय वर्गों के प्रथम तथा पञ्चम वर्ण[५]।

(३) अ० प्रा० (१,५) लकार को भी पदान्तीय मानता है और अ० के वाल् (१,३,१), शल् (२०,१३५,१) तथा फल् (२०,१३५,१) शब्दों में पदान्तीय लकार के उदाहरण मिलते हैं[६]। ऋ० प्रा० तथा वा० प्रा० लकार को पदान्तीय नहीं मानते हैं, क्योंकि इनकी संहिताओं में पदान्तीय लकार का कोई उदाहरण नहीं मिलता है।

(४) सभी प्रातिशाख्य विसर्जनीय को पदान्तीय मानते हैं।

(५) चवर्ग के सभी वर्ण तथा ण् पदान्त में नहीं आते हैं और पदान्त में चवर्ग-वर्ण अन्तरतम कवर्ग-वर्ण में परिणत हो जाता है[७]।

(६) यकार तथा वकार पदान्त में नहीं आते हैं। प्रातिशाख्यों के अनुसार, स् तथा र् भी पदान्त में नहीं आ सकते। परन्तु पदान्तीय विसर्जनीय विशेष परिस्थितियों में र् तथा स् में परिणत हो जाता है (दे० अनु० ५५)। पदान्त में ष् का ट् और श् का मूलप्रकृति के अनुसार क् या ट् बन जाता है (दे० अनु० २५ तथा ७४-७६)। इसी प्रकार मूलप्रकृति के अनुसार ह् भी क् या ट् में परिणत हो जाता है (दे० अनु० २५ तथा ७३) और पदान्त में नहीं मिलता है। पाणिनि के मतानुसार (८,२,६६), पदान्त में स् का र् (पारिभाषिक 'रु') बन जाता है और विशेष

परिस्थितियों में रेफ भी पदान्तीय हो सकता है (दे० अनु० ५६), यद्यपि कुछ परिस्थितियों में रेफ विसर्जनीय में परिणत हो जाता है (८,३,१५)।

३५. **पदादिवर्ण**— ऋ० प्रा० (१२,२) के अनुसार, ऋ, ऌ, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार तथा ञ् ङ् ट् ठ् ड् ढ् ण् के सिवाय सब वर्ण पदादि में आ सकते हैं। परन्तु ङ् वर्ण भी कहीं पदादि में नहीं मिलता है।

३६. (क) **पदसन्धि की अभिव्याप्ति**— ऋक्संहिता में एक अर्धर्च (hemistich) के सभी पदों के बीच निरन्तर सन्धि की जाती है। अ० तथा वा० सं० आदि में भी सन्धि इसी प्रकार होती है। चार पाद वाले छन्दों में प्रथम तथा द्वितीय पाद का एक अर्धर्च बनता है और तृतीय तथा चतुर्थ पाद का दूसरा अर्धर्च हो जाता है। तीन पाद वाले गायत्री छन्दः में प्रथम तथा द्वितीय पाद का एक अर्धर्च बन जाता है और तृतीय पाद का पृथक् अर्धर्च रह जाता है। पांच पादों वाले पंक्तिछन्दः में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पाद का प्रथम अर्धर्च माना जाता है और चतुर्थ तथा पंचम पाद का द्वितीय अर्धर्च बनता है। इस विषय में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ऋ० में एक ही अर्धर्च के प्रथम पाद के अन्त में तथा द्वितीय पाद के आदि में आने वाले वर्णों के मध्य स्वरसन्धि होने के उदाहरण अति विरल हैं। इस के अतिरिक्त सन्धि के नियमों का प्रतिपादन करते समय ऋ० प्रा० ने अनेक स्थलों पर पाद के मध्य, अन्त तथा आदि का प्रतिबन्ध लगाया है (दे० ऋ० प्रा० २, ३४.३५. ६०.६४. ७०; ४. ४४. ४५. ५६. ५७ प्रभृति)। इसी प्रकार पाणिनि ने भी सन्धि का विवेचन करते समय अनेक बार पाद का प्रतिबन्ध लगाया है (दे० पा० ६, १, ११५. १३४; ८, ३, ९)। इन ग्रन्थों में स्वर के नियमों का विचार करते समय भी पाद के अन्दर पद की स्थिति को ध्यान में रक्खा गया है। इस से प्रतीत होता है कि एक पाद में आने वाले वर्णों के बीच होने वाली सन्धि ही मौलिक रही होगी और कालान्तर में अर्धर्च के अन्त तक निरन्तर सन्धि होने लगी। इसी लिये पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि छन्दः तथा स्वर के साक्ष्य के अनुसार मूल

ऋग्वेद में निरन्तर सन्धि की अभिव्याप्ति केवल एक पाद तक ही रही होगी और प्रत्येक पाद के अन्त में अवसान रहा होगा। देखिये उदाहरणार्थ ऋ० ७, ३३, ३ क; ८, ९,९ क; जहां सन्धि करने से छन्दोभङ्ग होता है।

३६. (ख) **अवसान में वर्णों का स्वरूप**—जब किसी पदान्तीय वर्ण से परे कोई वर्ण न आए, तब पदान्तीय वर्ण की उस स्थिति को साधारणतया अवसान कहते है (दे० पा० १, ४,११०—'विरामोऽवसानम्')। संहिताओं में अर्धर्च के अन्त में आने वाला पदान्तीय वर्ण अवसान में माना जाता है। परन्तु, जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं कतिपय आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, मूल ऋ० के प्रत्येक पाद के अन्त में अवसान होता होगा और दो पादों के मध्य सन्धि नहीं होती थी। अवसान में केवल वे वर्ण आ सकते है जो उपर्युक्त नियमों के अनुसार पदान्तीय बन सकते है (दे० अनु० ३४)। अधिकतर आचार्यों के मतानुसार वर्गों के प्रथम वर्ण अवसान में पदान्तीय बनते हैं, परन्तु कतिपय आचार्य वर्गों के तृतीय वर्णों को अवसान में पदान्तीय मानते हैं (दे० टि० ५)। वास्तव में वर्गों के प्रथम वर्णों को अवसान में पदान्तीय मानने वाला मत ही प्रायेण संहिताओं में तथा अन्यत्र स्वीकार किया गया है।

यद्यपि अवसान में आने वाले पदान्तीय वर्ण प्रायेण अविकृत रहते हैं, तथापि कतिपय पदान्तीय स्वरों में निम्नलिखित विकार हो जाते हैं—

(१) अवसान में आने वाले अप्रगृह्य (प्रगृह्य के लिए दे० अनु० ४५) प्लुत अ आ, इ ई, उ ऊ का अनुनासिक बन जाता है; यथा—पुरुष आ बभूवाँ३ (=बभूव अ० १०, ७, २८); यशो मुमाँ३ (=मम तै० सं० ७, ४,२०); विवेशाँ३ (=विवेश वा० सं० २३,४९); विन्दुती ँ३ (=विन्दति ऋ० १०,१४६,१); सुश्लोकाँ३ सुमङ्गलाँ३ (तै० सं० १, ८,१६, २; परन्तु का० सं० ३८, ४—सुश्लोका३ सुमङ्गला३)।

(२) यद्यपि प्रातिशाख्यों के अनुसार अर्धर्च के अन्तिम पाद से पूर्व आने वाले किसी पाद के अन्त में अवसान नहीं माना जाता है तथापि इस प्रकार के पाद के अन्त में आने वाले अ आ को परवर्ती पाद के पदादि स्वर से पूर्व अनुनासिक बना कर प्रकृतिभाव से प्रकट करने का संहितानियम (पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार) यह सिद्ध करता है कि मूल ऋ० में

प्रत्येक पाद के अन्त में अवसान होता था। ऋ० प्रा० में इस प्रकार के अनुनासिकत्व तथा विवृत्ति (Hiatus) का विधान है। इस के अनुसार परवर्ती पाद के पदादि में आने वाले किसी भी स्वर से पूर्व सचा का आ तथा विशिष्ट शब्दों से परे आने वाला निपात आ अनुनासिक बन कर पाद के अन्त में प्रकृतिभाव से रहता है; और इसी प्रकार परवर्ती पाद के पदादि ए तथा ओ से पूर्व आने वाला पदान्तीय अ आ अनुनासिक बन कर प्रकृतिभाव से रहता है[ख]; यथा—

सचा+उद्यत्=सचाँ उद्यत् (ऋ० ७, ८१, २); चर्षणीः+आ+अर्यः =चर्षणीरा̐ अर्यः (ऋ० ३, ४३, २); घनेन+एकः=घनेन̐ एकः (ऋ० १, ३३, ४); उपस्था+एका=उपस्थाँ एका (ऋ० १, ३५, ६); उग्र+ओकः=उग्र̐ ओकः (ऋ० ७, २५, ४)।

(३) संहिता में पदान्तीय ह्रस्व स्वर का छान्दस दीर्घ करने पर पदादि स्वर से पूर्व विवृत्ति के लिये दीर्घ स्वर का अनुनासिक बना देते हैं; यथा—एवाँ अग्निम् (ऋ० ५, ६, १०)। छान्दस दीर्घ के लिए देखिये अनु० ४६ ख।

३७. **पदसन्धि (External Sandhi)**—पदान्त तथा पदादि में आने वाले वर्णों के मध्य जो सन्धि होती है उसे **पदसन्धि** कहते हैं। जिस प्रकार वर्ण-समाम्नाय के दो मुख्य भेद—स्वर तथा व्यञ्जन—किए जाते हैं उसी प्रकार पदसन्धि को भी पदान्तीय-वर्ण के विचार से **स्वर-सन्धि** तथा **व्यञ्जन-सन्धि** इन दो मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है। और इन में से प्रत्येक सन्धि के अनेक उपभेद भी किये जा सकते हैं।

स्वरसन्धि

३८. पदान्त तथा पदादि में आने वाले स्वरों की सन्धि को **स्वरसन्धि** कहते हैं। इस के निम्नलिखित उपभेद किये जा सकते हैं—

१. सवर्णदीर्घ (प्रश्लिष्ट) सन्धि २. गुण (प्रश्लिष्ट) सन्धि ३. वृद्धि (प्रश्लिष्ट) सन्धि ४. यण् (क्षैप्र) सन्धि ५. अयादिसन्धि ६. पूर्वरूप (अभिनिहित) सन्धि ७. प्रकृतिभावसन्धि ८. छान्दसदीर्घ (सामवश)

सन्धि। जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे, सामवशसन्धि पदादि व्यञ्जन से पूर्व होती है। क्योंकि यह छान्दस दीर्घत्व केवल संहिता में ही होता है और पदपाठ में मूल पदान्तीय स्वर दिखलाया जाता है, इस लिये हम ने इसे स्वरसन्धि में सम्मिलित किया है। प्रातिशाख्यों में इन सन्धियों के लिये जो संज्ञा प्रयुक्त की गई है उसे प्रकोष्ठों में रक्खा गया है। ऋ० प्रा० में सवर्णदीर्घ, गुण तथा वृद्धि तीनों सन्धियों के लिये केवल एक प्रश्लिष्ट संज्ञा का व्यवहार किया गया है। यद्यपि लौकिक संस्कृत तथा वैदिक भाषा में अधिकतर सन्धि-नियम समान ही हैं, तथापि वैदिकसन्धि की प्रमुख विशेषता यह है कि जहां लौकिक संस्कृत में साधारणतया सन्धि प्राप्त होती है वहां पर वैदिकभाषा में अपवादस्वरूप अनेक स्थलों पर स्वरों के मध्य विवृत्ति (hiatus) आ जाती है और साधारण सन्धिविकार नहीं होता। इस प्रकार की विवृत्ति वैदिकसन्धि की मुख्य विशेषता है। नीचे स्वर-सन्धि के वर्णन में इस प्रकार की विशेषताओं को पृथक् करके दिखलाया गया है।

१. सवर्णदीर्घ (प्रश्लिष्ट) सन्धि

३९. यदि समानाक्षर (अ आ, इ ई, उ ऊ) से परे सवर्ण (सस्थान) समानाक्षर आए, तो दोनों सवर्ण समानाक्षरों के स्थान पर एक दीर्घ सवर्ण हो जाता है[८]; यथा— इ॒ह+अ॒स्ति॒ = इ॒हास्ति॑; इन्द्र॒+आ=इन्द्रा; त्वा॒+अ॒ग्ने॒= त्वा॒ग्ने॒; स्रु॒चि+इ॒व = स्रु॒चीव; सु॒+उ॒क्तम्= सू॒क्तम्।

विशेष (१) संहिताओं में पदान्तीय तथा पदादि ऋ में सन्धि होने का उदाहरण नहीं मिलता है। ऋग्वेद में पदान्तीय ऋ का सर्वथा अभाव है (दे० टि० ४)।

(२) कहीं कहीं अर्धर्च के दो पादों के मध्य तथा एक पाद में भी अ और आ की सवर्णदीर्घ सन्धि नहीं होती और विवृत्ति के कारण वे प्रकृतिभाव से रहते हैं[८क]; यथा—म॒नी॒षा+अ॒ग्निः =म॒नी॒षा अ॒ग्निः (ऋ० १,७०,१); पू॒षा+अ॒वि॒ष्टु॒=पू॒षा अ॑विष्टु; (ऋ० १०, २६, ९); स्व॒धा+अ॒सि॒=

स्वधा अंसि (तै० सं० १,१, ९, ३); प्रतिमा+अस्ति=प्रतिमा अंस्ति (वा० सं० ३२, ३)।

(३) इसी प्रकार कहीं कहीं उ और ऊ के मध्य भी सवर्णदीर्घ-सन्धि नहीं होती और विवृत्ति के कारण वे प्रकृतिभाव से रहते हैं; यथा—सु+ऊर्ध्वः= सु ऊर्ध्वः (ऋ० ६, २४, ९); सु+ऊतिभिः=सु ऊतिभिः (ऋ० १, ११२, १); वीळू+उत=वीळू उत (ऋ० १, ३९,२)। समास में भी यह विवृत्ति मिलती है; यथा— सुऊतयः (ऋ० ८, ४७, १)।

(४) पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि छन्दःपरिमाण के विचार से अनेक ऋचाओं में समानाक्षरों के मध्य विवृत्ति मान कर उन का पृथक् उच्चारण करना चाहिए और ऐसे स्थलों पर लिखित संहिता में दिखाई गई सवर्ण-दीर्घसन्धि का आदर नहीं करना चाहिए और इन के मतानुसार, इस प्रकार विवृत्ति से उच्चरित अक्षरों में पदादि समानाक्षर गुरु माना जाता है; इस लिये ऐसी विवृत्ति में यदि पदान्तीय समानाक्षर दीर्घ हो, तब भी उसका लघु उच्चारण करना चाहिए*; यथा—चार्चत=च अर्चत (ऋ० १, १५५, १); माप्संवः=मा अप्संवः (ऋ० ७,४,६); चासात्=च आसात् (ऋ० १, २७, ३); मापेः=म आपेः (=मा+आपेः ऋ० ४, ३, १३); मूळातीदृशे=मूळाति ईदृशे (ऋ० ४, ५७, १); यन्तीन्दवः=यन्ति इन्दवः (ऋ० ४, ४७, २); भवन्तूक्षणः=भवन्तु उक्षणः (ऋ० ६, १६, ४७)।

जब किसी सवर्णदीर्घ-सन्धि में पूर्व अक्षर किसी अप्रयुक्त पद का पदान्तीय हो, तब छन्दःपरिमाण के विचार से ऐसे सवर्णदीर्घ अक्षर में मिलने वाले दोनों अक्षरों का विवृत्ति से उच्चारण करना चाहिए और वि तथा हि निपातों के सम्बन्ध में यह नियम प्रायेण लागू होता है; यथा—वीन्द्र=वि इन्द्र (ऋ० १०, ३२, २); हीन्द्र=हि इन्द्र (ऋ० १,१०२, ५)।

२. गुण (प्रश्लिष्ट) सन्धि

४०. यदि अ आ से परे इ ई आए, दोनों के स्थान पर ए एकादेश, और उ ऊ आए तब ओ एकादेश हो जाता है[10]; यथा—

इह + इह = इहेह; पिता + इव = पितेव; आ + ईम् = एम्; आ + उभा = ओभा।

विशेष—ऋ०, मै० सं० तथा वा० सं० में अकार तथा ऋकार की सन्धि से अर् एकादेश नहीं होता है, जैसा कि तै० सं०, का० सं०, अ०, उत्तरकालीन वैदिकवाङ्मय तथा लौकिक संस्कृत में हो जाता है। इस के विपरीत ऋ० तथा वा० सं० में अ से परे ऋ आने पर अ अविकृत रहता है और आ से परे ऋ आने पर आ का ह्रस्व हो जाता है[१०क]; यथा—इन्द्र + ऋभुभिः = इन्द्र ऋभुभिः (ऋ० ३,६०,५); तथा + ऋतुः = तथ ऋतुः (ऋ० १,१६२, १९); विश्वकर्मा + ऋषिः = विश्वकर्म ऋषिः (वा० सं० १३, ५८)। मै० सं० में ऋ से पूर्व आने वाले पदान्तीय अ का दीर्घ हो जाता है; यथा—च + ऋक् = चा ऋक् (मै० सं० २, ११, ६)। ऋ० में कहीं कहीं ऋ परे रहने पर पदान्तीय आ का अनुनासिक बन जाता है[११]; यथा—विपन्या + ऋतस्य = विपन्याँ ऋतस्य (ऋ० ४,१,१२); कदा + ऋतुचित् = कदाँ ऋतुचित् (ऋ० ५,३,९); विभ्वा + ऋभुः = विभ्वाँ ऋभुः (ऋ० ४, ३३, ३)।

(२) पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि छन्दःपरिमाण के विचार से ऋ० में भी कहीं कहीं अ तथा ऋ का अर् एकादेश करके उच्चारण करना वाञ्छनीय है; यथा—सप्तऋषयः (ऋ० १०, १०९, ४) समास का उच्चारण सप्तर्षयः करना चाहिये[११क]। पदकार तथा उवट (ऋ० प्रा० २,७१) धनर्चम् (ऋ० १०,४६,५) तथा शतर्चसम् (ऋ ७,१००, ३) में अर्च् के अ का लोप मानते हैं। परन्तु अनेक पाश्चात्य विद्वान् इन में अ तथा ऋ की सन्धि मानते हैं।

(३) कहीं कहीं पदान्तीय आ से परे इ ई तथा उ ऊ आने पर, वह विवृत्ति द्वारा प्रकृतिभाव से रहता है[१२]; यथा—ज्या + इयम् = ज्या इयम् (ऋ० ६, ७५, ३); पिबा + इमम् = पिबा इमम् (पदपाठ में पिब रूप है, ऋ० ८, १७, १) अया + ईशानः = अया ईशानः (ऋ० १, ८७, ४); होतारा + ऊर्ध्वम् = होतारा ऊर्ध्वम् (वा० सं० २७, १८)।

३. वृद्धि (प्रश्लिष्ट) सन्धि

४१. अ आ से परे ए ऐ आने पर ऐ एकादेश और ओ औ आने पर औ एकादेश हो जाता है[१३]; यथा—आ+ एनम् = ऐनम् (ऋ० १,१२३,१); परा+ ऐत् = परैत् (ऋ० १०, ६१, ८); यत्र+ओषधीः = यत्रौषधीः (ऋ० १०, ९७, ६); प्र+ औक्षन् = प्रौक्षन् (ऋ० १०, ९०,७)।

विशेष—(१) कहीं कहीं पाद के आदि में आने वाले ए तथा ओ से पूर्व पदान्तीय अ तथा आ का अनुनासिक हो जाता है और फिर वह अनुनासिक स्वर विवृत्ति द्वारा प्रकृतिभाव से रहता है (दे० अनु० ३६ ख; टि० ७ ख में ऋ० प्रा० २,६२)। परन्तु यदि अमिनन्त का पदान्तीय अ पाद के मध्य में हो तब भी सन्ध्यक्षर से पूर्व इस का अनुनासिक बन जाता है और यह विवृत्ति द्वारा प्रकृतिभाव से रहता है; यथा—अमिनन्त+एवैः = अमिनन्तँ एवैः (ऋ० १, ७९, २)।

(२) कहीं कहीं अ आ से परे ए आने पर ए एकादेश, और ओ आने पर ओ एकादेश (पा० के अनुसार, अ आ का पररूप और तै० प्रा० के अनुसार अ आ का लोप) हो जाता है[१३क]; यथा— ततार+ एव = ततारेव (ऋ० ७, ३३, ३); इव + एतयः =इवेतयः (ऋ० १०,९१, ४); अश्विना+ एव =अश्विनेव (ऋ० ८, ९, ९); उप+ एतन= उपेतन (तै० सं० ३, १, ४, ३); समुद्रस्य+एमन् = समुद्रस्येमन् (वा० सं० १३, १७); यथा+ ओहिषे=यथोहिषे (ऋ ८,५,३); त्वा +ओमन् = त्वोमन् (तै० सं० ४, ३, १; वा० सं० १३, ५३)। समास में भी यह सन्धि होती है; यथा—दश+ओणिम् =दशोणिम् (ऋ० ६, २०, ८), दशोण्ये (ऋ० ८, ५२, २), दशोणये (ऋ० ६, २०, ४)।

४. यण् (क्षैप्र) सन्धि

४२. असवर्ण स्वर से पूर्व इ ई का य्, और उ का व् बन जाता है[१४]; यथा– प्रति+आयम् =प्रत्यायम् (ऋ० १, ११, ६); जनित्री+ अजीजनत्=

जानिष्यजीजनत् (ऋ० १०, १२४, १); आ तु+ एर्ता= आ त्वेर्ता (ऋ० १, ५, १)। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि छन्दःपरिमाण के विचार से क्षैप्रसन्धि के य् व् का उच्चारण प्रायेण इ उ के समान करना चाहिए; यथा— व्युषाः (ऋ० १, ९२, ४) का उच्चारण वि उषाः और विदथेष्वञ्जन् (ऋ० १,९२,५) का उच्चारण विदथेषु अञ्जन् करना चाहिए। क्षिप्र य् व् के इय् उव् उच्चारण के सम्बन्ध में देखिये अनुच्छेद ६ (छ)। य् से भिन्न व्यञ्जन के पश्चात् आने वाला निपात उ स्वर से पूर्व सभी संहिताओं में व् बना कर लिखा जाता है, परन्तु छन्दःपरिमाण के विचार से स्वर से पूर्व इस का उच्चारण उ ही करना चाहिए; यथा—अवेद्विन्द्र (ऋ० १,२८,१) का उच्चारण अवेदु इन्द्र करना चाहिए। स्वर तथा य् के पश्चात् आने वाला निपात प्रकृतिभाव से रहता है (दे० अनु० ४४, टि० ३३ तथा ३४)। संहिताओं में प्रगृह्य से भिन्न पदान्तीय ऊ का उदाहरण नहीं मिला है। इसलिये स्वर से पूर्व ऊ का व् बनने के उदाहरण प्रायः अन्तःपदसन्धि (Internal Sandhi) में ही मिलते हैं। ऋ० में पदान्तीय ऋ का कोई उदाहरण नहीं मिला है (दे० टि० ४)। उत्तरकालीन वाङ्मय तथा लौकिक संस्कृत में ऋ का र् बन जाता है; यथा—विज्ञातृ+ एतत् =विज्ञात्रेतत् (श० ब्रा० १४, ६, ८, ११)।

विशेष— कुछ शब्दों का पदान्तीय ई प्रगृह्यसंज्ञक न होते हुए भी संहिता में स्वर से पूर्व प्रकृतिभाव से रहता है [दे० अनु० ४५ ख (८)]।

५. अयादिसन्धि

४३. (क) ए ओ से परे अ से भिन्न स्वर आने पर पाणिनि तथा अनेक प्रातिशाख्यों के अनुसार, ए ओ का क्रमशः अय् अव् बन जाता है और इन के य् व् का लोप हो जाता है[१५]। परन्तु ऋ० प्रा० के अनुसार, ए ओ से परे अ से भिन्न स्वर आने पर ए तथा ओ के स्थान पर अ हो जाता है; और ओ के स्थान पर होने वाले अ से परे जब उ ऊ से भिन्न स्वर हो तो इस अ के पश्चात् भुग्नसंज्ञक व् का आगम हो जाता है[१६]। ऋ० प्रा० में इसे उद्ग्राहसन्धि कहते हैं । यद्यपि य् व् के लोप के विषय में

अनेक मतभेद हैं[१७], तथापि अव् के व् का लोप केवल उ ऊ से पूर्व ही होता है; यथा— अ॒ग्ने + इ॒ह= अ॒ग्न इ॒ह (ऋ० १,२२,१०); वायो॑+ उ॒क्थेभिः॑ = वाय॑ उ॒क्थेभिः॑ (ऋ० १,२,२); वायो॒+ आ या॑हि=वाय॒वा या॑हि (ऋ० १,२,१); इन्दो॒+ इन्द्रा॑य = इन्द॒विन्द्रा॑य (ऋ० ९, ६९,१०)।

(ख) ऐ औ से परे स्वर आने पर, पाणिनि तथा अनेक प्रातिशाख्यों के अनुसार ऐ औ के स्थान पर क्रमशः आय् आव् हो जाता है और इन के य् व् का लोप हो जाता है (दे० टि० १५)। परन्तु ऋ० प्रा० के अनुसार, ऐ औ से परे स्वर रहने पर ऐ तथा औ के स्थान पर आ बन जाता है; और उ ऊ से भिन्न स्वर से पूर्व औ से बने आ के पश्चात् भुग्नसंज्ञक व् का आगम होता है[१८]। आय् के य् का प्रायः लोप हो जाता है। ऋ० तथा वा० सं में आव् के व् का लोप केवल उ ऊ से पूर्व ही होता है, परन्तु मै० सं० तथा का० सं० में सर्वत्र आव् के व् का लोप हो जाता है। अ० के १९ वें काण्ड के कतिपय स्थलों को छोड़ कर इस संहिता में आव् के व् का लोप नहीं होता है। यह ध्यान रहे कि अ० के १९ वें काण्ड को अ० प्रा० में मान्यता नहीं दी गई है।

यथा—तस्मै॒+इन्द्रा॑य= तस्मा॒ इन्द्रा॑य (ऋ० १, ४,१०); सु॒जि॒ह्वौ+उप॑ =सु॒जि॒ह्वा उप॑ (ऋ० १,१३,८); तौ+इ॒न्द्रा॒ग्नी॒=ताविन्द्रा॒ग्नी (ऋ० १, १०८, ३); अ॒सौ+एहि॑=अ॒सावेहि॑ (वा० सं० ३८, २); तौ+उ॒भौ= ता उ॒भौ (वा० सं० २३, २०); तौ+ए॒नम = ता ए॑नम् (मै० सं० ४, १३, ४); तौ+एहि॑ = ता एहि॑ (का० सं० ३५, १८); उ॒भौ+ इ॒न्द्रा॒ग्नी उ॒भाविन्द्रा॒ग्नी (अ० ५, ७, ६), परन्तु— पादौ॑+ उ॒च्येते॑= पादा॑ उच्येते (अ० १९, ६, ५)।

विशेष—(१) लौकिक संस्कृत की भांति वैदिक में भी अयादि सन्धि के य् व् का लोप होने पर अ आ और परवर्ती स्वर के मध्य पुनः सन्धि नहीं होती है। परन्तु इस नियम के कुछ अपवाद भी मिलते हैं और अन्तस्था का लोप होने पर भी कहीं कहीं पुनः स्वरसन्धि हो जाती है[१८क]; यथा—सर्त॒वै+ आ॒जौ=सर्त॒वा आ॒जौ= सर्त॒वाजौ (ऋ० ३,३२,६); वै+अ॒सौ=वा अ॒सौ =वासौ (ऋ० ५, १७, ३)।

द्वितीयोऽध्यायः

(२) पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि छन्दःपरिमाण के विचार से अनेक स्थानों पर अन्तस्था का लोप होने पर भी पूर्ववर्ती अकार तथा परवर्ती स्वर में पुनः सन्धि करके उच्चारण करना चाहिए[१८ख]; यथा—ते+इन्द्र =त इन्द्र=तेन्द्र (ऋ० ७, २१, ९; ८,४०, ९); गोष्ठे+उप =गोष्ठ उप = गोष्ठोप (अ० ९, ४, २३)। परन्तु लिखित संहिताओं के अनुसार, उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में य् के लोप के पश्चात् अ+इ तथा अ+उ की सन्धि नहीं मानी गई है।

(३) संहिताओं में कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिन में अय् के य् का लोप नहीं होता है; यथा— ते+आ=तय् आ (मै सं० १,१,२)।

(४) मै० सं० में जिस पदान्तीय ए पर अनुदात्त या अनुदात्त से बना स्वरित हो उस से परे अ से भिन्न सोदात्त स्वर (अच्) आने पर सन्धिज अय् के य् का लोप हो जाता है और उपधा के अ का दीर्घ बन जाता है; यथा—कर्मणे+आप्यायध्वम्= कर्मणा आप्यायध्वम् (मै० सं १,१,१)।

६. पूर्वरूप (अभिनिहित) सन्धि

४४. पदान्तीय ए तथा ओ से परे पदादि अ आने पर, पदान्तीय (ए ओ) और पदादि (अ) स्वर के स्थान पर पूर्वरूप (ए अथवा ओ) एकादेश हो जाता है[१९]; अथवा तै० प्रा० (टि० १९) के अनुसार अ का लोप हो जाता है; यथा सूनवे+अग्ने= सूनवेऽग्ने (ऋ० १,१, ९); रथेभ्यो+अग्ने =रथेभ्योऽग्ने (ऋ० १, ९४, ११)।

विशेष—(१) ऋ० ८, ७२, ५ में स्तोतवे+ अम्ब्यम् की सन्धि स्तोतव अम्ब्यम् दिखलाई गई है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, यह उदाहरण इस प्रवृत्ति का परिचायक है कि मूल ऋ० में अ से पूर्व भी ए ओ अयादिसन्धि के नियमानुसार क्रमशः अय् अव् में परिणत हो जाते थे[२०]। और यह भी माना जाता है कि इस प्रवृत्ति के अनुसार गोअग्र की मौलिक सन्धि भी गवग्र रही होगी[२१]।

(२) लिखित ऋग्वेदसंहिता के लगभग ७५ प्रतिशत से अधिक प्रयोगों में और अथर्ववेदसंहिता के लगभग ६६ प्रतिशत प्रयोगों में पदादि अकार का

पदान्तीय ए ओ के साथ पूर्वरूप दिखलाया गया है, और शेष प्रयोगों में पदादि अ प्रकृतिभाव से रहता है[२२]; यथा— दे॒वासो॑+अ॒प्तुरः॑= दे॒वासो॑ अ॒प्तुरः॑ (ऋ० १, ३, ८); प॒राके॑+अ॒र्वा॒के= प॒राके॑ अ॒र्वाके (ऋ० ८,९, १५); ते॒+अ॒ग्ने॒= ते॒ अ॒ग्ने॒ (वा० सं० ५, ८)।

(३) पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि छन्दःपरिमाण के विचार से, ऋ० के लगभग ९९ प्रतिशत (४५०० में से ४४३० के लगभग) प्रयोगों में और अ० (१६०० में से १३०० से अधिक) तथा यजुर्वेदसंहिताओं के छान्दस भाग के लगभग ८० प्रतिशत प्रयोगों में पदान्तीय ए ओ के पश्चात् आने वाले पदादि अ का उच्चारण करना चाहिए; और इस से पहले आने वाले पदान्तीय ए ओ का ह्रस्व उच्चारण करना चाहिए[२३]; यथा— सू॒नवेऽग्ने॑ का उच्चारण सू॒नवे॒ अग्ने॑ करना चाहिए। उनका मत है कि उच्चारण करते समय संहिताओं के लिखित रूप का अनुसरण नहीं करना चाहिए और केवल छन्दःपरिमाण पर ध्यान देना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह तथ्य विशेषतया उल्लेखनीय है कि मूल ऋ० में ऐसे पदादि अ का प्रायेण प्रकृतिभाव मिलता है, परन्तु लौकिक संस्कृत में सर्वत्र इस का पूर्वरूप हो जाता है। स्पष्ट है कि ऐसे पदादि अ के पूर्वरूप की प्रवृत्ति कालक्रम के साथ बढ़ती चली गई। अकार के संवृत्त उच्चारण (दे० अनु० ५) का विकास इस पूर्वरूप-प्रवृत्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि का मुख्य कारण माना जा सकता है।

७. प्रकृतिभावसन्धि

(प्लुत तथा प्रगृह्य)

४५. उपर्युक्त सन्धि-नियमों के वर्णन में (दे० अनु० ३९-४१; ४४) अपवाद-रूपेण प्रकृतिभाव के जो उदाहरण दिये गये हैं, उन के अतिरिक्त प्लुत तथा प्रगृह्य संज्ञा वाले पदान्तीय स्वर पदादि स्वरों से पूर्व नित्य प्रकृति-भाव से रहते हैं[२४]।

प्लुत

(क) प्लुत स्वरों का परिचय अनुच्छेद २ में दिया जा चुका है। ऋ० में प्लुति के केवल ३, अ० में १५, वा० सं० में ७, और तै० सं०

में लगभग ४० प्रयोग मिलते हैं । संहिताओं में प्रायेण विचार तथा सम्बोधन आदि के लिये प्लुति का प्रयोग मिलता है[२४क] । पाणिनि तथा कल्पसूत्रों ने उत्तरकालीन परम्पराओं का वर्णन किया है, जिन के अनुसार यज्ञकर्म, अभिवादन, प्रश्नोत्तर, आह्वान, गर्हणा, भर्त्सना आदि में भी प्लुति का प्रयोग किया जाता था[२४ख] । ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों में इस प्रकार के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं । परन्तु लौकिक संस्कृत में प्लुति का प्रयोग अतीव विरल है ।

(१) प्लुति प्रकट करने के लिये स्वर के आगे ३ का अङ्क लिखा जाता है और इस अङ्क से पूर्व समानाक्षर का प्रायेण दीर्घ रूप ही लिखते हैं । काशिका तथा सि० कौ० ने प्रत्यभिवाद (पा० ८, २,८३-१०६) आदि के उदाहरणों में ह्रस्व स्वरों के आगे ३ का अङ्क लिख कर उनका प्लुत रूप दिखलाया है । संहिताओं में ऐसे उदाहरण अप्राप्य हैं । परन्तु Alt. Gr. I, (Nachträge zu Band I, p. 172) में डैब्रूनेर ने निम्नलिखित उदाहरणों में प्लुत माना है—य३त् (मै० सं० १, १०, १६); व्यनयु-ष३स्ते (मै० सं० १,१०, १६) । वास्तव में इन उदाहरणों में ३ का अङ्क स्वर की विशेषता (क्षैप्र, अभिनिहित आदि) को प्रकट करता है, प्लुति को नहीं (दे० स्वरप्रकरणम्); इसी प्रकार डैब्रूनेर द्वारा (इसी पुस्तक के पृ० १७२) दिये गये अन्य उदाहरण— प्राह्णु३त (सा० १,३६ तु० ऋ० ८, ६०, ९) में भी ३ का अङ्क स्वर के लिये प्रयुक्त किया गया है—प्लुति के लिए नहीं । प्लुत समानाक्षर से परे स्वर आने पर प्लुत स्वर प्रकृतिभाव से रहता है; यथा— ही३ + इति=ही३इति (तै० सं० ७,१, ६, १) । चाक्रवर्मण (पा० ६, १, १३०) आचार्य के मतानुसार ई ३ से परे स्वर आने पर ई ३ को प्रकृतिभाव न हो कर स्वरसन्धि हो जाती है; यथा— चिनुही ३ + इदम् =चिनुहीदम् ।

पतञ्जलि (पा० ६, १,१३० पर महा० भा०) तथा अन्य वैयाकरणों के व्याख्यान के अनुसार न केवल ई ३ अपि तु अन्य प्लुत स्वरों का प्रकृतिभाव भी इस सूत्र के प्रभाव से वैकल्पिक हो जाता है; यथा— वशा ३ + इयम् =वशेयम् (अ० १२,४,४२— वशेया३मवशेति- अ० प्रा० १, ९७, १०५) । पा० ६, १, १२९, के अनुसार, अवैदिक इति

शब्द से पूर्व प्लुत स्वर को प्रकृतिभाव नहीं होता है और इस सूत्र पर महा० भा० तथा काशिका में यह उदाहरण दिया गया है— सुश्लोका३-इति, सुश्लोकेति (का० सं० २८,४; तै० सं० १,८,१६,२, तथा पदपाठ में सुश्लोका ३ ऽइति सुश्लोका ३ ऽ)। परन्तु वा० प्रा० ४. ९१ (प्लुत-मितौ) के अनुसार, अवैदिक इति से पूर्व प्लुत स्वर प्रकृतिभाव से रहता है; यथा— विवेशा३ इति (वा० सं० २३,४९)। अ० प्रा० (१,९७; ४, १२०) वैदिक इति तथा क्रमपाठ के इति से पूर्व आने वाले प्लुत स्वर के प्रकृतिभाव का निषेध करता है; यथा— अवशा ३ + इति=अवशेति (अ० १२, ४, ४२); बभूवेति बभूवाँ ३ (अ० १०, २,२८ क्रमपाठ)। अधिकतर प्रयोगों में प्लुत समानाक्षर का प्रकृतिभाव ही मिलता है और जिन प्रयोगों में प्लुत समानाक्षर की परवर्ती स्वर से सामान्य सन्धि हो जाती है ऐसे प्रयोग अति विरल हैं।

(२) ए तथा ओ का प्लुतरूप दो प्रकार से लिखते हैं। प्रश्न, सम्बोधन, प्रत्यभि-वादन, विचार तथा याज्या आदि में प्रयुक्त किये जाने वाले अप्रगृह्यप्लुत ए ओ का पूर्वार्ध आ३ के रूप में लिखा जाता है और इन का उत्तरार्ध क्रमशः इ तथा उ के रूप में लिखा जाता है[४ग]; यथा—अग्ना ३ इ पत्नीवन् (वा० सं० ८, १०); अग्ना ३ इ पत्नीवा३ : (तै० सं० १,४,२७); होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ न होतव्या३मिति (तै० सं० ६,१,४,५); अग्निगा३ उ (ऐ० ब्रा० २,७); पटा३उ (काशिका)।

सन्धि में स्वर परे रहने पर अप्रगृह्य प्लुत सन्ध्यक्षरों के उत्तरार्ध के इ तथा उ का क्रमशः य् तथा व् बन जाता है और पूर्वोक्त सन्धि-नियम (अनु० ४३) के अनुसार, य् व् का लोप हो जाता है[४घ]; यथा— अग्ना३इ + इति=अग्ना ३ इति (तै० सं० ६, ५, ८, ४); पटा ३ उ उदकम्=पटा ३ वुदकम् (काशिका)। परन्तु इस नियम के (विशेषतः ऐ० ब्रा० में) अनेक अपवाद मिलते हैं और प्लुत से परे आने वाले इ उ प्रकृतिभाव से रहते हैं; यथा—ऐन्द्रावरुणा ३ इ एषा (ऐ० ब्रा० ६, २५); अग्निगा ३ उ इति (ऐ० ब्रा० २, ७)।

(३) उपर्युक्त से भिन्न तथा प्रगृह्य ए ओ की प्लुति को प्रकट करने के लिए इन के आगे ३ का अङ्क लिखा जाता है; यथा— सर्पे ३ त् (ऐ० ब्रा०

ऋत्व्ये नाधमानाम् (= तनू + ऋत्व्यें ऋ० १०, १८३, २); मायू (अ० १८, ४, ४)।

विशेष—यद्यपि लेखबद्धसंहिता में वेद्यस्याम् (ऋ० २,३,४) पाठ मिलता है, तथापि छन्दःपरिमाण के विचार से वेदों के पदान्तीय ई का प्रकृतिभाव करके उच्चारण करना चाहिये; और पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि छन्दःपरिमाण के विचार से इस प्रकार के प्रगृह्य ई ऊ का उच्चारण सदा ह्रस्व होना चाहिए[१०]; यथा— वेद्यस्याम् का उच्चारण वेदि अस्याम् करना चाहिए।

(३) अस्मद् तथा युष्मद् से बने एकारान्त रूपों अस्मे, युष्मे, मे, त्वे का पदान्तीय ए प्रगृह्य माना जाता है[११]; यथा— अस्मे आ वहतम् (ऋ० ८,५,१५); युष्मे इत् (ऋ० ८,१८,१९); त्वे इत् (ऋ० १, २६,६); मे रायः (वा० सं० ४, २२)। वा० प्रा० में यह मे प्रगृह्य रूप से उदाहृत है और पदपाठ में इसे मे इति मे के रूप में दिखलाया गया है। उपर्युक्त चारों एकारान्त पद प्रायेण सप्तमी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। पदपाठ में इनके आगे इति जोड़ा जाता है।

(४) अदस् से बने बहुवचनान्त पुँल्लिङ्ग रूप अमी का पदान्तीय ई प्रगृह्य माना जाता है[१२] और पदपाठ में इसके आगे इति जोड़ा जाता है। यद्यपि ऋ० में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता है जिसमें अमी से परे कोई स्वर आता हो, तथापि अन्यत्र ऐसे उदाहरण मिलते हैं— अमी अनूयाजाः (तै० सं० ६,१,५,४); अमी अनु मा तनुत (मा० श्रौ० सू० १,४,३,१५)।

(५) अपृक्त (एकवर्ण) निपात उ प्रगृह्य माना जाता है और पदपाठ में इसका दीर्घ तथा अनुनासिक ऊँ बनाकर इसके आगे इति जोड़ा जाता है[१३]; यथा— ऊँ इति। सन्धिज य् तथा विवृत्ति (*hiatus*) से परे आने वाला प्रगृह्य उ संहिता में स्वर से पूर्व प्रकृतिभाव से रहता है और स्पर्शों से परे आने वाला प्रगृह्य उ स्वर से पूर्व व् में परिणत हो जाता है[१४]; यथा— अभूद् भा उ अंशवे (ऋ० १,४६,१०), मर्त्यु अदर्यायुतो (ऋ० ७,८१,१); इन्द्रियं सोमं धनसा उ ईमहे (ऋ० १०,६५,१०); न

वा उं एतत् (वा० सं० २३,१६); परन्तु अवेद् व् इन्द्र (=उ+इन्द्र ऋ० १,२८,१); किम्वावपनम् (=उ+आवपनम् वा० सं० २३,९)। तै० सं० में प्रकृतिभाव से रहने वाले अपृक्त उ तथा परवर्ती स्वर के मध्य वकार का आगम होता है, परन्तु जब उ से पूर्व कोई स्पर्श हो तब उपर्युक्त सन्धिनियम के अनुसार स्वर से पूर्व उ का व् बन जाता है[३५]; यथा— स उंव् एकविंशवर्तनिः (तै० सं० ४,३,३,२), परन्तु तस्माद् व् आइर्यम् (=उ+आइर्यम् तै० स० ६,१,११,६)। छन्दः-परिमाण के विचार से निपात उ के उच्चारण के सम्बन्ध में दे० अनु० ४२। संहिताओं में उ को जहां सांहितिक दीर्घ (ऊ) हो जाता है वहां पर भी यह प्रगृह्य माना जाता है; और उस अवस्था में इससे पूर्व स्पर्श वर्ण होने पर भी यह स्वर से पूर्व प्रकृतिभाव से रहता है[३६]; यथा— उद् ऊं अयान् (ऋ० ६,७१,५); तम् ऊं अकृण्वन् (ऋ० १०,८८,१०)।

(६) नामों या निपातों के पदान्तीय अ अथवा आ के साथ उ की गुणसन्धि होने पर जो ओ एकादेश बनता है, वह भी प्रगृह्य माना जाता है और संहिता में प्रकृतिभाव से रहता है[३७]; यथा— एषो उषाः (=एषा+उ ऋ० १,४६,१); मो आसाम् (=मा+उ अ० २०,१२७,१३); अथो इन्द्राय (= अथ+उ ऋ० १,२८,६); उतो अपः (=उत+उ ऋ० २, ११,५)।

(७) उकारान्त प्रातिपदिकों के सम्बोधन का एकवचनान्त ओ ऋ०, अ०, वा० सं० तथा तै० सं० के पदपाठ में प्रगृह्य माना जाता है और उस के आगे इति जोड़ा जाता है[३८]। इसके अतिरिक्त तै० सं० के संहितापाठ में भी कई स्थलों पर सम्बोधन के ओ को प्रगृह्य मान कर उसे स्वर से पूर्व प्रकृतिभाव से लिखा जाता है; यथा—इन्दो इत्याह (तै० सं० ६,५, ८,३); पितो आ विशस्व (तै० सं० ५,७,२,४)।

विशेष—(८) प्रातिशाख्यों के अनुसार, अनेक पदों के पदान्तीय आ को भी संहिता में प्रकृतिभाव होता है, परन्तु पदपाठ में इसे प्रगृह्य नहीं माना जाता है (दे० टि० १२; अनु० ४०)। एकवचन प्रथमान्त तथा तृतीयान्त रूपों के पदान्तीय ई को संहिताओं में कहीं कहीं स्वर से पूर्व प्रकृतिभाव

२, २२); अभ्यस्ये ३ त् (ऐ० ब्रा० ६,१५); ये ३ यजामहे (आश्व० श्रौ० सू० १, ५,५) आहो ३ (श० ब्रा० १४, ७,३,३); हो ३ (श० ब्रा० ११, ४, १, ३); ओ ३ म् खं ब्रह्म (वा० सं० ४०, १७)।

(४) प्लुत ऐ तथा औ को भी दो प्रकार से लिखते हैं। है, श्रौषट्, वौषट् इत्यादि निपातों के ऐ औ की प्लुति को प्रकट करने के लिये इन के आगे केवल ३ का अङ्क लिख देते हैं; यथा—है ३ देवदत्त (पा० ८, २, ८५ पर काशिका); अस्तु श्रौ ३षट् (आश्व० श्रौ० सू० १, ४, १३); सोमस्याग्ने वीहि वौ ३ षट् (ऐ० ब्रा० ३,५,४; आश्व० श्रौ० सू० ५, ५, १९)[४५छ]। निपात से भिन्न शब्द के ऐ औ की प्लुति को प्रकट करने के लिये उपर्युक्त नियम के अनुसार (द्रे० टि० २४ घ), ऐ औ का पूर्वार्ध आ ३ के रूप में लिखा जाता है और इन का उत्तरार्ध क्रमशः इ तथा उ के रूप में लिखा जाता है; और सन्धि में स्वर से पूर्व इ तथा उ क्रमशः य् तथा व् में परिणत हो जाते हैं; यथा—असा ३ इ (=असै श० ब्रा० १२, ५, १, १); यज्ञपता ३ विति (=यज्ञपतौ तं० सं० ६,६,२, ३)। पाणिनि के मतानुसार, प्लुत ऐ औ के उत्तरार्ध के अवयव क्रमशः इ उ की प्लुति होती है और महा० भा० के अनुसार प्लुत ऐ औ चार-चार मात्राओं के होते हैं[४५च]। काशिका तथा सि० कौ० आदि में इस प्लुति के निम्नलिखित उदाहरण मिलते हैं—ऐ ३ तिकायन, औ३पगव। परन्तु वैदिक वाङ्मय में मुझे ऐसी प्लुति का कोई उदाहरण नहीं मिल सका है।

प्रगृह्य

(ख) स्वर से पूर्व आने वाला प्रगृह्यसंज्ञक स्वर संहिता में नित्य प्रकृतिभाव से रहता है और इस के प्रगृह्यत्व को प्रकट करने के लिये पदपाठ में इस के आगे इति जोड़ा जाता है (दे० अनु० ८८)। पाणिनीय व्याकरण तथा प्रातिशाख्यों में निम्नलिखित प्रकार के स्वर प्रगृह्य माने जाते हैं। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार इस प्रकार के स्वर जिन के अन्त में आते हैं वे पद प्रगृह्यसंज्ञक कहलाते हैं, परन्तु प्रातिशाख्य प्रायेण इन स्वरों की प्रगृह्य संज्ञा करते हैं। परिणाम समान है।

(१) द्विवचन पदों के अन्त में आने वाले ई, ऊ तथा ए स्वर प्रगृह्य माने जाते

हैं[२५]; यथा— हरी+ऋक्षस्य = हरी ऋक्षस्य (ऋ० ८, ६८, १५); इन्द्रवायू+ इमे = इन्द्रवायू इमे (ऋ० १, २,४) । इसी प्रकार ये उदाहरण हैं—रोदसी उभे ऋघायमाणम् (ऋ० १,१०,८); उप युञ्जाथे अपः (ऋ० १, १५१, ४) ।

पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि छन्दःपरिमाण की दृष्टि से कहीं कहीं प्रगृह्य ऊ का ह्रस्व उच्चारण वाञ्छनीय है[२५क]; यथा— साधू अंसै (ऋ० २,२७,१५) में ऊ का ह्रस्व उच्चारण करना चाहिए। इसी प्रकार तिङन्त पद के प्रगृह्य ए का उच्चारण भी छन्दःपरिमाण की दृष्टि से कहीं-कहीं ह्रस्व होना चाहिए; यथा— परिमन्नाथे अस्मान् (ऋ० ७,९३,६) में ए का ह्रस्व उच्चारण वाञ्छनीय है।

विशेष— संहिताओं में इव परे आने पर प्रगृह्य ई को सवर्णदीर्घसन्धि हो जाती है[२६]; यथा— दम्पती+ इव =दम्पतीव (ऋ० २,३९,२); उपधी+ इव = उपधीव (ऋ० २,३९,४); प्रधी+इव = प्रधीव (ऋ० २,३९,४); विश्पती+इव = विश्पतीव (वा० सं० ३३,४०); नृपती+इव = नृपतीव (अ० ८,४,६)[२६क]। परन्तु अनेक ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहां इव से पूर्व भी प्रगृह्य ई प्रकृतिभाव से रहता है; यथा— हरीइव (ऋ० १,२८,७); अक्षीइव (ऋ० २, ३९, ५)। रोदसीमे (=रोदसी + इमे ऋ० ७, ९०,३) में प्रगृह्य ई और पदादि इ के मध्य सवर्णदीर्घसन्धि मिलती है[२७]। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि कतिपय अन्य उदाहरणों में भी प्रगृह्य ई और परवर्ती इकार का इसी प्रकार सवर्णदीर्घ करके उच्चारण करना चाहिए, यद्यपि लेखबद्ध संहिता में ऐसे उदाहरणों का प्रगृह्य ई प्रकृतिभाव से मिलता है[२७क]। छन्दःपरिमाण के विचार से कुछ उदाहरणों में प्रगृह्य स्वर की सन्धि का प्रकृतिभाव करके उच्चारण करना चाहिए, जबकि लेखबद्धसंहिता में प्रकृतिभाव नहीं मिलता है; यथा—धिष्ण्येमे (=धिष्ण्ये + इमे ऋ० ७, ७२,२) का उच्चारण धिष्ण्ये इमे करना चाहिए[२८]।

(२) इकारान्त, ईकारान्त, उकारान्त तथा ऊकारान्त शब्दों के सप्तमी एकवचन में आने वाले पदान्तीय ई और ऊ प्रगृह्य माने जाते हैं[२९]; यथा— सोमो गौरी अधि श्रितः (=गौरी+अधि श्रितः ऋ० ९,१२, ३); स्वायां तनू

ऋत्व्ये नाधमानाम् (= तनू + ऋत्व्ये ऋ० १०, १८३, २); मायू (अ० १८, ४, ४)।

विशेष—यद्यपि लेखबद्धसंहिता में वेद्यस्याम् (ऋ० २,३,४) पाठ मिलता है, तथापि छन्दःपरिमाण के विचार से वेदी के पदान्तीय ई का प्रकृतिभाव करके उच्चारण करना चाहिये; और पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि छन्दःपरिमाण के विचार से इस प्रकार के प्रगृह्य ई ऊ का उच्चारण सदा ह्रस्व होना चाहिए[10]; यथा— वेद्यस्याम् का उच्चारण वेदि अस्याम् करना चाहिए।

(३) अस्मद् तथा युष्मद् से बने एकारान्त रूपों अस्मे, युष्मे, मे, त्वे का पदान्तीय ए प्रगृह्य माना जाता है[11]; यथा— अस्मे आ वहतम् (ऋ० ८,५,१५); युष्मे इत् (ऋ० ८,१८,१९); त्वे इत् (ऋ० १, २६,६); मे रायः (वा० सं० ४, २२)। वा० प्रा० में यह मे प्रगृह्य रूप से उदाहृत है और पदपाठ में इसे मे इति मे के रूप में दिखलाया गया है। उपर्युक्त चारों एकारान्त पद प्रायेण सप्तमी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। पदपाठ में इनके आगे इति जोड़ा जाता है।

(४) अदस् से बने बहुवचनान्त पुँल्लिङ्ग रूप अमी का पदान्तीय ई प्रगृह्य माना जाता है[12] और पदपाठ में इसके आगे इति जोड़ा जाता है। यद्यपि ऋ० में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता है जिसमें अमी से परे कोई स्वर आता हो, तथापि अन्यत्र ऐसे उदाहरण मिलते हैं— अमी अनूयाजाः (तै० सं० ६,१,५,४); अमी अनु मा तनुत (मा० श्रौ० सू० १,४,३,१५)।

(५) अपृक्त (एकवर्ण) निपात उ प्रगृह्य माना जाता है और पदपाठ में इसका दीर्घ तथा अनुनासिक ऊँ बनाकर इसके आगे इति जोड़ा जाता है[13]; यथा— ऊँ इति। सन्धिज य् तथा विवृत्ति (hiatus) से परे आने वाला प्रगृह्य उ संहिता में स्वर से पूर्व प्रकृतिभाव से रहता है और स्पर्शों से परे आने वाला प्रगृह्य उ स्वर से पूर्व व् में परिणत हो जाता है[14]; यथा— अभूद् आ उ अंशवे (ऋ० १,४६,१०), प्रत्यु अदर्श्यायती (ऋ० ७,८१,१); इन्द्रियं सोमं धनसा उ ईमहे (ऋ० १०,६५,१०); न

वा उं एतत् (वा॰ सं॰ २३,१६); परन्तु अवेद् व् इंन्द्र (=उ+इन्द्र ऋ॰ १,२८,१); किम्वावपनम् (=उ+ आवपनम् वा॰ सं॰ २३,९)। तै॰ सं॰ में प्रकृतिभाव से रहने वाले अपृक्त उ तथा परवर्ती स्वर के मध्य वकार का आगम होता है, परन्तु जब उ से पूर्व कोई स्पर्श हो तब उपर्युक्त सन्धिनियम के अनुसार स्वर से पूर्व उ का व् बन जाता है[३५]; यथा— स उंव् एकविंशवर्तनिः (तै॰ सं॰ ४,३,३,२), परन्तु तस्माद् व् आइयम् (=उ+आइयम् तै॰ स॰ ६,१,११,६)। छन्दः-परिमाण के विचार से निपात उ के उच्चारण के सम्बन्ध में दे॰ अनु॰ ४२। संहिताओं में उ को जहां सांहितिक दीर्घ (ऊ) हो जाता है वहां पर भी यह प्रगृह्य माना जाता है; और उस अवस्था में इससे पूर्व स्पर्श वर्ण होने पर भी यह स्वर से पूर्व प्रकृतिभाव से रहता है[३६]; यथा— उद् ऊं अयान् (ऋ॰ ६,७१,५); तम् ऊं अकृण्वन् (ऋ॰ १०,८८,१०)।

(६) नामों या निपातों के पदान्तीय अ अथवा आ के साथ उ की गुणसन्धि होने पर जो ओ एकादेश बनता है, वह भी प्रगृह्य माना जाता है और संहिता में प्रकृतिभाव से रहता है[३७]; यथा— एषो उषाः (=एषा+उ ऋ॰ १,४६,१); मो आसाम् (=मा+उ अ॰ २०,१२७,१३); अथो इन्द्राय (=अथ+उ ऋ॰ १,२८,६); उतो अपः (=उत+उ ऋ॰ २, ११,५)।

(७) उकारान्त प्रातिपदिकों के सम्बोधन का एकवचनान्त ओ ऋ॰; अ॰, वा॰ सं॰ तथा तै॰ सं॰ के पदपाठ में प्रगृह्य माना जाता है और उस के आगे इति जोड़ा जाता है[३८]। इसके अतिरिक्त तै॰ सं॰ के संहितापाठ में भी कई स्थलों पर सम्बोधन के ओ को प्रगृह्य मान कर उसे स्वर से पूर्व प्रकृतिभाव से लिखा जाता है; यथा—इन्दो इत्याह (तै॰ सं॰ ६,५, ८,३); पितो आ विंशस्व (तै॰ सं॰ ५,७,२,४)।

विशेष—(८) प्रातिशाख्यों के अनुसार, अनेक पदों के पदान्तीय आ को भी संहिता में प्रकृतिभाव होता है, परन्तु पदपाठ में इसे प्रगृह्य नहीं माना जाता है (दे॰ टि॰ १२; अनु॰ ४०)। एकवचन प्रथमान्त तथा तृतीयान्त रूपों के पदान्तीय ई को संहिताओं में कहीं कहीं स्वर से पूर्व प्रकृतिभाव

हो जाता है[१९]; यथा—सुम्राज्ञी अधि देवृषु (ऋ० १०, ८५, ४६); द्यावाक्षामा पृथिवी अन्तरिक्षम् (ऋ० ३,८,८); पृथुज्रयी असुर्यैव (ऋ० १, १६८, ७)। तृतीयान्त रूपों के पदान्तीय ई के प्रकृतिभाव के निम्नलिखित उदाहरण मिलते हैं— ऊती अनूती (ऋ ६, २९,६); सुशमी अभूवन् (ऋ० १०,२८,१२)[१९क]। इन रूपों का अन्तिम स्वर प्रगृह्य नहीं माना जाता है। इस लिये पदपाठ में इन के आगे इति नहीं जोड़ा जाता है। तै० प्रा० ने ऐसे शब्दों का विशेष उल्लेख किया है जिन का पदान्तीय ई संहिता में स्वर से पूर्व प्रकृतिभाव से रहता है, परन्तु प्रगृह्यसंज्ञक नहीं है[१९ख]; यथा—श्येतेने श्येती अकुरुत (तै० सं० ५, ५,८,१); न मिथुनी अभवन् (तै० सं० ५,३,६,२)।

८. छान्दसदीर्घ (सामवश) सन्धि

४६. (क) पदान्तीय स्वर पदादि व्यञ्जन से पूर्व साधारणतया अविकृत रहता है, परन्तु संहिताओं में कहीं कहीं पदादि व्यञ्जन से पूर्व दीर्घ बन जाता है। ऋ० प्रा० (७,१) में इस प्रकार के दीर्घत्व को सामवशसन्धि की संज्ञा दी गई है। इस सम्बन्ध में यह तथ्य विशेषतया उल्लेखनीय है कि सामवशसन्धि साधारणतया सर्वत्र नहीं होती है और यह दीर्घत्व प्रायेण इस बात पर निर्भर है कि लघु और गुरु की दृष्टि से पदान्तीय ह्रस्व स्वर की क्या स्थिति है। यह देखा गया है कि पदान्तीय ह्रस्व स्वर गुरु अक्षर वाले व्यञ्जन से पूर्व प्रायेण अविकृत रहता है और लघु अक्षर वाले व्यञ्जन से पूर्व संहिताओं में कहीं कहीं दीर्घ बनता है। उदाहरणार्थ— अध, तु, सु, का पदान्तीय ह्रस्व स्वर लघु व्यञ्जन से पूर्व कहीं कहीं दीर्घ हो जाता है और गुरु अक्षर वाले व्यञ्जन से पूर्व अविकृत रहता है। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि सामवशसन्धि का दीर्घत्व वैदिक-भाषा की एक प्राचीन छान्दस प्रवृत्ति पर आश्रित है। उस प्राचीन प्रवृत्ति के अनुसार, दो लघु अक्षरों के बीच आने वाले उस पदान्तीय ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर दिया जाता था जो कहीं अन्यत्र भी दीर्घ बन सकता था; और छान्दस औचित्य की दृष्टि से पाद में जहां गुरु अक्षर की आवश्यकता होती थी वहां उस आवश्यकता की पूर्ति के लिये प्रकृत दीर्घत्व किया जाता

था[४०]। यह दीर्घत्व मुख्यतया छन्दः की आवश्यकता पर आश्रित है, इस लिये हम इसे छान्दसदीर्घसन्धि भी कह सकते हैं। पदपाठ में अन्य सन्धि-विकारों की भाँति सामवशसन्धि के दीर्घत्व को दूर करके पद का शुद्ध पदान्तीय ह्रस्व स्वर ही दिखलाया जाता है। प्रातिशाख्यों ने सामवश-सन्धि के दीर्घत्व का विशद तथा विस्तृत वर्णन किया है[४०क]। परन्तु पाणिनि ने इस दीर्घत्व के सम्बन्ध में केवल पांच सूत्र (६,३,१३३-३७) बनाए हैं और अन्तिम सूत्र (६, ३, १३७ अन्येषामपि दृश्यते) में एक व्यापक नियम का विधान किया है, जिस के द्वारा सायण ने अपने वेदभाष्यों में अनेक प्रकार के दीर्घत्व का समाधान किया है।

(ख) छान्दस दीर्घत्व प्रायेण निम्नलिखित अवस्थाओं में होता है—

(१) पदान्तीय अ इ उ प्रायेण असंयुक्त पदादि व्यञ्जन से पूर्व दीर्घ बनते हैं; यथा— अ॒धा चि॒न्नू चि॑त् (=अ॒ध+चि॒त्+नु+चि॒त् ऋ० ६, ३०, ३)।

(२) कहीं कहीं ये पदान्तीय स्वर ऐसे व्यञ्जन से पूर्व भी दीर्घ बन जाते हैं जिस से परे य् अथवा व् आए; यथा—अ॒धा ह्य॑ग्ने (=अध॑+हि+अ॒ग्ने ऋ० ४, १०,२); अ॒भी ष्व॑१॒र्यः (=अ॒भि+सु + अ॒र्यः ऋ० १०, ५९, ३)। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ऐसी अवस्था में य् व् का उच्चारण क्रमशः इ उ करना चाहिए[४०ख]।

(३) कहीं कहीं संयुक्त व्यञ्जन तथा स्वर से पूर्व भी छान्दस दीर्घत्व हो जाता है; यथा—शिक्षा॑ स्तो॒तृभ्यः॑ (=शिक्ष॑+स्तो॒तृभ्यः॑ ऋ० २,११,२१); ए॒वाँ अ॒ग्निम् (=ए॒व+अ॒ग्निम् ऋ० ५,६,१०;५,२५,९)।

(४) आठ अक्षरों के पाद में प्रायेण षष्ठ अक्षर पर और ग्यारह तथा बारह अक्षरों के पादों में कहीं अष्टम और कहीं दशम अक्षर पर छान्दस दीर्घत्व होता है[४०ग]; यथा—ईशा॑नो यवया व॒धम् (ऋ० १,५,१०); ता॒दी॒त्ना॒ शत्रुं॒ न किला॑ विवित्से (ऋ० १,३२,४); अग्ने॑ स॒ख्ये मा रि॑षामा व॒यं तव॑ (ऋ० १,९४,१)।

(५) अवसान में और पाद के अन्त में यह छान्दस दीर्घत्व नहीं होता है। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इस नियम का अपवाद केवल वहां पर

मिलता है जहां संहिताकारों ने छन्दः शुद्धि का ध्यान न रखते हुए पादों का अशुद्ध विभाजन किया है, या अन्यत्र प्रयुक्त होने वाले मन्त्रभाग की अक्षरशः आवृत्ति की है[७०घ]; यथा—ऋ० १,२५,१९ के "श्रुधी / हवम्" में पदान्तीय इ का दीर्घत्व अन्यत्र (ऋ० २,११,१ इत्यादि) मिलने वाले दीर्घत्व का अनुकरण करके किया गया है।

(ग) निम्नलिखित प्रकार के शब्दों के पदान्तीय ह्रस्व स्वर को उपर्युक्त अवस्थाओं में छान्दस दीर्घत्व होता है—

(१) निम्नलिखित निपातों के पदान्तीय स्वर को संहिता में छान्दस दीर्घत्व हो जाता है—**अच्छ, अति, अथ, अध, अध, अव, उत, एव, किल, घ, न, म, स्म, ह, इव, इह, च, अत्र, उभयत्र, कुत्र, तत्र, यत्र, अधि, अभि, वि, नहि, परि, यदि, हि, उ, अनु, तु, नु, मक्षु, मिथु, सु।**

(२) तृतीया एकवचन के रूपों के पदान्तीय अ को छान्दस दीर्घत्व होता है; यथा—**ऋतेना, वीर्येणा, एना, तेना, येना।** कहीं कहीं षष्ठी एकवचन के पदान्तीय अ का दीर्घत्व मिलता है; यथा—**अस्या, हरिणस्या।** सम्बोधन के पदान्तीय अ के दीर्घत्व के केवल दो उदाहरण ऋ० में मिलते हैं—**वृषभा** (ऋ० ८,४५,३८); **हारियोजना** (ऋ० १,६१,१६)।

(३) लोट् मध्यम पुरुष के रूपों के पदान्तीय अ तथा इ का संहिता में अनेक स्थलों पर दीर्घत्व हो जाता है; यथा—**पिबा, युक्ष्वा, मन्दस्वा, जुहोता, यजा, भरा, भवा, तिष्ठा, रक्षा, कर्तना, शृणुता, नयथा, हन्तना, कृधी, कृणुही, श्रुधी, शृणुधी, शृणुही, जुही, विद्धी।**

(४) परस्मैपद उत्तमपुरुष बहुवचन के जिन रूपों के अन्त में म आता है उनके पदान्तीय अ को दीर्घत्व हो जाता है; यथा—विद्मा, चकृमा, रिषामा, रुहेमा। परस्मैपद के अन्य तिङन्त रूपों के पदान्तीय अ को भी छान्दस दीर्घत्व होता है; यथा— वेदा, वेत्था।

(५) परस्मैपद में लिट् के तीनों पुरुषों के एकवचनान्त और मध्यमपुरुष बहुवचनान्त रूपों के पदान्तीय अ को छान्दस दीर्घत्व हो जाता है; यथा—बिभया, विवेदा, जग्रभा, अनजा, चक्र।

(६) कतिपय ल्यबन्त रूपों के पदान्तीय अ को छान्दस दीर्घत्व होता है; यथा— अभिगूर्या, आच्या, अल्खलीकृत्या।

(७) ऋ० प्रा० के अनुसार पुरू, सिमा, ब्रह्मा, धन्वा, जनिमा, रोमा, स्वाद्मा और भूमा के पदान्तीय स्वर को छान्दस दीर्घत्व हुआ है और पदपाठ में इनका ह्रस्व रूप दिया गया है। परन्तु पाणिनि (६,१,७०) तथा वा० प्रा० (३,१८) के अनुसार, कम से कम जनिमा, रोमा आदि कुछ रूपों में नामिक प्रत्ययरूप आनि के नि का लोप माना जा सकता है।

(८) ऋ० २,२६,४ के तिङन्त रूप रक्षती में इ का छान्दस दीर्घ माना जाता है[४०ङ]।

व्यञ्जन-सन्धि

४७. पदान्तीय व्यञ्जन और पदादि स्वर या व्यञ्जन के मध्य होने वाली सन्धि के लिए व्यञ्जन-सन्धि संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। इस सन्धि के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वैदिक पदों के अन्त में कौन-कौन से व्यञ्जन मिलते हैं और पदादि में कौन-कौन से स्वर तथा व्यञ्जन आ सकते हैं। पदान्तीय तथा पदादि वर्णों का परिचय पहले ही दिया जा चुका है (दे० अनु० ३४-३५)। व्यञ्जन-सन्धि के नियमों को समझने के लिए यह याद रखना चाहिए कि पदान्तीय व्यञ्जनों में क् ट् त् प् तथा विसर्जनीय अघोष हैं, और ङ न् म् घोष हैं। पदान्त में चवर्ग का कवर्ग, रेफ का विसर्जनीय, सकार का रेफ बन कर विसर्जनीय, शकार तथा हकार का मूलप्रकृति के अनुसार क् या ट् (दे० अनु० २५), और ष् का ट् बन जाता है। वैदिक पदों के आदि में आ कर पदान्तीय व्यञ्जनों के साथ सन्धि में मिलने वाले मुख्य वर्ण निम्नलिखित हैं— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ, क्, ख्, ग्, घ्, च्, छ्, ज्, त्, द्, ध्, न्, प्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, श्, ष्, स्, ह्। व्यञ्जन-सन्धि के विकारों की प्रमुख विशेपता यह है कि परवर्ती पदादि वर्ण के स्थान तथा प्रयत्न के प्रभाव से पदान्तीय व्यञ्जन के स्थान (position) तथा / अथवा प्रयत्न (quality) में परिवर्तन

हो जाता है। पदान्तीय क्, ट्, प् में मुख्यतया प्रयत्न (quality) का परिवर्तन होता है; पदान्तीय न् म् में केवल स्थान (position) का परिवर्तन होता है; और त् तथा विसर्जनीय में दोनों प्रकार के परिवर्तन होते हैं। इसी प्रकार शेष सन्धि-विकारों का व्याख्यान किया जा सकता है। हम साधारणतया पदान्तीय वर्णों के क्रम से व्यञ्जन-सन्धि का वर्णन करेंगे और इनके साथ-साथ यथास्थान पदादि वर्ण ह्, श्, स् के महत्त्वपूर्ण सन्धिज विकारों पर भी विचार किया जाएगा।

१. पदान्तीय क् ट् त् प्

४८ क. (१) पदान्तीय क् ट् त् प् से परे स्वर आने पर ये अपने वर्ग के घोष स्पर्श (तृतीय वर्ण) में परिणत हो जाते हैं[५१]; यथा— अ॒र्वाक्+आ=अ॒र्वागा (ऋ० ४,२२,१५), पदान्त में अ॒र्वाच् के च् का क् बन गया है; ह॒व्य॒वाट्+अ॒ग्निः=ह॒व्य॒वाळ॒ग्निः (ऋ० ५,४,२), ड के ळ बनने के सम्बन्ध में देखिये प्रथम अध्याय टि० ३; यत्+अ॒ङ्ग=यद॒ङ्ग (ऋ० १,१,६); त्रि॒ष्टुप्+इ॒ह=त्रि॒ष्टुबि॒ह (ऋ० १०, १३०, ५)।

(२) इसी प्रकार पदादि घोष से पूर्व भी पदान्तीय क् ट् त् प् अपने वर्ग के घोष स्पर्श में बदल जाते हैं[५१क]; यथा— अ॒र्वाक्+राधः=अ॒र्वाग्राधः (ऋ० १, ९,५); ह॒व्य॒वाट्+जु॒ह्वास्यः=ह॒व्य॒वाड् जु॒ह्वास्यः (ऋ० १, १२, ६); गम॑त्+वाजे॑भिः=गम॒द्वाजे॑भिः (ऋ० १,५, ३); त्रि॒ष्टुप्+गा॒य॒त्री=त्रि॒ष्टुब् गा॑य॒त्री (ऋ० १०, १४,१६)। पदान्तीय वर्णों के नियमानुसार, त्रि॒ष्टुभ् के भ् का प् बन गया (दे० अनु० ३४)।

(३) पदादि अनुनासिक स्पर्श से पूर्व पदान्तीय क् ट् त् प् अपने वर्ग के अनुनासिक स्पर्श में बदल जाते हैं[५२]; यथा— अ॒र्वाक्+न॒रा=अ॒र्वाङ् न॑रा (ऋ० ९, ८२, ८); षट्+म॒हान्=षण्म॒हान् (ऋ० ८, १०१, ११); तत्+नः=तन्नः (ऋ० १, १०९, ८); त्रि॒क॒कुप्+नि॒वर्त॑त्=त्रि॒क॒कुम्नि॒वर्त॑त् (ऋ० १, १२१, ४)।

(४) पदान्तीय क् ट् प् पदादि क् ख् च् छ् त् प् फ् श् ष् स् से पूर्व साधारणतया अविकृत रहते हैं। परन्तु सं० सं० के कुछ उदाहरणों में

पदान्तीय क् पदादि त् द् से पूर्व क्रमशः त् द् में बदल जाता है; यथा—सम्यक् + ते = सम्यत्ते (तै० सं० १, २, ७, १); असृक् + द्वाभ्याम् = असृद् द्वाभ्याम् (तै० सं० ७, ४, ९, १)। तै० प्रा० में इस सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है। यह भी सम्भव है कि परम्परा-भेद या उच्चारण-भेद के कारण पदान्त में प् क् वाले—ककुप्, असृक्, सम्यक्—इत्यादि कुछ शब्दों का अन्य रूप भी माना जाता था जिस के पदान्त में त् का उच्चारण किया जाता था[४२क]। इसी प्रकार तै० सं० में पदान्तीय प् वाले त्रिष्टुप् तथा अनुष्टुप् के प् के स्थान पर कहीं कहीं पदान्तीय क् मिलता है (या प् का क् हो जाता है); यथा— तै० सं० ५, २, ११, १; ४, ३, २; ४, १२, १।

२. पदादि ह्

४८. (ख) पदादि हकार से पूर्व आने वाले पदान्तीय क् ट् त् प् उपर्युक्त नियम (अनु० ४८ क) के अनुसार अपने वर्ग के तृतीय वर्ण में बदल जाते हैं और पदादि हकार पूर्ववर्ती पदान्तीय वर्ण के वर्ग का चतुर्थ वर्ण बन जाता है[४३]; यथा—मद्र्यक् + हुवानः = मद्र्यग् घुवानः (ऋ० ३, ४१, १); अवाट् + हव्यानि = अवाड्ढव्यानि (ऋ० १०, १५, १२); यत् + हरः = यद्धरः (अ० १८, २, ३६)। कतिपय आचार्यों के मतानुसार, हकारसम्बन्धी विकार विकल्प से होता है; अन्य आचार्य यह मानते हैं कि ऐसा हकार सर्वथा अविकृत रहता है; और एक मत यह भी है कि पूर्ववर्ती पदान्तीय स्पर्श और हकार के मध्य उसी स्पर्श के वर्ग के चतुर्थ वर्ण का आगम हो जाता है[४४]।

३. पदान्तीय त्

४९. उपर्युक्त प्रयत्न-सम्बन्धी विकारों के अतिरिक्त पदान्तीय त् को निम्नलिखित सन्धियों में कहीं स्थान-सम्बन्धी और कहीं दोनों प्रकार के विकार होते हैं।

(क) पदादि ल् से पूर्व पदान्तीय त् का ल् बन जाता है[४५]; यथा— अङ्गात् ऽअङ्गात् + लोम्नःऽलोम्नः = अङ्गादङ्गाल्लोम्नोलोम्नः (ऋ० १०, १६३, ६); यत् + लोहितम् = यल्लोहितम् (तै० सं० २, १, ७, २)।

(ख) पदादि च् छ् श् से पूर्व पदान्तीय त् का च् और पदादि ज् से पूर्व ज् बन जाता है[७६]; यथा— तत् + चक्षुः = तच्चक्षुः (ऋ० ७,६६,१६); यत् + छर्दिः = यच्छर्दिः (ऋ० ८,६७,६); तत् + शकेयम् = तच्छकेयम् (वा० सं० १,५); यत् + जिगासि = यज्जिगासि (ऋ० १०,७३,३)। मै० सं० और मानवश्रौतसूत्र में पदादि श् से पूर्व पदान्तीय त् का ञ् बन जाता है; यथा—तत् + शकेयम् = तञ्शकेयम् (मै० सं० १,४,१; मा० श्रौ० सू० १,७,२,२४)।

(ग) यद्यपि अ० प्रा० ने यह विधान किया है कि टवर्ग से पूर्व त् का ट् बन जाता है[७७], परन्तु संहिताओं में किसी भी पद के आदि में टवर्ग का कोई वर्ण नहीं मिलता है।

४. पदादि श्

५०. यदि पदान्तीय त् और न् से परे पदादि श् हो, तब त् और न् का क्रमशः च् और ञ् बन जाता है और श् का छ् बन जाता है[७८]; यथा—तत्+शकेयम्= तच्छकेयम् (वा० सं० १,५); वज्रिन् + श्नथिहि=वज्रिञ्छ्नथिहि (ऋ० १, ६३,५); आदित्यान् +श्मश्रुभिः = आदित्याञ्छ्मश्रुभिः (तै० सं० ५,७, १२,१) । परन्तु श् के छ् विकार के सम्बन्ध में अनेक मतभेद तथा प्रयोग-भेद मिलते हैं। मै० सं० तथा मा० श्रौ० सू० में पदान्तीय त् तथा न् से परे श् का छ् नहीं बनता है; यथा— आदित्यान् + श्मश्रुभिः = आदित्याञ् श्मश्रुभिः (मै० सं० ३,१५,१); पदान्तीय त् का उदाहरण दे० अनु० ४६ (ख) में। वा० सं० में कहीं पर श् का छ् बन जाता है और कहीं श् अविकृत रहता है; यथा—पिशङ्गान् + शिशिराय =पिशङ्गा-ञ्छिशिराय (वा० सं० २४,११); आदित्यान् + श्मश्रुभिः = आदित्याँ श्मश्रुभिः (वा० सं० २५,१; वा० प्रा० ४,९६-९७ पर भाष्य में उवट ने अपने उदाहरणों में आदित्याञ् श्मश्रुभिः पाठ दिया है)। वा० प्रा० (४,९७ टि० ४६) ने इस प्रयोगभेद का यह समाधान किया है कि जिस श् से परे स्पर्श से भिन्न वर्ण हो वह तवर्ग से परे छ् में परिणत हो जाता है और अन्य नहीं। शाकल्य के पिता का मत है कि सभी स्पर्शों से परे श् का छ् हो जाता है; शाकल्य के मतानुसार श्

को कहीं भी छ् नहीं बनता है; तै॰ प्रा॰ का मत है कि मकार को छोड़ कर किसी भी पदान्तीय स्पर्श से परे आने वाले पदादि श् का छ् बन जाता है; परन्तु वाल्मीकि के मतानुसार पदान्तीय प् से परे आने वाले श् का छ् नहीं बनता है; और पौष्करसादि का कथन है कि जिस पदादि श् से परे व्यञ्जन हो उससे पूर्व पदान्तीय न् आने पर, पदान्तीय न् का ञ् और श् का छ् नहीं बनता है अर्थात् दोनों अविकृत रहते हैं[९]। पदान्तीय त् न् के अतिरिक्त, ट् प् से परे आने वाले पदादि श् का छ् बनने के उदाहरण भी संहिताओं में मिलते हैं और इसी प्रकार पदादि श् से परे व्यञ्जन होने पर भी पूर्ववर्ती स्पर्श के निमित्त से श् का छ् बनने के उदाहरण उपलब्ध होते हैं; यथा—विपाट् + शुतुद्री=विपाट् छुतुद्री (ऋ॰ ३, ३३, १); तुराषाट् + शुष्मी= तुराषाट्छुष्मी (ऋ॰ ५, ४०, ४); आनट् + शुचिं= आनट्छुचिं (तै॰ सं॰ १, ३, १४,६); अनुष्टुप् + शारदी = अनुष्टुप्छारदी (तै॰ सं॰ ४, ३,२,२); परन्तु वा॰ सं (१३,५७) में 'अनुष्टुप्शारदी' प्रयोग मिलता है; देवान् + श्लोकः = देवाञ्छ्लोकः (ऋ॰ १०, १२, ५)। शां॰ श्रौ॰ सू॰ के ऋक्छः पद में क् से परे श् का छ् बनने का उदाहरण मिलता है, जब कि ऐ॰ ब्रा॰, गो॰ गृ॰ सू॰ इत्यादि ग्रन्थों में ऋक्शः रूप मिलता है। पाणिनि के मतानुसार, वर्गों के पञ्चम वर्णों को छोड़ कर अन्य किसी भी स्पर्श से परे आने वाले श् का विकल्प से छ् बनता है यदि उस से परे कोई स्वर या ह् य् व् र् में से कोई वर्ण आए; और वार्तिक के अनुसार श् से परे ल् या वर्गों के पञ्चम वर्ण के परे होने पर भी श् का वैकल्पिक छ् बन जाता है[१०]। उपर्युक्त विकल्पों के फलस्वरूप संस्कृत-ग्रन्थों की प्राचीन पाण्डुलिपियों में अनेक पाठभेद मिलते हैं। श् और छ् के ध्वन्यात्मक सम्बन्ध के विषय में दे॰ अनु॰ २५।

५. पदान्तीय ङ्

५१. (क) ह्रस्व स्वर के पश्चात् आने वाले पदान्तीय ङ् से परे पदादि स्वर आने पर ङ् का द्वित्व हो जाता है[११]; यथा— क्रीळन् + इन्द्रः =क्रीळङ्ङि-न्द्रः (ऋ॰ १०, १०८, २)।

(ख) पदान्तीय ङ् से परे स् श् ष् आने पर, ङ् के पश्चात् क् का आगम होता

है[५२]; यथा— प्राङ्+सोमः =प्राङ्क्सोमः (वा० सं० १९, ४)। उवट ने ऋ० प्रा० (४, १६) के भाष्य में इस सन्धि के निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं— अर्वाङ्क् छंश्वत्तमम् (ऋ० ३,३५,६); प्रत्यङ्क् स विश्वा (ऋ० ९, ८०, ३)। परन्तु ऋ० की मुद्रित संहिताओं में ङ् के पश्चात् क् के आगम का उदाहरण नहीं मिलता है, क्योंकि ऋ० प्रा० ने इस प्रकार के आगम को केवल कतिपय आचार्यों का मत माना है और दाल्भ्य आचार्य इस आगम का समर्थन नहीं करते हैं[५३]। इसी प्रकार तै० प्रा० के भाष्यकारों ने क् के आगम के निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं— सुदृङ्क् संमानैः (तै० सं० २, २, ८, ६); प्रत्यङ्क् पंडुहः (तै० सं० ७,४,२, ५)। परन्तु मुद्रितसंहिता में यह आगम नहीं दिखलाया गया है। अ० की मुद्रितसंहिता में भी क् के आगम का कोई उदाहरण नहीं मिला है।

६. पदान्तीय न्

५२. (क) ह्रस्व स्वर के पश्चात् आने वाले पदान्तीय न् से परे पदादि स्वर आने पर न् का द्वित्व हो जाता है[५४]; यथा— अहंन्+ अहिंम्= अहुन्नहिंम् (ऋ० ३,३२,११)।

(ख) आ के पश्चात् आने वाले पदान्तीय न् से परे समानपाद में पदादि स्वर आने पर न् का प्रायेण लोप हो जाता है और उपधा का आ अनुनासिक बन जाता है[५५]; यथा—सर्गान्+इव=सर्गाँ इव (ऋ० ८,३५, २०); जुघनान्+उपं=जुघनाँ उपं (तै० सं० ४,६,६,५); मुहान्+इन्द्रः=मुहाँ इन्द्रः (ऋ० ६,१९,१)। परन्तु -आन् से परे आने वाला पदादि स्वर यदि समानपाद में नहीं है, तो न् में कोई विकार नहीं होता है; यथा— तयेह विश्वाँ अवसे यजंत्राना (यजंत्रान् / आ) सांदय (ऋ० ३,५७,५)। इन नियमों के अनेक अपवाद मिलते हैं। ऋ० में कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें समानपाद में भी स्वर से पूर्व ऐसा पदान्तीय न् अविकृत रहता है[५६]; यथा— पुत्रान् आ (ऋ० १०,८५,४५); और कहीं-कहीं पाद के अन्त में आने वाला पदान्तीय न् अन्य पाद के आदि में आने वाले स्वर के निमित्त से भी इस सन्धि-विकार को प्राप्त होता है[५६क]।

मै० सं०, जै० सं० और कपि० सं० में कहीं-कहीं पदान्तीय न् की उपधा के आ का ह्रस्व बन कर उसका अनुनासिक हो जाता है; यथा—अ॒स्मान्+ अ॒श्नो॒तु = अ॒स्मँ अंश्नोतु (मै० सं० १,५,४); अ॒स्मान् + अर्व= अ॒स्मँ अर्व (मै० सं० ४,१२,४)। संहिताओं के अनेक उदाहरणों में आ के पश्चात् आने वाला पदान्तीय न् स्वर से पूर्व अविकृत रहता है[५६ख]; यथा— शि॒शु॒मारा॑न् + आल॑भते= शि॒शु॒मारा॒नाल॑भते (वा० सं० २४,२२); भ॒क्षान् + आ॒प्नो॒ति = भ॒क्षाना॑प्नोति (वा० सं० १९,२९); सु॒यमा॑न् + ऊ॒तये॑ = सु॒यमा॑नू॒तये॑ (तै० सं० ४,७, १५,४); तान्+ अ॒स्मिन्= तान॒स्मिन् (अ० ४,४,८); तान्+ आ॒द्या॑न् + अ॒कु॒त= ताना॒द्या॑नकृत (मै० सं० १,५,११); स॒पत्ना॑न् + इन्द्रः = स॒पत्ना॒निन्द्रः (मै० सं० १,१,१३)। पदान्तीय न् को स्वरों से पूर्व अविकृत रखने की प्रवृत्ति उत्तरकालीन वैदिक वाङ्मय में निरन्तर बढ़ती गई और लौकिक भाषा में यह प्रवृत्ति पूर्ण विकास को प्राप्त हुई। इसके फलस्वरूप स्वर से पूर्व आने वाला ऐसा पदान्तीय न् लौकिक संस्कृत में सर्वत्र अविकृत रहता है।

(ग) ई, ऊ तथा ऋ के पश्चात् आने वाले पदान्तीय न् से परे **समानपाद** में स्वर आने पर न् का र् और उपधा के दीर्घ स्वर का अनुनासिक बन जाता है[५७]; यथा— प॒रि॒धीन् + अति॑ = प॒रि॒धीँ॑रति॑ (ऋ० ६,१०७, १९); अ॒भीशू॑न् + इ॒व = अ॒भीशूँ॑रिव (ऋ० ६,५७,६); नॄन् + अ॒भि= नॄँर॒भि (ऋ० ५,५४,१५); ऋ के पश्चात् न् का र् बनने का केवल यही उदाहरण मिलता है। ऋ० प्रा० (४,७२) में इन्हें स्पर्शरेफसन्धि कहते हैं। कहीं-कहीं पाद के अन्त में आने वाला पदान्तीय न् अन्य पाद के पदादि स्वर से पूर्व र् में परिणत हो जाता है और उपधा का ई ऊ अनुनासिक बन जाता है; यथा—दस्यून्+एकः=दस्यूँरेकः (ऋ० ६,१८,३)। परन्तु पाद के अन्त में आने वाले -ईन्, -ऊन् का पदान्तीय न् स्वर से पूर्व प्रायेण अविकृत रहता है। उपर्युक्त एकमात्र उदाहरण से अन्यत्र ऋ के पश्चात् आने वाला पदान्तीय न् स्वर से पूर्व अविकृत रहता है। और पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार, इस अविकार का कारण यह है कि एक ही अक्षर (Syllable) में दो रेफों को सहन नहीं किया जाता था[५७क]।

द्वितीयोऽध्यायः

(घ) आ के पश्चात् आने वाले पदान्तीय न् से परे पदादि ह् य् व् र् आने पर ऐसा न् प्रायेण अविकृत रहता है, परन्तु कतिपय उदाहरणों में न् का लोप होकर उपधा के आ का अनुनासिक बन जाता है[५८]; यथा— दुध्रन्वान् + यः = दुध्रन्वाँ यः (ऋ० ९, १०७, १); परन्तु वा० सं० १९,२ में "दुध्रन्वा यः" पाठ मिलता है; दद्वान् वा = दद्वाँ वा (ऋ० १०, १३२, ३); वृक्षान् + वनानि = वृक्षाँ वनानि (अ० ६,४५, १); पीवोअन्नान् + रयिवृधः = पीवोअन्नाँ रयिवृधः (ऋ० ७, ९१, ३); परन्तु, वा० सं० २७, २३ में— "पीवोअन्ना रयिवृधः" पाठ मिलता है (दे० टि० ५८)। और मै० सं० ४, १४,२ का पाठ "पीवो-अन्नँ रयिवृधः" है।

(ङ) ई ऊ के पश्चात् आने वाले पदान्तीय न् से परे पदादि ह् य् व् आने पर न् का र् हो जाता है और उपधा के स्वर का अनुनासिक बन जाता है[५९]; यथा— पणीन् + हतम् = पणीँर्हतम् (ऋ० १,१८४,२); दस्यून् + योनौ = दस्यूँर्योनौ (ऋ० १, ६३, ४); पणीन् + वर्चोभिः = पणीँर्व-र्चोभिः (ऋ० ६, ३९, २)।

(च) पदान्तीय न् से परे पदादि ल् आने पर, न् का लँ् अर्थात् अनुनासिक ल् बन जाता है[६०]; यथा— जिगीवान् + लक्षम् = जिगीवाल्ँलक्षम् (ऋ० २, १२, ४); त्रीन् + लोकान् = त्रीलँ्लोकान् (वा० सं० ६, ३१)। ये दोनों उदाहरण ऋ० प्रा० तथा वा० प्रा० के उवटभाष्य के अनुसार दिये गये हैं। परन्तु मुद्रित संहिताओं में इस नियम का बहुत कम पालन किया गया है। संहिताओं के अनेक उदाहरणों में पदादि ल् से पूर्व पदान्तीय न् अविकृत मिलता है; और कहीं कहीं न् का लोप हो कर उपधा के स्वर का अनुनासिक रूप मिलता है। तै० प्रा० में उद्धृत आत्रेय के मतानुसार, पदादि ल् से पूर्व पदान्तीय न् का ल् हो जाता है और उपधा के स्वर का अनुनासिक बन जाता है[६१]; यथा— त्रीन् + लोकान् = त्रीँल्लोकान् (तै० सं० १, ७, ११, १)। यद्यपि तै० प्रा० के भाष्य में यह उदाहरण दिया गया है, तथापि तै० सं० के मुद्रित संस्करण में

इस उदाहरण का न् अविकृत मिलता है। तै० सं० के अधिकतर उदाहरणों में ऐसा न् अविकृत मिलता है।

(च) पदादि श् च् छ् ज् से पूर्व आने वाले पदान्तीय न् का ञ् बनता है[११], और पदादि श् का छ् हो जाता है (दे० अनु० ५०); यथा— वृज्रिन् + इनथिहि = वृज्रिञ्छ्नथिहि (ऋ० १, ६३, ५); ऊर्ध्वान् + चरथाय = ऊर्ध्वाञ्चरथाय (ऋ० १, ३६, १४); तान् + छन्दोभिः = ताञ्छन्दोभिः (तै० सं० १, ५, ९, ७); तान् + जुषेथाम् = ताञ्जुषेथाम् (ऋ० ५, ५१, ६)।

जो पदान्तीय न् (पुं० की प्रथमा के ए० और द्वितीया के ब० में) मूलतः न्स् का प्रतिनिधित्व करता है, उस से परे पदादि च् आने पर न् का श् बन जाता है और उपधा के स्वर का अनुनासिक हो जाता है[१२]। ऋ० में च तथा चित् से पूर्व प्रायेण यह सन्धि-विकार होता है; यथा— अनुयाजान् + च = अनुयाजाँश्च (ऋ० १०, ५१,८); तान् + चित् = ताँश्चित् (ऋ० १०,१५४,१); अमेनान् + चित् = अमेनाँश्चित् (ऋ० ५,३१,२)। इस नियम के कुछ अपवाद भी मिलते हैं[१४]; यथा— अस्माञ्च (ऋ० २,१,१६); चमसाञ्चतुरः (ऋ० १,१६१४); पुशूञ्च स्थातॄञ्चरथं च पाहि (ऋ० १,७२,६); अनड्वाञ्च (तै० सं० ४,७,१०,२)। कुछ उदाहरणों में पदान्तीय न् की उपधा के स्वर का अनुनासिक नहीं बनता और न् का अनुस्वार बन जाता है[१५]; और विशेषतया यजुर्वेद की संहिताओं में अनुनासिक तथा अनुस्वार के विषय में विशेष व्यवस्था नहीं दीख पड़ती है।

विशेष— मै० सं० में अनेक स्थलों पर पदादि ज् से पूर्व आने वाला पदान्तीय न् अविकृत रहता है; यथा— देवान् जिगाति (मै० सं० १, ६,१); देवान् जनम् (मै० सं० १,४,४)। तै० सं० के कुछ उदाहरणों में पदादि च् से पूर्व आने वाला पदान्तीय न् भी अविकृत मिलता है (दे० टि० ६४); यथा— आयन् चतस्रः (तै० सं० ५,२,३,४); आभून्वन् चरणां (तै० सं० ५,५,१,५); वारुणान् चतुष्कपालान् (तै० सं० २,

३,१२,१)। स्वाध्याय-मण्डल पारडी द्वारा प्रकाशित मै० सं० तथा तै० सं० में न् के अविकार के उपर्युक्त उदाहरण मिलते है। परन्तु सम्भव है कि कतिपय पाण्डुलिपियों में इन से भिन्न पाठ भी मिल सके।

(ज) संहिताओं में कहीं-कहीं पदादि त् से पूर्व आने वाले पदान्तीय न् का स् बन जाता है और उपधा का स्वर अनुनासिक हो जाता है[६६]; यथा— आ॒वर्द॑न् + त्वम् = आ॒वर्दँ॒स्त्वम् (ऋ० २,४३, ३); अ॒न्यान् + ते॒ = अ॒न्याँस्ते॑ (वा० सं० १७,१६); तान् + ते॒ = ताँस्ते॑ (ऋ० ६,६१,५)। कहीं-कहीं उपधा के स्वर का अनुनासिक नहीं होता और न् का अनुस्वार बन जाता है (दे० टि० ६५)।

ऋ०प्रा० (टि० ६६ख) में परिगणित पाँच रूपों से अन्यत्र आने वाला पदान्तीय न् पदादि त् से पूर्व ऋ० में अविकृत रहता है[६७]; यथा— त्वावा॒न् त्मना॑ (ऋ० १,३०,१४)। तै० सं० के केवल ३१ उदाहरणों में पदादि त् से पूर्व आने वाले पदान्तीय न् का स् बनता है और शेष लगभग ३०० उदाहरणों में ऐसा न् अविकृत रहता है। वा० प्रा० ने कुछ शब्दों की परिगणना की है जिनका पदान्तीय न् पदादि त् से पूर्व वा० सं० में अविकृत रहता है[६७क]। अ० प्रा० ने भी ऐसे शब्दों के गण का उल्लेख किया है जिनका पदान्तीय न् पदादि त् से पूर्व अविकृत रहता है[६७ख]। संहिताओं में मिलने वाले उदाहरणों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि अधिकतर पुँल्लिङ्ग की प्रथमा के एकवचन और द्वितीया के बहुवचन (तान् आदि) का पदान्तीय न् पदादि त् से पूर्व स् बनता है; और लङ् प्र० पु० ब० (अभ॑वन् आदि) तथा नकारान्त पदों की सप्तमी और सम्बोधन एकवचन (राजन् आदि) का पदान्तीय न् त् से पूर्व प्रायेण अविकृत रहता है। यह माना जाता है कि व्युत्पत्ति के विचार से तान् इत्यादि रूपों का पदान्तीय वर्ण मूलतः स् था (यथा— तान्स्), जब कि अभ॑वन् इत्यादि रूपों का पदान्तीय वर्ण मूलतः त् रहा होगा (यथा— अभ॑वन्त्)।

उत्तरकालीन संस्कृतवाङ्मय में पदादि त् से पूर्व पदान्तीय न् का स् बनाने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई और सम्बोधन

आदि के पदान्तीय न् को भी यही सन्धि-विकार होने लगा; यथा— चक्रिँश्चायस्व[१७ग]।

(क्ष) पदादि प् से पूर्व आने वाले पदान्तीय न् की सन्धि के सम्बन्ध में अनेक मत मिलते हैं। ऋ० प्रा० के अनुसार, निम्नलिखित उदाहरणों में पदादि प् से पूर्व आने वाले पदान्तीय न् का विसर्जनीय बन जाता है और पूर्ववर्ती स्वर का अनुनासिक हो जाता है[६८]; यथा— नॄन् + पतिभ्यः = नॄँः पतिभ्यः (ऋ० प्रा० पृ० १५७; तै० ब्रा० ३,६,२; का० सं० १५,१३); नॄन् + प्रणेत्रम् = नॄँः प्रणेत्रम् (ऋ० प्रा० पृ० १५७; तै० ब्रा० ३,६,२); नॄन् + पात्रम् = नॄँः पात्रम् (ऋ० १, १२१, १); नॄन् + पाहि = नॄँः पाहि (ऋ० ८, ८४,३); स्वतवान् + पायुः = स्वतवाँः पायुः (ऋ० ४, २, ६)। उपर्युक्त उदाहरणों से अन्यत्र ऋ० में पदान्तीय न् पदादि प् से पूर्व अविकृत रहता है[६९]; यथा— रक्षा नॄन्पाह्यसुर त्वमस्मान् (ऋ० १, १७४, १)। वा० प्रा० का मत है कि पदादि पकार से पूर्व नॄन् का पदान्तीय न् विसर्जनीय में परिणत हो जाता है और उपधा के स्वर का अनुनासिक हो जाता है[७०]; यथा— नॄँः पाहि (वा० सं० १३, ५२)। पाणिनि के मतानुसार, पदादि पकार से पूर्व नॄन् का पदान्तीय न् और पायुः के पकार से पूर्व स्वतवान् का न् 'रु' में परिणत हो जाता है[७१]; फिर 'रु' का विसर्जनीय और उपधा के स्वर का अनुनासिक (और अनुनासिक न होने पर अनुस्वार का आगम) हो जाता है (दे० टि० ६३ ग)। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार जो पदान्तीय न् व्युत्पत्ति के विचार से मूलतः न्स् का प्रतिनिधित्व करता है, वह पदादि प् से पूर्व अनुस्वार-विसर्जनीय (ṃḥ) में परिणत हो जाता है[७२]। मै० सं० के कुछ उदाहरणों में नॄन् का पदान्तीय न् पदादि प् से पूर्व प् में परिणत हो जाता है और उपधा का स्वर अनुनासिक बन जाता है; यथा— नॄँप्पाहि (मै० सं० २, १३, ११); नॄँप्प्रणेत्रम् (मै० सं० ४, १३, २); नॄँप्पतिभ्यः (मै० सं० ४, १३, २)।

(ञ) पदादि स् से पूर्व आने वाला पदान्तीय न् प्रायेण अविकृत रहता है। परन्तु कतिपय आचार्यों के मतानुसार, पदान्तीय न् और पदादि स् के

मध्य त् का आगम हो जाता है[७३]; यथा—तान् + सम् = तान्त्सम् (ऋ० २,१,१५); अहन् + सहसा = अहन्त्सहसा (ऋ० १,८०,१०); अर्हन् + समानैः = अर्हन्त्समानैः (ऋ० १,६९,८)। तकार के आगम का प्रयोग संहिताओं में बहुलता से मिलता है। कतिपय विद्वानों का मत है कि अर्हन् प्रभृति क्रियारूपों के न् के पश्चात् आने वाला तकार वस्तुतः क्रियापद अर्हन्त् का अवयव होने के कारण आता था, परन्तु कालान्तर में अनुकृति के कारण अन्य रूपों के पश्चात् भी पदादि स् से पूर्व तकार का आगम किया जाने लगा।

७. पदान्तीय म्

५३. (क) स्वरों से पूर्व आने वाला पदान्तीय म् अविकृत रहता है; यथा—अग्निम् + ईळे = अग्निमीळे (ऋ० १,१,१)। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, कतिपय वैदिक उदाहरणों में स्वर से पूर्व पदान्तीय म् का लोप हो कर परवर्ती स्वर और म् की उपधा के स्वर में सन्धि हो गई है[७४]; यथा— दुर्गहैतत् (ऋ० ४,१८,२) = दुर्गहम् + एतत्; संवननोभयंकरम् (ऋ० ८,१,२) = संवननम् + उभयंकरम्; वाजोत (ऋ० ६,४८,४) = वाजम् + उत; सर्वनेदम् (तै० सं० १,४,४४,२) = सवनम् + इदम् (वा० सं० ८,१८ में 'इदं सवनम्' प्रयोग मिलता है)। यह स्वीकार करते हुए भी कि पदपाठ के अनुसार इनमें पदान्तीय म् नहीं है अपितु पदान्तीय अ है, पाश्चात्य विद्वान् इनमें पदान्तीय म् मानते हैं। और वे कहते हैं कि छन्दःपरिमाण से ही इस सन्धि का ज्ञान होता है, इस लिये लिखित संहिता में इस सन्धि का अभाव होने पर भी छन्दःपरिमाण से कहीं-कहीं इस सन्धि के अनुसार उच्चारण करना चाहिए; यथा—"राष्ट्रमिह" (अ० १३,१,५) का उच्चारण "राष्ट्रेह" करना चाहिए। अथर्वप्रातिशाख्य के अनुसार, अ० के कतिपय प्रयोगों में –आकम् के म् का लोप हो जाता है और फिर स्वरसन्धि हो जाती है[७४क]; यथा—अस्माकम् + अर्थाय = अस्माकार्थाय (अ० १,७,६); अस्माकम् + इदम् = अस्माकेदम् (अ० ३,२४,४); अस्माकम् + ऊती = अस्माकोती (अ० ७,७७,१)। दे० मनु० १६४।

(ख) ऋ० प्रा० तथा वा० प्रा० के अनुसार, पदादि र् श् ष् स ह् से पूर्व पदान्तीय म् का अनुस्वार बन जाता है[७५]; यथा— होतारम् + रत्नधातमम् = होतारं रत्नधातमम् (ऋ० १,१,१); वर्धमानम् + स्वे= वर्धमानं स्वे (ऋ० १,१,८); मित्रम् + हुवे = मित्रं हुवे (ऋ० १,२,७)। तै० प्रा० का मत है कि र् श् ष् स ह् से पूर्व म् का लोप हो जाता है और उपधा के स्वर का अनुनासिक बन जाता है[७६]; यथा— प्रत्युष्टम्+ रक्षः=प्रत्युष्टँ रक्षः (तै० सं० १,१,२,१); सम्+ शितम्=सँ शितम् (तै० सं० ५,१,१०,२) सम् + षट्=सँ षट् (तै० सं० ५,५, २, ६); त्वम् + हु = त्वँ हुँ (तै० सं० २,६,११,१) । तै० प्रा० ने अन्य आचार्यों के मत का भी उल्लेख किया है जिसके अनुसार म् का लोप होने पर उपधा का स्वर अनुनासिक नहीं बनता है और उसके पश्चात् अनुस्वार का आगम होता है (दे० टि० ७६)। परन्तु मुद्रित तै० सं० में पहले मत का अनुसरण करते हुए उपधा के स्वर का अनुनासिक रूप दिखलाया गया है।

अ० प्रा० तथा कतिपय अन्य आचार्यों के मतानुसार, र् श् ष् स ह् के अतिरिक्त य् व् ल् से पूर्व भी पदान्तीय मकार का लोप हो कर उपधा के स्वर का अनुनासिक बन जाता है[७७]। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि अनुस्वार का प्रयोग मूलतः श् स ष् ह् से पूर्व ही होता था और र् से पूर्व म् अविकृत रहता था, जैसा कि सम्राज् शब्द में प्रयुक्त म् से स्पष्ट है[७८]। अनुस्वार का प्रयोग-क्षेत्र निरन्तर बढ़ता चला गया और कालान्तर में सभी व्यञ्जनों से पूर्व और अनुनासिक स्पर्शों के स्थान पर भी अनुस्वार का प्रयोग किया जाने लगा। सभी व्यञ्जनों से पूर्व पदान्तीय म् को अनुस्वार का आदेश करके पाणिनि ने भी अनुस्वार के बढ़ते हुए प्रयोग को प्रोत्साहन प्रदान किया[७९]।

विशेष— संहिताओं के कतिपय उदाहरणों में पदादि व्यञ्जन से पूर्व ईम् के पदान्तीय म् का लोप हो जाता है[८०]; यथा— सम् + ईम् + गावः = समी गावः (ऋ० ६,७२,६); ईम् + मन्द्रासु = ईमन्द्रासु (तै० सं० ४,१,८,२)।

द्वितीयोऽध्यायः

(ग) अधिकतर प्रातिशाख्यों के अनुसार, पदादि य् व् ल् से पूर्व आने वाला पदान्तीय म् क्रमशः यँ् वँ् लँ् में परिणत हो जाना चाहिए[८१]; यथा— यम्ऽर्यम् + युजंम् = यय्ँयुयँ् युजंम् (ऋ० २,२५,१); तम् + वः = तवँ्वः (ऋ० ६,४८,१४); भद्रा + एषाम् + लक्ष्मीः = भद्रैषाल्ँलक्ष्मीः (ऋ० १०,७१,२)। अ० प्रा० के अनुसार य् व् से पूर्व आने वाले पदान्तीय म् का लोप हो कर उपधा के स्वर का अनुनासिक हो जाता है (दे० टि० ७७)। इसी प्रातिशाख्य के मतानुसार, ल् से पूर्व आने वाले पदान्तीय म् का लँ् बन जाता है (दे० टि० ६०)। तै० प्रा० में उद्धृत कतिपय आचार्यों के मत के अनुसार पदादि य् व् से पूर्व आने वाला पदान्तीय म् क्रमशः यँ् वँ् में परिणत नहीं होता है[८२]; और इनसे पूर्व म् का लोप हो कर उपधा का स्वर उसी प्रकार अनुनासिक (या अनुनासिक न बनने पर अनुस्वार का आगम) होता है, जैसे कि पदादि ह् से पूर्व (दे० टि० ७६)। यद्यपि प्रातिशाख्यों के भाष्यों में दिये गये उदाहरणों में और कतिपय पाण्डुलिपियों तथा मुद्रित ग्रन्थों में य् व् ल् से पूर्व आने वाले म् के स्थान पर क्रमशः यँ् वँ् लँ् लिखा जाता है, तथापि अधिकतर ग्रन्थों में इनसे पूर्व आने वाले पदान्तीय म् के स्थान पर प्रायेण अनुस्वार लिखा जाता है और कहीं-कहीं उपधा के स्वर का अनुनासिक लिखा जाता है।

(घ) पाणिनि के मतानुसार, जिस पदादि ह् से परे म् हो उस से पूर्व पदान्तीय म् का म् ही रहता है और जिस ह् से परे न् हो उस से पूर्व पदान्तीय न् का न् बन जाता है; और इस सम्बन्ध में एक वार्तिक भी है— "जिस पदादि ह् से परे य् व् ल् हो उस से पूर्व आने वाला पदान्तीय म् विकल्प से क्रमशः यँ् वँ् लँ् में परिणत हो जाता है"[८३]। काशिका तथा सि० कौ० में इस सन्धि के निम्नलिखित उदाहरण दिये गये हैं— किम् ह्मलयति; किन् ह्नुते; कियँ् ह्यः; किवँ् ह्वलयति; किलँ् ह्लादयति। परन्तु प्रातिशाख्यों में इस सन्धि-नियम का कोई उल्लेख नहीं है और वैदिकसंहिताओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में मुझे इस सन्धि का कोई उदाहरण नहीं मिला है। वैदिक वाङ्मय में प्रातिशाख्यों के नियमानुसार होने वाली सन्धि के उदाहरण मिलते हैं।

(ङ) स्पर्श से पूर्व आने वाला पदान्तीय म् उस स्पर्श के वर्ग का पञ्चम वर्ण बन जाता है[८४]; यथा—भद्रम् + करिष्यसि = भद्रङ्करिष्यसि (ऋ० १,१,६); अहम् + च = अहञ्च (ऋ० ८, ६२,११); भद्रम् + नः = भद्रन्नः (ऋ० १०, २०, १)। परन्तु अधिकतर पाण्डुलिपियों तथा मुद्रित संहिताओं में इस सन्धि-नियम का पालन नहीं किया गया है और अनुनासिक स्पर्श के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग मिलता है; यथा— भद्रं करिष्यसि। अनुनासिक स्पर्श के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग करने की प्रवृत्ति को पाणिनि से भी प्रोत्साहन मिला है (दे० टि० ७६)।

८. पदादि स्

५५. (क) जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं (दे० अनु० ५१ ख), पदान्तीय ङ् से परे पदादि स् आने पर इन के मध्य क् का आगम होता है। यदि पदादि स् से पूर्व पदान्तीय ट् न् आए, तो ट् न् के पश्चात् त् का आगम होता है[८५]; यथा— वषट् + स्वाहा = वषट्त्स्वाहा (तै० सं० ७, ३, १२); अप्राट् + सः = अप्राट्त्सः (ऋ० १०, ३२, ७)। उवट ने ऋ० प्रा० के भाष्य में उद्धृत इसी उदाहरण में 'सः' से पूर्व त् का आगम दिखलाया है, परन्तु मैंने ऋ० के जितने मुद्रित संस्करण देखे हैं उन में से किसी में भी त् का आगम नहीं दिखलाया गया है।

(ख) ऋ० में 'चित्' के पदान्तीय त् से परे आने वाले 'स्कम्भनेन' के पदादि स् का लोप हो जाता है[८६]; यथा— चित् + स्कम्भनेन = चित्कम्भनेन (ऋ० १०, १११, ५)।

(ग) प्रातिशाख्यों के अनुसार उद् उपसर्ग से परे आने वाले स्था तथा स्तम्भ् धातुओं के आदि स् का लोप हो जाता है[८७]; यथा— मा + घोषाः + उत् + स्थुः = मा घोषा उत्थुः (अ० ७,५२,२); उत् + स्तभान = उत्तभान (वा० सं० १७, ७२); उत् + स्थिताय = उत्थिताय (तै० सं० ७,१, १९, ३); उत् + स्थितम् = उत्थितम् (ऋ० १०, १४९, २)। परन्तु ऋ० के पदपाठ में उद् उपसर्ग तथा स्थितम् के बीच अवग्रह नहीं दिखलाया गया है और केवल 'उत्थितम्' रूप दिखलाया गया है। इसी

प्रकार 'उत्तभिता' (= उत् + स्तुभिता ऋ० १०, ८५,१) में भी उपसर्ग तथा धातु के मध्य अवग्रह नहीं दिखलाया गया है और पदपाठ में संहितारूप ज्यों का त्यों दिखलाया गया है। ऋ० प्रा० में भी इस सन्धि का विधान नहीं है। प्रातिशाख्यों के सिद्धान्त से भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए, पाणिनि स्था तथा स्तम्भ् धातुओं के आदि स् का लोप न करके इसे उद् उपसर्ग के द् का सवर्ण अर्थात् थ् बनाता है और पुनः इस थ् का वैकल्पिक लोप करता है[८८]। परन्तु संहिताओं में इस प्रकार के आदि सकार का सर्वत्र लोप मिलता है। वार्तिककार के मतानुसार, छान्दस प्रयोग तथा रोगवाचक शब्द में उद् उपसर्ग से परे आने वाले स्कन्द् धातु के आदि स् का पूर्वसवर्ण आदेश अर्थात् थ् हो जाता है[८९]। काशिकावृत्ति ने इन दोनों प्रयोगों के निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं— अग्ने दूरमुत्कन्दः; उत्कन्दको नाम रोगः। परन्तु महाभाष्य में "अघ्न्ये दूरमुत्कन्द" पाठ मिलता है। वैदिक वाङ्मय में 'उत्कन्द्' का कोई प्रयोग नहीं मिला है। वार्तिक द्वारा विहित "छन्दस्युपसंख्यानम्" नियम का आधार मृग्य है।

९. पदान्तीय विसर्जनीय

५५. हम पहले (अनु० ३४) बतला चुके हैं कि प्रातिशाख्यों के अनुसार, र् तथा स् पदान्त में नहीं मिलते हैं और ऊष्म तथा अन्तस्था वर्णों में से केवल विसर्जनीय पदान्त में आता है (दे० टि० ७)। कुछ विशेष परिस्थितियों में पदान्तीय विसर्जनीय र् स् प्रभृति वर्णों में बदल जाता है। पदपाठ में प्रातिशाख्यों के इसी पदान्तीय नियम का पालन किया गया है। अत एव हम पहले प्रातिशाख्यों के मतानुसार पदान्तीय विसर्जनीय की सन्धि का वर्णन करेंगे और उसके पश्चात् यथास्थान पाणिनि तथा पाश्चात्य विद्वानों के मतों का परिचय देंगे।

अघोष व्यञ्जनों से पूर्व पदान्तीय विसर्जनीय

(क) क् ख् से पूर्व आने वाला पदान्तीय विसर्जनीय जिह्वामूलीय में और प् फ् से पूर्व आने वाला उपध्मानीय में परिणत हो जाता है या विकल्प से अविकृत रहता है[९०]; यथा—विष्णोः+कर्माणि= विष्णो×कर्माणि

अथवा विष्णोःकर्माणि (ऋ० १,२२, १९); इन्द्रः+ पञ्च= इन्द्र॒ᳶपञ्च अथवा इन्द्रः पञ्च (ऋ० १,७,९)। मुद्रित संहिताओं में जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का प्रयोग लुप्तप्राय है और क् ख् प् फ् से पूर्व विसर्जनीय ही मिलता है[५१]।

विशेष— पदपाठ तथा ऋ० प्रा० (४,४०) के अनुसार, वैदिक प्रयोग "अ॒दो पि॑तो" (ऋ० १,१८७,७= पपा०—अ॒दः+ पि॒तो इति॑), में प् से पूर्व विसर्जनीय का ओ माना जाता है। परन्तु अनेक पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, अ॒दो में अ॒द+उ॒ की सन्धि है और इसमें अ॒दस् रूप नहीं है[५१क]।

(ख) जिस पदादि क् त् प् के तुरन्त पश्चात् श् ष् स् आए, उससे पूर्व आने वाला पदान्तीय विसर्जनीय अविकृत रहता है[५२]; यथा—घ॒ना॒घ॒नः क्षोभ॑णः (तै० सं० ४,६,४,१); श॒तक्र॑तुः त्सर॑त् (ऋ० ८,१,११); दु॒ग्धिः प्सुयात् (श० ब्रा० ३,५,४,२४)। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, वैदिक प्रयोग "अध॒ क्षर॑न्तीः" (ऋ० ७,३४,२) में क्ष से पूर्व विसर्जनीय का लोप हुआ है[५२क], क्योंकि पं० ब्रा० (१,२,९;६,६,१७) में इसी मन्त्र का पाठ "अधः क्षरन्तीः" मिलता है। परन्तु इस मन्त्र के पदपाठ में केवल "अध॑" पद माना गया है।

(ग) संहिताओं में कतिपय विशिष्ट शब्दों के आदि में आने वाले क् प् से पूर्व कुछ शब्दों का पदान्तीय विसर्जनीय स् में परिणत हो जाता है; और यदि ऐसे स् से पूर्व अ आ से भिन्न स्वर (इ ई उ ऊ इत्यादि) हो, तो स् का ष् बन जाता है। प्रातिशाख्यों में ऐसे शब्दों की परिगणना की गई है[५३]। ऋ० प्रा० (४,४१) में इस सन्धि के लिये उपाचरित संज्ञा का प्रयोग किया गया है। उपाचरित-सन्धि के कुछ प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं— दि॒वः + परि॑ = दि॒वस्परि॑ (ऋ० १,१२१,१०); पर्ला॑वतः + कृ॒धि= पर्ला॑वतस्कृधि (ऋ० १,१४,७); मा॒तुः + प॒दे= मा॒तुष्प॒दे (ऋ० ४,५,१०); द्यौः+ पि॒ता= द्यौष्पि॒ता (ऋ० ४,१,१०; अ० ३,९,१); मनुः॑+ पि॒ता= मनु॑ष्पि॒ता (ऋ० १,८०,१६)। प्रायेण सभी संहिताओं के समासों में उपाचरित-सन्धि नियमपूर्वक होती है[५४]; यथा— प॒रः+ पा= प॒रस्पा; आ॒युः+ पा= आ॒युष्पा; दुः+ कृत्= दु॒ष्कृत्; न॒मः+ का॒रे॑ण= न॒मस्का॒रे॑ण। परन्तु कतिपय समासों में, जिनका पूर्वपद श्रेयः, सु॒चः, छन्दः॑, अ॒न्तः

इत्यादि हो, क् प् से पूर्व आने वाला विसर्जनीय अविकृत रहता है (दे० टि० ९४); यथा— श्रेयःकेतः (अ० ५, २०, १०); सुद्यःक्रीः (अ० ११, ७, १०); छन्दःपक्षे (अ० ८, ९, १२); अन्तःपात्रे (अ० ११, ९, १५); इतःप्रदानम् (तै० सं० ३, २, ९, ७); बर्हिःपरिधि (तै० सं० २, ६, ६, २); बर्हिःप्राणः (तै० सं० ६, १, १, ४); पुरःप्रस्रवणा (ऋ० ८, १००, ९) ।

विशेष— पूर्पति, स्वर्पति, अहर्पति तथा वाक्कार्य समासों में प् क् से पूर्व रिफित विसर्जनीय का र् बनता है[५४क]। रिफित विसर्जनीय के लिये देखिये अनु० ५६ । परन्तु सा० में स्वःपतिः रूप भी मिलता है ।

(घ) च् छ् और त् से पूर्व आने वाला पदान्तीय विसर्जनीय क्रमशः श् और स् में परिणत हो जाता है[५५]; यथा— देवाः+ चक्रम = देवाश्चक्रम (ऋ० १०, ३७, १२)[५५क]; अस्त्रीवयः +छन्दः = अस्त्रीवयश्छन्दः (वा० सं० १४, १८); यः + ते = यस्ते (ऋ० १, ४, ४); देवाः+तम् = देवास्तम् (ऋ० ६, ७५, १९) ।

विशेष— ऋ० प्रा० के अनुसार, वैदिक प्रयोग "सो चित्" (ऋ० १, १९१, १०, इत्यादि) में च् से पूर्व विसर्जनीय का ओ बन गया है[५६]; परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, इस सन्धि में निम्नलिखित पद हैं[५६क]— स+उ+चित् = सो चित् । ऋ० प्रा० ४, ४० के अनुसार, वैदिक प्रयोग "आवर्तमः" (ऋ० १, ९२, ४ = पपा०—आवः + तमः) में त् से पूर्व विसर्जनीय का र् बन गया है । आवः में रिफित विसर्जनीय है (दे० टि० १०७) । परन्तु पाश्चात्य विद्वानों का मत यह है कि— आवर्तमः = आवर्त् (√वृ का लु० प्र० पु० ए०) + तमः[५७] । यद्यपि च् से पूर्व रिफित विसर्जनीय का साधारणतया श् बन जाता है यथा— पूर्श्च (ऋ० १, १८९, २), तथापि स्वर्चक्षाः और स्वर्चनाः में इस का र् बनता है[५७क]। पदान्तीय विसर्जनीय के साथ पदादि ट् ठ् की सन्धि संहिताओं में नहीं मिलती है ।

(ङ) अ आ से भिन्न स्वर के पश्चात् आने वाले पदान्तीय विसर्जनीय से बना

हुआ स् कतिपय तकारादि शब्दों से पूर्व ष् में परिणत हो जाता है और उस के परिणामस्वरूप परवर्ती त् का ट् बन जाता है। स् के मूर्धन्यत्व के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन आगे (अनु० ६१-६५) देखिये। यहां पर केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि समासों में और सर्वनामों से बने तकारादि रूपों से पूर्व स् का मूर्धन्यत्व सभी संहिताओं में नियमपूर्वक होता है और ऋ० में इन से भिन्न अवस्थाओं में भी होता है[९७ख]; यथा— दुस् (दुः) + तरः = दुष्टरः (ऋ० ३, २४, १)[९७ग]; बृहस्पतिस् (बृहस्पतिः) + त्वा = बृहस्पतिष्ट्वा (वा० सं० ४, २१)।

(च) श् ष् स् से पूर्व आने वाला पदान्तीय विसर्जनीय परवर्ती ध्वनि (अर्थात् श् ष् स्) में परिणत हो जाता है या विकल्प से विसर्जनीय ही रहता है[९८]; यथा—वः + शिवतमः = वश्शिवतमः अथवा वः शिवतमः (ऋ० १०, ९,२); देवीः + षट् = देवीष्षट् अथवा देवीः षट् (ऋ० १०,१२८,५); नः + सपत्नाः = नस्सपत्नाः अथवा नः सपत्नाः (ऋ० १०,१२८,९); पुनः+ सम् =पुनस्सम् अथवा पुनः सम् (ऋ० २, ३८, ४) । संहिताओं की पाण्डुलिपियों और मुद्रित ग्रन्थों में श् ष् स् से पूर्व प्रायेण विसर्जनीय ही मिलता है।

विशेष— (१) कतिपय समासों में पूर्वपद का रिफित विसर्जनीय (दे० अनु० ५६) उत्तरपद के स् से पूर्व र् बन जाता है और उत्तरपद के स् का मूर्धन्य हो जाता है[९९]; यथा— धूर्षदम् (ऋ० १०, १३२, ७; पपा०—धूःऽसदम्); स्वर्षाम् (ऋ० १,९१,२१; पपा०— स्वःऽसाम्); धूर्षाहौ (=धूः+ साहौ; तै० सं० १,२,८,२; वा० सं० ४,३३); वनर्षदम् (ऋ० १०,१३२,७; पपा०— वनऽसदम्)[९९क]; आशीर्पदया (तै० सं० ६,२,९,४)[९९ख]।

(२) वैदिक प्रयोग "परीतो षिञ्चता" (ऋ० ९,१०७,१; पपा०—परि । इतः । सिञ्चत) में ऋ० प्रा० (५, १७) के अनुसार विसर्जनीय का ओ बनता है[९९ग]।

(छ) यदि पदादि श् ष् स् के तुरन्त पश्चात् अघोष स्पर्श आए, तो इस प्रकार के श् ष् स् से पूर्व आने वाले पदान्तीय विसर्जनीय का लोप हो जाता

है[१००]; यथा— मुन्दिभिः+ स्तोमेभिः = मुन्दिभि स्तोमेभिः (ऋ० १,९, ३); समुद्रः+ स्थः= समुद्र स्थः (ऋ० ६,६९, ६); वः+ स्पद्= व स्पद् (ऋ० ५,५९,१); निः (निस्) + ष्ठितः (स्थितः) = निष्ठितः (ऋ० १,१८२,७); दुः (दुस्) + ष्टुतिः (स्तुतिः) = दुष्टुतिः (ऋ० १,५३,१)।

ऋ० प्रा०, वा० प्रा० तथा तै० प्रा० इस लोप का विधान करते हैं (दे० टि० १००) और ऋ० प्रा० (४,३७) में इसे अन्वक्षरवक्त्र सन्धि कहते हैं। अ० प्रा० तथा पाणिनि इस सन्धि के सम्बन्ध में मौन है और कात्यायन ने विसर्जनीय-लोप का वैकल्पिक विधान किया है[१०१]। संहिताओं की अधिकतर पाण्डुलिपियों और मुद्रितग्रन्थों में इस नियम का पालन नहीं किया गया है और विसर्जनीय का लोप नहीं दिखलाया गया है। आउफ्रेख्ट ने अपने ऋ० के संस्करण में इस नियम का पालन किया है।

(ज) कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि जिस श् ष् स् के तुरन्त पश्चात् अन्तस्था अथवा अनुनासिक ध्वनि आए, उस श् ष् स् से पूर्व आने वाले पदान्तीय विसर्जनीय का वैकल्पिक लोप होता है[१०२]। इसके लिये निम्नलिखित उदाहरण दिये जाते हैं— कृत (कृतः) श्रवः (ऋ० ६,५८, ३); नि (निः) स्वरम् (ऋ० ७,१,७)। यद्यपि पदपाठ के अनुसार इन दोनों उदाहरणों में श् स् से पूर्व विसर्जनीय नहीं है, तथापि सायण-भाष्य (वैदिक संशोधनमण्डल संस्करण) के पाठ "कृतः वशीकृतोऽसि" में विसर्जनीय दिखलाया गया है। मै० सं० ४,१४,१६ तथा तै० ब्रा० २,५,५,५ में जो "कृतः श्रवः" पाठ मिलता है उसके आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने यह मत निश्चित किया है। इस सम्बन्ध में डेब्रूनेर (Alt. Gr. I, Nachtrage, p. 194) का मत है कि ऋ० का "कृत" सम्बोधन का रूप है और मै० सं० तथा तै० ब्रा० का "कृतः" प्रथमा विभक्ति के एकवचन का रूप है।

(झ) कुछ समासों में उत्तरपद के श् ष् स् से पूर्व पूर्वपद के विसर्जनीय का लोप हो जाता है, और कतिपय समासों में विसर्जनीय का लोप होने पर उसकी उपधा के अ का दीर्घ हो जाता है[१०२क]; यथा— बृहिःषदः (ऋ०

१०,१५,३; परन्तु पपा०— बर्हिऽसर्दः); द्यौसंशितः (अ० १०,५, २७; पपा०— द्यौऽसंशितः)। पाश्चात्य विद्वान् इन उदाहरणों में विसर्जनीय का लोप मानते हैं और यह मत समुचित प्रतीत होता है। यद्यपि वा० सं० ५,८ में अयःशया, रजःशया और हरिशया रूप मिलते हैं, तथापि तै० सं १, २, ११, २ और मै० सं० १,२,७ में अयाशया, रजाशया हराशया रूप मिलते हैं।

स्वरों तथा घोष व्यञ्जनों से पूर्व पदान्तीय विसर्जनीय

५६. **रिफित विसर्जनीय**— स्वरों तथा घोष व्यञ्जनों से पूर्व आने वाले पदान्तीय विसर्जनीय की सन्धि का वर्णन करने से पूर्व यह बतलाना आवश्यक है कि प्रातिशाख्यों ने विसर्जनीय के दो मुख्य भेद किये हैं— (१) रेफी या रिफित विसर्जनीय, और (२) अरेफी या अरिफित विसर्जनीय। स्वरों या घोष व्यञ्जनों से पूर्व रेफ में परिणत होने वाले विसर्जनीय को **रेफी** या **रिफित** कहते हैं। **रिफित** विसर्जनीय मूलतः रेफ का प्रतिनिधि है और प्रातिशाख्यों के पदान्तीय नियम के अनुसार (दे० अनु० ३४) वह विसर्जनीय में परिणत हो जाता है। प्रातिशाख्यों ने ऐसे शब्दों की परिगणना की है जिनके अन्त में रिफित विसर्जनीय आता है (दे० टि० १०७)। अ तथा आ से भिन्न स्वर के तुरन्त पश्चात् आने वाले विसर्जनीय को भी **रेफी** या **रिफित** विसर्जनीय कहते हैं (दे० टि० १०९)। जो विसर्जनीय कभी रेफ में परिणत नहीं होता है, उसे **अरेफी** या **अरिफित** विसर्जनीय कहते हैं।

सन्धि-वर्णन की विभिन्न पद्धतियां—प्रातिशाख्यों का अनुकरण करते हुए मैक्डानल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने स्वरों तथा घोष व्यञ्जनों से पूर्व आने वाले पदान्तीय विसर्जनीय का रेफ में परिवर्तन, लोप या ओकार दिखलाया है। इस सन्धि के वर्णन में पाणिनि ने एक भिन्न और मौलिक पद्धति को अपनाया है। पाणिनि ने पद के अन्त में आने वाले स् का रु् (पारिभाषिक रु) में परिवर्तन करके (८,२,६६), अघोष व्यञ्जनों (खर्) से पूर्व तथा अवसान में रेफ का विसर्जनीय बना दिया (८,३,१५), और घोष व्यञ्जनों तथा स्वरों से पूर्व उसे रेफ ही

रहने दिया है। अत एव पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, स्वरों तथा घोष व्यञ्जनों से पूर्व न तो पदान्तीय विसर्जनीय है और न विसर्जनीय-सन्धि। पाणिनि के मतानुसार, यह मुख्यतया पदान्तीय रेफ की सन्धि है। इसी लिये भट्टोजिदीक्षित प्रभृति वैयाकरणों ने इस सन्धि के लिये पृथक् प्रकरण बना कर उसे "स्वादि-सन्धि प्रकरणम्" की संज्ञा दी है। वास्तव में पाणिनि की रेफ-सन्धि प्रातिशाख्यों के रिफित विसर्जनीय की सन्धि ही है जिसे ऋ० प्रा० (४,२७) में "रेफ-सन्धयः" कहा गया है।

५७. (क) यदि अ के तुरन्त पश्चात् आने वाले अरिफित विसर्जनीय से परे अ आए, तो प्रातिशाख्यों के अनुसार उपधा के अकार (अर्थात् विसर्जनीय से पूर्व के अकार) और विसर्जनीय दोनों के स्थान पर ओ बन जाता है[103]; यथा— यः + अस्मै = यो अस्मै (ऋ० ८,३१,२)। ओ के पश्चात् आने वाले अ के पूर्वरूप के लिये अनु० ४४ देखिये।

(ख) इसी प्रकार जब अ के तुरन्त पश्चात् आने वाले अरिफित विसर्जनीय से परे कोई घोष व्यञ्जन आए, तब उपधा के अकार तथा विसर्जनीय दोनों के स्थान पर ओ बन जाता है[104]; यथा— देवः + देवेभिः = देवो देवेभिः (ऋ० १, १,५)।

विशेष— (१) ऋग्वैदिक प्रयोग "प्रचेता राजन्" (१, २४, १४ = प्रचेतः + राजन्) में र् से पूर्व आने वाले पदान्तीय विसर्जनीय और उपधा के अ दोनों के स्थान पर आ बन गया है[104क]; परन्तु का० सं ४०, ११ और तै० सं १, ५, ११, ३ में "प्रचेतो राजन्" प्रयोग मिलता है। मै० सं० ४, १०, ४; ४, १४, १७ में "प्रचेता राजन्" प्रयोग ही मिलता है।

(२) ऋग्वैदिक प्रयोग "सूरे दुहिता" (१,३४,५; पपा०— सूरे। दुहिता) के सम्बन्ध में कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि यहाँ पर विसर्जनीय और उपधा के अ दोनों के स्थान पर ए बन गया है[104ख]। परन्तु ऋ० ७, ६९,४ में "सूरो दुहिता" प्रयोग भी मिलता है। इस लिये कतिपय विद्वान् "सूरे" को सप्तमी और कुछ चतुर्थी ए० का रूप मानते हैं[104ग]।

(ग) यदि अ के तुरन्त पश्चात् आने वाले अरिफित विसर्जनीय से परे अ से

भिन्न कोई भी स्वर आए, विसर्जनीय का यकार बनता है और य् का लोप हो जाता है[१०५]; यथा— यः + इन्द्र = य इन्द्र (ऋ० ८,१२,१); इन्द्रः + एकम् = इन्द्र एकम् (वा० सं० १७, ९२)।

विशेष— (१) यदि पदान्तीय विसर्जनीय की उपधा के अ पर अनुदात्त (या अनुदात्त से बना स्वरित) हो और उस विसर्जनीय से परे अ से भिन्न सोदात्त स्वर (अच्) आए, तो मै० सं में उपधा के ऐसे अ का दीर्घ बन जाता है और उपर्युक्त नियम के अनुसार विसर्जनीय का लोप हो जाता है; यथा— देवेभ्यः + इन्द्राय = देवेभ्या इन्द्राय (मै० सं० १, १,१)।

(२) वैदिक प्रयोग "महो आदित्यान्" (ऋ १०,६३,५) में आ से पूर्व विसर्जनीय और उपधा के अ के स्थान पर ओ बन जाता है, और "पीवोपवसनानाम्" (= पीवः + उपवसनानाम् वा० सं० २१, ४३) में विसर्जनीय का लोप हो कर पुनः गुणसन्धि हो जाती है[१०५क]।

(घ) यदि आ के तुरन्त पश्चात् आने वाले अरिफित विसर्जनीय से परे कोई भी स्वर आए, तो उपर्युक्त नियम [५७ ग] के समान विसर्जनीय का य् बन कर लोप हो जाता है (दे० टि० १०५); यथा— सुताः + इमे = सुता इमे (ऋ० १, ३, ४)। परन्तु जब इस प्रकार के विसर्जनीय से परे कोई घोष व्यञ्जन आए, तब अधिकतर प्रातिशाख्यों के अनुसार विसर्जनीय का सीधा लोप हो जाता है[१०६]; यथा— विश्वाः + वि = विश्वा वि (ऋ० १, ३, १२)।

५८. (क) अ अथवा आ के पश्चात् आने वाले रिफित विसर्जनीय को ओकारत्व, यकारत्व तथा लोप आदि उपर्युक्त विकार नहीं होते हैं। और उस से परे जब कोई स्वर या घोष व्यञ्जन आता है, तब वह अपने मूल-रूप रेफ में परिणत हो जाता है[१०७]; यथा— प्रातर् अग्निः (ऋ० ५, १८, १); पुनर् नः (ऋ० १०, ५७, ५); स्वर् द्रुहः (ऋ० २, ३५, ६); वार्-अवायती (ऋ० ८,९१,१)। प्रातिशाख्यों के अनुसार, इन सब उदाहरणों में पदान्तीय वर्ण रिफित विसर्जनीय है जिस का संहिता में र् बन गया है, परन्तु पाणिनि ऐसे सब रूपों में र् ही मानता है जो स्वर तथा घोष व्यञ्जन से पूर्व अविकृत रहता है (दे० अनु० ५६)।

द्वितीयोऽध्यायः

(ख) कुछ ऐसे वैदिक प्रयोग भी मिलते हैं जिनमें रिफित विसर्जनीय का लोप अथवा ओकार हो जाता है[१०८]; यथा— अ॒क्षाः + इन्दुः = अ॒क्षा इन्दुः (ऋ० ६,९८,३; पपा०— अ॒क्षारिति); अहः + ए॒व = अह ए॒वा (ऋ० ६,४८,१७; पपा०— अह॒रिति); ऊधः + रो॒म॒शम् = ऊधो रोम॒शम् (ऋ० ८,३१,९); स्वः+रुहाणाः = स्वो रुहाणाः (वा० सं० ११,२२)।

५९. (क) यदि अ तथा आ से भिन्न स्वर के तुरन्त पश्चात् आने वाले पदान्तीय विसर्जनीय (जो सदा रिफित होता है) से परे स्वर या घोष व्यञ्जन आए, तो विसर्जनीय का र् बन जाता है[१०९]; यथा— ऋषिभिः + ईड्यः = ऋषिभि॒रीड्यः (ऋ० १,१,२); अ॒ग्निः + होता = अ॒ग्निर्होता (ऋ० १,१,५)।

विशेष—(१) कतिपय वैदिक प्रयोगों में पदादि स्वर से पूर्व पदान्तीय रिफित विसर्जनीय का लोप हो जाता है और फिर स्वर-सन्धि हो जाती है[११०]; यथा—स्वधितीव (ऋ० ५,७,८; पपा०— स्वधितिःऽइव); भूम्या ददे (ऋ० ९,६१,१०; पपा०— भूमिः । आ । द॒दे)।

(२) यदि समास के पूर्वपद में दुर् हो, तो कतिपय उत्तरपदों के पदादि द् ध् न् से पूर्व उसका रिफित विसर्जनीय लुप्त हो कर उपधा के उ को दीर्घ बना देता है और उत्तरपद के पदादि दन्त्य को मूर्धन्य में परिणत कर देता है[११०क]; यथा— दु॒र् + द॒भः = दू॒ळभः; दु॒र् + धीः = दूढीः; दु॒र् + नाशः = दू॒णाशः; दु॒र् + दाश = दू॒डाश।

(ख) यदि रिफित विसर्जनी से परे रेफ आए, तो रिफित विसर्जनीय का लोप हो जाता है और उपधा के ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाता है[१११]; यथा— प्रा॒तः + रत्नम् = प्रा॒ता रत्नम् (ऋ० १,१२५,१); पुनः + रूपाणि= पुना रूपाणि (अ० १, २४, ४); अ॒ग्निः + रक्षांसि = अ॒ग्नी रक्षांसि (ऋ० ७,१५,१०) रुरुः+रौ॒द्रः = रुरू रौ॒द्रः (वा० सं० २४, ३९; तै० सं० ५,५,१९)।

६०. यदि ए॒तद्, तद् तथा त्यद् सर्वनामों के प्रथ० ए० पुं० रूपों— क्रमशः ए॒षः, सः तथा स्यः—से परे कोई व्यञ्जन आए, तो इनके पदान्तीय

विसर्जनीय का लोप हो जाता है[११२]; यथा— एषः + कुविः = एष कुविः (ऋ० ९,२७,१); सः + वाजी = स वाजी (ऋ० ४,३६,६); स्यः + वाजी = स्य वाजी (ऋ० ४,४०,४)। उपर्युक्त (अनु० ५७) साधारण नियम के अनुसार, अ से भिन्न स्वरों से पूर्व इन पदों के पदान्तीय विसर्जनीय का लोप हो जाता है और अ से पूर्व पदान्तीय विसर्जनीय तथा उपधा के अ के स्थान पर ओ बन जाता है; यथा— एषो अस्ति (ऋ० २,१२, ५); सो अपः (ऋ० १,१०३,५)। ऋ० में स्वरों से पूर्व स्यः का कोई प्रयोग नहीं मिलता है। अवसान में अर्थात् अर्धर्च के अन्त में आने पर इन का विसर्जनीय साधारण नियम के अनुसार अविकृत रहेगा, क्योंकि उस से परे कोई ध्वनि नहीं है जो विकार करे; यथा— प्रदीष्ट सः (ऋ० १, ७९, ११); चक्र एषः (ऋ० ३, ४८, ४)। परन्तु मैक्डानल का यह मत पूर्णतया ग्राह्य नहीं है कि पाद के अन्त में इन पदों का विसर्जनीय विद्यमान रहता है[११३]; क्योंकि जिस प्रथम या तृतीय पाद पर अवसान नहीं आता है उस के अन्त में आने वाले एषः आदि का विसर्जनीय पदादि व्यञ्जन से पूर्व अविकृत नहीं रहता है और लुप्त हो जाता है; यथा— एष वाचम् (ऋ० १०, ७१, ५)। मैक्डानल ने जो उदाहरण दिये हैं उन के 'सः' तथा एषः अवसान में अर्थात् अर्धर्च के अन्त में आते हैं। परन्तु ऋ० प्रा० ४, ९६ द्वारा निर्दिष्ट "सः पलिक्नीः" (ऋ० ५,२, ४) में तृतीय पाद के अन्त में आने वाले सः का विसर्जनीय व्यञ्जन से पूर्व भी अविकृत रहता है।

विशेष—(१) यदि सः से पूर्व नञ्समास का अ जुड़ा हो, तो व्यञ्जन परे होने पर इस के विसर्जनीय का लोप नहीं होता है[११४] और विसर्जनीय-सम्बन्धी साधारण नियमों के अनुसार सन्धि-विकार होता है; यथा— असः + मयोभूः = असो मयोभूः (तै० सं० ४, २, ११,३)।

(२) कतिपय वैदिक उदाहरणों में व्यञ्जनों से पूर्व सः के विसर्जनीय का लोप नहीं होता है और कहीं कहीं इस के विसर्जनीय तथा उपधा के अकार के स्थान में सो और सा भी बन जाता है, और कहीं विसर्जनीय का स् भी

हो जाता है[११५]; यथा— सः पर्लिक्नीः (ऋ० ५, २, ४); सो चित् (ऋ० १, १९१,१०) [दे० अनु० ५५ ब]; सा नु (ऋ० १,१४५, १; पपा०—सः। नु); नहि षस्तव (ऋ० ८,३३,१६; पपा०— नहि। सः। तव); सस्पदीष्ट (ऋ० ३, ५३, २१; पपा०— सः। पदीष्ट)।

(३) कतिपय संज्ञा, सर्वनाम तथा अव्ययों के स्वर से पूर्व कहीं-कहीं संहिताओं में सः के विसर्जनीय का लोप हो जाता है और सः के अ तथा परवर्ती स्वर के बीच फिर सन्धि हो जाती है[११६]; यथा— सः+ओषधीः =सौषधीः (ऋ० ८, ४३, ९); सः + इन्द्र = सेन्द्र (ऋ० २, १३, ११); सः+ अस्मै = सास्मै (ऋ० २, १७, ६); सः + इत् + उ = सेदु (ऋ० १, ३२, १५); सः + इमाम् = सेमाम् (वा० सं० २९, ५४; तै० सं० ४, ६,६, ६); सः+ एना + अनीकेन= सैनाऽनीकेन (तै० सं ४,३,१३,२; ऋ० २, ९, ६)।

अन्तःपदसन्धि तथा पदसन्धि में नति
(मूर्धन्यभाव cerebralization)

६१. **नति** (मूर्धन्यभाव)—सन्धि के विवेचन में यह तथ्य विशेषतया उल्लेखनीय है कि संस्कृतभाषा में मूर्धन्यभाव की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई है (दे० अनु० २६)। ऋग्वेद की तुलना में उत्तरकालीन वैदिक वाङ्मय मे मूर्धन्यध्वनि वाले शब्दों का आधिक्य है। मूर्धन्यध्वनि वाले वैदिक शब्द दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी में ऐसे शब्द आते हैं जिन की मूर्धन्यध्वनि "प्राकृत" मानी जाती है। तै० प्रा० (१३,८-१४) ने तै० सं० में मिलने वाले पाणि-, घ्राण-, क्राण- इत्यादि शब्दों की परिगणना की है जिनकी मूर्धन्यध्वनि "प्राकृत" (मौलिक) मानी जाती है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, ऐसे वैदिक शब्द किसी अनार्यभाषा से लिये गये हैं या द्रविडसदृश किसी अनार्यभाषा के प्रभाव से इनकी मौलिक दन्त्यध्वनि का मूर्धन्यभाव हुआ है[११७]। उत्तरकालीन संस्कृत में ऐसे शब्दों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई है, जबकि ऋग्वेद में ऐसे शब्द बहुत कम हैं। द्वितीय श्रेणी में ऐसे शब्दों का समावेश है जिनकी मौलिक दन्त्य ध्वनि समीपवर्ती मूर्धन्य ध्वनि या अन्यध्वनि के प्रभाव से मूर्धन्य में परिणत हो गई है। इस मूर्धन्यभाव के लिये

नु के न् का; और प्र उपसर्ग के निमित्त से नृष्ट तथा पीन के न् का ण् नहीं बनता है[१३२]; यथा— प्र मिनाति (अ० १८, ४, ६०); परिहिनोमि (ऋ० ७, १०४, ६); प्रनष्ट–; प्रपीनम् (वा० सं० १७, ८७)। यदि √हन् धातु के न् से पूर्ववर्ती अ का लोप हो जाए, तो न् का ण् नहीं बनता है[१३२क]; यथा— अभिप्रघ्नन्ति (ऋ० ६,४६, १०)।

(ख) स् का ष्— अनु, अभि, अपि, अति, प्रति, परि, वि, नि तथा सु उपसर्गों के पदान्तीय इ उ के निमित्त से सकारादि धातुओं के स् का ष् बन जाता है और √अस् धातु के ऐसे सकारादि रूप जिन से परे स्वर या यकार आता है उन के पदादि स् का ष् बन जाता है[१३३]; यथा— नि + सिञ्च = नि षिञ्च (ऋ० ५, ८३, ८); परि + सस्वजे = परि षस्वजे (ऋ० ६, १२, ५); परि + सन्ति = परि षन्ति (ऋ० ९, ८९,५)।

उपसर्ग और धातु के बीच में अ (अट् आगम) का व्यवधान होने पर भी स्था, सह्, सिच्, सद्, स्वञ्ज् (या स्वज्) इत्यादि धातुओं के स् का ष् बन जाता है[१३४]; यथा— अधि + अस्थाम् = अध्यष्ठाम् (अ० १२,१, ११); अभि + असिञ्चन् = अभ्यषिञ्चन् (वा० सं० १०, १; तै० सं० १, ८, ११); परि + असस्वजत् = पर्यषस्वजत् (ऋ० १, १८२, ७)।

अपवाद— सृप्, सृज्, स्पृश्, स्पृह्, स्फूर्ज्, स्तृ, स्मृ धातुओं का स् तथा अन्य धातु का ऐसा स् जिस से परे र् आए वह उपसर्गस्थ निमित्त से ष् में परिणत नहीं होता है[१३५]; यथा— परिसर्पति (अ० ५,२३,३); विसृष्टाः (ऋ० ८, १००, १२); परिस्रुतम् (ऋ० ९, १,६)। अनु से परे सिध्, परि से परे स्तृ, और अधि तथा अभि से परे स्कन्द् धातु के आदि स् का ष् नहीं बनता है[१३६]; यथा— अनुसेषिधत् (ऋ० १, २३, १५); परि स्तृणीहि (अ० ७, ९९, १); अधि स्कन्द (अ० ५, २५, ८)।

६५. समास-सन्धि में नति—
उपसर्ग और धातु का समास होने पर नति के सम्बन्ध में ये नाम

नियम लागू होते हैं जिन का वर्णन अनु० ६४ में किया जा चुका है। इन के अतिरिक्त भी समाससन्धि में नति होती है जिस का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है।

(क) **उत्तरपद के त् द् का मूर्धन्यभाव**—अनु० ५९ क के विशेष उदाहरणों में बतलाए गए समासों (दूळभः इत्यादि) के अतिरिक्त, निम्नलिखित समासों में उत्तरपद के त् द् का मूर्धन्यभाव होता है— दारु + आघातः = दार्वाघाटः (वा० सं० २४, ३५; तै० सं० ५, ५,१५[१३७]); षट् + दश = षोडश; पुरः + दाशः = पुरोडाशः[१३८]। पदपाठ में षोडश और पुरोडाश के समास में अवग्रह नहीं दिखलाया गया है। ऋ० में पुरोळाश् व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक के रूप में मिलता है।

(ख) **उत्तरपद के न् का ण्**—पूर्व-पद के र् तथा ष् और ऋकारान्त पूर्व-पद के ऋ के निमित्त से यान, वाहन, मनस्, नी, घ्न, अयन, नवति, -हन्, अहन्, नामन् इत्यादि उत्तरपदों के न् का ण् बन जाता है[१३९]; यथा— पितृ-याणम् (ऋ० १०,२,७); नृ-मणाः (ऋ० ८, ९६,१३); रथ-वाहणम् (वा० सं० २९,४५); ग्राम-णीः (तै० सं० २, ५, ४, ४); द्रु-घ्णः (अ० ७, २८, १); अपराह्णः (अ० ९, ६, ४६); दुर्णामा (अ० ८, ६, १; ऋ० १०, १६२, १)।

अपवाद—अन्तःपदसन्धि में वर्णित अपवाद (अनु० ६२ ख) के अनुसार, मूर्धन्यभाव के निमित्त वर्ण और न् के बीच कवर्ग, पवर्ग तथा य् र् व् ह् से भिन्न व्यञ्जन का व्यवधान होने पर न् का ण् नहीं बनता है; यथा— ऋजु-नीती (ऋ० १, ९०, १)। ऋषि तथा इन्द्र पूर्व-पदों के निमित्त से उत्तरपद के न् का ण् नहीं बनता और भानु इत्यादि कतिपय उत्तरपदों का न् कभी ण् में परिणत नहीं होता है[१४०]; यथा—ऋषि-मनाः (ऋ० ९, ९६, १८); इन्द्र-पानम् (ऋ० ६, ४४, १६); परि-पानम् (ऋ० ५, ४४, ११); स्वर्भानोः (ऋ० ५, ४०, ६); चित्रभानो (अ० ४, २५, ३; वा० सं० २०, ८७)। णत्व के सम्बन्ध में संहिताओं में अनेक प्रयोगभेद भी मिलते हैं[१४१]; यथा— शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहिता (१८, ५,६) तथा तै० सं० (४, ६, ३, २) में श्रीमणाः पाठ मिलता है, जबकि

रेफ या क् आए, तो स् का ष् बन जाता है[१२४]; यथा— अग्नि+सु= अग्निषु; गीर् (गिर्) + सु = गीर्षु; दिक् (दिश्) + सु = दिक्षु। मूर्धन्यभाव करने वाले स्वर और स् के मध्य अनुस्वार, ष् अथवा विसर्जनीय आने पर भी स् का ष् बन जाता है[१२५]; यथा— हवींषि, हविष्षु अथवा हविःषु।

अपवाद— जिस स् से परे ऋ, ॠ, र् अथवा भर् हो, उसका ष् नहीं बनता है[१२६]; यथा—तिसृभिः, तिसॄणाम्, तिस्रः, उस्रः, सिसर्ति।

मैक्डानल का मत है कि जिन शब्दों में अ आ से भिन्न स्वर इ उ ऋ इत्यादि के पश्चात् आने वाले स् का मूर्धन्य रूप नहीं मिलता है, वे शब्द किसी अन्य भाषा से वैदिक संस्कृत में आए हैं[१२६क]; यथा— बृसय, बिस, बुस इत्यादि।

६२. पदसन्धि में नति—

(क) त् का ट्—जब अ आ से भिन्न स्वर के पश्चात् आने वाले पदान्तीय विसर्जनीय से बने हुए स् का ष् बन जाता है, तब ष् से परे आने वाले पदादि त् का ट् बन जाता है[१२७]; यथा— द्यौष् + त्वा = द्यौष्ट्वा (अ० २, २८, ४); वायुष् + तान् = वायुष्टान् (अ० २, ३४,४)।

(ख) न् का ण्—परि, प्र, परा, उरु, पुनर्, इन्द्र, वार्, स्वर्, रक्षा (रक्ष), शिक्षा (शिक्ष), षु इत्यादि कतिपय पूर्वपदों के र् ष् के निमित्त से नु, न, नः, एनम्, एना इत्यादि कतिपय परवर्ती पदों के न् का ण् बन जाता है[१२८]; यथा— परि + नः = परि णः (ऋ० ९,४१, ६); प्र+ नु= प्र णु (ऋ० ५, १, ७); इन्द्रः + एनम् = इन्द्र एणम् (ऋ० १, १६३, २); इन्द्रः + एनाः = इन्द्र एणाः (ऋ० १०, १९, २);वार्+ न = वार्ण (ऋ० २,४,६); पुनर् + नयामसि = पुनर्णयामसि (अ० ५, १४, ७); रक्षा + नः = रक्षा णः (वा० सं० ३, ३०); शिक्षा + नः = शिक्षा णः (ऋ० ७,३२,२६); मो + षु + नः = मो षु णः (ऋ० १, ३८, ६)।

(ग) स् का ष्—अभि, उ (अकेला या सन्धियुक्त, यथा— मो, प्रो इत्यादि), ऊ, वि, नि, सु, नू, हि, त्रि, दिवि, यर्वि, उरु, ऊती, पृदि इत्यादि पदों से परे आने वाले √अस् धातु के सकारादि रूप (सन्ति, स्थ इत्यादि), और सु, सः, स्यः, सीम्, स्म, स्विद् इत्यादि शब्दों के पदादि स् का ष् बन जाता है[१२९]; यथा— अभि+सु+नः = अभी षु णः (ऋ० ४, ३१, ३); उरु+सः = उरु षः (ऋ० ६, २०, ५); ऊती+सः =ऊती षः (ऋ० ६, २, ४); कम्+उ+स्वित् = कमु ष्वित् (तै० सं० २, ६, ११, २); आपः+हि+स्थ+मयोभुवः = आपो हि ष्ठा मयोभुवः (ऋ० १०, ९, १); त्री+सधस्था = त्री षधस्था (ऋ० ३, ५६, ५); दिवि+सन्तु = दिवि षन्तु (तै० सं० १, २, १४, ७); यर्वि+स्थ = यर्विष्ठ (वा० सं० ३३, ५३)। पृदि+सिताम् = पृदि षिताम् (तै० सं० ४, ७, १५, ७)।

६४. उपसर्गस्थ निमित्त से धातु के दन्त्य का मूर्धन्यभाव

उपसर्ग के वर्ण के निमित्त से कतिपय धातुओं के दन्त्य वर्ण का मूर्धन्यभाव हो जाता है। यह मूर्धन्यभाव उपसर्ग और धातु का समास न होने पर तथा इन के समास में भी हो जाता है (दे० टि० १३०)।

(क) प्र, परा, निर्, दुर् तथा परि उपसर्गों के र् के निमित्त से नी, नुद्, अन्, नम्, नु, नश्, हन् इत्यादि धातुओं के न् का और हि धातु के साथ जुड़ने वाले विकरण के न् का ण् बन जाता है[१३०]; यथा— प्र+नीयते = प्र णीयते (ऋ० ३, २७, ८); परि+नीयते = परि णीयते (ऋ० ४, १५, १); परा+नुदस्व = परा णुदस्व (ऋ० ७, ३२, २५); प्र+हिनोमि = प्र हिणोमि; निर्+हन्यात् = निर्हण्यात् (तै० सं० ५, ६, ९, १)। उपसर्गस्थ निमित्त से लोट् के प्रत्यय आनि और अन, मान इत्यादि कृत् प्रत्ययों के न् का ण् बन जाता है[१३१]; यथा— निर्माणि (ऋ० ४, १८, २) प्रयाणे (ऋ० ८, ४३, ६)।

अपवाद— उपसर्गस्थ निमित्त से √मी धातु के साथ जुड़ने वाले विकरण ना के न् का; परि उपसर्ग के निमित्त से √हि धातु के साथ जुड़ने वाले विकरण

वा० सं० (१७, ५६), मै० सं०, का० सं० तथा श० ब्रा० में धीर्मनाः पाठ मिलता है।

(ग) उत्तरपद के पदादि स् का ष्—कतिपय समासों में पूर्वपद के अन्त में आने वाले इ ई उ ऊ ऋ ए ओ र् के निमित्त से उत्तरपद के आदि स का ष् बन जाता है[१४१]; यथा— वेदि-षदे (ऋ० १, १४०, १); पुरु-ष्वन्त्यो: (ऋ० ९, ५८, ३); सु-षोमे (ऋ० ८, ७, २९); अग्नीषोमौ (अ० ८, ९, १४); होतृ-षदनम् (अ० ७, ९९, १); पितृ-षदम् (अ० १४, २, ३३); परमे-ष्ठी (अ० ४, ११, ७); गो-ष्ठे (ऋ० १, १९१, ४); स्वर्षाः (ऋ० १, १००, १३); स्वर्षाता (ऋ० १, १३१, ६)[१४३]। कतिपय उदाहरणों में पूर्वपद के अन्तिम अ आ के पश्चात् भी उत्तरपद के आदि स् का ष् बन जाता है[१४४]; यथा— पृतना-षहम् (ऋ० ५, २३, २); पृतना-षाट (ऋ० १, १७५, २); पृतना-षाह्याय (ऋ० ३, ३७, १); ऋताषाट् (वा० सं० १८, ३८; तै० सं० ३, ४, ७, १); उप-ष्टुत् (ऋ० ९, ८७, ९); अपाष्ठात् (अ० ४, ६, ५); सव्य-ष्ठाः (अ० ८, ८, २३)।

अपवाद— कतिपय समासों में पूर्वपदस्थ निमित्त से भी उत्तरपद के आदि स का ष् नहीं बनता है[१४५]; यथा— दिवि-स्पृक् (ऋ० १०, १६८, १); हृदि-स्पृक् (ऋ० १, १६, ७); गो-सखायम् (ऋ० ५, ३७, ४); चर्षणीसहम् (ऋ० ८, २१, १०); गो-सनिम् (अ० ३, २०, १०); पृश्नि-सक्थम् (तै० सं २, १, ३, २)। परन्तु इस सम्बन्ध में अनेक प्रयोगभेद भी हैं; यथा— गो-षखा (ऋ० ८, १४, १); गो-षणिम् (ऋ० ६, ५३, १०)।

अन्तःपदसन्धि की विशेषताएं

६६. पद के अन्दर धातु और कृत्प्रत्यय के मध्य, नाम इत्यादि और तद्धित प्रत्यय के मध्य, धातु और विभक्ति (तिङ्) के मध्य, तथा प्रातिपदिक और विभक्ति (सुप्) के मध्य होने वाली सन्धि को अन्तःपदसन्धि (Internal Sandhi) कहते हैं। पदसन्धि (External Sandhi) के अधिकतर नियम साधारणतया अन्तःपदसन्धि में भी लागू होते हैं।

परन्तु अन्तःपदसन्धि की कुछ ऐसी विशेषताएँ भी हैं जो पदसन्धि में नहीं मिलती हैं। अन्तःपदसन्धि में होने वाली नति की विशेषताओं का वर्णन अनु० ६२ में किया जा चुका है। अब हम अन्तःपदसन्धि की अन्य विशेषताओं का वर्णन करेंगे।

स्वर-सन्धिविषयक वैशिष्ट्य

६७. **इयङ्, उवङ्**—धातुओं के अन्त में आने वाले इ ई तथा उ ऊ, स्वादिगण के विकरण श्नु, और ईकारान्त तथा ऊकारान्त एकाच् प्रातिपदिक भू भ्रू धी स्त्री श्री भी इत्यादि (दे० अनु० १४३-४४) से परे अजादि प्रत्यय आने पर इन के इ ई का इय् (पा० इयङ्) और उ ऊ का उव् (पा० उवङ्) बन जाता है, यदि इनको गुण या वृद्धि की प्राप्ति न हो[१४६]; यथा—क्षियत् (√क्षि + अत्); युयुवे (√यु + लि० का ए); धियें (धी + ए); भुवि (भू + इ)। तनू, सुधी, विभू इत्यादि कतिपय प्रातिपदिकों की सन्धि के सम्बन्ध में प्रयोग-भेद मिलता है[१४७]। तै० सं० और तै० ब्रा० में अजादि प्रत्यय से पूर्व इन के अन्तिम ई ऊ का क्रमशः इय् उव् बनता है, जबकि ऋ० तथा वा० सं० आदि में क्रमशः य् व् बनता है [दे० अनु० ६ (ङ)]; यथा—तनुवम् (तै० सं०) और तन्वम् (ऋ०); सुधियः (तै० ब्रा०) और सुध्यः (ऋ०); विभुवम् (तै० सं०) और विभ्वम् (ऋ०)।

६८. (क) **ऋ का रि**— यदि धातु के ऋ से परे तुदादिगण का विकरण श, भाववाच्य तथा कर्मवाच्य में आने वाला यक् प्रत्यय, अथवा लिङ् का यकारादि असार्वधातुक (दे० टि० १४८) प्रत्यय आए, तो ऋ का रि बन जाता है[१४८]; यथा— म्रियते (√मृ 'मरना' से); क्रियते (√कृ 'करना' से); भ्रियासम् (√भृ का आलि० उ० ए०)।

(ख) **ॠ का इर् उर्**— धातु के अन्त में तथा उपधा में आने वाले ॠ का इर् बनता है, और धातु के जिस ॠ से पूर्व प्, म्, अथवा व् हो उस का उर् बनता है[१४९]; और जिस इर् उर् से परे व्यञ्जन आए उस के इ उ का दीर्घत्व (अर्थात् ईर् ऊर्) हो जाता है[१५०]; यथा— किरति (√कॄ+अति); गिरति (√गॄ+अति); गीर्यते (√गॄ+यते); गीर्ण

(√गॄ+न); पूर्यते (√पॄ+यते); पूर्ण (√पॄ+न)। जब ॠ को गुण या वृद्धि की प्राप्ति हो, तब इर् उर् नहीं बनता है; यथा— √पॄ से पिपर्ति।

६६. **दीर्घत्व तथा वृद्धि**— अन्तःपदसन्धि में कहीं कहीं प्रातिपदिक, धातु, विकरण इत्यादि के ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाता है। कतिपय रूपों में अ इ ई उ ऊ ऋ ॠ को वृद्धि की प्राप्ति होती है।

(क) **अ का आ तथा ए**— यदि अकारान्त अङ्ग से परे ऐसा सार्वधातुक (दे० टि० १४८) प्रत्यय आए जिस के आदि में अन्तस्था या अनुनासिक व्यञ्जन हो, तो अ का दीर्घ बन जाता है[१५१]; यथा- भवावः (भव+वस्); भवामि (भव+मि)। अकारान्त प्रातिपदिक से परे एकवचन की यकारादि और द्विवचन की भकारादि विभक्ति आने पर अ का आ बनता है, परन्तु बहुवचन की भकारादि तथा सकारादि विभक्ति और ष० तथा स० के द्वि० के ओस् से पूर्व अ का ए बनता है[१५२]; यथा— नासत्याभ्याम्, देवेभिः, देवेभ्यः, देवेषु।

(ख) **अ इ उ का दीर्घत्व**— यदि अजन्त अङ्ग से परे ऐसा यकारादि प्रत्यय आए जो सार्वधातुक (टि० १४८) तथा कृत् (टि० १५३) नहीं है, तो अङ्ग के अन्तिम ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाता है[१५३]; यथा— अश्वायते (अश्व+क्यच्+शतृ) अघायति (अघ+क्यच्); जीयते (√जि+यक्); श्रूयते (√श्रु+यक्)।

(ग) **अ इ उ ऋ का दीर्घत्व**— अकारान्त, इकारान्त, उकारान्त तथा ऋकारान्त प्रातिपदिक से परे ष० ब० की नाम् (न्+आम्) विभक्ति आने पर, अ इ उ ऋ का दीर्घ हो जाता है[१५४]; यथा— देवानाम्, चर्षणीनाम्, ऋतूनाम्, पितॄणाम्।

(घ) **अ इ ई उ ऊ ऋ ॠ की वृद्धि**— कतिपय प्रत्ययों से पूर्व धातु तथा प्रातिपदिक के समानाक्षरों को वृद्धि की प्राप्ति होती है[१५५]; यथा— जगाम (√गम् से); मार्ष्टि (√मृज् से); चकार (√कृ से); चिकाय (√चि से); सखायः (सखि से); मारुत (मरुत् से); पार्थिव (पृथिवी से) इत्यादि। लङ्, लुङ् तथा लृङ् लकार में धातु को जिस अट् का आगम होता है उस के साथ सन्धि होने पर धातु के

आदि स्वर को वृद्धि की प्राप्ति होती है[१५६]; यथा— ऐत् (√इ से); औक्षत् (√उक्ष् से); औहिष्ट (√ऊह् से); आर्त (√ऋ से)।

व्यञ्जनसन्धिविषयक वैशिष्ट्य

७०. **व्यञ्जनों का लोप—**

अन्तःपदसन्धि में कतिपय व्यञ्जनों का लोप हो जाता है। जिन परिस्थितियों में व्यञ्जनों का लोप होता है उन का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है।

(क) **संयोगान्त पद के अन्तिम व्यञ्जन का लोप**— पद की रूप-रचना के समय उसके अन्त में आने वाले संयुक्त व्यञ्जनों में से अन्तिम व्यञ्जन का लोप हो जाता है[१५७]; यथा— गोमान् (गोमान्स्); ददत् (ददत्स्); अहन् (अहन्त्)।

अपवाद— कतिपय संयोगान्त पदों में र् से परे आने वाले स् से भिन्न व्यञ्जन का लोप नहीं होता है[१५८]; यथा— ऊर्क् (ऊर्ज् का प्रथमा ए०); अमार्ट् (√मृज् का लङ् प्र० पु० ए०); आवर्त् (√वृत् का लु० प्र० पु० ए०); सुहार्त् (सुहार्द् का प्रथमा ए०); दर्त् (√दृ का लु० प्र० पु० ए०)। परन्तु अदर् (अदर्स् = √दृ का लु० म० पु० ए०)।

(ख) **स् तथा क् का लोप**— पद के अन्त में जो संयुक्त व्यञ्जन आते हैं, या वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण तथा ऊष्म में से किसी वर्ण के परे रहने पर जो संयुक्त व्यञ्जन आते हैं उन संयुक्त व्यञ्जनों के आदि में आने वाले स् तथा क् का लोप होता है[१५९]; यथा— भृट् (भृस्ज् का प्रथमा ए०); अभक्त (अभक् + स् + त = √भज् का लुङ् प्र० पु० ए०); काष्ठतट् (काष्ठतक्ष् का प्रथमा ए०— काशिका); तष्ट (तक्ष् + क्त)।

(ग) **स् का लोप**— सकारादि, रेफादि तथा धकारादि प्रत्यय से पूर्व धातु तथा धातुसम्बन्धी प्रत्यय के स् का लोप हो जाता है[१६०]; यथा—असि (अस् + सि = √अस् का लट् म० पु० ए०); भवितारः (भवितास् + रः = √भू का लुट् प्र० पु० ब०); शाधि (शास् + धि = √शास् का लोट् म०

पु० ए०)। लुङ् के रूपों में धातु के ह्रस्व स्वर के पश्चात् और अनुनासिकवर्जित स्पर्शों तथा ऊष्म में से किसी वर्ण से पूर्व आने वाले; प्रत्ययों के इट् तथा ईट् आगमों के मध्य आने वाले; और अनुनासिक वर्जित स्पर्शों तथा ऊष्म के किन्हीं दो वर्णों के मध्य में आने वाले स् (पा० 'सिच्') का लोप हो जाता है[१११]; यथा— अकृत (√कृ से); अकृथाः (√कृ से); अक्रमीत् (अक्रम्+इ+स्+ई+त् = √क्रम् का लु० प्र० पु० ए०); अबुद्ध (अबुध्+स्+त= √बुध् का लु० प्र० पु० ए०); अबुद्धाः (अबुध्+स्+थास् = √बुध् का लु० म० पु० ए०)।

(घ) **अनुनासिक स्पर्श तथा अनुस्वार का लोप**— कुछ ऐसे प्रत्यय जुड़ने पर जो प्रायेण उदात्तसहित होते हैं कतिपय धातुओं के उपधा के न् का लोप हो जाता है (जो न् चवर्ग के वर्णों से पूर्व ञ् के रूप में और ऊष्म से पूर्व अनुस्वार के रूप में रहता है[११२]); यथा— अनक्ति (√अञ्ज्+श्नम्+तिप्); भनक्ति (√भञ्ज्+श्नम्+तिप्); अक्त (√अञ्ज्+क्त); हिनस्ति (हिंस्+श्नम्+तिप्); स्रस्त (√स्रंस्+क्त) ; भज्यते (√भञ्ज्+यक्+ते); दशति (√ दंश् का लट् प्र० पु० ए०), सजति (√सञ्ज् का लट् प्र० पु० ए०) तथा स्वजते (√स्वञ्ज् से) में धातु पर उदात्त रहते हुए भी उपधा के न् का लोप हो जाता है। परन्तु देखिये— दष्ट (√दंश्+क्त); सक्त (√सञ्ज्+क्त) तथा स्वक्त (√स्वञ्ज्+क्त)।

इसी प्रकार कतिपय प्रत्ययों से पूर्व कुछ मकारान्त तथा नकारान्त धातुओं के अन्तिम अनुनासिक स्पर्श का लोप हो जाता है और इन में से अधिकतर उदाहरणों में प्रत्यय पर उदात्त रहता है[११३]; यथा— यत (√यम्+क्त); रत (√रम्+क्त); नत (√नम्+क्त); गत (√गम्+क्त); हत (√हन्+क्त); मत (√मन्+क्त); तत (√तन्+क्त)। कुछ धातुओं के न् का लोप और उपधा के अ का दीर्घ हो जाता है[११४]; यथा— खात (√खन्+क्त); सातिः (√सन्+क्तिन्)। परन्तु यतिः (√यम्+क्तिन्); रतिः (√रम्+क्तिन्) तथा गतिः (√ गम्+क्तिन्) इत्यादि शब्दों में धातु पर उदात्त रहता है।

व्यञ्जनादि विभक्ति तथा तद्धित प्रत्यय से पूर्व नकारान्त प्रातिपदिकों के अन्तिम न् का लोप हो जाता है[१६५]; यथा— राजभिः (राजन्+भिः); राजकः (राजन् + क); रोमशम् (रोमन् + श)।

(ङ) ढ् का लोप— ढ् से परे ढ् आने पर पूर्ववर्ती ढ् का लोप हो जाता है और लुप्त ढ् की उपधा में आने वाले ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाता है यदि उसे गुण या वृद्धि की प्राप्ति न हो[१६६]; यथा— गूढ (गुढ् + ढ = √गुह्+क्त); लीढ (लिढ् + ढ = √लिह् + क्त)। हकार के ढकार-सम्बन्धी परिवर्तन के लिये और सह् तथा वह् धातुओं के रूप में होने वाले विकार के लिए दे० अनु० ७३।

७१. प्रत्ययों के दो मुख्य भेद—

अन्तःपदसन्धि के विचार से प्रत्ययों के दो मुख्य भेद किये जा सकते हैं— (१) यकारवर्जित व्यञ्जन से प्रारम्भ होने वाले प्रत्यय; (२) और यकारादि तथा स्वरादि प्रत्यय। इन प्रत्ययों का विशेष अन्तर यह है कि प्रथम श्रेणी के प्रत्ययों से पूर्व प्रातिपदिक तथा धातु आदि के अन्तिम व्यञ्जन में प्रायेण वैसा ही विकार होता है जैसा कि पदसन्धि में होता है, परन्तु द्वितीय श्रेणी के प्रत्ययों से पूर्व प्रातिपदिक तथा धातु आदि के अन्तिम व्यञ्जन प्रायेण अविकृत रहते हैं; यथा— मरुत् + भिः=मरुद्भिः; मरुत् + अस = मरुतः; अदन्ति (√अद् का लट् प्र० पु० ब०); अद्यात् (√अद् का विलि० प्र० पु० ए०); अत्तुम् (√अद् + तुमुन्); गम्यते (√गम् +यक् + ते); हन्यते (√हन् + यक् + ते)। मकारादि, वकारादि, रेफादि तथा नकारादि प्रत्ययों से पूर्व भी धातु का अन्तिम व्यञ्जन प्रायेण अविकृत रहता है; यथा— अद्मि (√अद् का लट् उ० पु० ए०); शुभ्र (√शुभ्+र); हन्वः (√हन् का लट् उ० पु० द्वि०); आप्नोति (√आप् का लट् प्र० पु० ए०)।

सघोषमहाप्राण स्पर्शों की सन्धि

७२. (क) घ् ध् भ् का क् त् प्—यदि सघोष महाप्राण स्पर्शों से परे कोई अघोष व्यञ्जन आए, तो वे अपने वर्ग के प्रथम वर्ण में परिणत हो जाते हैं[१६७];

यथा— समिध्+सु=समित्सु; लभ्+स्यते=लप्स्यते । दघ्+तम्=धक्तम् (√दघ् का लो० म० पु० द्वि०); द् के ध् विकार के लिये नीचे (ग) देखिये ।

(ख) घ् ध् भ् का ग् द् ब्—सघोष महाप्राण स्पर्शों से परे अन्तस्था-वर्जित तथा अनुनासिकवर्जित सघोष व्यञ्जन आने पर ये अपने वर्ग के तृतीय वर्ण में परिणत हो जाते हैं[१६८]; यथा—रुन्ध्+धि=रुन्द्धि; उष्णिक्कुभ्+भ्याम्=उष्णिक्कुब्भ्याम् (पं० ब्रा०) दुघ्+त=दुग्ध (√दुह्+क्त); त के ध विकार के लिये नीचे (ङ) देखिये और ह् के घ् विकार के लिये अनु० ७३ देखिये । जैसा कि हम पूर्व (अनु० ७१ में) बतला चुके हैं जिन प्रत्ययों के आदि में य् र् व् न् म् हो उनके परे रहते ध् भ् अविकृत रहते हैं ।

(ग) घ् ह् ध् भ् अन्त वाले एकाच् धात्ववयव के ग् द् ब् का घ् ध् भ्—धातु के एकाक्षर वाले जिस अवयव के अन्त में घ् ह् ध् भ् में से कोई वर्ण आता हो, उस से परे स् या ध्व आने पर या पदान्त में, उस धात्ववयव के ग् द् ब् का क्रमशः घ् ध् भ् बन जाता है[१६९]; यथा—उपबुध् का प्रथ० ए० उपभुत्; अघुक्षत् (अ+गुह्+स+त्=√गुह् का लुं० प्र० पु० ए०); अधोक् (अ+दुघ्+त्=√दुह् का लङ् प्र० पु० ए०); अभुत्सि (√बुध् का लुं० उ० पु० ए०); मार्ति धक्तम् (√दघ् का लोट् म० पु० द्वि०=ऋ० १,१८३,४)। धुक् (दुह् प्रातिपदिक का प्रथमा ए०)। दे० अनु० १२७। √गुह् के ह् के द् और √दुह् के ह् के घ् के सम्बन्ध में नीचे अनु० ७३ देखिए। वैदिक संहिताओं में इस सन्धि-विकार के सम्बन्ध में कुछ प्रयोग-भेद भी मिलता है; यथा—√दुह् का लुङ्, अधुक्षत् (ऋ० १०, १४९, १) और अदुक्षत् (पपा० अधुक्षत्– ऋ० १,३३,१०)। इसी प्रकार √दह् से धक्षत् (ऋ० ६,३,४) और दक्षत् (पपा० –धक्षत्– ऋ० १,१३०,८) इत्यादि में भेद मिलता है।

(घ) √धा के दध् के द् का ध्— धा धातु के द्विरुक्त तथा धकारान्त अङ्ग दध् से परे यदि तकार, थकार, स् अथवा ध्व आए, तो दध् के आदि द् का ध् बन जाता है[१७०]; यथा— धत्ते (दध्+ते); धत्थः (दध्+थः); धत्से (दध्+से); धद्ध्वम् (दध्+ध्वम्)।

(ङ) **घ् ढ् ध् भ् से परे त और थ का ध**— धा धातु के रूपों को छोड़ कर अन्य रूपों में महाप्राण सघोष स्पर्श (घ् ढ् ध् भ्) से परे आने वाले त और थ का ध बन जाता है[१७१]; यथा—दुघ् + त= दुग्ध (√दुह्+क्त); गुढ् + त=गूढ (√गुह्+क्त); बुध्+ त = बुद्ध (√बुध्+क्त); लभ् + त =लब्ध (√लभ्+क्त); अबुध् + थाः = अबुद्धाः (√बुध् का लुं० म० पु० ए०)।

७३. **ह् का घ् ढ् ध् थ्—**

(क) **ह् का घ्**— दकारादि धातु के ह् का घ् बन जाता है यदि वह पदान्त में हो अथवा उस से परे वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ स्पर्श तथा श् ष् स् ह् में से कोई वर्ण आए[१७२]; यथा— √दह् +क्त =दग्ध; √दह्+तुमुन् =दग्धुम्; √दिह् +क्त =दिग्ध; √दुह्+ क्त= दुग्ध; √दुह्+तुमुन् =दोग्धुम्। अन्य उदाहरण अनु० ७२ में देखिये।

(ख) **ह् का ढ्**— दकारादि धातुओं से भिन्न धातुओं के अन्त में आने वाले ह् का ढ् बन जाता है यदि वह पदान्त में हो अथवा उस से परे वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ स्पर्श तथा श् ष् स् ह् में से कोई वर्ण आए[१७३]; यथा— √लिह् + क्त= लीढ (लिढ्+ढ)। अनु० ७२(ङ) में उक्त नियम के अनुसार ढ् से परे आने वाले त् थ् का ध् बन जाता है, ध् का मूर्धन्यभाव हो कर ढ् बनता है, और पहले ढ् का लोप हो जाता है। दे० अनु० ७० (ङ)। ढ् का लोप होने पर √सह् तथा √वह् के अकार का ओ बन जाता है[१७४]; यथा— √वह् + तुमुन् = वोढुम्; √वह् + तवै = वोढवै; वोढा (√वह्+ तृच् + प्रथमा ए०); √सह्+ तुमुन् = सोढुम्। परन्तु संहिताओं में सह् धातु के ह् का ढ् बनने पर इस के अ का आ बनता है[१७५]; यथा— अषाळ्हः (अ+ √सह्+ क्त; ऋ० ३, १५, ४); साळ्हा (√सह्+ तृन् + प्रथमा ए०; ऋ० ७,५६,२३); साढ्यैं (√सह् + ध्यैं; मै० सं० १,६, ३[१७५क]); साढ्वा (सह् + क्त्वा; मै० सं० ३,८, ५)।

(ग) **द्रुह् मुह् स्नुह् स्निह् के ह् का वैकल्पिक घ्**— यद्यपि पा० के मतानुसार झल् (य् र् ल् व् ङ् ञ् ण् न् म् को छोड़ कर सब व्यञ्जन) से पूर्व और पदान्त में द्रुह् मुह् स्नुह् स्निह् के हकार का विकल्प से घ्

है[१८१]; यथा—नक् (नश् "रात्रि" का प्रथमा ए०; ऋ० ७, ७१, १); जीवनड् (जीवनश् का प्रथमा ए०; मै० सं० १, ४, १३)।

७६. तालव्य व्यञ्जनों का कण्ठ्यभाव (Gutturalization)

(क) **प्रातिपदिकों के तालव्य व्यञ्जन का कण्ठ्यभाव**—स्पृश्, दिश् तथा दृश् प्रातिपदिकों का अन्तिम श् और ऋत्विज् तथा स्रज् प्रातिपदिकों का अन्तिम ज् पदान्त में तथा झलादि विभक्ति से पूर्व कण्ठ्य स्पर्श में परिणत हो जाता है[१८२]; यथा—स्पृक् (प्रथमा ए०); दिक् (प्रथमा ए०); दृक् (प्रथमा ए०); ऋत्विक् (प्रथमा ए०); स्रक्षु (स्रज् का स० ब०)। अनु० ७५ में परिगणित धातुओं से बने कृदन्त प्रातिपदिकों को छोड़ कर अन्य चकारान्त तथा जकारान्त प्रातिपदिकों का अन्तिम तालव्य स्पर्श पदान्त में तथा झलादि विभक्तियों से पूर्व कण्ठ्य स्पर्श में परिणत हो जाता है[१८३]; यथा— वाक् (वाच् का प्रथमा ए०); वाग्भिः (तृ० ब०); ऊर्क् (ऊर्ज् का प्रथमा ए०); निर्णिक् (निर्णिज् का प्रथमा ए०); वणिक् (वणिज् का प्रथमा ए०)।

(ख) **धातुओं के तालव्य व्यञ्जन का कण्ठ्यभाव**— अनु० ७५ में परिगणित धातुओं को छोड़ कर अन्य चकारान्त तथा जकारान्त धातुओं का अन्तिम तालव्य स्पर्श पदान्त में तथा झल् से पूर्व कण्ठ्य स्पर्श में परिणत हो जाता है (दे० टि० १८३); यथा—√पच् + तवेन् =पक्तवे; √पच् +स्यति = पक्ष्यति; √पृच् +क्त= पृक्त; अप्राक् (√पृच् का लु० प्र० पु० ए०; अ० १०, ४,२६); √मुच् +क्त = मुक्त; अमोक् (√मुच् का लु० प्र० पु० ए०); √भञ्ज् + क्त=भक्त ; √तिज् +क्त = तिक्त ; √त्यज् +क्त= त्यक्त ; √भज् +क्त= भक्त ; अभाक् (√भज् का लु० प्र० पु० ए०)।

कतिपय स्वरादि तथा यकारादि कृत्प्रत्ययों से पूर्व भी चकारान्त तथा जकारान्त धातुओं का अन्तिम तालव्य स्पर्श कण्ठ्य स्पर्श में परिणत हो जाता है[१८४]; यथा— √भज् से भागः ; √सृज् से सर्गः ; √पच् से पाकः। अनु० ७५ के अनुसार शकारान्त धातुओं के श् का ष् बनता है और अनु० ७४ क के अनुसार स् से पूर्व ष् का क् बन जाता

है; यथा— √दृश् + स्य + ति = द्रक्ष्यति। परिणामतः श् का क् बन जाता है।

७७. **प् का त्—**

भकारादि विभक्तियों से पूर्व अप् "जल" प्रातिपदिक के प् का त् बन जाता है[१८५]; यथा— अद्भिः; अद्भयः। सन्धि-नियम के अनुसार, पुनः त् का द् बन जाता है (अनु० ४८ क)।

७८. **स् का त् द्—**

(क) **कतिपय सकारान्त प्रातिपदिकों के स् का त्**—भकारादि विभक्तियों से पूर्व स्ववंस्, स्वतवस्, मास् तथा उषस् प्रातिपदिकों के स् का त् बन जाता है और सन्धि-नियम के अनुसार त् का द् हो जाता है[१८६]; यथा— स्ववस् + भिः = स्ववद्भिः; स्वतवस् + भ्यस् = स्वतवद्भ्यः (वा० सं० २४,१६); मास् + भिः = माद्भिः (ऋ० २,२४,५); उषस् + भिः = उषद्भिः (ऋ० १,६,३)। दे० अनु० १२२ (क)।

(ख) **कतिपय प्रातिपदिकों के स् का द्**— भकारादि विभक्ति तथा सु विभक्ति से पूर्व स्रंस् ध्वंस् के अन्तिम स् का द् बन जाता है; और उन सकारान्त पदों के अन्तिम स् का द् बन जाता है, जिन के अन्त में वस् कृत्प्रत्यय जुड़ा होता है[१८७]; यथा— चकृवस् + भिः = चकृवद्भिः; जागृवस् + भिः = जागृवद्भिः। स्रंस् तथा ध्वंस् के वैदिक उदाहरण मृग्य हैं।

(ग) **सकारान्त धातुओं के स् का त्**— सकारादि आर्धधातुक (तिङ् तथा शित् प्रत्यय से भिन्न) प्रत्यय से पूर्व धातु के सकारान्त अङ्ग के अन्तिम स् का त् बन जाता है[१८८]; यथा— √वस् + स्य + ति = वत्स्यति; जिघस् + स + उ = जिघत्सु।

(घ) **सकारान्त धातुओं के स् का द्**— लङ् तथा लुङ् प्र० पु० ए० के प्रत्यय त् (पा० 'तिप्') और म० पु० ए० के प्रत्यय स् (पा० 'सिप्') का लोप होने पर √अस् वर्जित सकारान्त धातुओं के अन्तिम स् का पदान्त में कहीं कहीं द् बन जाता है[१८९]; यथा—अघत् (√घस् या पा० के

बनता है और घ् न बनने पर ढ् बनता है[१७६], तथापि संहिताओं में मिलने वाले अधिकतर रूपों में द्रुह् मुह् के ह् का घ् बनता है और शेष दो धातुओं का प्रयोग अत्यल्प है; यथा— द्रुग्धः (√द्रुह् + क्त; ऋ० ५,४०, ७); मुग्धः (√मुह् + क्त; ऋ० ५,४०,५); परन्तु मूढः (√मुह् + क्त; अ० ६,६७,२)। अ० के अतिरिक्त उपनिषदों तथा कल्पसूत्रों में मुह् के ह् का ढ् बनता है। परन्तु अन्य संहिताओं में द्रुह् मुह् के ह् का घ् बनता है और ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा कल्पसूत्रों में स्निह् के ह् का घ् बनता है।

विशेष— पदान्त में और व्यञ्जनादि सुप् विभक्ति से पूर्व उष्णिह् के ह् का घ् बनता है और पदान्तीय नियम से घ् का क् बन जाता है; यथा— उष्णिक् (अ० १९, २१,१) [१७६क]।

(घ) √नह् के ह् का ध् और अनडुह् के ह् का द्— झल् [दे० ऊपर (ग) में] से पूर्व और पदान्त में नह् धातु के ह् का ध् बन जाता है[१७७]; यथा— √नह् + क्त = नद्धः; √नह् + तुमुन् = नद्धुम्; परीणत् (परि + √नह् + क्विप् + प्रथमा ए०)। भ्याम्, भिस्, भ्यस् तथा सु विभक्तियों से पूर्व अनडुह् प्रातिपदिक के ह् का द् बन जाता है[१७७क]; यथा— अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भिः, अनडुद्भ्यः, अनडुत्सु।

(ङ) आह् के ह् का थ्— झल् से पूर्व (वास्तव में थ से पूर्व) आह् के ह् का थ् बन जाता है [१७८]; यथा— आत्थ (आह् + थ)।

७४. ह् तथा ष् का विकार—

(क) ष् तथा ढ् का क्— यदि ष् तथा ढ् से परे सकार हो, तो ष् ढ् का क् बन जाता है[१७९]; यथा— विविष् + सि = विवेक्षि (√विष् का लट् म० पु० ए०); वह् + स् + अ + ति = वढ् + स् + अ + ति = वक्षति (√वह् का ले० प्र० पु० ए०)।

(ख) ष् तथा ढ् का ट्— सकारादि सुप्विभक्ति से पूर्व और अवसान में ष् तथा ढ् का ट् बन जाता है; यथा—षष् + सु = षट्सु; षट् (प्रथमा ए०); तुराषाट् (प्रथमा ए०)।

(ग) **ष् तथा ह् का ड्**—भकारादि सुब्विभक्ति तथा धकारादि तिङ् विभक्ति से पूर्व ष् का ड् बन जाता है; यथा— षष्+भिः=षड्भिः; षष्+भ्यः=षड्भ्यः; विविष्+धि=विविड्ढि (√विष् का लो० म० पु० ए०); मृष्+ध्वम्=मृड्ढ्वम् (√मृज् का लो० म० पु० ब०; ज् का ष् अनु० ७५)। भकारादि सुब्विभक्ति से पूर्व ह् का ड् बन जाता है, परन्तु धकारादि तिङ्विभक्ति परे रहने पर जब ह् के निमित्त से ध् का ढ् बनता है तब पूर्ववर्ती ड् का लोप हो जाता है (दे० अनु० ७० ङ); यथा— तुराषाह् (ह् का ड्)+भिः=तुराषाड्भिः; तुराषाह्+भ्यः=तुराषाड्भ्यः; लिह् (ह् का ड्)+धि=लेड्+ढि=लेढि (√लिह् का लो० म० पु० ए०)।

अपवाद—परन्तु पदान्त में तथा हलादि विभक्तियों से पूर्व दुधृष् "साहसी" के ष् का क् बनता है[७९क]; यथा—दुधृक् (ऋ० ५, ६६, ३)। पदान्त में √पिष् के ष् का क् बनता है; यथा— पिणक् (√पिष् का लङ् प्र० पु० ए०; ऋ० ४, ३०, ९)। पदान्त में सजुष् "साथी" के ष् का र् बनता है[७९ख]; यथा— सजूः।

७५. तालव्य व्यञ्जनों का ष्—

पदान्त में और झल् (अन्तस्था तथा अनुनासिकस्पर्शवर्जित व्यञ्जनों) से पूर्व व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज्, मृज्, यज्, राज्, भ्राज् तथा छकारान्त और शकारान्त के अन्तिम तालव्य वर्ण का ष् बन जाता है[८०]; यथा— √व्रश्च्+क्त्वा=वृष्ट्वा (अ० ८, ३, २; पा० के अनुसार र् का संप्रसारण और श् का लोप); परन्तु √व्रश्च्+क्त्वी=वृक्त्वी (ऋ० १०, ८७, २); √सृज्+क्त=सृष्ट; अस्राट् (√सृज् का लु० प्र० पु० ए०); परन्तु असृाक् (√सृज् का लु० प्र० पु० ए०; ऋ० ४, ५३, ३); √मृज्+क्त=मृष्ट; √यज्+क्त=इष्ट (य् का संप्रसारण); अयाट् (√यज् का लु० प्र० पु० ए०); √राज्+ति=राष्टि (ऋ० १, १०४, ४) स्वराट् (स्वराज् का प्रथमा ए०; ऋ० १, ६१, ९); अभ्राट् (√भ्राज् का लु० प्र० पु० ए०); √प्रच्छ+क्त=पृष्ट; √विश्+क्त=विष्ट। परन्तु नश् के श् का कहीं क् और कहीं ट् बनता

अद् का घस् आदेश + लु० प्र० पु० ए०) परन्तु अघंस् (लु० प्र० पु० तथा म० पु० ए०)।

७९. **धातु के म् का न्**— पदान्त में मकारान्त धातु के म् का न् बन जाता है[१५०]; यथा— अगन् (√गम् का लु० प्र० पु० ए० तथा म० पु० ए०); प्रशान् (प्रशाम् का प्रथमा ए०)। मकारादि तथा वकारादि प्रत्ययों से पूर्व भी मकारान्त धातु के म् का न् बन जाता है[१५१]; यथा— अगन्म (√गम् का लु० उ० पु० ब०); जगन्वान् (√गम् + क्वसु से)।

टिप्पणियां

१. निरुक्त १, १७—"परः सन्निकर्षः संहिता" ॥ पा० १, ४,१०९—"परः सन्निकर्षः संहिता" इस सूत्र पर काशि०—"वर्णानामर्धमात्राकालव्यवधानं स . संहितासंज्ञो भवति" ॥ वा० प्रा० १, १५८— "वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता" ॥ तै० प्रा० ५, १—"अथ संहितायामेकप्राणभावे" ॥

२. तै० प्रा० २४, ३—"नानापदसन्धानसंयोगः पदसंहितेत्यभिधीयते" ॥ वा० प्रा० ३, ३—"पदान्तपदाद्योः सन्धिः" ॥ तु० ऋ० प्रा० २, १४— "अतोऽन्याः पदसन्धिषु" ॥

३. ऋ० प्रा० २,१—"संहिता पदप्रकृतिः ।" इस सूत्र के व्याख्यान में उवट कहता है—"पदानि प्रकृतिभूतानि यस्याः संहितायाः सा पदप्रकृतिः संहितात्र विकारः। तथा हि षत्वणत्वादयो विकाराः संहिताया एव भवन्ति।"

निरुक्त १, १७—"पदप्रकृतिः संहिता । पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि।" दुर्गाचार्य पदप्रकृतिः के दो व्याख्यान प्रस्तुत करते हैं— "अत्र द्विधा वर्णयन्ति—पदानां या प्रकृतिः, सेयं पदप्रकृतिः संहिता । किं कारणम् ? संहितातो हि पदानि प्रक्रियन्ते, तस्मात् संहितैव प्रकृतिः, विकारः

पदानीत्येवमेके मन्यन्ते । अपरे पुनः, पदप्रकृतिः संहितेति पदानि प्रकृतिर्यस्याः, सेयं पदप्रकृतिरिति । किं कारणम् ? पदान्येव हि संहन्यमानानि संहिता भवति । तस्मात्पदान्येव प्रकृतिः, विकारः संहितेति ।" अन्त में दुर्गाचार्य प्रथम व्याख्यान को ही साधीयः मानते हैं । परन्तु यास्क के अगले वाक्य के व्याख्यान में दुर्गाचार्य इस मत को स्वीकार करते हैं कि सब शाखाओं के प्रातिशाख्यों की प्रकृति पद ही हैं—"सर्वेषां चरणानां शाखान्तराणामित्यर्थः । किम् ? पार्षदानि, स्वचरणपर्षद्येव यैः प्रतिशाखानियतमेव पदावग्रहप्रगृह्याप्रगृह्यक्रमसंहितास्वरलक्षणमुच्यते, तानीमानि पार्षदानि प्रातिशाख्यानीत्यर्थः । आह—किं तेषामिति ? उच्यते—तानि पदप्रकृतीनि । पदं येषु संहितायाः प्रकृतित्वेन चिन्त्यते, तानीमानि पदप्रकृतीनि । तेषामपि स एव समय इत्यभिप्रायः ॥" दुर्गाचार्य कहते हैं कि प्रातिशाख्यों में ही पदों का प्रकृतित्व है, सर्वत्र नहीं । यास्क का अभिप्राय दोनों वाक्यों में अवश्य समान ही रहा होगा ।

पद-प्रकृतिः के व्याख्यान के सम्बन्ध में वाक्यपदीय (२,५९-६०) में भी यही संशयात्मक मत प्रकट किया गया है—"पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया ।"

इस प्रकार के व्याख्यान-द्वैध के होते हुए भी यह मानना होगा कि समस्त मन्त्रवाङ्मय की मूल-रचना प्रातिशाख्यविहित पदों के रूप में नहीं हो सकती । और यह मानना असम्भव है कि मौलिक रचना में षत्व, णत्व आदि का सर्वथा अभाव था और केवल उत्तरकालीन संहितारूप में ही ये विकार प्रकट हुए । परन्तु यह भी सम्भाव्य है कि मौलिक रचना में ये सब संहिता-विकार भी नहीं थे जो वर्तमान संहितारूप में उपलब्ध होते हैं । अनेक मन्त्रों के कुछ संहिताविकारों को दूर करने से उनका छन्दोभङ्गत्व दूर हो जाता है । अत एव अनेक पाश्चात्य विद्वान् यह मानते हैं कि ऋग्वेद का संहितारूप कालान्तर में निश्चित किया गया और मौलिक रचना में सर्वत्र सन्धि नहीं की गई थी । प्रो० मैक्डानल (H. S. L., p. 50) के मतानुसार, ऐतरेयब्राह्मण के रचनाकाल तक ऋग्वेद का संहितारूप निश्चित नहीं किया गया था । अत एव अनेक

विद्वान् मानते हैं कि ऋग्वेद का मूलरूप वर्तमान संहिता रूप से भिन्न रहा होगा और प्रो० एस्टलर ऋग्वेद के मूलरूप के पुनर्निर्माण में प्रयत्नशील हैं। Cf. Summaries of Papers of AIOC, XVIII, p. 6; XX, pp. 3-10; XXI, pp. 1-2. Cf. Gr. Lg. Ved., p.88.

४. अ० प्रा० १, ४—अनल्टकारः स्वरः पद्यः। वा० प्रा० १, ८७- स्वराश्च ल्टकारवर्जम्। वा० प्रा० (१,८८) केवल अवग्रह में ऋकार को पदान्तीय मानता है। तै० ब्रा० (३,११ १, २) के जनयितृ तथा भर्तृ पदों में पदान्तीय ऋ मिलता है और शत० ब्रा० (१४,६,८,११) के विज्ञातृ में भी पदान्तीय ऋ है। ऋ० प्रा० (१२, १) ऋ को पदान्तीय मानता है, परन्तु उवट द्वारा दिये गये उदाहरण में ऋ केवल अवग्रह में पदान्तीय है। ऋ० प्रा० (१२,१) के अनुसार ऋ पदान्तीय नहीं है।

५. अ० प्रा० १, ६—प्रथमोत्तमाः; २, ३—पदान्ते चाघोषाः॥ वा० प्रा० १,८५—प्रथमोत्तमाः पदान्तीया अच्वौ॥ अ० प्रा० (१, ८) कहता है कि शौनक के मतानुसार वर्गों के प्रथम वर्णों की अपेक्षा तृतीय वर्ण पदान्त में आते हैं। पाणिनि ने दोनों विकल्प स्वीकार किये हैं (दे० टि० ४१)। ऋ० प्रा० (१,१५-१६) कहता है कि गार्ग्य के मतानुसार वर्गों के तृतीय वर्ण और शाकटायन के मतानुसार प्रथम वर्ण अवसान में आते हैं। आगे चल कर ऋ० प्रा० (१२,१) वर्गों के प्रथम तथा तृतीय वर्णों को विकल्प से पदान्तीय मानता है। परन्तु वास्तव में ऋ० प्रा० (२,१० तथा ४,२) वर्गों के प्रथम वर्णों को पदान्तीय मानकर सन्धिविकारों का व्याख्यान करता है। तै० प्रा० (८,१-४) भी प्रथम वर्णों को पदान्तीय मानकर सन्धि-विकारों का वर्णन करता है। पदकार शाकल्य ने भी प्रथम वर्णों को पदान्तीय माना है और अधिकतर लिखित ग्रन्थों में प्रथम वर्ण ही पदान्तीय मिलते हैं। अत एव वर्गों के प्रथम वर्णों को पदान्तीय मानने वाला मत ही ग्राह्य है।

६. प्रो० मैक्डानल (Ved. Gr, p. 45) इन पदों के ल्टकार को ऋकार का प्रतिनिधि मानते हैं।

७. अ० प्रा० १, ७— न चवर्गः ॥ ऋ० प्रा० १२,१— ऊष्मान्तस्थसोष्म-चकारवर्गा, नान्तं यान्त्यन्यत्र विसर्जनीयात् ॥ वा० प्रा० (१,८८) के अनुसार केवल अवग्रह में पदान्तीय ण् आता है । ऋ० प्रा० १२, १ के भाष्य में उवट द्वारा दिए गए उदाहरणों में भी केवल अवग्रह में पदान्तीय ण् मिलता है, परन्तु संहिता में कहीं नहीं मिलता है। पा० ८,२, ३०— चोः कुः ॥

७क. पा० ८, ४, ५७— अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः ॥ अ० प्रा० १, ७०— पुरुष आ बभूवाँ३ इत्यवसाने ॥ ऋ० प्रा० १, ६३-६४—अष्टावाद्यान-वसानेऽप्रगृह्यानाचार्या आहुरनुनासिकान्स्वरान् ॥६३॥ तत् त्रिमात्रे शाकला दर्शयन्त्याचार्यशास्त्रापरिलोपहेतवः ॥६४॥

तै० प्रा० १५, ६-८—अप्रग्रहाः समानाक्षराण्यनुनासिकान्येके-षाम् ॥६॥ पदं च प्लुतँ शाङ्खायनकाण्डमानयोः ॥७॥ अकारस्तु सँहिताया-मपि ॥८॥

यद्यपि ऋ० प्रा० (१,६३) तथा तै० प्रा० (१५, ६) के अनुसार अप्लुत अ आ, इ ई, उ ऊ इत्यादि का भी अवसान में अनुनासिक बन जाना चाहिए, परन्तु लिखित संहिताओं में (जैसा कि शाकल्य आचार्य के अनुयायी भी मानते हैं) केवल प्लुत अ आ, इ ई, उ ऊ का अवसान में अनुनासिक रूप दिखलाया जाता है।

७ख. ऋ० प्रा० २, ६०-६२—स्वरे पादादा उदये सचेति ॥६०॥ ष्वन्तं जोषं चर्षणीश्चर्षणिभ्यः । एकारान्तं मित्रयोरस्मदीवन्नमस्युरित्युपधं चेत्यपृक्ताम् ॥६१॥ एकारौकारपरौ च कण्ठ्यौ छशादर्वाक् ॥ २,६७—सचा-दयो या विहिता विवृत्तयः । प्लुतोपधान्ता अनुनासिकोपधाः ॥

दे० Alt. Gr. I, p. 302; Ved. Gr., pp. 59-60; Gr. Lg. Ved., p. 77.

८. अ० प्रा० ३, ४२—समानाक्षरस्य सवर्णे दीर्घः ॥
ऋ० प्रा० २, १५—समानाक्षरे सस्थाने दीर्घमेकमुभे स्वरम् ॥
तै० प्रा० १०, २—दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे ॥

द्वितीयोऽध्यायः

वा० प्रा० ४,५१—सिँ सवर्णे दीर्घम् (वा० प्रा० में समानाक्षरों के लिए "सिम्" संज्ञा का प्रयोग किया जाता है)।

पा० ६, १, १०१—अकः सवर्णे दीर्घः ॥

८ क. ऋ० प्रा० २, ५८-५९— पूपेत्यकारे न चेत्तदेकाक्षरतत्रपूर्वम् ॥५८॥
श्रद्धा सम्राज्ञी सुशमी स्वधोती पृथुज्रयी पृथिवीषा मनीषा।
अया निद्रा ज्या प्रेपति स्वराणां मुख्ये परे पञ्चमषष्ठयोश्च ॥
(अ, इ, ई परे रहने पर प्रकृतिभाव होता है)।

तै० प्रा० १०, १३—न धामापासिपरो बुभ्रिया ज्या आपूषा अभिनन्त आर्षे ॥

वा० प्रा० ४, ८६—का-ध्रुवा-ऊती-सदना-होतारा-ज्या-स्वधा-पृथिवी-प्रतिमा-ईम्-असदन्-अश्याम-अकर्म-ऊर्ध्वम्-इयम्-अवस्तात्-उत-अस्तिषु ॥

अ० प्रा० ३, ३४— एना एहा आदयश्च ॥ एना एहाः (अ० १२, ३, ३३); यथा मन्त्रापगा असः (अ० १, ३४,५;२,३०,१; ६,४,१-३); पृथिवी उत द्यौः (अ० १८, १,५=ऋ० १०,१०,५)।

पा० ६, १, १२७ पर वार्तिक (सि० कौ०) —ईषा अक्षादीनां छन्दसि प्रकृतिभावो वक्तव्यः।

९. ऋ० प्रा० २, ५७—ऊकारादौ स्विति ॥ २,७२– (-वीळू उत-) ॥

९ क. Alt. Gr. I, p. 315; Ved. Gr., p. 63; Ved. Gr. Stu., p. 22; Ved. Mtr., p. 120. मैक्डानल की दोनों पुस्तकों में दिये गये उदाहरणों में मूळाति का अशुद्ध रूप मूळति छापा गया है।

१०. ऋ० प्रा० २, १६-१७— इकारोदय एकारमकारः सोदयः ॥१६॥ तथा। उकारोदय ओकारम् ॥१७॥ वा० प्रा० ४, ५३-५४—कण्ठ्यादिवर्णे एकारम् ॥५३॥ उवर्णे ओकारम् ॥५४॥ तै० प्रा० १०, ३-५—अथावर्ण-पूर्वे ॥३॥ इवर्णपर एकारम् ॥४॥ उवर्णपर ओकारम् ॥५॥ अ० प्रा० ३, ४४-४५—अवर्णस्येवर्णे एकारः ॥४४॥ उवर्णे ओकारः ॥४५॥ पा० ६, १, ८७—आद् गुणः ॥

१० क. ऋ० प्रा० २, ३२—ऋकार उदये कण्ठ्यावकारं तदुद्ग्राहवत् ॥ वा० प्रा० ४, ५०—कण्ठ्य ऋकारे ह्रस्वम् ॥ पा० ६, १, १२८—ऋत्यकः ॥

११. ऋ० प्रा० २, ६४—विम्वा विधर्ता विपन्या कदा या मातित्यृकारे ऽप्यपादादिभाजि ॥

११ क. Ved. Gr., p. 63; Ved. Gr. Stu., p. 22; Gr. Lg. Ved., p. 91.

१२. ऋ० प्रा० २, ७१; वा० प्रा० ४, ८६ । वार्तिक के लिए देखिए टि० ८ क ।

१३. ऋ० प्रा० २, १८-१९—परेष्वैकारमोजयोः ॥१८॥ औकारं युग्मयोः ॥१९॥ वा० प्रा० ४, ५७,—सन्ध्यक्षर एकारौकारौ ॥ तै० प्रा० १०, ६-७—एकारैकारपर ऐकारम् ॥६॥ ओकारौकारपर औकारम् ॥७॥ अ० प्रा० ३, ५०-५१—एकारैकारयोरैकारः ॥५०॥ ओकारौकारयोरौकारः ॥५१॥ पा० ६, १, ८८—वृद्धिरेचि ॥

१३ क. ऋ० प्रा० २, ७१-७३ ॥ वा० प्रा० ४, ५५-५६— समुद्रस्येमँस्त्वेमँस्त्वोन्निति च ॥५५॥ एजत्योजोरेकेषाम् ॥५६॥ तै० प्रा० १०, १४—एष्टरेतनेमन्नोम्नोष्ठिवः परो लुप्यते ॥ पा० ६, १, ९४—एङि पररूपम् ॥ इस पर वार्तिक (सि० कौ०)—शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् । एवे चानियोगे । ओत्वोष्ठयोः समासे वा । एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वक्तव्यम् ॥ पा० ६, १, ९५—ओमाङोश्च ।

१४. ऋ० प्रा० २, २१—समानाक्षरमन्तस्थां स्वामकण्ठ्यं स्वरोदयम् ॥ वा० प्रा० ४, ४६—स्वरे भाव्यन्तस्थाम् ॥ तै० प्रा० १०, १५—इवर्णोकारौ यवकारौ ॥ अ० प्रा० ३, ३९—स्वरे नामिनोऽन्तःस्था ॥ पा० ६, १, ७७—इको यणचि ॥

१५. तै० प्रा० ९, ११-एकारोऽयम् ॥ ९, १२-ओकारोऽवम् ॥ ९, १४-ऐकार आयम् ॥ ९, १५-औकार आवम् ॥ १०, १९-लुप्येते त्ववर्णपूर्वौ यवकारौ ॥ वा० प्रा० ४, ४७-सन्ध्यक्षरमयवायावम् ॥ ४,१२५-यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः ॥ अ० प्रा० ३ ४०, सन्ध्यक्षराणामयवायावः ॥

द्वितीयोऽध्यायः

२, २१-स्वराद्यवयोः पदान्तयोः ॥ पा० ६, १, ७८-एचोऽयवायावः ॥ ८, ३,१९-लोपः शाकल्यस्य ॥

१६. ऋ० प्रा० २, २८- पूर्वौ चोपोत्तमात्स्वरौ ॥ २,३१-ओष्ठ्ययोन्योर्भुग्नमनोष्ठ्ये वकारोऽत्रान्तरागमः ॥

१७. टि० १५ में दिये गये लोपसम्बन्धी मतों के अतिरिक्त निम्नलिखित मत भी मिलते हैं—

तै० प्रा० १०, २०-२३-नोख्यस्य ॥ वकारस्तु सांकृत्यस्य ॥ उकारौकारपरौ लुप्येते माचीकस्य ॥ लेशो वात्सप्रस्यैतयोः ॥ पा० ८,३, १८-व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ॥ ८, ३, २०-२१-ओतो गार्ग्यस्य ॥ उञि च पदे ॥ वा० प्रा० ४,१२६-१२८- न वकारस्यासस्थान एकेषाम् ॥ असौ च शाकटायनस्य ॥ प्रउगमिति यकारलोपः ॥ अ० प्रा० २,२२-२४ -नाकाराद्वकारस्य ॥ गविष्टौ गवेषण इति च ॥ लेशवृत्तिरधिस्पर्शं शाकटायनस्य ॥

उख्य य् तथा व् के लोप को स्वीकार नहीं करता है । सांकृत्य के मतानुसार, व का लोप नहीं होता है । अ० प्रा० का मत है कि आ के पश्चात् आने वाले व् का लोप नहीं होता है । वा० प्रा० कहता है कि कुछ आचार्य असस्थान स्वर (उ ऊ ओ औ से भिन्न) से पूर्व व् का लोप नहीं मानते हैं । शाकटायन तथा वात्सप्र के मतानुसार, य् व् का लेश अथवा लघुप्रयत्नतर उच्चारण होता है; अर्थात् इन का उच्चारण करते समय जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य और मूल भाग शिथिल रहते हैं जिस के कारण से, त्रिभाष्यरत्न के अनुसार, इनका लुप्तवत् उच्चारण होता है ।

१८. ऋ० प्रा० २, २५-उत्तमौ च द्वौ स्वरौ ॥ भुग्नसंज्ञक वकार के आगम के लिए देखिए ऋ० प्रा० २, ३१ (टि० १६) ।

१८ क. ऋ० प्रा० २, ७०...."वासौ" ॥ २, ७२...."सतेवाजौ" ॥ पा० ६,३, १०९ पर पठित वार्तिक "पीवोपवसनादीनां छन्दसि लोपः" के व्याख्यान में पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'श्रियेदम्' (=श्रिये+इदम्) का उदाहरण दिया है । कैयट इस में इदम् के इकार का लोप मानता है ।

१८ ख. Alt. Gr. I, p. 316; Ved. Gr., p. 64; Ved. Gr. Stu; p. 24; Gr. Lg. Ved., p. 93.

१९. ऋ० प्रा० २, ३४–अथाभिनिहितः सन्धिरेतैः प्राकृतवैकृतैः। एकीभवति पादादिरकारस्तेऽत्र सन्धिजाः ॥ दे० ऋ० प्रा० २, ३५-४८ ॥ वा० प्रा० ४, ६१–एदोद्भ्यां पूर्वमकारः ॥ अ० प्रा० ३, ५३–एकारौकारान्तात्पूर्वः पदादेरकारस्य ॥ तै० प्रा० ११, १–लुप्यते त्वकार एकारौकारपूर्वः ॥ पा० ६, १, १०९–एङः पदान्तादति ॥

२०. Alt. Gr. I, p. 324; Ved. Gr., p. 66; Ved. Gr. Stu., p. 23; Gr. Lg. Ved, p. 93. दे० ऋ० प्रा० २,७३ ॥

२१. Alt. Gr. I, p. 325 n.; Ved. Gr., p. 66 n. 7.

२२. पाणिनि तथा प्रातिशाख्यकारों ने कतिपय शब्दों का तथा कुछ विशेष परिस्थितियों का परिगणन किया है जिन में पदादि अ का पूर्वरूप नहीं बनता है।

ऋ० प्रा० २, ४९-५०–अन्योऽर्वाकेऽथो इति नोद्येषु पुत्रः पराके च परावतश्च ॥४९॥ अन्तःपादं च वयो अन्तरिक्षे वयो अस्याश्वथो हेतयस्त्रयः। वो अन्धसः शयवे अश्विनोभये श्रवो अधि सार्ञ्जयो जामयः पयः ॥५०॥ वा० प्रा० ४, ८१–प्रकृतिभाव ऋक्षु ॥ दे० वा० प्रा० ४, ८२-८५ ॥ अ० प्रा० ३, ५४–क्वचित्प्रकृत्या ॥ पा० ६, १, ११५–प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे ॥ इस सूत्र के पाद शब्द पर काशिकावृत्ति कहती है—"पादशब्देन च ऋक्पादस्यैव ग्रहणमिष्यते न तु श्लोकपादस्य।" इन नियमों में अन्तःपाद शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है।

पा० ६,१, ११६-१२२–अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च ॥ यजुष्युरः ॥ आपो जुषाणोवृष्णोवर्षिष्ठेऽम्बालेऽम्बिके पूर्वे ॥ अङ्ग इत्यादौ च ॥ अनुदात्ते च कुधपरे ॥ अवपथासि च ॥ सर्वत्र विभाषा गोः ॥

२३. Alt. Gr. I, p. 324; Skt. Gr., p. 47; Ved. Gr. p. 66; Ved. Gr. Stu., p. 23.

२४. तै० प्रा० १०, २४–न प्लुतप्रग्रहौ ॥ पा० ६, १,१२५–प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ॥ प्रकृत पाठ महाभाष्य तथा सि० कौ० के अनुसार दिया गया है, परन्तु काशिकावृत्ति में दिये गये पाठ में नित्यम् शब्द नहीं मिलता है

त्वादप्रमाणमेतत्। 'मणीवोष्ट्रस्य' इति तु प्रयोगो वाशब्दस्योपमानार्थस्य। 'रोदसीव' इत्यादिस्तु छान्दसः प्रयोगः। छन्दसि तु सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते।" भट्टोजिदीक्षित (पा० १, १,११ पर सि० कौ०) भी काशिका से सहमत नहीं है और कहता है कि 'मणीवोष्ट्रस्य' में इव के अर्थ वाला व अथवा वा निपात समझना चाहिए। पाश्चात्य विद्वान् (Alt. Gr. I, pp. 317n., 321n., Ved. Gr., p. 65 n. 12; Gr. Lg. Ved., p. 95) भी इस प्रकार के उदाहरणों में व निपात की कल्पना का समर्थन करते हैं। पदकार शाकल्य इन सब उदाहरणों में इव के साथ सवर्णदीर्घसन्धि मानता है और इव को अवग्रह द्वारा पृथक् करता है। यद्यपि कुनीनकेव (ऋ० ४, ३२, २३) में शाकल्य इव (कुनीनकाऽइव) मानता है, तथापि इस में इव की अपेक्षा व निपात मान कर कुनीनके+व पदपाठ करना अधिक उचित प्रतीत होता है। दे० निरुक्त ४,१५; Geldner's German Translation of RV. IV, 32, 23 (HOS. Vol. 33, p. 462 f. n.)।

२६क. नृपतीव उदाहरण के लिये देखिये Alt. Gr. I, p. 321n.; Ved. Gr., p. 65; Whitney's note on A. Pr. (III, 33), J A O S., Vol. VII, p. 474. परन्तु अथर्ववेद के अनेक भारतीय संस्करणों में नृपती इव पाठ मिलता है।

२७. वा० प्रा० ४, ८८— न रोदसीमे ॥ ऋ० प्रा० २,७२ ॥

२७ क. Alt. Gr. I, p. 321n.; Ved. Gr., p. 65.

२८. Alt. Gr. I, p. 326n.; Ved. Gr., p. 66 n.9. इस उदाहरण के लिये दे० ऋ० प्रा० २, ७० ॥ इस के व्याख्यान में उवट कहता है—"इकारलोपो निपातितः। पदान्तपदाद्योरेत्वं वा।"

२९. ऋ० प्रा० २, ७२— साप्तमिकौ च पूर्वौ ॥ अ० प्रा० १, ७४— ईकारोकारौ च सप्तम्यर्थे ॥ पा० १, १, १९— ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥ तै० प्रा० ४, ५— ऊकारः ॥

३०. Alt. Gr. I, pp. 320-21; Ved. Gr., p. 66; Ved. Gr. Stu., p. 25 f. n. 4.

३१. अ० प्रा० १, ७७— अस्मे युष्मे त्वे मे इति चोदात्ताः ॥ ऋ० प्रा० १, ७३-७४— अस्मे युष्मे त्वे अमी च प्रगृह्याः ॥७३॥ उपोत्तमं नानुदात्तं न पद्यम् ॥७४॥ वा० प्रा० १, ९६-९७— चमू अस्मे त्वे ॥९६॥ मे उदात्तम् ॥९७॥ तै० प्रा० ४, ९-१० — अस्मे ॥९॥ त्वे इत्यनिंग्यान्तः ॥१०॥ पा० १, १, १३— शे ॥ ऋ० प्रा० (१,७४) तथा तै० प्रा० (४,१०) के अनुसार, जब त्वे किसी समास का अन्तिम पद हो, तब इसे प्रगृह्य नहीं मानते हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, त्वे के अनुकरण पर अस्मे, युष्मे का पदान्तीय ए भी संहिता तथा पदपाठ में प्रगृह्य माना जाता है, परन्तु यह सन्दिग्ध है कि मूल ऋ० में भी इनका ए प्रगृह्य माना जाता था। दे० Alt. Gr. I, p. 326; Ved. Gr., pp. 66-67.

३२. ऋ० प्रा० १,७३ (दे० टि० ३१); अ० प्रा० १,७८—अमी बहुवचनम् ॥ वा० प्रा० १,९८—अमी पदम् ॥ तै० प्रा० ४,१२—अमी चक्षुषी··· ॥ पा० १,१,१२—अदसो मात् ॥ इस सूत्र के व्याख्यान में काशिकावृत्ति कहती है—"अदसः सम्बन्धी यो मकारस्तस्मात्पर ईदूदेतः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्ति । ······एकारस्य नास्त्युदाहरणम् ।" भट्टोजिदीक्षित ने सि० कौ० में इस सूत्र के व्याख्यान ("अस्मात्परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः") में एकार का सन्निवेश ही नहीं किया है। और इसके साथ भट्टोजिदीक्षित का कथन है— "असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तेत।" जैसा कि बालमनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी टीका में कहा गया है, इस सूत्र में एकार की अनुवृत्ति नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि यदि शास्त्रीय दृष्टि से अदस् के द्विवचनान्त रूप अमू के उत्व तथा मुत्व के असिद्धत्व (दे० पूर्वत्रासिद्धम्) की आपत्ति का निराकरण किया जा सके, तो पूर्ववर्ती सूत्र (ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्) से ही द्विवचनान्त अमू के ऊ का प्रगृह्यत्व सिद्ध हो सकता है। और उस अवस्था में प्रकृतसूत्र के व्याख्यान में ऊद् की अनुवृत्ति भी व्यर्थ हो जाती है। इस टिप्पणी में उद्धृत प्रातिशाख्य-प्रमाण से प्रतीत होता है कि पाणिनि के प्रकृत सूत्र का मूल प्रयोजन प्रातिशाख्यों की भांति, केवल अमी के ई का प्रगृह्यत्व सिद्ध करना रहा होगा। परन्तु कालान्तर में व्याख्याकार अपने अपने अर्थ निकालने लगे।

द्वितीयोऽध्यायः

और पूर्ववर्ती सूत्र "इन्द्रे च नित्यम्" से नित्यम् की अनुवृत्ति की गई है। तै० प्रा० में सर्वत्र प्रगृह्य शब्द के स्थान पर प्रग्रह शब्द का प्रयोग किया गया है। दे० तै० प्रा० १, ६०; ४, १; १५, ६ ॥

अ० प्रा० ३, ३३–प्रगृह्यारच प्रकृत्या ॥ वा० प्रा० ४, ८७–प्रगृह्यं स्वरे ॥ ऋ० प्रा० २, ५१-५२–प्रकृत्येति करणादौ प्रगृह्याः ॥५१॥ स्वरेषु चार्ष्याम् ॥५२॥

२४क. वा० प्रा० २, ५३–आसीदिति चोत्तरे विचारे ॥ पा० ८, २,९७–विचार्यमाणानाम् ॥

२४ख. पा० ८, २, ८२-१०५; शां० श्रौ० सू० १,२,१-८; आश्व० श्रौ० सू० १, ४, १३; १, ५, ७-८; आप० ध० सू० १, २, ५, १७; वा० ध० सू० १३, ४६; मनु० २, १२५ ।

२४ग. आश्व० श्रौ० सू० १, ५, ९–विविच्य सन्ध्यक्षराणामकारं न चेद्द्विवचनो व्यञ्जनान्तो वा ॥ इस सूत्र पर नारायण अपनी वृत्ति में कहता है—"न चेत्प्रगृह्य इति पठितव्ये न चेद्द्विवचन इति प्रमादपाठः। ऋगन्ते यान्यक्षराणि प्रगृह्याणि तेषां स्वरूपेणैव सर्वत्र प्लुतिः कार्या न विवेकः कर्तव्यः। यान्यप्रगृह्याणि संध्यक्षराणि तानि विविच्याकारमेव प्लावयेदिति"। शां० श्रौ० सू० १, २, ४-७ ॥

पा० ८, २, १०७— एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ ॥ वार्तिक—प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्यमाणप्रत्यभिवादयाज्यान्तेष्विति वक्तव्यम् ॥ आमन्त्रिते छन्दसि प्लुतविकारोऽयं वक्तव्यः ॥

२४घ. पा० ८, २, १०८—तयोर्य्वावचि संहितायाम् । तै० प्रा० १,४—"न प्लुतपूर्वम्" के अनुसार, जिस समानाक्षर से पूर्व प्लुत हो वह सवर्ण नहीं माना जाता है। अत एव असमान होने के कारण सवर्णदीर्घसन्धि नहीं होती और यण् बन कर य् व् का लोप हो जाता है (दे० टि० १५)।

२४ङ. पा० ८, २, ९१ पर काशिका (चौखम्बा संस्करण पृ० ७३४) में दिये गये उदाहरण में "सोमस्याग्ने वीहि वौ ३ षट्" का अशुद्ध पाठ मीहि छपा है; सि० कौ० (वेङ्कटेश्वरप्रेस संस्करण पृ० ५१२) में मीही और सि० कौ० (मोतीलाल बनारसीदास संस्करण ४ थे भाग, पृ० ३८९) में वीही पाठ छपा है।

२४च. पा० ८,२,१०६– प्लुतावैच इदुतौ ॥ काशिका में इनकी ३,२३ तथा ४ मात्राओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है— "अत्र यदेवर्णोवर्णयोरवर्णस्य च समविभागस्तदा इदुतौ द्विमात्रावनेन प्लुतौ क्रियेते। प्लुताविति हि क्रियानिमित्तोऽयं व्यपदेशः। इदुतौ प्लवेते वृद्धिं गच्छत इत्यर्थः। तावती च सा प्लुतिर्भवति। यया तावैचौ त्रिमात्रौ संपद्येते। यदा त्वर्द्धमात्रावर्णस्याध्यर्द्धमात्रा इवर्णोवर्णयोस्तदा तावर्द्धतृतीयमात्रौ क्रियेते इति। भाष्ये तूक्तमिष्यते चतुर्मात्रः प्लुत इति। तत्कथम् ? समप्रविभागपक्षे इदुतोरनेन त्रिमात्रः प्लुतः विधीयते।"

२५. पा० १, १, ११— ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥ अ० प्रा० १, ७५-७६— द्विवचनान्तौ ॥७५॥ एकारश्च ॥७६॥ वा० प्रा० १, ९२-९३–प्रगृह्यम् ॥९२॥ एकारेकारोकारा द्विवचनान्ताः ॥९३॥ ऋ० प्रा० १, ७१—षष्ठादयश्च द्विवचोऽन्तभाजस्त्रयो दीर्घाः ॥ तै० प्रा० (४, १, १०, २४) में प्रगृह्य के स्थान पर प्रग्रह संज्ञा का प्रयोग किया गया है। तै० प्रा० ४, ३ कहता है कि केवल पदान्तीय स्वर ही प्रगृह्य हो सकता है। तै० प्रा० (४, १-५४) ने प्रग्रहसंज्ञक स्वरों के लिये कुछ साधारण नियम देकर उन शब्दों की परिगणना की है जिनके पदान्तीय ए, ई प्रग्रहसंज्ञक हैं। दे० तै० प्रा० ४, ५– ऊकारः।

२५क. Alt. Gr. I, pp. 320, 322; Ved. Gr., p. 65; Ved. Gr. Stu., p. 25.

२६. ऋ० प्रा० २, ५५— त्र्यक्षरान्तास्तु नेवे ॥ इस सम्बन्ध में पा० १, १, ११ पर काशिका में निम्नलिखित वचन मिलता है—"ईदादीनां प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः।" ; और उदाहरणार्थ निम्नलिखित श्लोकार्ध दिया गया है—

मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम। (महाभारत १२,१७१, १२), इस के अतिरिक्त काशिका ने निम्नलिखित उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं— दम्पतीव, जम्पतीव, रोदसीव। परन्तु कैय्यट (पा० १,१,११ के महाभाष्य पर प्रदीप में) इसे वार्तिक नहीं मानता है और कहता है— "मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति भाष्यकारवार्तिककाराभ्यामपठित-

३३. ऋ० प्रा० १,७५— उकारश्चेतिकरणेन युक्तो रक्तोऽपृक्तो द्राघितः शाकलेन ॥ वा० प्रा० १, ९५— उकारोऽपृक्तः ॥ वा० प्रा० ४, ९३— उकारोऽपृक्तो दीर्घमनुनासिकम् ॥९३॥ अ० प्रा० १,७२-७३— उकारस्येतावपृक्तस्य ॥७२॥ दीर्घः प्रगृह्यश्च ॥७३॥ पा० १, १, १७-१८— उञः ॥१७॥ ऊँ ॥१८॥ दोनों सूत्रों में पूर्ववर्ती सूत्र (संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे) से "शाकल्यस्येतावनार्षे" की अनुवृत्ति मानी जाती है और इस सम्बन्ध में दे० ऋ० प्रा० १, ७५ इसी टि० में। इन दोनों सूत्रों के महाभाष्य में बतलाया गया है— "शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन ऊँ विभाषा यथा स्यात्। ऊँ इति, उ इति। अन्येषामाचार्याणां मतेन–विति।" इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण के अनुसार तीन रूप बनते हैं।

३४. ऋ० प्रा० २, ५६— आर्प्यामेव संध्ययकारपूर्वो विवृत्तेश्च प्रत्ययः सन्नुकारः ॥ वा० प्रा० ४, ९०—उकारो ऽपृक्तोऽस्पर्शात् ॥ पा० ८, ३, ३३— मय उञो वो वा। अ० प्रा० ३,३६— केवल उकारः स्वरपूर्वः ॥

३५. तै० प्रा० ९, १६-१७— उकारो ऽपृक्तः प्रकृत्या वकारो ऽन्तरे ॥१६॥ न तत्स्मात्सँहितः ॥१७॥

३६. तै० प्रा० ३, १४; ४, ५ ॥ ऋ० प्रा० ७, १७; ८, १-३; २,७१ ॥

३७. यद्यपि पाणिनि तथा प्रातिशाख्यकारों ने उ की गुणसन्धि से बनने वाले ओ एकादेश के प्रगृह्यत्व का पृथक् विधान नहीं किया है, तथापि उन के निम्नलिखित सूत्र इस के लिये लागू होते हैं— पा० १, १,१५— ओत् ॥ अ० प्रा० १, ८०— ओकारान्तश्च ॥ ऋ० प्रा० १, ६९-७०— पदं चान्यः ॥ अपूर्वपदान्तगश्च ॥ तै० प्रा० ४, ७ ॥

३८. पा० १, १, १६— संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे ॥ अ० प्रा० १, ८१— आमन्त्रितं चेतावनार्षे ॥ ऋ० प्रा० १, ६८— ओकार आमन्त्रितजः प्रगृह्यः ॥ वा० प्रा० १, ९४— ओकारश्च पदान्ते ऽनवग्रहः ॥ वा० प्रा० ४, ९२—ओकारश्च ॥ तै० प्रा० ४, ६-७— ओकारो ऽसंहितोऽकारव्यञ्जनपरः ॥६॥ समहदथपितृपूर्वश्च ॥

३९. ऋ० प्रा० २, ५९; वा० प्रा० ४, ८६ (दे० टि० ८क)।

३९क. सायण ऋ०भाष्य में सुशर्मी का अर्थ "सुकर्माणः" करता है, परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इसे तृतीयान्त रूप मानते हैं। दे० Alt. Gr. I, p. 321; Ved. Gr., p. 66.

३९ख. तै० प्रा० १०, १८; ४, ५३ ॥

४०. Alt. Gr. I, p. 312; Ved. Gr., p. 62; Gr. Lg. Ved., pp. 85, 42.

४०क. ऋ० प्रा० ७-९ पटल; वा० प्रा० ३, ९७-१३०; अ० प्रा० ३, १-२५ ॥ इन सब प्रातिशाख्यों के विपरीत तै० प्रा० ३, १-१५ यह विधान करता है कि संहितापाठ से पदपाठ बनाते समय कौन-कौन से पदान्तीय दीर्घ स्वरों का पदपाठ में ह्रस्व रूप करना चाहिए। तै० प्रा० के इन सब नियमों का आधार सामवशसन्धि ही है।

४०ख. Alt. Gr. I, p. 311; Ved. Gr., p. 62.

४०ग. ऋ० प्रा० ८, ३६-३९— एकादशिद्वादशिनोर्लघावष्टममक्षरम् । उदये संहिताकाले ॥३६॥ नःकारे च गुरावपि ॥३७॥ दशमं चैतयोरेवम् ॥३८॥ षष्ठं चाष्टाक्षरे ऽक्षरम् ॥३९॥

४०घ. Alt. Gr. I, pp. 310-311; Ved. Gr., p. 63 f. n. 1.

४०ङ. Gr. Lg. Ved., p. 86.

४१. ऋ० प्रा० २, १०— तत्र प्रथमास्तृतीयभावं प्रतिलोमेषु नियन्ति ॥ वा० प्रा० ४, ११८— स्पर्शोऽपञ्चमः स्वरघौ तृतीयम् ॥ अ० प्रा० २, २— पदान्तानामनुत्तमानां तृतीया घोषवत्स्वरेषु ॥ तै० प्रा० ८, १-३— अथ प्रथमः ॥१॥ तृतीयं स्वरघोषवत्परः ॥ आश्व० श्रौ० सू० १,५,१३—प्रथमः स्वं तृतीयम् ॥ पाणिनि (८, २, ३९ — झलां जशोऽन्ते) पदान्त में साधारणतया वर्गों के तृतीय वर्णों का विधान करता है और अवसान में (८, ४, ५६— वावसाने) विकल्प से प्रथम वर्णों को पदान्तीय मानता है।

४१क. ऋ० प्रा० ४, २— घोषवत्पराः प्रथमास्तृतीयान्स्वान् ॥ वा० प्रा०, अ० प्रा० तथा तै० प्रा० के नियम टि० ४० में देखिए ॥ पा० ८, ४, ५३— झलां जश् झशि ॥

द्वितीयोऽध्यायः

४२. ऋ० प्रा० ४, ३— उत्तमानुत्तमेषूदयेषु ॥ वा० प्रा० ४, १२१— पञ्चमे पञ्चमम् ॥ अ० प्रा० २, ५— उत्तमा उत्तमेषु ॥ तै० प्रा० ८,२—उत्तमपरं उत्तमं सवर्गीयम् ॥ पा० ८,४,४५— यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ।

४२क. कीथ ने (HOS. Vol. 18, p. xxxviii) इस प्रश्न पर विचार किया है। Cf. Alt. Gr. I, p. 328; Ved. Gr., p. 67 f.n. 8; Gr. Lg. Ved., pp. 80, 97.

४३. ऋ० प्रा० ४, ५— पदान्तैस्तैरेव तृतीयभूतैस्तेषां चतुर्थानुदयो हकारः ॥ वा० प्रा० ४,१२२— हश्च तस्मात् पूर्वचतुर्थम् ॥ अ० प्रा० २,७-तेभ्यः पूर्वचतुर्थो हकारस्य। तै० प्रा० ५, ३८— प्रथमपूर्वो हकारश्चतुर्थं तस्य सस्थानं प्लाक्षिकौण्डिन्यगौतमपौष्करसादीनाम् ॥

४४. पा० ८, ४, ६२— झयो होऽन्यतरस्याम् ॥ तै० प्रा० ५, ३९-४१— अविकृत एकेषाम् ॥३९॥ चतुर्थोऽन्तरे शैत्यायनादीनाम् ॥४०॥ मीमांसकानां च ॥४१॥ संहिताओं में इन मतों का समर्थन नहीं मिलता है और प्रायेण उपर्युक्त (टि० ४३) नियम के अनुसार विकार होता है।

४५. ऋ० प्रा० ४, १०— तकारो जकारलकारयोस्तौ ॥ वा० प्रा० ४, १३— तकारो ले लम् ॥ अ० प्रा० २,१३— तकारस्य शकारलकारयोः परसस्थानः ॥ तै० प्रा० ५, २५— लपरो लकारम् ॥ पा० ८,४,६०— तोर्लि ॥

४६. ऋ० प्रा० ४, १० (टि० ४५)। ऋ० प्रा० ४,११— तालव्येऽघोष उदये चकारम् ॥ वा० प्रा० ४,९५-९६ तकारवर्गश्चकारवर्गे चकारवर्गम् ॥९५॥ शकारे च ॥९६॥ तै० प्रा० ५,२२-२३— तकारश्चकारं शचछपरः ॥२२॥ जपरो जकारम् ॥२३॥ अ० प्रा० २,१३ (टि० ४५); २,१४ (टि० ४७) ॥ पा० ८, ४,४०— स्तोः श्चुना श्चुः ॥

४७. अ० प्रा० २, १४— चटवर्गयोश्च ॥ पा० ८, ४, ४१— ष्टुना ष्टुः ॥

४८. ऋ० प्रा० ४, १२—छकारं तयोरुदयः शकारः ॥ अ० प्रा० २, १७— तवर्गीयाच्छकारः शकारस्य ॥

४९. ऋ० प्रा० ४,४—सर्वैः प्रथमैरुपधीयमानः शकारः शाकल्यपितुश्छकारम् ॥ ४ १३—न शाकल्यस्य ॥ वा० प्रा० ४,९७—परश्चास्पर्शपरश्छम् ॥ तै० प्रा० ५,३४-३७—स्पर्शपूर्वः शकारश्छकारम् ॥३४॥ न मकारपूर्वः ॥३५॥ पकारपूर्वश्च वाल्मीकेः ॥३६॥ व्यञ्जनपरः पौष्करसादेर्न पूर्वश्च जकारम् ॥३७॥

५०. पा० ८,४,६३—शश्छोऽटि ॥ वार्तिक—छत्वममीति वक्तव्यम् ॥

५१. ऋ० प्रा० ६,१५—पदान्तीयो ह्रस्वपूर्वो ङकारो, नकारश्च क्रामत उत्तरे स्वरे ॥ वा० प्रा० ४, १०६—ङ्नौ नेद्ध्रस्वपूर्वौ स्वरे पदान्तौ ॥ अ० प्रा० ३,२७—ङणना ह्रस्वोपधाः स्वरे ॥ तै० प्रा० ९, १८—ह्रस्वपूर्वो ङकारो द्विवर्णम् ॥ पा० ८,३,३२—ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ॥

अ० प्रा० तथा पाणिनि ङ् न् के साथ ण् के लिए भी इसी द्वित्व का विधान करते हैं। परन्तु वेद में पदान्तीय ण् का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। पाणिनि ङ् ण् न् का द्वित्व न मान कर परवर्ती स्वरों के लिए ङमुट् आगम का विधान करता है।

५२. अ० प्रा० २,९—ङणनेभ्यः कटतैः शषसेषु ॥ वा० प्रा० ४, १५—ङ्नौ क्ताभ्यां सकारे ॥ तै० प्रा० ५,३२—ङपूर्वः ककारः सषकारपरः ॥

५३. ऋ० प्रा० ४,१६—ङकारेऽघोषोष्मपरेऽन्तरैके ककारम् ॥ वा० प्रा० ४, १६—न दाल्भ्यस्य ॥ पा० ८,३,२८—ङ्णोः कुक्टुक् शरि ॥ "चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् ॥" पा० ८,४,४८ पर पठित इस वार्तिक के अनुसार, आगम के क् तथा ट् शर् से पूर्व क्रमशः ख् तथा ठ् में बदल जाते हैं। दे० पा० ८,३,२८ पर सि० कौ०। तै० प्रा० (५, ३२) के माहिषेय भाष्य में दिये गये उदाहरणों में ङ् के पश्चात् ख् का आगम दिखलाया गया है। परन्तु मुद्रित तै० सं० के इन उदाहरणों में ख् का आगम नहीं मिलता है। पाश्चात्य विद्वान् भी क् के आगम को वैकल्पिक मानते हैं; दे० Alt. Gr. I, p. 332; Ved. Gr., p. 69 f.n. 13; Gr. Lg. Ved., p. 99.

५४. ऋ० प्रा० ६,१५ (टि० ५१); वा० प्रा० ४,१०६ (टि० ५१); अ० प्रा० ३.२७ (टि० ५१); तै० प्रा० ९,१९—नकारश्च ॥

५५. पदान्तीय न् के लोप के सम्बन्ध में जो अनेक सिद्धान्त मिलते हैं उन का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया गया है।

(क) ऋ० प्रा० ४, ६५—"नकार आकारोपधः पद्यान्तोऽपि स्वरोदयः। लुप्यते ॥" के अनुसार, पदान्तीय न् का लोप हो जाता है; और ऋ० प्रा० ४, ८०—"नकारस्य लोपरेफोष्मभावे पूर्वस्तत्स्थानादनुनासिकः

स्वरः ॥" के अनुसार, न् का लोप होने पर उपधा का स्वर अनुनासिक बन जाता है।

(ख) तै० प्रा० ९, २०—"अनितिपरो ग्रहोऽव्ययाज्यापृष्ठ्यहिरण्यवर्णीयेष्वीकारो-कारपूर्वो रेफमाकारपूर्वश्च यकारम् ॥" के अनुसार, "इति" के इ से भिन्न स्वर से पूर्व आने वाले पदान्तीय न् की उपधा में जब ई या ऊ हो तब उस का र् बनता है और जब उपधा में आ हो तब उस का य् बनता है। और तै० प्रा० १०,१९—"लुप्येते त्ववर्णपूर्वौ यवकारौ" के अनुसार, जिस पदान्तीय य् व् की उपधा में अकार (अ आ) हो उस य् व् का लोप हो जाता है। तै० प्रा०१५,१—"नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः ॥" के अनुसार, पदान्तीय न् की उपधा के आ ई ऊ का अनुनासिक रूप बन जाता है। इसी प्रकार वा० प्रा० ३, १४३—"आकारोपधो यकारम् ॥" के अनुसार, आ के पश्चात् आने वाले पदान्तीय न् का स्वर से पूर्व य् बन जाता है; वा० प्रा० ४,१२५—"यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः ॥" के अनुसार, ऐसे य् का लोप हो जाता है; और वा० प्रा० ३, १३१—"अनुनासिकमुपधा प्रागन्त-स्थायाः ॥" के अनुसार, उपधा के आ का अनुनासिक बन जाता है।

(ग) अ० प्रा० २,२७—"आकारोपधस्योपबद्धादीनां स्वरे ॥" के अनुसार, आ के पश्चात् आने वाला पदान्तीय न् स्वर से पूर्व विसर्जनीय बन जाता है; अ० प्रा० २, ४१—"स्वरे यकारः ॥" के अनुसार, स्वर से पूर्व विसर्जनीय का य् बनता है; अ० प्रा० २,२१—"स्वराद् यवयोः पदान्तयोः ॥" के अनुसार, स्वर के पश्चात् आने वाले य् व् का लोप हो जाता है; और अ० प्रा० १,६८—"यरोष्मापत्तौ ॥" के अनुसार, न् का विसर्जनीय बनने पर उपधा के स्वर का अनुनासिक बन जाता है।

(घ) पा० ८,३,९—"दीर्घादटि समानपादे ॥" के अनुसार, दीर्घ स्वर के पश्चात् आने वाला पदान्तीय न् अट् (स्वर तथा ह् य् व् र्) से पूर्व "रु" में परिणत हो जाता है; पा० ८,३,१७—"भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ॥" के अनुसार, भो आदि तथा अकार (अ आ) के पश्चात् आने वाला "रु" अश् (स्वर तथा घोष व्यञ्जनों) से पूर्व य् में परिणत हो जाता है;

पा० ८,३,१९—"लोपः शाकल्यस्य ॥" के अनुसार, अकार के पश्चात् आने वाले पदान्तीय य् व् अश् से पूर्व लुप्त हो जाते हैं; और पा० ८,३,३—"आतोऽटि नित्यम् ॥" के अनुसार, पदान्तीय न् का "रु" बनने पर अट् से पूर्व उपधा के आ का अनुनासिक बन जाता है। कहीं-कहीं अनुनासिक के स्थान पर जो अनुस्वार मिलता है, उस के सम्बन्ध में पा० ८,३,३ पर काशिका कहती है—"केचिदनुस्वारमधीयते। स च्छान्दसो व्यत्ययो द्रष्टव्यः"।

(ङ) मैक्डानल (Ved. Gr., p. 68) के अनुसार, आ के पश्चात् आने वाले पदान्तीय न् का अनुनासिक बनता है। परन्तु Ved. Gr. Stu., p. 31 में मैक्डानल कहता है कि पदान्तीय न् का अनुस्वार बनता है। दे० प्रथम अध्याय टि० ९७। इस सन्धि-विकार के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि जिस पदान्तीय न् के सन्धि-विकार से उपधा का स्वर अनुनासिक बनता है वह न् मूलध्वनि न्स् (ns) का प्रतिनिधित्व करता है; यथा—वृकान् (*वृकन्स्) = Goth. *vulfans*. परन्तु जहां पदान्तीय न् न्स् का प्रतिनिधित्व नहीं करता वहां समानपाद में भी स्वर से पूर्व न् अविकृत रहता है और उपधा के स्वर का अनुनासिक नहीं बनता है। लेट् प्र० पु० ब० के जिन रूपों के अन्त में -आन् मिलता है उनका पदान्तीय न् मूलध्वनि न्त् का प्रतिनिधि माना जाता है और समानपाद में स्वर से पूर्व भी उस में कोई विकार नहीं होता है; यथा— आ वहान् आशु (ऋ० १,८४,१८); गच्छान् इत् (ऋ० ८,७९,५); इत्यादि। दे० Alt. Gr. I, p 330; Ved. Gr., pp. 68-69; Ved. Gr. Stu., p. 31 f.n. 3; Gr. Lg. Ved., p. 98.

५६. ऋ० प्रा० ४,७३। दे० टि० ५५ (ङ)।

५६क. ऋ० प्रा० ४,६६ ॥

५६ख. वा० प्रा० ३,१४७-१५०; तै० प्रा० ९,२३-२४। दे० टि० ५५ (ङ)।

५७. ऋ० प्रा० ४,७०-७१— स्वरेषु च ॥७०॥ दस्यूँरेको नॄँरभि च ॥७१॥ ऋ० प्रा० ४, ८० (टि० ५५क)। वा० प्रा० ३, १४२— शत्रून् परिधीन् कतून् वनस्पतीन् स्वरे रेफम् ॥ वा० प्रा० ३,१३१ (टि० ५५ख)।

द्वितीयोऽध्यायः

तै० प्रा० ९, २०; १५, १ (टि० ५५ख)। अ० प्रा० २, २९— नाम्युपधस्य रेफ ऋतूँरुत्सृजते वशीत्येवमादीनाम् ॥ अ० प्रा० १, ६८ (टि० ५५ग)। पा० ८,३,९ (टि० ५५घ); ८,३,२— अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ॥

५७क. Alt. Gr. I, p. 330; Ved. Gr., p. 68f. n. 15; Ved. Gr. Stu.; p. 31 f. n. 4. र से पूर्व र के लोप के लिए दे० अनु० ५८(ग)।

५८. ऋ० प्रा० ४, ६८— विवृत्त्यभिप्रायिषु च पीवोअन्नाँ रयिवृधः। दधन्वाँ यो जुजुर्वाँ यः स्ववाँ यातु दद्वाँ वेति ॥ अ० प्रा० २,२८— वृक्षाँ वनानीति वकारे ॥ पा० ८,३,९ (टि० ५५घ)। वा० प्रा० ३,१३७-३८— दधन्वान् स्ववान्यकारे लोपम् ॥१३७॥ रयिवृधे च ॥१३८॥ इन दोनों सूत्रों के भाष्य में उवट कहता है कि उक्त पदों के पदान्तीय न् का लोप होने पर उपधा के आ का अनुनासिक नहीं बनता है। वा० सं १९, २; २७,२३ के उदाहरण उवट के भाष्य तथा उदाहरणों के अनुसार हैं। परन्तु वा० सं० ३४,२६ का उदाहरण— "स्ववाँ यात्वर्वाङ्" उवट के भाष्य तथा उदाहरण (स्ववा यात्वर्वाङ्) से भिन्न है।

५९. ऋ० प्रा० ४,६९— हतं योनौ वचोभिर्यान्युवन्यूँर्वनिपीष्टेति। ईकारोकारोपहितो रेफमेषु ॥ पा० ८,३,९ (टि० ५५घ)।

६०. ऋ० प्रा० ४,८— तथा नकार उदये लकारे ॥ वा० प्रा० ४,१४— नुश्चानुनासिकम् ॥ अ० प्रा० २,३५— उभयोर्लकारे लकारोऽनुनासिकः ॥ तै० प्रा० ५,२५-२६— लपरो लकारम् ॥२५॥ नकारोऽनुनासिकम् ॥२६॥ पा० ८,४,६०— तोर्लि ॥

६१. तै० प्रा० ५,३१—उत्तमलभावात्पूर्वोऽनुनासिक इत्यात्रेयः ॥

६२. ऋ० प्रा० ४, ९— ञकारं शकारचकारवर्गयोः ॥ वा० प्रा० ४, ९५-९६ (टि० २६) ॥ पा० ८,४,४० (टि० ४६) ॥ अ० प्रा० २,१०-११—नकारस्य शकारे ञकारः ॥१०॥ चवर्गीये घोषवति ॥११॥ तै० प्रा० ५,२४—नकार एतेषु ञकारम् ॥

६३. विभिन्न ग्रन्थों में इस सन्धि का व्याख्यान निम्नलिखित प्रकार से किया गया है—

वैदिक व्याकरण

(क) वा० प्रा० ३,१३४-३५—"नुः ॥१३४॥ चच्छयोः शम् ॥१३५॥" तथा तै० प्रा० ५,२०—"नकारः शकारं चपरः ॥" के अनुसार, च् से पूर्व पदान्तीय न् का श् बनता है और टि० ५५ (ख) में दिये गये नियम से उपधा का स्वर अनुनासिक बन जाता है। वा० प्रा० ने छ् से पूर्व भी पदान्तीय न् के लिये इस विकार का विधान किया है, परन्तु संहिताओं में इस का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। इसलिये वा० प्रा० ३,१३५ पर अपने भाष्य में उवट कहता है—"छकारोदाहरणं मृग्यम्।"

(ख) ऋ० प्रा० ४,७४— "चरति चक्रे चमसाँश्च चो चिचरसि च्यौत्नश्चतुरश्चिकित्वान्। एतेषु सर्वत्र विसर्जनीयवद् दीर्घोपधः ॥" तथा अ० प्रा० २,२६— "नकारस्य चटतवर्गेष्वघोषेष्वनूष्मपरेषु विसर्जनीयः ॥" के अनुसार, च् से पूर्व न् का विसर्जनीय हो जाता है। और ऋ० प्रा० ४,३१ (टि० ९०) और अ० प्रा० २,४० (टि० ९०) के अनुसार, विसर्जनीय का श् बनता है; और ऋ० प्रा० ४,८० (टि० ५५क) तथा अ० प्रा० १,६८ (टि० ५५ग) से उपधा का स्वर अनुनासिक हो जाता है।

(ग) पा० ८,३,७— "नश्छव्यप्रशान् ॥" के अनुसार, छव् (छ् ठ् थ् च् ट् त्) से पूर्व पदान्तीय न् का 'रु' बनता है; ८,३,१५— "खरवसानयोर्विसर्जनीयः ॥" से इस 'रु' का विसर्जनीय बनता है; ८,३,३४— "विसर्जनीयस्य सः ॥" से इस विसर्जनीय का स् बनता है; ८,४,४० (टि० ४६) से स् का श् बनता है; और ८,३,२ (टि० ५७) से उपधा का स्वर अनुनासिक हो जाता है। पा० ८,३,४— "अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ॥" के अनुसार, जहां उपधा के स्वर का अनुनासिक नहीं बनता वहां उस स्वर के पश्चात् अनुस्वार का आगम हो जाता है। संहिताओं में पदान्तीय न् से परे आने वाले पदादि ट् ठ् थ् का कोई उदाहरण नहीं मिलता है।

(घ) पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार पदादि च् से पूर्व पदान्तीय न् आने पर न् के पश्चात् श् का आगम होता है और न् का अनुस्वार (या उपधा के स्वर का अनुनासिक) बन जाता है; और ऋ० में यह श् का आगम वहीं होता है जहां व्युत्पत्ति के विचार से इस श् का समाधान हो सकता है

"स्वतवान्पायौ" (दे० टि० ७१) इन दोनों सूत्रों के व्याख्यान में पदान्तीय न् का रु आदेश विकल्प से मानते हैं (दे० सि० कौ०)। इस विकल्प का आधार यह है कि भट्टोजिदीक्षित इन दोनों सूत्रों में "उभयथर्क्षु" सूत्र (८, ३, ८) की अनुवृत्ति मानते हैं। पा० ८, ३,१० पर काशिका भी कहती है—"उभयथेत्यपि केचिदनुवर्त्तयन्ति।" "नॄन्पे" सूत्र (८, ३, १०) में "उभयथा" की अनुवृत्ति स्वीकार की जा सकती है। परन्तु "स्वतवान्पायौ" (८, ३, ११) में "उभयथर्क्षु" की अनुवृत्ति मानना व्यर्थ प्रतीत होता है।

७०. वा० प्रा० ४, १४१— नॄन्पकारे विसर्जनीयम् ॥ उपधा के स्वर के आनुनासिक्य के लिए दे० टि० ५५(ख)।

७१. पा० ८, ३, १०-११— नॄन्पे ॥१०॥ स्वतवान्पायौ ॥११॥

७२. Alt. Gr. I, p. 331; Ved. Gr., p. 69; Ved. Gr. Stu., p. 32.

७३. ऋ० प्रा० ४, १७— टकारनकारयोस्तु। आहुः सकारोदययोस्तकारम् ॥ तै० प्रा० ५, ३३— टनकारपूर्वश्च तकारः ॥ वा० प्रा० ४,१५-१६— ङ्णौ काटाभ्यां शसकारे ॥१५॥ न दाल्भ्यस्य ॥१६॥ अ० प्रा० २,९—ङणनेभ्यः कटतैः शषसेषु ॥ पा० ८, ३, ३०— "नश्च" सूत्र द्वारा इस प्रकार के सकार को धुट् का आगम करता है। परिणाम में कोई अन्तर नहीं है।

७४. Alt. Gr. I, p. 333; Ved. Gr., pp. 67-68; Ved. Gr. Stu., pp. 32-33; Gr Lg. Ved., p. 100; Skt. Gr., p. 71.

७४ क. अथर्वप्रातिशाख्य (सूर्यकान्त) ६०— आकमिति मकारस्य लोपः ॥ परन्तु पदपाठ में अस्माकं रूप दिया गया है ॥ ऋ० १, १७३, १० के पदपाठ में भी अस्माकं और ऋ० ७, ५९, ९-१० के पदपाठ में युष्माकं रूप दिखलाया गया है। म् का लोप सन्दिग्ध है।

७५. ऋ० प्रा० ४, १५— रेफोष्मणोरुदययोर्मकारोऽनुस्वारं तत्परिपन्नमाहुः ॥ आश्व० श्रौ० सू० १,२, १८— रेफोष्मस्वनुस्वारम् ॥ शां० श्रौ० सू० १, २, ११ ॥ वा० प्रा० ४, १— अनुस्वारं रोष्मसु मकारः ॥

७६. तै० प्रा० १३,१-२—अथ मकारलोपः ॥१॥ रेफोष्मपरः ॥२॥ तै० प्रा० १५, १-३— नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः ॥१॥ नैकेषाम् ॥२॥ ततस्त्वनुस्वारः ॥३॥ दे० टि० ५५ख ।

७७. अ० प्रा० २, ३२— अन्तःस्थोष्मसु लोपः ॥ तै० प्रा० १३, ३ यवकारपरश्चैकेषामाचार्याणाम् ॥ दे० टि० ८२ । अ० प्रा० १, ६७— "नकारमकारयोर्लोपे पूर्वस्यानुनासिकः ॥" के अनुसार, उपधा के स्वर का अनुनासिक बनता है । वा० प्रा० ४, ४-५—अनुनासिका चोपधा ॥४॥ लोपं काश्यपशाकटायनौ ॥५॥

७८. Alt. Gr. I, p. 334; Ved. Gr., p. 68; Ved. Gr. Stu., p. 33 f.n. 1. सम्राज् की सन्धि के सम्बन्ध में भारतीय वैयाकरणों ने भी निम्नलिखित सूत्र बनाये हैं—

ऋ० प्रा० ४, २३— सम्राट्शब्दः परिपन्थापवादः ॥ वा० प्रा० ४, ६— प्रकृत्या सम्राट्साम्राजि ॥ अ० प्रा० २, ३६— न समो राजतौ ॥ तै० प्रा० १३,४— न सँसामिति रापरः ॥ पा० ८, ३, २५— मो राजि समः क्वौ ॥

७९. पा० ८,३,२३— मोऽनुस्वारः ॥ अनुस्वार के सम्बन्ध में पाणिनि के निम्नलिखित सूत्र भी महत्त्वपूर्ण हैं— ८, ३, ४— अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ॥८,४,५९— वा पदान्तस्य ॥

८०. ऋ० प्रा० ४, ८३— ईमित्यन्तलोप एषूदयेषु गर्भं गावो वत्सं मृजन्ति पृच्यते । सखायो विव्याच पुना रिणन्ति रथमित्यन्वक्षरसन्धिरेव सः ॥ तै० प्रा० ५,१२ —"ईंपूर्वोमकारः ॥" ईम् से परे आने वाले पदादि म् का लोप करता है । तै० सं० ४, १, ८, २ में इस प्रयोग का एक मात्र उदाहरण मिलता है । परन्तु इस के विपरीत दे० वा० सं० २७,१५ ।

८१. ऋ० प्रा० ४,७—अन्तस्थासु रेफवर्जं परासु तां तां पदादिष्वनुनासिकां तु ॥ वा० प्रा० ४, १०— अन्तस्थामन्तस्थास्वनुनासिकां परसस्थानम् ॥ तै० प्रा० ५,२८— अन्तस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम् ॥

८२. तै० प्रा० ५,२९-३०— न रेफपरः ॥२९॥ यवकारपरश्चैकेषामाचार्याणाम् ॥३०॥ (दे० टि० ७७) ॥ इस सम्बन्ध में मैक्डानल महोदय ने लिखा

अर्थात् जहाँ न् मूलतः न्स् का प्रतिनिधित्व करता हो; यथा— प्रथ० ए० पुं० और द्विती० व० पुं० में। परन्तु अन्य संहिताओं में यह आगम ऐसे रूपों के न् के पश्चात् भी मिलता है जिनमें व्युत्पत्ति के विचार से इस श् के आगम का समाधान नहीं किया जा सकता; यथा लङ् के प्र० पु० व० के रूप (अभवन् आदि) और नकारान्त प्रातिपदिकों के सम्बोधन तथा सप्तमी ए० के रूप (राजन् आदि)। दे० Alt. Gr. I, p. 331; Skt. Gr., p. 70; Ved. Gr., p. 69; Ved. Gr. Stu., pp. 31–32.

६४. ऋ० प्रा० ४, ७५—अस्माश्चमसान्पशून् ॥ तै० प्रा० ५,२१—नायशैरय-श्राध्नुवन्ननड्वान्घृणीवान्वारुणानेवास्मिन् ॥

६५. पा० ८, ३, ४— अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ॥ तै० प्रा० १५,२-३— नैकेषाम् ॥२॥ ततस्त्वनुस्वारः ॥३॥ वा० प्रा० ३, १३२-३३— स्वर औपशविः ॥१३२॥ अनुस्वारेण व्यञ्जने ॥१३३॥ (दे० टि० ५५ ख)।

६६. विभिन्न ग्रन्थों में इस सन्धि का व्याख्यान निम्नलिखित प्रकार से किया गया है—

(क) वा० प्रा० ३, १३६—"तथयोः सम् ॥" तथा तै० प्रा० ६, १४— "तहान्......पशूँस्तकारपरस्सकारं प्राकृतो नित्यं ॥" के अनुसार, त् से पूर्व पदान्तीय न् का स् बनता है और (टि० ५५ख) में दिये गये नियम से उपधा के स्वर का अनुनासिक हो जाता है। वा० प्रा० ने पदादि थ् से पूर्व भी न् के लिये इसी विकार का विधान किया है, परन्तु संहिताओं में इसका कोई उदाहरण नहीं मिलता है। इसी लिये इस सूत्र के भाष्य में उवट कहता है—"थकारस्य रूपोदाहरणम्; यथा विद्वान् थकारः विद्वाँस्थकारः।"

(ख) ऋ० प्रा० ४,७६—"ताँस्ते सर्वांस्तान्देवाँस्त्वं ताँस्त्रायस्वावदँस्त्वं च ॥" तथा अ० प्रा० २,२६ (टि० ६३ ख) के अनुसार, न् का विसर्जनीय बनता है; और (टि० ६३ ख) में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार विसर्जनीय का स् और उपधा के स्वर का अनुनासिक बन जाता है।

(ग) पा० के अनुसार न् का 'रु', 'रु' का विसर्जनीय, और विसर्जनीय का स् इत्यादि बनने की प्रक्रिया टि० ६३ (ग) में देखिये।

(घ) पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, पदादि त् से पूर्व आने वाले पदान्तीय न् के पश्चात् स् का आगम होता है और तब न् का अनुस्वार (या उपधा के स्वर का अनुनासिक) बन जाता है; ऋ० में इस स् का आगम वहीं पर होता है जहां पदान्तीय न् व्युत्पत्ति के विचार से न्स् का प्रतिनिधित्व करता है, परन्तु अन्य संहिताओं में ऐसा आगम अन्य रूपों के न् के पश्चात् भी हो जाता है। दे० टि० ६३ (घ)।

६७. पाणिनि ने ऋ० में दोनों प्रकार के (न् का 'रु' और न् का अविकृत रूप) उदाहरण देख कर यह सूत्र बनाया— ८,३,८—"उभयथर्क्षु ॥"

६७ क. वा० प्रा० ३,१४५–४६— निर्जगन्वान्तमसि ॥१४५॥
धामञ्छत्रूँश्चिकित्वाँस्त्वं पूषन्नर्वन्निति च ॥१४६॥

६७ ख. अ० प्रा० २,२०—न समैरयन्तादीनाम् ॥

६७ ग. सि० कौ० ने पा० ८,३,३ के व्याख्यान में यह उदाहरण दिया है। परन्तु काशिका ने इसके स्थान पर अन्य उदाहरण—"भवांस्तरति" दिया है जो अधिक उचित है। पा० ने ८,३,७ में 'प्रशान्' के पदान्तीय न् के लिये छव् से पूर्व अविकृत रहने का जो विधान किया है उसके उदाहरण भी काशिका तथा सि० कौ० में भिन्न हैं। काशिका ने दो उदाहरण—"प्रशान्छादयति" तथा "प्रशान्चिनोति"—दिये हैं, जबकि सि० कौ० ने केवल पदादि त् से पूर्व अविकृत रहने वाले न् का एक उदाहरण—"प्रशान्तनोति"—दिया है और च् छ् से पूर्व आने वाले न् का कोई उदाहरण नहीं दिया है। वैदिक वाङ्मय में मुझे प्रशान् का केवल एक प्रयोग मिला है—"प्रशान्ममेति" (श० ब्रा० ३,१,३,१०)। परन्तु ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिला है जिसमें पदादि च् छ् त् से पूर्व प्रशान् का न् आता हो।

६८. ऋ० प्रा० ४,७८–७९—नॄँः पतिभ्यो नॄँः प्रणेत्रं नॄँ पात्रं स्वतवाँः पायुः। सन्धिर्विक्रान्त एवैषः ॥७८॥ नॄँः पाहि शृणुधीति च ॥७९॥

६९. इस प्रकार के प्रयोगों के समाधान के लिये भट्टोजिदीक्षित "नॄन्पे" तथा

है—"The Taittirīya Prātiśākhya allows the optional use of Anusvāra before these semivowels". Ved. Gr. Stu., p. 33 f. n. 2; Ved. Gr., p. 68. इस कथन में "these semivowels" शब्दों का प्रयोग पूर्णतया समीचीन नहीं है, क्योंकि तै० प्रा० के प्रस्तुत नियम से य् व् से पूर्व तो पदान्तीय म् के स्थान पर वैकल्पिक अनुस्वार हो सकता है; परन्तु तै० प्रा० ने पदादि ल् से पूर्व पदान्तीय म् के लिये अनुस्वार का विधान कहीं भी नहीं किया है। (दे० टि० ८१)।

८३. पा० ८, ३, २६— हे मपरे वा ॥ वार्तिक— यवलपरे यवला वेति वक्तव्यम् ॥ ८,३,२७— नपरे नः ॥दे० Skt. Gr., p. 71.

८४. ऋ० प्रा० ४, ६— विरामे स्पर्शे उदये मकारः सर्वेषामेवोदयस्योत्तमं स्वम् ॥ वा० प्रा० ४, १२— स्पर्शे परपञ्चमम् ॥ तै० प्रा० ५,२७— मकार स्पर्शपरस्तस्य सस्थानमनुनासिकम् ॥ अ० प्रा० २, ३१— मकारस्य स्पर्शे परसस्थानः ॥

८५. दे० टि० ७३। पा० ८,३,२९— डः सि धुट् ॥

८६. ऋ० प्रा० ४,२१— चित्कम्भनेनोष्मलोपः ॥

८७. अ० प्रा० २,१८— लोप उदः स्थास्तम्भोः सकारस्य ॥ वा० प्रा० ४,९८ उदस्तभाने लोपम् ॥ तै० प्रा० ५,१४— उत्पूर्वः सकारो व्यञ्जनपरः ॥

८८. पा० ८,४,६१— उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ॥ सि० कौ० के अनुसार, पा० ८, ४, ६५— "झरो झरि सवर्णे" से थ् का वैकल्पिक लोप होता है। परन्तु कतिपय वैयाकरण थ् का त् बनाकर तीन तकारों का रूप भी सिद्ध करते हैं; यथा—उद् +स्तम्भनम् =उत्त्तम्भनम्। परन्तु संहिताओं में प्रायेण प्रातिशाख्यों के सन्धि-नियम के अनुसार पाठ मिलता है।

८९. पा० ८, ४,६१ पर वार्तिक (काशिका के अनुसार)— उदः पूर्वसवर्णत्वे स्कन्देश्छन्दस्युपसंख्यानम् ॥ रोगे चेति वक्तव्यम् ॥ उत्कन्दक शब्द के विषय में काशिका कहती है— "उत्कन्दको नाम रोगः। कन्दतेर्वा धात्वन्तरस्यैतद्रूपम्।"

९०. वा० प्रा० ३, ११-१२— प्रकृत्या कखयोः पफयोश्च ॥११॥ जिह्वामूलीयो-

पध्मानीयौ शाकटायनः ॥१२॥ ऋ० प्रा० ४, ३१.३३— अघोषे रेफ्य-रेफी चोष्माणं स्पर्श उत्तरे। तत्सस्थानमनूष्मपरे ॥३१॥ प्रथमोत्तमवर्गीये स्पर्शे वा ॥३३॥ तै० प्रा० ९,२-४—अघोषपरस्तस्य सस्थानमूष्माणम् ॥२॥ न क्षपरः ॥३॥ कपवर्गपरश्चाग्निवेश्यवाल्मीक्योः ॥४॥ अ० प्रा० २, ४०— विसर्जनीयस्य परसस्थानो ऽघोषे ॥ पा० ८,३,३७— कुप्वो ≍क ≍पौ च ॥

९१. ऋ० प्रा० ४, ३८— अव्यापत्तिः कखपफेषु वृत्तिः ॥

९१ क. Alt. Gr. I, p. 340; Ved. Gr., p. 71 f. n. 2; Gr. Lg. Ved., p. 107. का० सं० ४०, ८ में "अुदः विंतो" पाठ मिलता है।

९२. पा० ८, ३, ३५— शर्परे विसर्जनीयः ॥ तै० प्रा० ९, ३— न क्षपरः ॥

९२ क. Alt. Gr. I, p. 341; Ved. Gr., p. 71; Gr. Leg. Ved., p 107.

९३. ऋ० प्रा० ४, ४१-६४ (दे० टि० ९४); अ० प्रा० २. ६३-८०;२, ८१— अत्र नाम्युपधस्य षकारः ॥ तै० प्रा० ८, २३— कखपकारपरः षमकारपूर्वः समवग्रहः; ८, २४-३५; वा० प्रा० ३, २१-२२— ककार-पकारयोः सकारम् ॥२१॥ भाव्युपधः षकारम् ॥२२॥ वा० प्रा० ३, २३-३८; पा० ८,.३, ४८-५४।

९४. अ० प्रा० २, ६२— समासे सकारः कपयोरनन्तः सद्यः श्रेयश्छन्दसाम् ॥ तै० प्रा० ८, २३ (टि० ९३) ॥ वा० प्रा० ३, ३०— समानपदे च ॥ ऋ० प्रा० ४, ४१— यथादिष्टं नामिपूर्वः षकारं सकारमन्योऽरिफितः ककारे। पकारे च प्रत्ययेऽन्तःपदं तु सर्वत्रैवोपाचरितः स सन्धिः ॥ पा० ८, ३, ३८-५४ ॥

९४ क. ऋ० प्रा० ४, ३९— रेफं स्वर्धूः पूरघोषेष्वविग्रहे ॥ तै० प्रा० ५, १० (टि० ९९) के भाष्य में आशीर्पदया (तै० सं० ६, २, ९, ४) पाठ मिलता है। पा० ८, २, ७० पर वार्तिक— अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः ॥

९५. ऋ० प्रा० ४,३१ (दे० टि० ९०); अ० प्रा० २,४० (दे० टि० ९०); तै० प्रा० ६, २ (दे० टि० ९०)। वा० प्रा० ३, ६-८— विसर्जनीयः ॥६॥ चछयोः शम् ॥७॥ तथयोः सम् ॥८॥ पा० ८, ३, ३४— विसर्जनी

यस्य सः ॥ पा० ८, ४,४० के अनुसार, विसर्जनीय से वना हुआ सकार च् छ् से पूर्व श् में परिणत हो जाता है।

९५ क. मैक्डानल महोदय की Ved. Gr. Stu., p. 34 में इस उदाहरण के 'दे॒वाः' शब्द के आ पर उदात्त-चिह्न अशुद्ध है। परन्तु Alt. Gr. I, p. 339 और Ved. Gr., p. 70. में इस का शुद्ध रूप दिया गया है।

९६. ऋ० प्रा० ४,९४— सो चिन्न्वगस्त्ये दशमे च मण्डले ॥

९६ क. Alt. Gr. I, p. 339; Ved. Gr., p. 70 f.n. 7.

९७. Alt. Gr. I, p. 336; Ved Gr., p. 72; Gr. Lg. Ved., p. 101.

९७ क. दे० टि० ९४ क। Alt. Gr. I, p. 336; Ved. Gr., p. 72; Ved. Gr. Stu., p. 34 f.n. 1.

९७ ख. ऋ० प्रा० ५, ३१— तकारे पूर्वपदान्तो व्यापन्नोऽरेफसंहिते। नामिपूर्वः ॥ ऋ० प्रा० ५, ३२–३८ ॥ तै० प्रा० ६,५ ॥ अ० प्रा० २, ८३–८५ ॥ वा० प्रा० ३, ७४–८० ॥ पा० ८,३,१०३–१०५ ॥ दे० टि० १२७।

९७ ग. Ved. Gr., p. 70; Ved. Gr. Stu., p. 34 में दु॒ष्टरं के दुप् पर उदात्तचिह्न अशुद्ध है।

९८. ऋ० प्रा० ४,३२.३४—तमेवोष्माणमूष्मणि ॥३२॥ ऊष्मणि चानते ॥३४॥ वा० प्रा० ३, ९–१०— प्रत्ययसवर्णम्मुदि शाकटायनः ॥९॥ अविकारं शाकल्यः शषसेषु ॥१०॥ तै० प्रा० ६, २ (टि० ९०) ॥ अ० प्रा० २,४० (टि० ९०) ॥ पा० ८,३,३६— वा शरि ॥

९९. ऋ० प्रा० (टि० ९४ क) ॥ तै० प्रा० ५, १०— अवग्रह आशीर्धूः सुवरिति रेफं परः सकारः षकारम् ॥ वा० प्रा० ३, ४१— स्वर्धूः सांसहयोः ॥ अ० प्रा० २,४९— स्वर्षाश्च ॥ इन उदाहरणों के आधार पर पाश्चात्य विद्वान् यह मत प्रकट करते हैं कि मूलतः पदसन्धि में ऊष्मों से पूर्व र् (जिसका रिफित विसर्जनीय बनता है) अविकृत रहता होगा। तु० Alt. Gr. I, p. 335; Ved. Gr., p. 73; Ved. Gr. Stu., p. 34 f.n. 4.

९९ क. ऋ० प्रा० ४,८६— वनेति रेफः सदशब्द उत्तरे ॥ वा० प्रा० ३, ४९— वनसदोऽवेटो रेफेण ॥ इन आचार्यों के अनुसार, यहां पर रेफ का आगम होता है। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् यहां पर मौलिक रेफ मानते हैं; दे० टि० ९९।

९९ ख. कुछ पुस्तकों में यह पाठ मिलता है और तै० प्रा० (टि० ९९) के जिस सूत्र में 'आशीः' पद दिया गया है उसमें स् को ष् होने का विधान भी है। इससे प्रतीत होता है कि प् के स्थान ष् वाला पाठ भी सम्भव हो सकता है। दे० टि० ९४ क। परन्तु आशीर्पदया पाठ अधिक प्रचलित है।

९९ ग. वाकरनागल (Alt. Gr. I, p. 342) के मतानुसार, इतो=इत (:)+उ। और मैक्डानल का अनुमान है कि इतो=इत+उ। दे० Ved. Gr., p. 71, f. n. 6; वा० प्रा० ३,४६।

१००. ऋ० प्रा० ४,३६— ऊष्मण्यघोषोदये लुप्यते परे नर्तेऽपि ॥ वा० प्रा० ३, १३— लुङ्ङ्मुदि जित्परे ॥ तै० प्रा० ९, १— ऊष्मपरोऽघोषपरो लुप्यते-काण्डमायनस्य ॥ हम ने सूत्र का मूल पाठ दिया है, परन्तु ह्विटने ने अपने संस्करण में 'अघोषपरे' पाठ रखा है और इस शोधन के लिये युक्ति भी दी है; दे० अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणी, पृ० २०५। सेण्ट-पीटर्सबर्गकोष में इषुस्तुर्तः (ऋ० ५,५०,५) पाठ स्वीकार किया गया है और इसके व्याख्यान में मैक्डानल (Ved. Gr., p. 71 f.n. 7) कहता है कि यहां पर पदकार ने इषुऽस्तुर्तः की अपेक्षा इषुःऽस्तुर्तः विग्रह किया है जो अशुद्ध है, क्योंकि इसके सदृश इषवान् (ऋ० १, १२९, ६) रूप भी मिलता है। तु० Alt. Gr. I, p. 343. परन्तु ऋ० के अनेक संस्करणों में 'इषुःस्तुर्तः' संहितापाठ में मिलता है। डेब्रूनेर (Alt. Gr. Nachtrage Zu Band I, p. 194) के अनुसार, 'इषुःस्तुर्तः' पाठ शुद्ध है।

१०१. पा० ३, ८,३६ पर वार्तिक—खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः ॥

१०२. Ved. Gr., p. 71; Ved. Gr. Stu., p. 35; Alt. Gr. I, p. 342; Bollensen, ZDMG. 45, 204; 22, 635; Roth, ZDMG. 48, 103 ff; Pischel, Vedische Studien I, 13.

द्वितीयोऽध्यायः

तै० प्रा० ९,१ (टि० १००) पर त्रिभाष्यरत्न में यह मत मिलता है— "काण्डमायनग्रहणं विकल्पार्थम् । अन्येषां मते घोषवत्परेऽप्यूष्मणि विसर्जनीयो लुप्यते । यथा— अद्भ्य स्वाहा (तै० सं० १, ८,१३,३); ये शुक्ला स्युः (तै० सं० २, ३, १, ३); इत्यादि ।" परन्तु तै० सं० के मुद्रित संस्करणों में कहीं ऐसा विसर्जनीय-लोप नहीं मिलता है ।

१०२क. Alt. Gr. I, p. 342; Ved. Gr., p. 71; Gr. Lg. Ved., p. 108.

१०३. तै० प्रा० ९,७— ओकारमः सर्वोऽकारपरः । वा० प्रा० ४,४३— अकारे च ॥ ऋ० प्रा० २, ३३— उद्ग्राहाणां पूर्वरूपाण्यकारे प्रकृत्या द्वे ओ भवत्येकमात्रम् ।

अ० प्रा० २,५३— "अकारोपधस्योकारोऽकारे" के अनुसार, विसर्जनीय का उ बनता है और फिर गुणसन्धि से उपधा के अ तथा उ का ओ बन जाता है । इसी प्रकार पाणिनि भी ६,१,११३ (अतो रोरप्लुतादप्लुते) से 'रु' का उ बना कर, फिर गुण-सन्धि द्वारा ओ बनाता है ।

१०४. ऋ० प्रा० ४, २५— ओकारं ह्रस्वपूर्वः ॥ वा० प्रा० ४, ४२— सर्वो अकार ओकारम् ॥ तै० प्रा० ९,८— घोषवत्परश्च ॥ अ० प्रा० २, ५४— "घोषवति च" के अनुसार, विसर्जनीय का उ और फिर गुणसन्धि से अ+उ का ओ बन जाता है । इसी प्रकार पा० ६,१,११४— "हशि च" से 'रु' का उ बनता है और फिर गुणसन्धि से अ+उ का ओ बन जाता है ।

१०४क. ऋ० प्रा० ४, ४० ॥ पा० ८, २, ७० पर वार्तिक— छन्दसि भाषायां च विभाषा प्रचेतसो राजन्युपसंख्यानं कर्त्तव्यम् (काशिका) ॥

१०४ख. Alt. Gr. I, p. 338; Ved. Gr., p. 70 f. n. 6; Gr. Lg. Ved. p. 103. सायण तथा ये पाश्चात्य विद्वान् यहां पर "सूरे" को षष्ठी एकवचन का रूप मानते हैं । इसी लिये ये विद्वान् "सूरे" को "सूरः" का सन्धि-विकार मानते हैं । ऋ० ७,६९,४ के सायण-भाष्य में भी "सूरः" का व्याख्यान "सूर्यस्य" किया गया है । पाश्चात्य विद्वान् इसे स्वर् का रूप मानते हैं । तु० Gr. Lg. Ved., p. 209.

१०४ग. Alt. Gr. I, Nachträge, p. 191; Pischel, Vedische Studien 3, 193;. Gr. Lg. Ved., pp. 103, 209.

१०५. वा० प्रा० ४, ३७— कण्ठ्यपूर्वो यकारमरिफितः ॥ अ० प्रा० २, ४१— स्वरे यकारः ॥ तै० प्रा० ९,१०— अथ स्वरपरो यकारम् ॥ इन तीनों प्रातिशाख्यों ने पदान्तीय य् व् के लोप के सूत्र भी दिये हैं। (दे० टि० ५५ ख, ग)। पाणिनि (८,३,१७) ने 'रु' का 'य्' बनाकर, उस का वैकल्पिक लोप (८, ३, १९) दिखलाया है। (दे० टि० ५५ घ)। परन्तु ऋ० प्रा० २, २७— "ह्रस्वपूर्वस्तु सोऽकारम्" के अनुसार, विसर्जनीय तथा उपधा के अ दोनों के स्थान पर अ बन जाता है।

१०५क. ऋ० प्रा० २,७३; वा० प्रा० ३,१४। दे० टि० १८क में उद्धृत वार्तिक।

१०६. वा० प्रा० ४, ३८— लोपन्घौ ॥ अ० प्रा० २, ५५— आकारोपधस्य लोपः ॥ तै० प्रा० ९, ९— अवर्णपूर्वस्तु लुप्यते ॥ पाणिनि (८, ३, १७; टि० ५५ घ) 'रु' का य् बना कर व्यञ्जनों से पूर्व उसका लोप कर देता है। दे० पा० ८, ३, २२— हलि सर्वेषाम् ॥

परन्तु ऋ० प्रा० २,२४— "विसर्जनीयोऽरिफितो दीर्घपूर्वः स्वरोदयः। आकारम् ॥" और ४,२४— "विसर्जनीय आकारमरेफी घोषवत्परः ॥" के अनुसार, स्वर तथा घोष व्यञ्जन से पूर्व आने वाले अरिफित विसर्जनीय और उपधा के आ के स्थान पर केवल आ बन जाता है।

१०७. प्रातिशाख्यों के अनुसार निम्नलिखित शब्दों के अन्त में रिफित विसर्जनीय है और पाणिनि तथा आधुनिक विद्वानों के अनुसार इनके अन्त में मौलिक र् ध्वनि है—

(१) अन्तर् (अन्दर); पुनर् (फिर); प्रातर् (सवेरे); सनुतर् (दूर); स्वर् (प्रकाश); अवर् (नीचे) केवल महः से पूर्व; पा० ८, २, ७०–७१ के अनुसार, अम्नर् तथा भुवर् (महाव्याहृति) के पदान्तीय का विकल्प से र् बनता है। परन्तु अ० प्रा० २, ५२ के अनुसार इनके पदान्तीय का र् नहीं बनता है, क्योंकि अम्नः का एकमात्र उदाहरण अ० ८, ६,१९ में मिलता है जहां पदान्तीय का र् नहीं बनता है। का० सं० (६, ७; ७,

१३; ८, ४) में अनेक वार 'भुवर्' रूप का प्रयोग मिलता है और तै० ब्रा० तथा श० ब्रा० आदि में 'भुवः' मिलता है। इसी प्रकार मै० सं० (१, ६, १०) तथा का० सं० (६, ५) में अम्नः रूप मिलता है, जब कि आप० श्रौ० सू० (६, ४, ६) में अम्नर् मिलता है। इन प्रयोगभेदों को देख कर ही पाणिनि ने वैकल्पिक विधान किया होगा। अहर् (दिन) जब इस से परे कोई विभक्ति और रूप, रात्रि तथा रथन्तर शब्द न हों।

उषर् (उषा) जब समास का पूर्वपद हो और स्पर्शों से पूर्व आए; ऊधर् (आपीन) जब स्वरों तथा घोष व्यञ्जनों से पूर्व आए और अर्धर्च के अन्त में न आए और अरूपासः, अतृणत् तथा मही शब्दों से पूर्व न हो। द्वार् (दरवाजा); वार् (रक्षक); वार् (जल); वध्रर् (हथियार); वनर् (लकड़ी)।

(२) ऋकारान्त शब्दों के प्रथमान्त सम्बोधन रूप का र्; यथा— भ्रातर्; सवितर्; जनितर् इत्यादि।

(३) ऋकारान्त धातुओं के भूतकालिक प्र० पु० तथा म० पु० के एकवचन के रूपों का र्; यथा— √वृ (ढांपना) से— वर्, अवर्; आवर्; √कृ (करना) से— कर्; √भृ (धारण करना) से— अबिभर्, अभार्। कतिपय अन्य धातुओं से बने भूतकालिक रूपों के प्र० पु० तथा म० पु० के एकवचन के रूपों का पदान्तीय वर्ण रिफित विसर्जनीय माना जाता है; यथा—

द्वीधुर् (ऋ०), अक्षार्, अजागर्, आदर्, दर्दर्, अदर्दर्, अदर्धर्, स्पर्, अस्पर्, अत्सार्, स्तर्, अस्तर्, ह्वार्, ह्वार्।

१०८. ऋ० प्रा० ४,४० । वा० प्रा० ४, ४५— स्वो रुहावहश्च रात्र्याम् ॥ पा० ६, ३, १०९ पर वार्तिक— "स्वरो रोहतौ छन्दस्युत्वम्।"

१०९. ऋ० प्रा० १, ७६— "ऊष्मा रेफी पञ्चमो नामिपूर्वः" के अनुसार, जिस विसर्जनीय से पूर्व अ तथा आ से भिन्न स्वर हो वह रेफी (रिफित) कहलाता है। ऋ० प्रा० ४, २७— सर्वोपधस्तु स्वरघोषवत्परो रेफं रेफी ते पुना रेफसन्धयः॥ वा० प्रा० ४, ३६— रेफं

स्वरयौ ॥ तै० प्रा० ८, ६— रेफमेतेषु ॥ अ० प्रा० २, ४२-४३— नाम्युपधस्य रेफः ॥४२॥ घोषवति च ॥४३॥ पाणिनि के मतानुसार, अ तथा आ से भिन्न स्वर के तुरन्त पश्चात् आने वाले स् का साधारण नियम (८, २, ६६) से रेफ बन जाता है और फिर स्वर तथा घोष व्यञ्जन से पूर्व यह रेफ ही रहता है। अतः विसर्जनीय से रेफ बनने का प्रश्न ही नहीं उठता।

११०. ऋ० प्रा० ४, ४०; वा० प्रा० ४, ३९ ॥ कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, 'स्वधितीव' में इव नहीं है अपितु इव का वाचक व अव्यय है और स्वधितिः के पदान्तीय स् का, जो z का प्रतिनिधित्व करता है, लोप होने पर उपधा के इ का दीर्घ बन गया। तु. Alt. Gr. I, p. 337; Ved. Gr. p., 70 f. n. 3.

११०क. ऋ० प्रा० ५, ५५; अ० प्रा० २, ६०; वा० प्रा० ३,४२-४३; पा० ६, ३, १०९ पर वार्तिक— दुरो दाशनाशदमध्येपूत्वं वक्तव्यम्, उत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम्। यद्यपि ऋ० प्रा० तथा वार्तिक ने दूळ्य— की सिद्धि बतलाई है, तथापि ऋ० में मिलने वाले दूळ्यः, दूळ्ये आदि पद दूळी- से ही बनते हैं। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार यहां पर दुस् का स् है जो z का प्रतिनिधित्व करता है। इस लिये इसका लोप होने पर दीर्घत्व तथा मूर्धन्यत्व होता है। तु० Alt. Gr. I, p. 337; Ved. Gr., p. 70 f. n. 3; Gr. Lg. Ved., p. 102; दे० अनु० २६ ।

१११. ऋ० प्रा० ४, २८-२९— रेफोदयो लुप्यते ॥२८॥ द्राघितोपधा ह्रस्वस्य ॥२९॥ वा० प्रा० ४, ३५— रेफे लुप्यते दीर्घश्चोपधा ॥ तै० प्रा० ८, १६-१७— अनवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते ॥१६॥ दीर्घं च पूर्वः ॥१७॥ तै० सं० में केवल एक उदाहरण— "एष्टा रायः" (तै० सं १, २,११, १ तथा ६, २, २६) ऐसा मिलता है जिस में अकार के पश्चात् आने वाला रिफित विसर्जनीय रेफ से पूर्व लुप्त होता है और उपधा के अकार का दीर्घ होता है। इस एक उदाहरण के सम्बन्ध में तै० प्रा० (८, १८-२२) ने पांच सूत्र दिये हैं जो विभिन्न आचार्यों के मतों को प्रस्तुत करते हैं। तै० सं० में अकार के पश्चात् आने वाले रिफित विसर्जनीय

१३; ८, ४) में अनेक वार 'भुवर्' रूप का प्रयोग मिलता है और तै० ब्रा० तथा श० ब्रा० आदि में 'भुवः' मिलता है। इसी प्रकार मै० सं० (१, ६, १०) तथा का० सं० (६, ५) में अुन्नः रूप मिलता है, जब कि आप० श्रौ० सू० (६, ४, ६) में अुन्नर् मिलता है। इन प्रयोगभेदों को देख कर ही पाणिनि ने वैकल्पिक विधान किया होगा। अहर् (दिन) जब इस से परे कोई विभक्ति और रूप, रात्रि तथा रथन्तर शब्द न हों।

उपर् (उपा) जब समास का पूर्वपद हो और स्पर्शों से पूर्व आए; ऊधर् (आपीन) जब स्वरों तथा घोष व्यञ्जनों से पूर्व आए और अर्धर्च के अन्त में न आए और अुरुपासः, अुतृणत् तथा मुही शब्दों से पूर्व न हो। द्वार् (दरवाजा); वार् (रक्षक); वार् (जल); वर्धर् (हथियार); वनर् (लकड़ी)।

(२) ऋकारान्त शब्दों के प्रथमान्त सम्बोधन रूप का र्; यथा— भ्रातर्; सवितर्; जनितर् इत्यादि।

(३) ऋकारान्त धातुओं के भूतकालिक प्र० पु० तथा म० पु० के एकवचन के रूपों का र्; यथा— √वृ (ढांपना) से— वर्, अवर् ; आवर्; √कृ (करना) से— कर्; √भृ (धारण करना) से— अबिभर्, अभार्। कतिपय अन्य धातुओं से बने भूतकालिक रूपों के प्र० पु० तथा म० पु० के एकवचन के रूपों का पदान्तीय वर्ण रिफित विसर्जनीय माना जाता है; यथा—

द्वीधुर् (ऋ०), अक्षार्, अजागर्, आदर्, दर्दर्, अदर्दर्, अदर्धर्, स्पर्, अस्पर्, अत्सार्, स्तर्, अस्तर्, द्वार्, हार्।

१०८. ऋ० प्रा० ४,४० । वा० प्रा० ४, ४५— स्वो रुहावहश्च रात्र्याम्॥ पा० ६, ३, १०९ पर वार्तिक— "स्वरो रोहतौ छन्दस्युत्वम्।"

१०९. ऋ० प्रा० १, ७६— "ऊष्मा रेफी पञ्चमो नामिपूर्वः" के अनुसार, जिस विसर्जनीय से पूर्व अ तथा आ से भिन्न स्वर हो वह रेफी (रिफित) कहलाता है। ऋ० पा० ४, २७— सर्वोपधस्तु स्वरघोषवत्परो रेफं रेफी ते पुना रेफसन्धयः॥ वा० प्रा० ४, ३६— रेफं

स्वरयो ॥ तै० प्रा० ८, ६— रेफसंगेषु ॥ अ० प्रा० २, ४२-४३— नाम्युपधस्य रेफः ॥४२॥ घोषवति च ॥४३॥ पाणिनि के मतानुसार, अ तथा आ से भिन्न स्वर के तुरन्त पश्चात् आने वाले स् का साधारण नियम (८, २, ६६) से रेफ बन जाता है और फिर स्वर तथा घोष व्यञ्जन से पूर्व वह रेफ ही रहता है। अतः विसर्जनीय से रेफ बनने का प्रश्न ही नहीं उठता।

११०. ऋ० प्रा० ४, ४०; वा० प्रा० ४, ३९॥ कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, 'स्वधितीव' में इव नहीं है अपितु इव का वाचक व अव्यय है और स्वधितिः के पदान्तीय र् का, जो स् का प्रतिनिधित्व करता है, लोप होने पर उपधा के इ का दीर्घ बन गया। तु. Alt. Gr. I, p. 337; Ved. Gr. p., 70 f. n. 3.

११०क. ऋ० प्रा० ५, ५५; अ० प्रा० २, ६०; वा० प्रा० ३,४२-४३; पा० ६, ३, १०९ पर वार्तिक— दुरो दाशनाशदमध्येषूत्वं वक्तव्यम्, उत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम्। यद्यपि ऋ० प्रा० तथा वार्तिक ने दूढ्य— की सिद्धि बतलाई है, तथापि ऋ० में मिलने वाले दूढ्यः, दूढ्यै आदि पद दूढी- से ही बनते हैं। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार यहां पर दुस् का स् है जो र् का प्रतिनिधित्व करता है। इस लिये इसका लोप होने पर दीर्घत्व तथा मूर्धन्यत्व होता है। तु० Alt. Gr. I, p. 337; Ved. Gr., p. 70 f. n. 3; Gr. Lg. Ved., p. 102; दे० अनु० २६।

१११. ऋ० प्रा० ४, २८-२९— रेफोदयो लुप्यते ॥२८॥ द्राघितोपधा ह्रस्वस्य ॥२९॥ वा० प्रा० ४, ३५— रेफे लुप्यते दीर्घश्चोपधा॥ तै० प्रा० ८, १६-१७— अनवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते ॥१६॥ दीर्घं च पूर्वः ॥१७॥ तै० सं० में केवल एक उदाहरण— "पुष्टा रायः" (तै० सं १, २,११, १ तथा ६, २, २६) ऐसा मिलता है जिस में अकार के पश्चात् आने वाला रिफित विसर्जनीय रेफ से पूर्व लुप्त होता है और उपधा के अकार का दीर्घ होता है। इस एक उदाहरण के सम्बन्ध में तै० प्रा० (८, १८-२२) ने पांच सूत्र दिये हैं जो विभिन्न आचार्यों के मतों को प्रस्तुत करते हैं। तै० सं० में अकार के पश्चात् आने वाले रिफित विसर्जनीय

१३; ८, ४) में अनेक वार 'भुवर्' रूप का प्रयोग मिलता है और तै० ब्रा० तथा श० ब्रा० आदि में 'भुवः' मिलता है। इसी प्रकार मै० सं० (१, ६, १०) तथा का० सं० (६, ५) में अम्नः रूप मिलता है, जब कि आप० श्रौ० सू० (६, ४, ६) में अम्नर् मिलता है। इन प्रयोगभेदों को देख कर ही पाणिनि ने वैकल्पिक विधान किया होगा। अहर् (दिन) जब इस से परे कोई विभक्ति और रूप, रात्रि तथा रथन्तर शब्द न हों।

उषर् (उषा) जब समास का पूर्वपद हो और स्पर्शों से पूर्व आए; ऊधर् (आपीन) जब स्वरों तथा घोष व्यञ्जनों से पूर्व आए और अर्धर्च के अन्त में न आए और अरुषासः, अतृणत् तथा मही शब्दों से पूर्व न हो। द्वार् (दरवाजा); वार् (रक्षक); वार् (जल); वधर् (हथियार); वनर् (लकड़ी)।

(२) ऋकारान्त शब्दों के प्रथमान्त सम्बोधन रूप का र्; यथा—भ्रातर्; सवितर्; जनितर् इत्यादि।

(३) ऋकारान्त धातुओं के भूतकालिक प्र० पु० तथा म० पु० के एकवचन के रूपों का र्; यथा— √वृ (ढांपना) से—वर्, अवर्; आवर्; √कृ (करना) से— कर्; √भृ (धारण करना) से— अबिभर्, अभार्। कतिपय अन्य धातुओं से बने भूतकालिक रूपों के प्र० पु० तथा म० पु० के एकवचन के रूपों का पदान्तीय वर्ण रिफित विसर्जनीय माना जाता है; यथा—

द्रीधुर् (ऋ०), अक्षार्, अजागर्, आदर्, दर्दर्, अदर्दर्, अदर्धर्, स्पर्, अस्पर्, अत्सार्, स्तर्, अस्तर्, ह्वार्, द्यार्।

१०८. ऋ० प्रा० ४,४०। वा० प्रा० ४, ४५— स्वो रुहावहश्च रात्र्याम्॥ पा० ६, ३, १०९ पर वार्तिक— "स्वरो रोहतौ छन्दस्युत्वम्।"

१०९. ऋ० प्रा० १, ७६— "ऊष्मा रेफी पञ्चमो नामिपूर्वः" के अनुसार, जिस विसर्जनीय से पूर्व अ तथा आ से भिन्न स्वर हो वह रेफी (रिफित) कहलाता है। ऋ० प्रा० ४, २७— सर्वोपधस्तु स्वरघोषवत्परो रेफं रेफी ते पुना रेफसन्धयः॥ वा० प्रा० ४, ३६— रेफं

स्वरधौ ॥ तै० प्रा० ८, ६— रेफमेतेषु ॥ अ० प्रा० २, ४२-४३— नाम्युपधस्य रेफः ॥४२॥ घोषवति च ॥४३॥ पाणिनि के मतानुसार, अ तथा आ से भिन्न स्वर के तुरन्त पश्चात् आने वाले स् का साधारण नियम (८, २, ६६) से रेफ बन जाता है और फिर स्वर तथा घोष व्यञ्जन से पूर्व यह रेफ ही रहता है। अतः विसर्जनीय से रेफ बनने का प्रश्न ही नहीं उठता।

११०. ऋ० प्रा० ४, ४०; वा० प्रा० ४, ३९ ॥ कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, 'स्वाधितीव' में इव नहीं है अपितु इव का वाचक व अव्यय है और स्वधितिः के पदान्तीय ṣ् का, जो z का प्रतिनिधित्व करता है, लोप होने पर उपधा के इ का दीर्घ बन गया। तु. Alt. Gr. I, p. 337; Ved. Gr. p., 70 f. n. 3.

११०क. ऋ० प्रा० ५, ५५; अ० प्रा० २, ६०; वा० प्रा० ३,४२-४३; पा० ६, ३, १०९ पर वार्तिक— दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वं वक्तव्यम्, उत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम्। यद्यपि ऋ० प्रा० तथा वार्तिक ने दूळ्य— की सिद्धि बतलाई है, तथापि ऋ० में मिलने वाले दूळ्यः, दूळ्ये आदि पद दूढी- से ही बनते हैं। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार यहां पर दुस् का स् है जो z़ का प्रतिनिधित्व करता है। इस लिये इसका लोप होने पर दीर्घत्व तथा मूर्धन्यत्व होता है। तु० Alt. Gr. I, p. 337; Ved. Gr., p. 70 f. n. 3; Gr. Lg. Ved., p. 102; दे० अनु० २६।

१११. ऋ० प्रा० ४, २८-२९— रेफोदयो लुप्यते ॥२८॥ द्राघितोपधा ह्रस्वस्य ॥२९॥ वा० प्रा० ४, ३५— रेफे लुप्यते दीर्घश्चोपधा ॥ तै० प्रा० ८, १६-१७— अनवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते ॥१६॥ दीर्घं च पूर्वः ॥१७॥ तै० सं० में केवल एक उदाहरण— "पुष्टा रायः" (तै० सं १, २, ११, १ तथा ६, २, २६) ऐसा मिलता है जिस में अकार के पश्चात् आने वाला रिफित विसर्जनीय रेफ से पूर्व लुप्त होता है और उपधा के अकार का दीर्घ होता है। इस एक उदाहरण के सम्बन्ध में तै० प्रा० (८, १८-२२) ने पांच सूत्र दिये हैं जो विभिन्न आचार्यों के मतों को प्रस्तुत करते हैं। तै० सं० में अकार के पश्चात् आने वाले रिफित विसर्जनीय

का रेफ से पूर्व लुप्त होने का अन्य उदाहरण नही मिलता है। इस लिये तै० प्रा० ने ८, १६ सूत्र में 'अनवर्णपूर्वः' समास का प्रयोग किया है।

अ० प्रा० २,१९— रेफस्य रेफे ॥ ३,२०— रलोपे ॥ यद्यपि अ० प्रा० ने रिफित विसर्जनीय की अपेक्षा रेफ के लोप का विधान किया है, तथापि अ० प्रा० का रेफ वास्तव में विसर्जनीय से बना हुआ ही है (अ० प्रा० २, ४२-४३; दे० टि० १०९,), क्योंकि इस प्रातिशाख्य के अनुसार रेफ कभी पदान्तीय नहीं हो सकता और यह विसर्जनीय का ही विकार है।

पाणिनि ने अपनी विशिष्ट पद्धति के अनुसार (दे० अनु० ५६), रेफ का लोप दिखाया है; पा० ८, ३, १४— रो-रि ॥ ६,३,१११ — ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ॥

इस नियम के वर्णन में पाश्चात्य विद्वानों ने प्रातिशाख्यों को छोड़ कर पाणिनि का अनुसरण किया है। दे० Ved. Gr., p. 72; Ved. Gr. Stu., p. 36; Skt. Gr., p. 61.

११२. ऋ० प्रा० २,८-१२; वा० प्रा० ३,१६-१७— व्यञ्जने च ॥१६॥ स्य एष च ॥१७॥ अ० प्रा० २, ५७— एष स व्यञ्जने ॥ तै० प्रा० ५, १५— एषसस्य इति च ॥ पाणिनि अपनी विशिष्ट पद्धति के अनुसार पदान्तीय विसर्जनीय का लोप न कह कर इसे सुलोप (प्रथमा विभक्ति के सु प्रत्यय का लोप) कहता है; यथा— पा० ६, १, १३२-१३३— एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ॥१३२॥ स्यश्छन्दसि बहुलम् ॥१३३॥

११३. Ved. Gr. Stu., p. 36.

११४. तै० प्रा० ५,१६— नासः ॥ दे० पा० का सूत्र (टि० ११२)।

११५. ऋ० प्रा० ४,९४-९७— सोन्त्यगस्त्ये दशमे च मण्डले ॥९४॥ सा न्नीयते ॥९५॥ सः पलिक्नीः ॥९६॥ हि पस्तव ॥९७॥ ४,९८— सस्पर्दीष्ट ॥ अ० प्रा० २,५८— न सस्पर्दीष्ट ॥

वा० प्रा० ४,४४— "एषो ह च" के अनुसार, ह निपात से पूर्व आने वाले एषः के विसर्जनीय और उपधा के अ के स्थान पर ओ बन जाता है; यथा— एषो ह देवः (वा० सं० ३२, ४; श्वेताश्वतरोपनिषद् २, १६)।

पा० ६, १, १३३ (दे० टि० ११२) पर काशिकावृत्ति स्यः के विसर्जनीय के सम्बन्ध में कहती है— "न च भवति—'यत्र स्यो निपतेत्'।" यह उदाहरण कहां से लिया गया है?

११६. वा० प्रा० ३, १५— सऽओषधीस्रयोः। तै० प्रा० ५, १७— इद्विदम्- इमानिएनौषधीः परः सः॥

ऋ० प्रा० २, ६८-६९— सेदुसास्मिन्त्सेमभि सभिवेगः सेहभवः सोपमा सौषधीरनु। सास्मा अरं सोत नः सेन्द्र विश्वा सेति सास्माकमनवद्य सासि॥६८॥ सेदग्ने सेदमिर्वासिष्ठं सास्मकेभिः सेदुग्रः सेमे। सैना सैनं सेमं सोदञ्चं सेमां सोषां सेशे सेदीशे॥६९॥

पा० ६,१,१३४— सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम्॥ इस सूत्र पर भट्टोजिदीक्षित सि० कौ० में कहते हैं— 'इह ऋक्पाद एव गृह्यत इति वामनः। अविशेषाच्छ्लोकपादोऽपीत्यपरे।"

११७. Skt. Lg., pp. 371 ff.

११८. वा० प्रा० ३,८० पात्तथौ मूर्द्धन्यम्" ॥ ऋ० प्रा० ५,११— तकारवर्गस्तु टकारवर्गमन्तःपदस्थोऽपि षकारपूर्वः॥ पा० ८,४,४१ (टि० ४७)।

११९ अ० प्रा० ३,७५— ऋवर्णरेफषकारेभ्यः समानपदे नो णः॥ वा० प्रा० ३,८५— ऋपरेभ्यो नकारो णकारं समानपदे॥ तै० प्रा० ऋकारर्कारेरप- पूर्वो नकारो णकारं समानपदे॥ पा० ८, ४, १— रषाभ्यां नो णः समानपदे॥

१२०. वा० प्रा० ३,८६— स्वरयवहकवैश्च॥ तै० प्रा० १३,७॥ पा० ८,४,२— अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि॥

१२१. ऋ० प्रा० ५, ४२.४४; अ० प्रा० ३, ९३-९४; तै० प्रा० १३, १५ (टि० १२२); वा० प्रा० ३, ९६।

द्वितीयोऽध्यायः

१२२. वा० प्रा० ३, ९०—प्रकृत्या पदान्तीयः ॥ पा० ८,४,३७—पदान्तस्य ॥ अ० प्रा० ३, ८९—पदान्तस्पर्शयुक्तस्य ॥ ऋ० प्रा० ५, ४७—यकार-स्पर्शसंहितम् ॥ तै० प्रा० १३, १५— न पुम्नोऽग्निर्युष्मानीतोऽन्तोऽलोपात्स्पर्शपरो व्यवायेषु शसचटतवर्जायेषु ॥ वा० प्रा० ३,९४— तवर्गे च ॥

१२३. अ० प्रा० ३, ९२—क्षुभ्नादीनाम् ॥ पा० ८, ४, ३९—क्षुभ्नादिषु च ॥

१२४. वा० प्रा० ३, ५६.५८— भाविभ्यः सः षं समानपदे ॥५६॥ करेफाभ्याञ्च ॥५८॥ अ० प्रा० २, ८७— नामिकरेफात्प्रत्ययसकारस्य ॥ पा० ८, ३, ५७.५९— इण्कोः ॥५७॥ आदेशप्रत्यययोः ॥५९॥

१२५. वा० प्रा० ३, ५७—अनुस्वाराच्च तत्पूर्वात् ॥ अ० प्रा० ३,८९—नलोपेऽपि ॥ पा० ८, ३, ५८— नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ॥

१२६. वा० प्रा० ३, ८३— ऋकाररेफारुदयश्च ॥ तै० प्रा० ६, ८— ऋकार-रेफवति च ॥ अ० प्रा० २,१०६—रेफपरस्य च ॥ ऋ० प्रा० ५,२३—रेफर्कारर्कारपरः प्रकृत्या ॥ दे० टि० १३५ ॥

१२६ क. Ved. Gr. Stu., p. 45 f. n. 2.

१२७. अ० प्रा० २, ८४-८५— युष्मदादेशे तैस्त्वमादिवर्जम् ॥८४॥ तत्तान-प्रादिषु च ॥८५॥ दे० टि० ९७ ख ।

१२८. अ० प्रा० ३, ८०-८१— प्रपराभ्यामेनः ॥८०॥ पुनर्णयामसि ॥८१॥ वा० प्रा० ३,८७-८८ ॥ तै० प्रा० ७,१-७ ॥ ऋ० प्रा० ५,५६-६०; पा० ८, ४,२७-२८— नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः ॥२७॥ उपसर्गाद् बहुलम् ॥२८॥

१२९. अ० प्रा० २,९७.१०१— सुञः ॥९७॥ द्विदिविभ्यामस्तेः ॥१०१॥ वा० प्रा० ३, ६१-६३;६८-६९— ओकारात्सु ॥६१॥ ऊध्वापूर्वात् ॥६२॥ अभेश्च ॥६३॥ हेर्मिथोदयः ॥६८॥ यवेश्च ॥६९॥ तै० प्रा० ६, २; ऋ० प्रा० ५, १-१२;१७-१८ । पा० ८,३, १०६-१०७— पूर्वपदात् ॥१०६॥ सुञः ॥१०७॥

१३०. अ० प्रा० ३, ७९— उपसर्गाद् धातोर्नानापदेऽपि ॥ वा० प्रा० ३,८९— प्र नेतिनुदातिदिनोमीनाम् ॥ तै० प्रा० ७, ४— पारीपरिपरीप्रपूर्वः ॥ ५, ५७— आनीन्नु त्वं नोनुवुर्नोनुमश्च नयत्यर्थं च प्र परीति पूर्वा ॥ ऋ०

ऋ० प्रा० ५,६० ॥ पा० ८,४,१४.१९-२२— उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ॥१४॥ अनितेः ॥१९॥ अन्तः ॥२०॥ उभौ साभ्यासस्य ॥२१॥ दे० पा० ८, ४, १५. २२-२४ ॥ तै० प्रा० ७, ३ ॥

विशेष— उपसर्ग के र् के निमित्त से जिन धातुओं के आदि न् का ण् बनता है उन के लिये पाणिनि ने "णोपदेश" संज्ञा का प्रयोग किया है। पा० ६, १, ६५ पर महाभाष्य के अनुसार नृत् , नन्द् , नर्द् , नक्क् , नाटि, नाथ् , नाध् , नॄ को छोड़ कर शेष सब नकारादि धातु णोपदेश हैं।

१३१. ऋ० प्रा० ५, ६०; पा० ८,४, १६.२९— आनि लोट् ॥१६॥ कृत्यचः ॥ २९॥ तै० प्रा० ७, ६।

१३२. अ० प्रा० ३, ८६. ८८.९०— न मिनाति ॥८६॥ परेर्हिनोतेः ॥८८॥ नशेः षान्तस्य ॥९०॥ वा० प्रा० ३,९१— निवनिनसः प्रपीनम् ॥ ऋ० प्रा० ५,४३.५०— परिप्रऋषीन्द्रादिषु चोत्तमेन ॥४३॥ हिनोमि च ॥५०॥ तै० प्रा० ७, १६ ॥ पा० ८, ४, ३४-३६— न भाभूपूकमिगमिप्यायीवेपाम् ॥३४॥ षात्पदान्तात् ॥३५॥ नशेः षान्तस्य ॥३६॥

१३२क. अ० प्रा० ३,९१— स्वरलोपे हन्तेः ॥ पा० ८, ४,२२— हन्तेरत्पूर्वस्य ॥

१३३. अ० प्रा० २, ९०— उपसर्गाद्धातोः ॥ तै० प्रा० ६, ४— उपसर्गनिष्पूर्वोऽनुदात्ते पदे ॥ वा० प्रा० ३,५९-६०. ६४-६७. ७०-७२; ऋ० प्रा० ५, १२-१६; पा० ८,३, ६५-७४.७६,७७. ८६-९० ॥

वा० प्रा०, ऋ० प्रा० तथा पा० ने उपसर्ग और धातुओं की निम्नलिखित परिगणना की है—

वा० प्रा०— नि से परे √सद् के स् का; अभि तथा परि से परे √सिव् के स् का; वि से परे ऐसा धातु-सकार जिस से परे य् हो; और निर् से परे √स्त्यै तथा √स्तन् के स् का ष् बनता है। इसी प्रकार अनु से परे √स्तु के स् का ष् बनता है।

ऋ० प्रा०— नि तथा परि से परे आने वाले ऐसे पदादि स्व– तथा सि– जिन से परे चवर्ग का कोई वर्ण आये, यथा सिञ्च, स्वजध्वम्; नि तथा परि से परे ऐसे पदादि से, स, सी, जिन से परे द् हो, और

द् से परे स्वर हो, यथा— सुदुथुः, सदा, सीद्; नि तथा परि से परे सेध, स्वापय, सस्वजे, सस्वजाते और ससाद; परि से परे सन्तम्, सन्तः, सन्ति, स्थुः, स्थाः, और स्थात् । इनके अतिरिक्त, उपसर्गस्थ निमित्त से इन धातुओं के स् का ष बनता है— स्तन्, स्तु, सह्, सद्, स्वन्, स्तुभ् ।

पा०— (१) उपसर्गस्थ निमित्त से सुनोति, सुवति, स्यति, स्तौति, स्तोभति, स्था, सेनय, सेध, सिच, सञ्ज, स्वञ्ज और स्तन्भ् के स् का ;

(२) प्रति से भिन्न उपसर्ग में रहने वाले निमित्त से सद् के स् का ;

(३) आलम्बन और सामीप्य के अर्थ में, अव से परे स्तन्भ् के स् का ;

(४) भोजन के अर्थ में, अव तथा वि से परे स्वन् के स् का ;

(५) परि, नि, वि से परे सेव्, सित, सय, सिव्, सह्, स्तु, और स्वञ्ज् के स् का ;

(६) अनु, वि, परि, अभि तथा नि से परे अप्राणिविषयक स्यन्द् के स् का विकल्प से ;

(७) वि तथा परि से परे स्कन्द् के स् का विकल्प से; परन्तु वि से परे क्तान्त स्कन्द् के स् का निषेध ;

(८) निस्, नि तथा वि से परे स्फुरति और स्फुलति के स् का विकल्प से ;

(९) वि से परे स्कम्नाति के स् का नित्य ;

(१०) उपसर्गस्थ निमित्त तथा प्रादुस् से परे अस् धातु के ऐसे सकारादि रूपों का स् जिस से परे कोई स्वर या यकार आए ;

(११) और सु, वि, निर् तथा दुर् से परे स्वप् धातु के णिजन्त रूप और सूति के स् का ष् बन जाता है ।

१३४. अ० प्रा० २,९२— स्थासहिसिचीनामकारव्यवायेऽपि ॥ वा० प्रा० ३, ६६— अव्यवहितोऽपि ॥ तै० प्रा० ६, ३— असदामासिञ्चँश्च ॥ पा० ८,३, ६३. ७१— प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि ॥६३॥ सिवादीनां वाड्व्यवायेऽपि ॥७१॥ सित से पूर्व परिगणित धातुओं के लिये दे० टि० १३३ में पाणिनीय परिगणना —वर्ग (१) के सुनोति से लेकर वर्ग (५) के सेव् तक। सूत्र ८,३,७१ के सिवादि चार धातु वर्ग (५) में परिगणित हैं; अर्थात्— सिव्, सह्, स्तु तथा स्वञ्ज्।

१३५. अ० प्रा० २, १०२.१०६— न सृपिसृजिस्पृशिस्फूर्जिस्वरतिस्मरतीनाम् ॥१०२॥ रेफपरस्य च ॥१०६॥ तै० प्रा० ६, ८ टि० १२६; ऋ० प्रा० ५,२३ (टि० १२६); ऋ० प्रा० ५,२४ ॥ पा० ८, ३, ११०— न रपरसृपिसृजिस्पृशिस्पृहिसवनादीनाम् ॥

१३६. ऋ० प्रा० ५, ३०; अ० प्रा० २, १०४–१०५— अभ्यभिभ्यां स्कन्देः ॥१०४॥ परेः स्तृणातेः ॥१०५॥ पा० ८,३,७३-७५.११३— वेः स्कन्देरनिष्ठायाम् ॥७३॥ परेश्च ॥७४॥ परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु ॥७५॥ सेधतेर्गतौ ॥११३॥

१३७. वा० प्रा० ३,४८; तै० प्रा० ७,१३।

१३८. वा० प्रा० ३,४४.४७; अ० प्रा० १, ६३। पा० ६, ३, १०९ पर वार्तिक।

१३९. ऋ० प्रा० ५, ४०— ऋकाररेफषकारा नकारं समानपदेऽवग्रह्ये नमन्ति। अन्तःपदस्थमककारपूर्वा अपि सन्ध्याः ॥ अ० प्रा० ३, ७६–७७. ८२–८५— पूर्वपदाद् द्रुघणादीनाम् ॥७६॥ अकारान्तादह्नः ॥७७॥ नवतेश्च ॥८२॥ पूर्याणः ॥८३॥ दुर्णाम्नः ॥८४॥ अवग्रहाद्दकारात् ॥८५॥ वा० प्रा० ३, ८७ ॥ तै० प्रा० ७,६–११ ॥ पा० ८,४, २६— छन्दस्यृदवग्रहात् ॥ दे० पा० ८, ४, ३–१२.२४–२५ ॥ तै० प्रा० ७,१॥

१४०. ऋ० प्रा० ५, ४३–४९; वा० प्रा० ३, ९३; अ० प्रा० ३, ८७।

१४१. तै० प्रा० ७, ९— नृश्रीपूर्वो मनाः ॥ वा० प्रा० ३, ९२— श्रीमना इत्येके ॥

द्वितीयोऽध्यायः

१४२. ऋ० प्रा० ५, २१–२२. ३०; तै० प्रा० ५,१०; ६, ११. १३; अ० प्रा० २, ९४. ९६. ९८–१००; वा० प्रा०, ३, ५६; पा० ८, ३, ८०–८५. ९१.९३–१००.१०८।

१४३. मैक्डानल की पुस्तक (Ved. Gr. Stu., p. 46) में स्वर्षाति उदाहरण के -षा- पर उदात्तचिह्न अशुद्ध है।

१४४. ऋ० प्रा० ५, २२.३०; अ० प्रा० २, ८२.९५; वा० प्रा० ३, ७५; पा० ८, ३, ५६.९२.१०९।

१४५. ऋ० प्रा० ५, २४–२९; तै० प्रा० ६, १२; वा० प्रा० ३, ८२; अ० प्रा० २, १०३; पा० ८, ३, ११०।

१४६. पा० ६, ४, ७७.७९.८५— अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ॥७७॥ स्त्रियाः ॥७८॥ न भूसुधियोः ॥८५॥

१४७. पा० ६, ४, ८६— छन्दस्युभयथा ॥ पा० ६, ४, ७७ पर वार्तिक (काशिका)— इयङुवङ्प्रकरणे तन्वादानीं छन्दसि बहुलमुपसंख्यानं कर्तव्यम्।

१४८. पा० ७, ४, २८— रिङ् शयग्लिङ्क्षु ॥ तिङ् और शित् (जिस का श् इत् हैं) प्रत्यय सार्वधातुक कहलाते हैं। पा० ३,४, ११३— तिङ्शित् सार्वधातुकम् ॥ इनसे भिन्न प्रत्यय असार्वधातुक है। उसे आर्धधातुक भी कहते हैं।

१४९. पा० ७,१,१००-११२— ॠत इद्धातोः ॥१००॥ उपधायाश्च ॥१०१॥ उदोष्ठ्यपूर्वस्य ॥१०२॥

१५०. पा० ८,२,७७— हलि च ॥

१५१. पा० ७,३,१०१— अतो दीर्घो यञि ॥

१५२. पा० ७,३, १०२–१०४— सुपि च ॥१०२॥ बहुवचने झल्येत् ॥१०३॥ ओसि च ॥१०४॥

१५३. पा० ७,४,२५.२७— अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ॥२५॥ अर्त्वाघस्यात् ॥२७॥ पा० ३,१,९३ 'कृदतिङ्' के अनुसार तिङ् के सिवाय जो भी प्रत्यय धातु के आगे जुड़ता है वह कृत् कहलाता है।

१५४. पा० ६,४,३— नामि ॥

१५५. पा० ७, २, ११४-११८ ॥७,३,१-३२॥

१५६. पा० ६,१,९०— आटश्च ॥

१५७. पा० ८, २,२३— संयोगान्तस्य लोपः ॥ दे० पा० ६,१,६८ ॥

१५८. पा० ८, २, २४— रात्सस्य ॥

१५९. पा० ८, २,२९— स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ॥

१६०. पा० ७,४,५०-५१— तासस्त्योर्लोपः ॥५०॥ रि च ॥५१॥ ८,२,२५— धि च ॥

१६१. पा० ८, २, २६-२८— झलो झलि ॥२६॥ ह्रस्वादङ्गात् ॥२७॥ इट ईटि ॥२८॥

१६२. पा० ६,४,२३-२९, ३२,३३ ॥

१६३. पा० ६,४,३७-४० ॥ इन में से अधिकतर प्रत्यय तकारादि हैं और पा० के अनुसार ये प्रत्यय प्रायेण कित् या ङित् हैं।

१६४. पा० ६, ४, ४१-४५ ॥ इन में से अधिकतर प्रत्यय तकारादि और यकारादि हैं और पा० के अनुसार प्रायेण कित् या ङित् हैं।

१६५. पा० ८, २, ७— नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ॥

१६६. पा० ८,३, १३— ढो ढे लोपः ॥ पा० ६,३,१११— ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ॥

१६७. पा० ८,४,५५— खरि च ॥

१६८. पा० ८, ४, ५३— झलां जश् झशि ।

१६९. पा० ८,२,३७— एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ॥ काशिकावृत्ति ने इस सूत्र के व्याख्यान में 'झलि' की अनुवृत्ति मानी है। परन्तु भट्टोजिदीक्षित सि० कौ० में इस पक्ष का खण्डन करते हुए कहते हैं—"झलीति निवृत्तं स्ध्वोर्ग्रहणसामर्थ्यात्। तेनेह न— दुग्धम्, दोग्धा।" भिस्, भ्याम् तथा भ्यस् इत्यादि से पूर्व ऐसे रूपों में अभीष्ट सन्धि-विकार (यथा— धुग्भिः,

धुग्भ्याम्, धुग्भ्यः) की सिद्धि के लिये नागेश भट्ट तथा ज्ञानेन्द्रसरस्वती पदान्तत्व का आश्रय लेते हैं। परन्तु ऋ० (अनु० ७२ ग) में मिलने वाले रूप धुक्तम् का समुचित समाधान "झलि" की अनुवृत्ति से या वैदिक विशेषता मानने से ही हो सकता है। परन्तु ऐसे उदाहरण अत्यल्प हैं।

१७०. पा० ८,२,३८— दधस्तथोश्च ॥

१७१. पा० ८, २, ४०— झषस्तथोर्धोऽधः ॥

१७२. पा० ८, २, ३२— दादेर्धातोर्घः ॥

१७३. पा० ८, २, ३१— हो ढः ॥

१७४. पा० ६,३,११२— सहिवहोरोदवर्णस्य ॥

१७५. पा० ६, ३, ११३— साढ्यै साढ्वा साढेति निगमे ॥

१७५ क. पा० ६, ३, ११३ पर काशि० के अनुसार, साढ्यै में क्त्वा प्रत्यय का ध्यै बनता है, परन्तु वै० प० को० के अनुसार √सह्+ध्यैन् (पा० ३, ४, ९) से यह पद बना है।

१७६. पा० ८, २, ३३— वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ॥

१७६ क. पा० ३,२,५९ ॥ काशिका के अनुसार उष्णिह् की व्युत्पत्ति उद्+√स्निह् से मानी जाती है।

१७७. पा० ८, २, ३४— नहो धः ॥

१७७ क. पा० ८,२,७२ (दे० टि० १८७)।

१७८. पा० ८, २, ३५— आहस्थः ॥ पा० ३, ४, ८४ आह् को √ब्रू का आदेश मानता है। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् एक अह् धातु की कल्पना करके आह, आहतुः, आहुः, आत्थ, आहथुः रूपों को उसके लिट् के रूप मानते हैं। दे० अनु० २३६।

१७९. पा० ८,२,४१— षढोः कः सि ॥

१७९ क. पा० ३, २, ५९; ८,२, ६२ ॥

१७९ ख. पा० ८, २, ६६— ससजुषो रुः ॥

१८०. पा० ८, २, ३६— व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ॥ वै० प० को० के अनुसार, वृष्ट्वा तथा वृक्त्वी दोनों पद √वृज् से बने हैं।

१८१. पा० ८, २, ६३— नशेर्वा ॥

१८२. पा० ३, २, ५८–६०; ८, २, ६२।

१८३. पा० ८, २, ३०— चोः कुः ॥

१८४. पा० ७, ३, ५२— चजोः कु घिण्यतोः ॥

१८५. पा० ७, ४, ४८— अपो भि ॥

१८६. पा० ७, ४, ४८— पर वार्तिक (काशिका)— स्ववः स्वतवसोर्मास उषसश्च तकारादेश इष्यते छन्दसि भकारादौ ॥ सि० कौ० (वैदिक प्रकरणम्— सप्तमोऽध्यायः) पा० ७, ४, ४८ के अनन्तर— "मासश्छन्दसीति वक्तव्यम् ।"

१८७. पा० ८, २, ७२— वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ॥

१८८. पा० ७, ४, ४९— सः स्यार्धधातुके ॥

१८९. पा० ८, २, ७३–७४— तिप्यनस्तेः ॥७३॥ सिपि धातो रुर्वा ॥७४॥ मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 44 f. n. 1) का मत है कि व्यवात् (वि+√वस् का लु० प्र० पु० ए०) आदि रूपों में भूतकाल के प्र० पु० ए० प्रत्यय त् से पूर्व स् का त् बनना सम्भवतः कोई ध्वनिविकार नहीं है, अपितु प्र० पु० ए० के अन्य भूतकालिक तकरान्त रूपों के प्रभाव से यह परिवर्तन हुआ है। अतः *अवास्त् का *अवास् के स्थान पर अवात् बन गया।

१९०. पा० ८, २, ६४— मो नो धातोः ॥

१९१. पा० ८, २, ६५— म्वोश्च ॥



तृतीयोऽध्यायः

पदपाठप्रकरणम्

८०. **पदपाठ का प्रादुर्भाव तथा महत्त्व**—वेदार्थ के सम्बन्ध में जब सन्देह उत्पन्न होने लगे, उस समय आर्य विद्वानों ने वेदों के पदपाठ की आवश्यकता का अनुभव किया, ताकि संहिता के निमित्त से होने वाले विकारों को हटाकर पदों के शुद्ध रूप का उच्चारण करते ही उनका अर्थ स्पष्ट हो सके। इसी मत का समर्थन करते हुए अ० प्रा०. कहता है कि पदों के आदि, अन्त, वैदिक शुद्ध स्वरूप (शब्द), स्वर तथा अर्थ के ज्ञान के लिये पदपाठ का अध्ययन किया जाता है[1]। यह कथन असंगत न होगा कि संस्कृत-व्याकरण की आधार-शिला पदपाठ द्वारा रक्खी गई। यद्यपि संहितापाठ भी व्याकरण के नियमों के आधार पर निर्धारित किया गया था, तथापि पदपाठ में व्याकरण का अधिक ज्ञान अपेक्षित था; क्योंकि पदपाठ की रचना के लिये सन्धि, स्वर, समास, उपसर्ग, धातु, प्रगृह्य, रिफित विसर्जनीय, कतिपय प्रत्यय, प्रातिपदिक तथा विभक्तियों का ज्ञान आवश्यक था। पदपाठ में अवग्रह करने का मुख्य प्रयोजन यही है कि पदों के अवयवों का ज्ञान कराया जाय; यथा— उपसर्ग और धातु का तथा धातु और प्रातिपदिक के साथ जुड़ने वाले कतिपय प्रत्ययों का पृथक् ज्ञान कराया जाता है। और व्याकरण का मुख्य प्रयोजन भी यही है कि शब्दों की व्याकृति करना अर्थात् शब्दों के घटकों (Constituents) को पृथक् करके समझाना। पदपाठ तथा व्याकरण दोनों का प्रयोजन एक ही रहा है, परन्तु इन के कार्यक्षेत्र तथा विकासक्रम में भेद है। पदकारों का कार्य मुख्यतः संहितपदों के विश्लेषण और उपसर्ग तथा धातु और कतिपय प्रत्ययों के अवग्रह तक सीमित था। और अनेक पदों में जहां पदकारों को सन्देह था वहां उन्होंने अवग्रह द्वारा घटकों का पृथक् ज्ञान नहीं कराया है। कहीं कहीं पदकारों ने उपसर्ग और धातु को भी अवग्रह द्वारा पृथक् करके नहीं दिखलाया है; यथा— उत्थितम्, उत्तम्भनम् इत्यादि। और

अनेक पदों में पदकारों ने जो अवग्रह दिखलाया है उस से उत्तरवर्ती विद्वान् सहमत नहीं हैं। पदपाठ के नियम व्याकरण का प्रारम्भिक रूप प्रस्तुत करते हैं और इन नियमों के आधार पर वैयाकरणों ने व्याकरणशास्त्र का पूर्ण विकास किया।

वेदों की सुरक्षा और अर्थबोध के लिये पदपाठ का विशेष महत्त्व है। पदपाठ के आधार पर क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठ इत्यादि पाठों का प्रचलन हुआ जिन के द्वारा वेदों की रक्षा में विशेष सहायता मिलती है। वेदों का पदपाठ उन की प्रामाणिकता स्थिर करने में भी सहायक होता है; यथा—पदकार शाकल्य ने ऋग्वेदसंहिता के छः मन्त्रों का पदपाठ नहीं दिया है और पदपाठ में उनका संहितारूप ही दिया है[१]। इस से प्रतीत होता है कि शाकल्य ने इन मन्त्रों को प्रामाणिक नहीं माना और अन्तःसाक्ष्य से भी इस मत की पुष्टि होती है। इसी प्रकार खिलसूक्तों का पदपाठ भी नहीं दिया गया है और पदपाठ में किसी भी रूप में उनका समावेश नहीं किया गया है। इस से स्पष्ट है कि जो मन्त्र शाकल्य ने संहितारूप में दिये हैं उन को कतिपय अन्य आचार्य स्वीकार करते थे, इस लिये पदकार ने भी उन को संहितारूप में अपने पदपाठ में सम्मिलित कर लिया। परन्तु खिलसूक्तों की प्रामाणिकता का पूर्ण अभाव था। इस लिये वे किसी भी रूप में संनिविष्ट नहीं किये गये।

जैसा कि हम आगे चल कर विवेचन करेंगे, प्रातिशाख्यों के नियम सर्वथा पदपाठ पर आश्रित हैं।

८१. **ऋग्वेद के पदकार शाकल्य**— यह मत सर्वथा निर्विवाद है कि ऋग्वेद के पदपाठ की रचना करने वाले आचार्य का नाम शाकल्य था। ऐ० आ० (३, २, १.६) तथा शां आ० (७, १६; ८, १.११) में स्थविर शाकल्य का और ऐ० आ० (३, १, १) तथा शां० आ० (७,१) में शाकल्य का उल्लेख मिलता है। शत० ब्रा० (११, ६, ३, ३) तथा बृ० उप० (३, ९,१; ४,१, ७) में विदग्ध शाकल्य का नाम मिलता है जो याज्ञवल्क्य के साथ ब्रह्मविषयक संवाद करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ। वेबर तथा गेल्डनर के मतानुसार विदग्ध शाकल्य ऋग्वेद का पदकार शाकल्य ही था[२]। परन्तु ओल्डनबर्ग और कीथ इस मत को स्वीकार नहीं

ऽस्तुवध्यै (तै० सं० ६, ६, ४, ६)। आत्रेय ने कुछ ऐसे पदविभाग किये हैं जो किसी अन्य पदपाठ या व्याकरण के अनुसार ग्राह्य नहीं हैं; यथा— नीचादुच्चा=पपा० नीचा। उच्चा (तै० सं० २, ३, १४, ६); असमर्त्यै=पपा० असमर्त्या इत्यसम्ऽऋत्यै (तै० सं० ३, ३, ८, २); एकैकम्=पपा० एकैकमित्येकम्ऽएकम् (तै० सं० ५,१,१,२); एकैकया=पपा० एकैकयेत्येकयाऽएकया (तै० सं० ७, ५, ८, ४)। अनेक पदों का दीर्घ अक्षर पदपाठ में ह्रस्व कर दिया जाता है; यथा— व्यानाय=पपा० व्यानायेति विऽअनाय (तै० सं० ३.५,८); उदानाय=पपा० उदानायेत्युत्ऽअनाय (तै० सं० ४,२,९,१); प्राणाय=पपा० प्राणायेति प्रऽअनाय (तै० सं० १, १, ६); अपानाय=पपा० अपानायेत्यपऽअनाय (तै० सं० १, १, ६)[१०]। ऋ०, अ० तथा वा० सं० के पदपाठ में जिन छान्दस दीर्घों का निवारण करके ह्रस्व रूप दिखलाया जाता है उन में से कई दीर्घों का तै० सं० के पदपाठ में ह्रस्व नहीं किया जाता है; यथा— योजा=पपा० योजा (तै० सं० १, ८, ५, १), परन्तु ऋ० पपा०=योज (ऋ० प्रा० ७, १८; वा० प्रा० ३, १०७); एवा=पपा० एवा (तै० सं० १, ८, २२, २), परन्तु ऋ० पपा०=एव (ऋ० प्रा० ७, ३३); वावृधे=पपा० वावृधे (तै० सं० १, ४, २०), परन्तु ऋ० पपा०=ववृधे (ऋ० प्रा० ९,३२)। ऋ०, अ० तथा वा० सं० के पदपाठ में द्वन्द्व समासों का अवग्रह नही दिखलाया जाता है, परन्तु तै० सं० के पपा० में द्वन्द्वसमासों का भी अवग्रह दिखलाया जाता है; यथा—इन्द्रावरुणा= पपा० इन्द्रावरुणेतीन्द्राऽवरुणा (तै० सं० २,३,१३,१), परन्तु ऋ० पपा० ३,६२,१=इन्द्रावरुणा। ऋतापाट् (तै० सं० ३,४,७,१) तथा तुराषाट् (तै० सं० १,७,१३,४) आदि अनेक पदों को आत्रेय ने अवगृह्य नहीं माना है।

कीथ का अनुमान है कि आत्रेय का पदपाठ शाकल्य के पदपाठ से अर्वाचीनतर हो सकता है, परन्तु यह मत सर्वथा असन्दिग्ध नही है[११]।

८. अन्य संहिताओं के पदकार— अन्य संहिताओं के पदकारों के — में कोई निश्चित संकेत नहीं मिल सका है। इस में

कोई सन्देह नहीं कि अ० प्रा० तथा वा० प्रा० अपनी संहिताओं के पदपाठ पर आश्रित हैं और पदपाठसम्बन्धी नियम भी देते हैं। अ० प्रा० ने पदपाठ के लिये जो नियम दिये हैं वे अधिकतर ऋ० के पदपाठ के नियमों के समान हैं और उनकी अपनी कुछ विशेषताएं प्रायेण समासों के अवग्रह के सम्बन्ध में हैं; यथा— ऋ० के पपा० में आध्र्यः में अवग्रह दिखलाया जाता है परन्तु अ० के पपा० में नहीं और ऋ० के पपा० में बहुधा में अवग्रह नहीं दिखलाया गया है, जबकि अ० के पपा० में बहुऽधा दिखलाया गया है। अ० के पदपाठ की भांति वा० सं० का पदपाठ भी प्रायेण ऋ० के पदपाठ का अनुसरण करता है। परन्तु कतिपय नियमों के सम्बन्ध में जहां ऋ० के पदपाठ से कोई सहायता नहीं मिलती वहां वा० सं० का पदपाठ अपनी स्वतन्त्रता भी प्रकट करता है। उदाहरणार्थ वा० सं० का पदपाठ ऋ० के पदपाठ की भांति प्राण में अवग्रह नहीं दिखलाता है, परन्तु कतिपय ऐसे शब्दों में अवग्रह दिखलाता है जो ऋ० में नहीं मिलते हैं। मै० सं० के पदपाठ की भी कुछ अपनी विशेषताएं हैं[१२]।

पदविभागविषयक मतभेद—हम पहले बतला चुके हैं कि सा० तथा तै० सं० के पदपाठ ऋ०, अ० तथा वा० सं० के पदपाठ से बहुत भिन्न हैं। वैदिक मन्त्रों के अर्थ के सम्बन्ध में मतभेद होने के कारण वैदिक पदों के मूल रूप तथा अवग्रह के विषय में मतभेद होना स्वाभाविक था। इस लिये विभिन्न पदकारों ने पदों के मूल रूप के सम्बन्ध में अपने अपने व्याख्यान प्रस्तुत किये। उत्तरकालीन विद्वान् भी पदकारों के व्याख्यान से पूर्णतया सहमत नहीं थे। यास्क ने अपने निरुक्त में अनेक स्थलों पर शाकल्य के पदपाठ को स्वीकार नहीं किया है। उदाहरणार्थ शाकल्य ने ऋ० ४,३२,२३ के पदपाठ में विद्रधे, नवे, द्रुपदे तथा अर्भके पदों को सप्तमी एकवचन के रूप मान कर पदविभाग किया है और निरुक्त ४, १५ में निर्दिष्ट शाकपूणि ने भी इन पदों का व्याख्यान इसी रूप में किया था, परन्तु यास्क उक्त पदों को प्रथमा द्विवचन के एकारान्त रूप मानता है और ग्रासमन तथा गेल्डनर आदि पाश्चात्य विद्वान् प्रायेण यास्क के मत का समर्थन करते हैं[१३]। इसी मन्त्र के "कुनीनकेव" का पदपाठ "कुनीनकाऽइव" दिया गया है, परन्तु यास्क इसका

करते हैं[४]; और वर्तमान लेखक भी इन्हीं विद्वानों से सहमत है, क्योंकि विदग्ध शाकल्य और पदकार शाकल्य की एकता सिद्ध करने के लिये कोई ठोस प्रमाण नही है। यास्क ने निरुक्त (६, २८) में निःसन्देह पदकार शाकल्य का उल्लेख किया है और उस के पदपाठ से निम्नलिखित मत उद्धृत किया है—"वेति च य इति च चकार शाकल्यः··· ।" ऋ० प्रा० पदपाठ पर आश्रित है और इस में अनेक स्थलों पर(ऋ०प्रा० १३, ३१ इत्यादि) पदकार शाकल्य का स्पष्ट उल्लेख है। परन्तु स्थविर शाकल्य (ऋ० प्रा० २, ८१) तथा 'शाकल्यपितुः' (ऋ० प्रा० ४,४) इत्यादि के द्वारा जिस आचार्य का उल्लेख किया है, वह पदकार से भिन्न है और सम्भवतः ऐ० आ० तथा शां० आ० के स्थविर शाकल्य से अभिन्न है। आश्व० गृ० सू० (३,४,४) तथा शां० गृ० सू० (४,१०,३;६,१,१) में जिस शाकल्य के लिये तर्पण का विधान है वह पदकार माना जाता है। पाणिनि ने भी अपनी अष्टाध्यायी में अनेक वार पदकार शाकल्य के मत का निर्देश किया है[१] और एक सूत्र (३,२,२३) में पदकार शब्द की रचना पर विचार किया है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ऐ० आ०, शां० आ०, आश्व० गृ० सू०, शां० गृ०.सू०, ऋ० प्रा०, यास्क तथा पाणिनि से पूर्व शाकल्य के पदपाठ की रचना हो चुकी थी।

८२. **सामवेद के पदकार गार्ग्य**— निरुक्त ४, ४ की व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य कहता है—"बह्वृचानां 'मेहना' इत्येकं पदम्। छन्दोगानां त्रीण्येतानि पदानि 'म, इह, न' इति। तदुभयं पश्यता भाष्यकारेणोभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ— एवञ्जातीयनिर्वचनोपप्रदर्शनार्थमुभयोश्च प्रामाण्यख्यापनार्थम्।" दुर्गाचार्य के इस कथन से ज्ञात होता है कि सामवेद का पदकार गार्ग्य माना जाता था और उसकी पद्धति शाकल्य की पद्धति से भिन्न थी। उपनिषदों तथा वेदाङ्गों मे अनेक वार गार्ग्य का उल्लेख मिलता है; यथा—शां० गृ० सू० (४, १०, ३) तथा आश्व० गृ० सू० (३, ४, ४) में गार्ग्य के लिये तर्पण का विधान है। परन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि इन सब स्थलों पर सामवेद के पदकार गार्ग्य का ही उल्लेख है। सम्भवतः गार्ग्य गोत्र वाले अनेक आचार्य हुए होंगे। व्याकरणविषयक प्रसंगों में जिस गार्ग्य का

उल्लेख मिलता है, वह सम्भवतः सामवेद का पदकार गार्ग्य हो सकता है और उसके व्याकरणविषयक मत इतने महत्त्वपूर्ण माने जाते होंगे कि अन्य वेदाङ्गकारों ने उनका उल्लेख करना आवश्यक समझा। ऋ० प्रा०, वा० प्रा०, यास्क तथा पाणिनि ने अनेक बार गार्ग्य के मत का उल्लेख किया है[६]। इस सम्बन्ध में यह तथ्य विशेषतया उल्लेखनीय है कि ऋ० प्रा० १३, ३१ (टि० १९) ने पदपाठसम्बन्धी संज्ञा **समापाद्य** के व्याख्यान में पदकार शाकल्य के साथ **गार्ग्य** का उल्लेख किया है और ऋ० प्रा० १, १५ ने अवसान में आने वाले पदान्तीय स्पर्शों के विषय में **गार्ग्य** के मत का उल्लेख किया है। यह मत पदपाठ-विषयक प्रतीत होता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि ऋ० प्रा० १, १५–१६ तथा निरुक्त १, ३, १२ इत्यादि में शाकटायन और गार्ग्य के मतों में विशेष वैपरीत्य दिखलाया गया है।

८३. **तैत्तिरीयसंहिता के पदकार आत्रेय**— तैत्तिरीयसंहिता से सम्बद्ध गृह्यसूत्रों में इस संहिता के **पदकार आत्रेय** का स्पष्ट उल्लेख मिलता है[७]। तै० प्रा० ने दो बार आत्रेय के मत का उल्लेख किया है[८]। काण्डानुक्रम (२,२७) में भी यह कथन मिलता है कि तै० सं० का पदकार आत्रेय है। तै० प्रा० आत्रेय के पदपाठ पर आश्रित है और अनेक नियमों के प्रतिपादन में यह प्रातिशाख्य पदपाठ के विशिष्ट व्याख्यान का अनुसरण करता है[९]। तै० सं० के पदपाठ की कुछ अपनी विशेषताएं हैं जो अन्य संहिताओं के पदपाठ में नहीं मिलती हैं। उदाहरणार्थ— तै० सं० का पदकार अनेक पदों के अन्त में आने वाले ऊष्म वर्णों को सांहितिक आगम मान कर पदविभाग करते समय इन का निवारण कर देता है; यथा— त्रपुश्च=पपा० त्रपु। च (तै० सं० ४,७, ५,१); मिथुश्चरन्तम्=पपा० मिथु। चरन्तम् (तै० सं० ४,७, १५,२); सुश्चन्द्र=पपा० सु। चन्द्र (तै० सं० ४,४,४,६)। आत्रेय ने कुछ ऐसे संहित पदों का विभाजन किया है जो अन्य संहिताओं के पदपाठों में अविभक्त दिखलाये गये हैं; यथा— आत्रेय के मतानुसार संस्कुरुते=पपा० सम्। कुरुते (तै० सं० ५,६,६,४); समस्कुर्वत=पपा० सम्। अकुर्वत (तै० सं० ६, २, ३, १); उत्तब्ध्यै=पपा० उत्तब्ध्या दत्युत्-

पदविभाग "कुनीनुके ऽइव" करता है और सायण यास्क के मत को स्वीकार करता है[14]। इसी प्रकार शाकल्य द्वारा किये गये "वायो" (ऋ० १०, २९, १) के पदविभाग "वा। यः।" का प्रत्याख्यान करते हुए यास्क कहता है— "वेति च य इति च चकार शाकल्यः। उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यत्। असुसमाप्तश्चार्थः[15]।" सायण ने ऋ० १०, २९, १ के भाष्य में यास्क के मत का समर्थन किया है, परन्तु गेल्डनर ने शाकल्य के मत को ज्यायान् माना है[16]। सायण ने अपने ऋग्वेदभाष्य में प्रायेण शाकल्य के पदपाठ का अनुसरण किया है; परन्तु अ० के भाष्य में सायण ने सैंकड़ों स्थानों पर पदपाठ को अस्वीकार करते हुए भिन्न पाठ माने हैं। कतिपय विद्वानों का यह अनुमान ठीक हो सकता है कि अ० का भाष्यकार सायण ऋ० के भाष्यकार सायण से भिन्न है। आधुनिक विद्वानों ने भी सैंकड़ो स्थानों पर पदकारों के पदविभाग को स्वीकार नही किया है। उदाहरणार्थ ग्रासमन ने ऋ० ३, २३, ४ के "मानुष आयुयायाम्" का पदविभाग "मानुषः। आयुयायाम्" किया है, जबकि शाकल्य के अनुसार इस का पदविभाग "मानुषे। आयुयायाम्" है; और मैंने इस पदविभाग के विषय में अन्यत्र एक निबन्ध में पूर्ण विवेचन किया है[17]। इसी प्रकार बहुत से अन्य पदो के विभाग में भी पाश्चात्य विद्वानों ने शाकल्य के मत को स्वीकार नहीं किया है; यथा— ऋ० १, १८७, ७ के "अदोपितो" का पदपाठ "अदः। पितो इति" दिया गया है, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार "अदो" में "अद+उ" की सन्धि है। ऋ० ७, ३४, २ के "अध क्षरन्तीः" का पदविभाग "अध। क्षरन्तीः" किया गया है, जबकि पाश्चात्य विद्वान् इसका पदविभाग "अधः। क्षरन्तीः" मानते हैं। इस ग्रन्थ के सन्धि-प्रकरणम् में ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

८६. **पदपाठ-सम्बन्धी नियम**— जैसा कि हम पहले विचार कर चुके हैं विभिन्न वैदिक संहिताओं के पदपाठों में पूर्ण समानता नहीं है और अनेक मतभेद मिलते हैं, तथापि यह तथ्य विशेषतया महत्त्वपूर्ण है कि ऋ०, अ० तथा वा० सं० के पदपाठों में विशेष सादृश्य है अर्थात् अ० तथा वा० सं० के पदपाठ ऋ० के पदपाठ का अनुसरण करते हैं। अत एव हम यहां पर

पदपाठसम्बन्धी उन नियमों का संक्षिप्त परिचय देंगे जो ऋ०, अ० तथा वा० सं० के पदपाठों में समान रूप से लागू होते हैं।

८७. **समापत्ति, समापाद्य**— पदपाठ का मुख्य सिद्धान्त यह है कि संहिता के निमित्त से पदों में होने वाले सभी विकारों को हटाकर उन के शुद्ध रूप या प्रकृति को प्रस्तुत करना। अत एव पदसंहिता के निमित्त से होने वाले दीर्घत्व, अन्तस्थाभाव, गुण, वृद्धि, लोप, अनुनासिकत्व, अनुस्वारत्व, तालव्यभाव, मूर्धन्यभाव, विसर्जनीयविकार इत्यादि को हटाकर पदपाठ में पदों का असंहित रूप दिया जाता है।

अ० प्रा० में प्रकृतिदर्शन के लिए **समापत्ति** संज्ञा का प्रयोग मिलता है[१८], और संहिता के जिस पद की प्रकृति दिखलाई जाती है उसे **समापाद्य** कहते हैं[१९]। संहितासम्बन्धी समस्त विकारों के विवरण के लिये इस *ग्रन्थ* के *द्वितीय अध्याय* *सन्धिप्रकरणम्* का अध्ययन कीजिये और पदपाठ के उदाहरण भी वहां पर देखे जा सकते हैं। *सन्धिप्रकरणम्* अवग्रह इत्यादि जिन नियमों के व्याख्यान के लिये सहायक नहीं हो सकता उनका पृथक् विवेचन नीचे किया गया है। यहां पर हम एक ऐसे मन्त्र का पदपाठ प्रस्तुत करते हैं जिस के केवल एक पद में अवग्रह दिखलाया गया है—

ऋ० १, १,२ **संहितापाठ**— अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त। स दे॒वाँ एह व॑क्षति॥

पदपाठ— अ॒ग्निः। पूर्वे॑भिः। ऋषि॑ऽभिः। ईड्यः॑। नूत॑नैः। उ॒त। सः। दे॒वान्। आ। इ॒ह। व॒क्ष॒ति॒।

पदान्तीय— यह ध्यान रहे कि पदों की प्रकृति दिखलाते समय भी पदपाठ में प्रत्येक पद के अन्त में उसी वर्ण को दिखलाना चाहिए जो **पदान्तीय** बन सकता है (दे० अनु० ३४)।

स्वराङ्कन— संहिता तथा पदपाठ के स्वराङ्कन के विषय में विस्तृत विवेचन आगे किया जायगा। यहां पर केवल इतना संकेत करना पर्याप्त है कि पदपाठ में प्रत्येक पद का अपना स्वर चिह्नित करना चाहिए

और पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पदों के स्वर के प्रभाव से जो स्वर-विकार उत्पन्न होते हैं उन को हटा देना चाहिए।

८८. **इतिकरण, उपस्थित**— पदपाठ में प्रगृह्यसंज्ञक पदों के आगे इति जोड़ा जाता है। ऋ० प्रा० (१, ५८. ७५; २, ५१) में इसे **इतिकरण** कहते हैं और इतिकरण से युक्त पद के लिये **उपस्थित** संज्ञा का प्रयोग मिलता है[२०]। परन्तु पतञ्जलि के व्याख्यानानुसार पाणिनि (६, १, १२९) इतिकरण के लिये **उपस्थित** संज्ञा का प्रयोग करता है[२१]। रिफित विसर्जनीय के **रेफमूलत्व** को प्रकट करने के लिये उसके आगे भी पदपाठ में इति जोड़ा जाता है। स्वराङ्कन के समय इति के स्वर पर भी ध्यान रखना चाहिये और इसके जुड़ने से उपस्थित पद के स्वराङ्कन में जो परिवर्तन होता है वह भी ध्यान देने योग्य है।

(क) **प्रगृह्यपद का इतिकरण**— प्रगृह्यसंज्ञक पद के आगे पदपाठ में इति जोड़ा जाता है। प्रगृह्यसंज्ञक पदों के समस्त भेदों का विस्तृत विवेचन द्वितीय अध्याय के **अनु० ४५** (ख) में किया जा चुका है। सन्धि-प्रकरण में प्रयुक्त कुछेक उदाहरण यहाँ पर इतिकरण के साथ प्रस्तुत किये गये हैं; यथा— हरी इति। साधू इति। उभे इति। तनू इति। वायो इति। अमी इति। अस्मे इति। उ का पदपाठ— ऊँ इति [दे० अनु० ४५ ख (५)]। वा० प्रा० के अनुसार, वा० सं० के पपा० में प्रगृह्यसंज्ञक पद की चर्चा की जाती है (दे० अनु० ८९ ग)।

(ख) **रिफित विसर्जनीय का इतिकरण**— रिफित विसर्जनीय का विस्तृत विवेचन द्वितीय अध्याय के **अनु० ५६** में किया जा चुका है। संहितापाठ में नामसंज्ञक पद के अन्त में जो रिफित विसर्जनीय मिलता है उसके आगे पदपाठ में इति जोड़ा जाता है; यथा— ऋ० १,२०,४— पुनः सत्यमन्त्राः=पपा० पुनरिति। ऋ० १,७१,२— अहुः स्वर्विविदुः= पपा० अहुरिति। ऋ० ७, ४१, १— प्रातः सोमम्=पपा० प्रातरिति। यह इतिकरण रिफित विसर्जनीय का रेफमूलत्व प्रकट करने के लिये किया जाता है ताकि पाठकों को उसके मूलस्वरूप के सम्बन्ध में कोई भ्रान्ति न हो। परन्तु संहितापाठ में जहां इस प्रकार के पदों के अन्त में

रिफित विसर्जनीय के स्थान पर रेफ मिलता है, वहां उनके पदपाठ में ऐसे पदों के आगे इति जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है और **पदान्तीय नियम** के अनुसार इन पदों के अन्त में केवल विसर्जनीय दिखलाया जाता है; यथा— ऋ० ७,४१,१— प्रातरग्निम् = पपा० प्रातः । अग्निम् । ऋ० १,६,४— पुनर्गर्भत्वम् = पपा० पुनः । गर्भऽत्वम् । अवसान में आने वाले रिफित विसर्जनीय का इतिकरण किया जाता है, परन्तु जो रिफित विसर्जनीय समास के मध्य में हो और पदपाठ में अवसान में न हो उसका इतिकरण नहीं किया जाता है; यथा— ऋ० ३, २८, १ पपा० प्रातःऽसावे ।

८९. **रिफित विसर्जनीय वाले पदों की चर्चा**— चर्चा का शाब्दिक अर्थ द्विर्वचनम् या पुनरुच्चारण है अर्थात् किसी पद का दो बार उच्चारण करना । पदपाठ के लिये यह शब्द विशेष संज्ञा के रूप में प्रयुक्त होता है और कहीं कहीं इस के लिये वेष्टक संज्ञा का प्रयोग भी मिलता है । जब किसी पद के आगे इति जोड़ कर इति के पश्चात् उस पद का पुनरुच्चारण किया जाता है उसे चर्चा कहते हैं ।

(क) **रिफित विसर्जनीय वाले आख्यात पद**— जिन आख्यातसंज्ञक पदों के अन्त में संहितापाठ में रिफित विसर्जनीय मिलता है उन के पदपाठ में उन के आगे इति जोड़ कर पुनरुच्चारण किया जाता है; यथा—

ऋ० १, १२८, २— भाः परावतः = पपा० भारिति भाः । पराऽवतः ।

ऋ० १, ३३, १५— वेदनाकः = पपा० वेदना । अकरित्यकः ।

ऋ० १, ६३, ७— पूर्वे कः = पपा० पूर्वे । करिति कः ।

,, ,, दर्दः = पपा० दर्दरिति दर्दः ।

√अस् 'होना' धातु से बने रूप स्युः का पदान्तीय वर्ण जहां संहितापाठ में विसर्जनीय मिलता है वहां पदपाठ में उस के आगे इति जोड़ कर पुनरुच्चारण किया जाता है; यथा— ऋ० १,२४,७— केतवः स्युः = पपा० केतवः । स्युरिति स्युः । दे० ऋ० २,४,९; ६, ६३,१०; ८,७०,५ ।

तृतीयोऽध्यायः

विशेष— यद्यपि √अस् 'होना' धातु से बने रूप स्तः का विसर्जनीय रिफित नहीं माना जा सकता, तथापि ऋ० १, ६१, ८ के पपा० में स्तः की चर्चा की गई है; यथा— १, ६१, ८ संहितापाठ— परि ष्टः = पपा० परि । स्तु इति स्तः[२१] ।

(ख) **रिफित विसर्जनीय वाला स्वः**— संहितापाठ में जहां स्वः का पदान्तीय वर्ण रिफित विसर्जनीय मिलता है वहां पदपाठ में स्वः के आगे इति जोड़ कर पुनरुच्चारण किया जाता है; यथा— ऋ० १, ५२, १२— स्वः परिभूः = पपा० स्व रिति स्वः । परन्तु जहां संहितापाठ में स्वः का पदान्तीय वर्ण रिफित विसर्जनीय नहीं है वहां पदपाठ में उसकी चर्चा नहीं की जाती है; यथा— ऋ० १, ७१, २— स्वर्विविदुः = पपा० स्वः । विविदुः ।

(ग) **वा० सं० के पपा० में चर्चा**— वा० प्रा० (४, १८-२१) के अनुसार, वा० सं० के पपा० में उन पदों की भी चर्चा की जाती है जो प्रगृह्य हों या जिन में विनाम (मूर्धन्यभाव), अवगृह्यभाव (दे० अनु० ९०), अन्तःपददीर्घीभाव या पदान्तीय रिफित विसर्जनीय हो; यथा— अस्मे इत्यस्मे (वा० सं० ४, २२); पुनरिति पुनः (वा० सं० ४,१५) ।

९०. **अवग्रह**— अवग्रह का शाब्दिक अर्थ है पृथक् करना । पदपाठ करते समय समास के समस्तपदों को और कतिपय पदों की प्रकृति तथा प्रत्यय को ऽ ऐसे चिह्न के द्वारा पृथक् करके दिखलाया जाता है । इस पृथक्करण के लिए प्रातिशाख्यों में अवग्रह संज्ञा का प्रयोग किया जाता है । अवग्रह द्वारा जिस पद का विभाजन किया जा सकता है वह अवगृह्य अथवा इङ्ग्य कहलाता है । और जिस पद का पदपाठ में विभाजन नहीं किया जा सकता उसे अनिङ्ग्य कहते हैं । पदपाठ के अवग्रह का उच्चारणकाल साधारणतया एकमात्रा माना जाता है[२२] ।

प्रातिशाख्यों के अनुसार अवग्रहसम्बन्धी नियम संक्षेपतः निम्नलिखित हैं—

(क) **उपसर्ग तथा धातु के समास में अवग्रह**— अ० प्रा० का कथन है कि सोदात्त आख्यात के साथ उपसर्ग का समास होता है और एक से

अधिक उपसर्गों का समास अनुदात्त आख्यात के साथ भी हो जाता है[४४]। एक या अनेक उपसर्ग और आख्यात के समास में केवल प्रथम उपसर्ग को पदपाठ में अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है[४५]; यथा— उपप्राथः =पपा० उप ऽप्राथः (ऋ० १, ३४, ९); अनुसंप्रयाहि =पपा० अनुऽसंप्रयाहि (अ० ११, १, ३६)।

स्वर की विशेषता— उपसर्ग तथा आख्यात के स्वर की विशेषता के सम्बन्ध में यह नियम ध्यान रखने योग्य है कि उपसर्ग तथा सोदात्त आख्यात के समास में उपसर्ग अनुदात्त हो जाता है और अनुदात्त आख्यात के साथ दो उपसर्गों के समास में **साधारणतया** प्रथम उपसर्ग अनुदात्त हो जाता है (दे० पा० ८,१,७०-७१), परन्तु अनुदात्त आख्यात के साथ दो से अधिक उपसर्गों के समास में आख्यात से ठीक पूर्व आने वाले उपसर्ग को छोड़ कर अन्य सब उपसर्ग अनुदात्त हो जाते हैं; यथा– उपस्तृणान्ति =पपा० उपऽ-स्तृणान्ति (वा० सं० २५, ३९); प्रत्यावर्तय =पपा० प्रति ऽ आवर्तय (ऋ० ६,४७, ३१), अनुसंप्रयाहि।

अपवाद— (१) ऋ०, अ० तथा वा० सं० के पदपाठों में √अन् से बने रूप के साथ प्र उपसर्ग के समास में अवग्रह नहीं किया जाता है[४६]; यथा— सं० तथा पपा०— प्राणिति (ऋ० १०,१२५,४); प्राणन्ति (अ० १३,३,३); प्राणः (वा० सं० २०, ६)। ऋ० में अप उपसर्ग के साथ √अन् से बने एक रूप का समास मिलता है जिस में अवग्रह किया जाता है; यथा— अपानती =पपा० अपऽअनती (ऋ० १,१८९, २)। अ० के पदपाठ में अपान समास में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है।

(२) ऋ०, अ० तथा वा० सं० के पदपाठ में √कृ से बने रूप के साथ सम् उपसर्ग के समास में, जिस में √कृ और सम् के बीच स् का आगम होता है, सम् को अवग्रह द्वारा पृथक् करके नहीं दिखलाया जाता है[४७]; यथा— सं० तथा पपा०— संस्कृतः (ऋ० ८, ३३, ९); संस्कृतम् (ऋ० ५, ७६, २; अ० ११, १, ३५; वा० सं० ४, ३४)। अ० के पदपाठ में √कृ से बने रूप के साथ परि उपसर्ग के साथ समास में अवग्रह नहीं किया जाता है, जिस में उपसर्ग तथा धातु के बीच स् का आगम

हुआ हो (दे० टि० २७); यथा— सं० तथा पपा०— परिंष्कृता (अ० ६,३,१०)। परन्तु ऋ० तथा वा० सं० के पपा० में ऐसे उपसर्ग परि को अवग्रह द्वारा पृथक् करके दिखलाया जाता है; यथा— परिष्कृण्वन्ति = पपा० परि ऽ कृण्वन्ति (ऋ० ९,१४, २); परिंष्कृतासः = पपा० परिं ऽ कृतासः (ऋ० ९, ४६, २); परिंष्कृताः = पपा० परिं ऽकृताः (वा० सं० २१,४२)। पदपाठ में स् आगम का लोप कर दिया जाता है।

(३) अ० प्रा० का मत है कि उद् उपसर्ग के साथ हन्, ह, स्था या स्तम्भ धातु के समास में उपसर्ग को अवग्रह द्वारा पृथक् नहीं करते हैं और वा० प्रा० का कथन है कि आदि भाग के विषय में संशय होने के कारण उत्तम्भन, उत्थाय, उत्थित आदि में अवग्रह नहीं किया जाता है[२८]।

(४) धातु तथा उपसर्ग के समास में धातु या उपसर्ग के एकदेश का लोप होने पर अवग्रह नहीं किया जाता है[२८क], यथा— सं० तथा पपा०— परीत्तः (अ० ६, ९२,२; वा० सं० ९, ९); इष्कृतिः (ऋ० १०,९७, ९; वा० सं० १२, ८३); उद्धिता (अ० ६, ३, ६)।

(ख) **अन्य समासों में अवग्रह**— धातु तथा उपसर्ग के समासों से अन्य समासों में भी पदों को साधारणतया अवग्रह द्वारा पृथक् करके दिखलाया जाता है[२९]; और समाससन्धि के निमित्त से होने वाले सब विकारों को पदपाठ में हटा दिया जाता है; यथा— नृषदनेषु = पपा० नृ ऽ सदनेषु (ऋ० १०, ९२,७); सुष्टुतिम् = पपा० सुऽस्तुतिम् (ऋ० १,७,७); पुरोहितम् = पपा० पुरःऽहितम् (ऋ० १,१,१); स्वर्गः = पपा० स्वःऽगः (अ० ६, ५, १६); तद्विदे = पपा० तत् ऽविदे (अ० ६,१,९)।

जब दो से अधिक पदों का समास हो, तब उस पद को अवग्रह द्वारा पृथक् किया जाता है जो समास-रचना के समय पीछे जोड़ा जाता है अर्थात् उवट के शब्दों में जो पद समास में पश्चात्कालिक है[३०]; यथा— प्रजापतिः (जिस में तीन पद प्र+जा+पतिः हैं)=पपा० प्रजाऽपतिः (ऋ० १०,८५,४३; अ० २,३४,४; वा० सं० ३१,१९); प्रजापतिसृष्टः (जिस में चार पद हैं) = पपा० प्रजापतिऽसृष्टः (अ० १०, ६,१९)। किसी भी समास के पदपाठ में एक से अधिक अवग्रह का प्रयोग नहीं

किया जाता है। समस्तपदों के साथ जुड़ने वाली कतिपय विभक्तियां भ्याम्, भिः, भ्यः, सु, (दे० नीचे ग भाग) भी पश्चात्कालिक पदों के समान अवगृहीत की जाती हैं; यथा— सुसमातृभिः = पपा० सुसमातृऽभिः (ऋ० १, ३४, ८)। परन्तु जब ऐसी विभक्ति अनिङ्गय (अविभाज्य) हो (दे० नीचे ग भाग), तब समास के पूर्वपद को अवगृहीत किया जाता है[३१]; यथा— मधुपेभिः = पपा० मधुऽपेभिः (ऋ० १,३४, १०)। इस समास में भिः विभक्ति अनिङ्गय है।

अपवाद— (१) नञ्समास तथा देवताद्वन्द्वसमास में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है[३२]; यथा— सं० तथा पपा०— इन्द्रावरुणा (ऋ० ३,६२, १); इन्द्रवायू (अ० ३, २०, ६); अवीराः (ऋ० ७, ४, ६)। इस सम्बन्ध में वा० प्रा० (टि० ३२) ने यह नियम बनाया है कि जो द्वन्द्वसमास द्विवचनान्त हों और जिन का पूर्वपद स्वरान्त हो उनका अवग्रह नहीं किया जाता है। इस नियम के अनुसार, उपर्युक्त से भिन्न द्वन्द्वसमासों में अवग्रह दिखलाया जाता है; यथा— ऋक्सामयोः = पपा० ऋक्ऽसामयोः (वा० सं० ४, ९)। अ० प्रा० ने देवताद्वन्द्व से भिन्न द्वन्द्वसमासों के अवग्रह का नियम निम्नलिखित प्रकार से बनाया है— उत्तरपद के आदि व्यञ्जन से पूर्व जिस (द्वन्द्व) समास के पूर्वपद का अन्तिम स्वर दीर्घ हो उस समास में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है[३३]; यथा— सं० तथा पपा०— पितापुत्रौ (अ० ६, ११२, २); इष्टापूर्तम् (अ० २, १२, ४); सूर्याचन्द्रमसा (ऋ० १,१०२, २); अहोरात्राणि (ऋ० १०, १९०, २); अजावयः (ऋ० १०,९०, १०)।

(२) अ० प्रा० (४,६४) जास्पत्यम् समास में अवग्रह का निषेध करता है और वा० प्रा० (४,४०) इस समास में पूर्वपद के 'या' के लोप का व्याख्यान करता है। अ० प्रा० (४,८३) के अनुसार जास्पत्यम् समास की सन्धि को हटाकर पदों का रूप दिखलाया जाता है। अत एव सं० जास्पत्यम् = पपा० जाःपत्यम् (ऋ० ५, २८, ३; वा० सं० ३३, १२; अ० ७, ७३,१०)। परन्तु अ० के पपा० की कतिपय पाण्डुलिपियों में इस समास में अवग्रह दिखलाया गया है— जाःऽपत्यम्।

तृतीयोऽध्यायः

(३) अ० प्रा० ४,६० ने विश्पतिः तथा विश्पत्नीं समासों में और ४, ५४ ने समुद्रादिगण के समासों में अवग्रह का निषेध किया है। इसी प्रकार वा० प्रा० ५, ३७-४१ ने वहुत से समासों की परिगणना की है जिन में अवग्रह का निषेध किया गया है। इस सम्बन्ध में उवट ने वा० प्रा० ५, ४५ के भाष्य में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

आदिमध्यान्तलुप्तानि समासान्यायभाञ्जि च।
नावगृह्णन्ति कवयः पदान्यागमवन्ति च ॥

(४) अ० प्रा० का कथन है कि सन्देह के कारण षोडशी में अवग्रह नहीं किया जाता है[३४]। समस्त पदों के समुचित स्वरूप के विषय में सन्देह होने के कारण अनेकों समासों के पदपाठ में अवग्रह नहीं दिखलाया जाता है।

(ग) **प्रातिपदिक तथा विभक्ति में अवग्रह**—ह्रस्व स्वर तथा व्यञ्जन से परे आने वाली भकारादि विभक्ति (भिः, भ्याम् , भ्यः) को अवग्रह द्वारा प्रातिपदिक से पृथक् करके दिखलाया जाता है[३५]; यथा— अक्तुभिः = पपा० अक्तुऽभिः (ऋ० १, ३४, ८); पुत्रभिः = पपा० पुत्रऽभिः (अ० ४, १४,७); हरिभ्याम् = पपा० हरिऽभ्याम् (ऋ० १,३५,३); अद्भ्यः = पपा० अत्ऽभ्यः (ऋ० १, २४, ६); तिष्ठद्भ्यः = पपा० तिष्ठत्ऽभ्यः (वा० सं० १६,२३)। परन्तु दीर्घ स्वर से परे आने वाली विभक्तियों को अनिङ्ग्य मानते हैं और उनको अवग्रह द्वारा पृथक् करके नहीं दिखलाया जाता है[३६]; यथा— सं० तथा पपा०— देवेभिः (ऋ० १, १,५); देवेभ्यः (ऋ० १, १३, ११); अक्षीभ्याम् (अ० २,३३,१); कर्णाभ्याम् (अ० २,३३,१); गोभ्यः (अ० ३,२८,३)। तुभ्यम् , युष्मभ्यम् तथा अस्मभ्यम् में भी अवग्रह नहीं किया जाता है।

जिन रूपों में सु विभक्ति के स् का मूर्धन्य न बनता हो, उन में सु को अवग्रह द्वारा पृथक् करके दिखलाते हैं, परन्तु जिस रूप में सु विभक्ति का षु बनता है वहां तथा आ से परे उस का अवग्रह नहीं करते हैं[३७]; यथा— सुमत्सु = पपा० सुमत्ऽसु (ऋ० १, ६६,६); अप्सु=अप्ऽसु (अ० १, ४,४); राजसु= पपा० राजऽसु (अ० ७, ५०, ७)। परन्तु

सं० तथा पपा०— दे॒वेषु॑ (ऋ० १, १,४); अ॒ग्निषु॑ (ऋ० १,१०८,४); कृ॒ष्णासु॑ (ऋ० १, ६२, ९)। तृतीया एकवचन के रूपों में कतिपय प्रातिपदिकों के साथ जुड़ने वाले या को अवगृहीत किया जाता है[१८]; यथा— सा॒धु॒या = पपा० सा॒धु॒ऽया (ऋ० १, ४६,११; अ० १०,४,२१; वा० सं० १४, १); धृ॒ष्णु॒या = पपा० धृ॒ष्णु॒ऽया (ऋ० १, २३, ११; वा० सं० २७,३८); पा० ७,१,३९ पर काशि० तथा सि० कौ० के अनुसार धृष्णुया में तृ० ए० की विभक्ति के स्थान पर या आदेश और साधुया में प्र० ए० की विभक्ति के अर्थ में याच् आदेश हुआ है, परन्तु मैक्डानल के अनुसार साधुया स्त्रीवाची तृ० ए० का अव्यय रूप है[१९]। सायण (ऋ० १, ४६, ११) भी प्रथ० ए० के अर्थ में इस का व्याख्यान करता है।

(घ) **इच्छार्थक य (पा० क्यच्) का अवग्रह**— यदि नामधातु के साथ इच्छा के अर्थ में जुड़ने वाले यकारादि प्रत्यय (पा० क्यच्) से पूर्व स्वर हो, तो उसे पपा० में अवग्रह द्वारा पृथक् करके दिखलाया जाता है और यकारादि प्रत्यय जुड़ने से नामधातु के अन्तिम स्वर में जो दीर्घत्व होता है उसे हटा दिया जाता है[२०]; यथा— सु॒म्नु॒युः = पपा० सु॒म्न॒ऽयुः (ऋ० १, ७९,१०); अ॒घा॒युतः = पपा० अ॒घ॒ऽयुतः (ऋ १,९१,८; वा० सं० ३, २६); श॒त्रू॒युता॑म् = पपा० श॒त्रु॒ऽयुता॑म् (ऋ० १, ३३,१५)। आचार के अर्थ में सुबन्त उपमान के साथ जुड़ने वाले य (पा० क्यङ्) प्रत्यय को भी इसी प्रकार अवगृहीत करते हैं; यथा— क॒वी॒यमा॑नः = पपा० क॒वि॒ऽयमा॑नः (ऋ० १, १६४, १८)।

(ङ) **धातु और कृत्प्रत्यय वस् (पा० क्वसु) में अवग्रह**— धातु के साथ जुड़ने वाला कृत्प्रत्यय वस् (पा० क्वसु) यदि ह्रस्व स्वर से परे आए और सम्प्रसारण द्वारा वस् का उष् न बना हो, तो उसे अवग्रह द्वारा पृथक् करके दिखलाया जाता है[२१]; यथा— प॒पि॒वान् = पपा० प॒पि॒ऽवान् (अ० १४, १, ३; ऋ० १,६१,७); च॒कृ॒वान् = पपा० च॒कृ॒ऽवान् (अ० २, ३५, ३)। परन्तु सं० तथा पपा०— च॒कु॒षे (ऋ० ७,८७, ७)।

(च) **तद्धित प्रत्यय मत् , वत् , शस् , त्व, त्रा, ताति, था, धा, मय, तर, तम का अवग्रह**—

नाम के साथ जुड़ने वाले उपर्युक्त तद्धित प्रत्ययों (दे॰ षष्ठ अध्याय) को अवग्रह द्वारा पृथक् करके दिखलाया जाता है[४२]; यथा— घृतवन्तम्=पपा॰ घृतऽवन्तम् (ऋ॰ १,३४,१०); गोमत्=पपा॰ गोऽमत् (ऋ॰ १,४८,१२); पुर्वशः=पपा॰ पुर्वऽशः (ऋ॰ १,५७,६); सौभगत्वम्= पपा॰ सौभगऽत्वम् (ऋ॰ १,३४,५); पुरुत्रा=पुरुऽत्रा (ऋ॰ १,७०, १०); देवताता=पपा॰ देवऽताता (ऋ॰ १,३४,५); देवतातिम्=पपा॰ देवऽतातिम् (ऋ॰ १,१४१,१०); प्रत्नथा=पपा॰ प्रत्नऽथा (ऋ॰ १,९६,१); नवधा=पपा॰ नवऽधा (अ॰ १३,४, १०); उत्तमम्=पपा॰ उत्ऽतमम् (ऋ॰ १,२५,२१); शकमयम्= पपा॰ शकऽमयम् (अ॰ ९,१०,२५); तवस्तरम्=पपा॰ तवःऽतरम् (ऋ॰ १,३०,७)।

अपवाद — वा॰ प्रा॰ का मत है कि तद्धित वत् प्रत्यय परे रहते अवग्रह तभी होता है जब वत् प्रत्यय और प्रातिपदिक के बीच न्यायपूर्वक अर्थात् व्याकरणशास्त्र के अनुसार सन्धि हुई हो परन्तु अनियमित सन्धि होने पर अवग्रह नहीं किया जाता है[४३]; यथा— सं॰ तथा पपा॰— पयस्वन्तम् (वा॰ सं॰ ६, ३०); मरुत्वन्तम् (ऋ॰ १,२३,७; वा॰ सं॰ ७, ३६); हविष्मन्तः (ऋ॰ १,६०,२)[४४]। अ॰ प्रा॰ (४,१५) का मत है कि तद्धित प्रत्यय था का अवग्रह तभी किया जाता है, जब वह अनेकाक्षर (अनेकाच्) से परे आए, अन्यथा नहीं। अत एव— सं॰ तथा पपा॰— तथा, यथा इत्यादि। अ॰ प्रा॰ (४,२४) के अनुसार सकारान्त प्रातिपदिक से परे आने वाले मय प्रत्यय को अवगृहीत नहीं करते हैं; यथा— सं॰ तथा पपा॰— मनस्मयम् (अ॰ १४,१,१२)। इस विषय में पाणिनीय मत के लिये दे॰ टि॰ ४४।

९१. **अवगृह्य पदों की चर्चा**— अनु॰ ८६ में चर्चा संज्ञा का व्याख्यान किया जा चुका है। यहां पर यह बतलाना आवश्यक है कि जब किसी समास के पदपाठ में प्रगृह्यत्व तथा अवगृह्यत्व दोनों का बोध कराना हो, तब ऐसे समस्त पद की चर्चा की जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि जब कोई समस्त पद प्रगृह्य हो और साथ-साथ अवगृह्य भी हो तब उस समास की इन दोनों विशेषताओं को चर्चा द्वारा प्रकट किया जाता है।

समस्त पद का अवग्रह किये विना उसके साथ इति जोड़ कर प्रगृह्यत्व को प्रकट किया जाता है और इति के पश्चात् समस्त पद का पुनरुच्चारण करके उसमें अवग्रह दिखलाया जाता है[५५]; यथा— बृहद्भानो=पपा० बृहद्भानो इति बृहत्ऽभानो (ऋ० १,३६,१५); विरूपे=पपा० विरूपे इति विऽरूपे (अ० १०,७,४२)।

विशेष— वा० प्रा० (४,२०-२४) के अनुसार, वा० सं० के पपा० में प्रत्येक अवगृह्य पद की चर्चा की जाती है और जिस पद के अन्दर कोई विकार या आगम हो उसकी भी चर्चा की जाती है; यथा— प्रजावतीः=पपा० प्रजावतीरिति प्रजाऽवतीः (वा० सं० १,१)।

९२. **क्रमपाठ**— पदपाठ की भांति क्रमपाठ भी अति प्राचीन है और ऋ० प्रा० स्पष्ट कहता है कि बाभ्रव्य ने क्रम का प्रवचन किया था और उसी क्रमशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए[५६]। ऋ० प्रा० ११, ६५ के भाष्य में बाभ्रव्य का व्याख्यान करते हुए उवट कहता है— "बाभ्रव्यो बभ्रुपुत्रो भगवान्पाञ्चालः क्रमस्य प्रवक्ता शिष्येभ्यः क्रमं प्रथमं प्रोवाच प्रशशंस च हिताय।" आश्व० गृ० सू० (३, ४, ४) तथा शां० गृ० सू० (४, १०, ३; ६, १,१) में बाभ्रव्य के लिये तर्पण का विधान है। पाणिनि (४,२,६१) ने क्रमपाठ का अध्ययन करने वाले के लिये क्रमकः और पदपाठ का अध्ययन करने वाले के लिये पदकः संज्ञा का प्रयोग किया है। क्रमपाठ वास्तव में पदपाठ तथा संहितापाठ पर आश्रित है। पदपाठ में आने वाले प्रत्येक पद को एक बार पूर्ववर्ती और एक बार परवर्ती पद के साथ संहित करके उच्चरित करना क्रमपाठ है। अत एव अ० प्रा० (४,११०) कहता है कि दो पदों से क्रमपद बनता है। पदपाठ के साथ क्रमपाठ की समीपता के कारण पाणिनीय सूत्र (२,४,५)– "अध्ययनतोऽवि-प्रकृष्टाख्यायाम्" के व्याख्यान में काशिका ने 'पदकक्रमकम्' उदाहरण प्रस्तुत किया है। पदपाठ तथा संहितापाठ पर क्रमपाठ का पूर्ण आश्रयत्व तथा स्वतन्त्र प्रयोजनसिद्धि का अभाव देखते हुए कतिपय आचार्यों ने ऋ० प्रा० के काल में क्रमपाठ की उपादेयता के विषय में शङ्का उठाई और कहा कि पदपाठ तथा संहितापाठ जानने वाले के लिये क्रमपाठ से कोई प्रयोजन नहीं है[५७]। ऋ० प्रा० में इस मत का प्रत्याख्यान किया गया है और

क्रमपाठ की उपादेयता बतलाई गई है। वा० प्रा० के अनुसार, स्मृति ही क्रमपाठ का मुख्य प्रयोजन है[४८]। अ० प्रा० का मत है कि संहितापाठ और पदपाठ की दृढता के लिए क्रमपाठ का अध्ययन किया जाता है और क्रमपाठ के बिना संहिता में स्वर की उत्पत्ति का सम्यक् ज्ञान नहीं होता है[४९]। क्रमपाठ के द्वारा पदपाठ तथा संहितापाठ दोनों का ज्ञान होता है। अत एव ऋ० प्रा० (११, १-२) का कथन है कि जब आर्षी संहिता का लोप किये बिना दो पदों के संहितापाठ तथा पदपाठ का एक साथ उच्चारण किया जाय वह क्रमपाठ है और आर्षी संहिता के लोप का निवारण करने के लिये कई बार दो से अधिक पदों का क्रमपाठ भी किया जाता है।

९३. **क्रमपाठ के नियम**—ऋ० प्रा०, अ० प्रा० तथा वा० प्रा० के अनुसार, क्रमपाठ के मुख्य नियम निम्नलिखित हैं—

(क) क्रमपाठ में साधारणतया दो दो पदों का सन्धान (मेल) किया जाता है और प्रथम पद से प्रारम्भ करके अवसान तक (अर्धर्च के अन्त तक) दो दो पदों की सन्धि करके उच्चारण करना चाहिए। उत्तरवर्ती पद को पहले पूर्ववर्ती पद के साथ और पुनः परवर्ती पद के साथ संहित करके उच्चरित किया जाता है[५०]; यथा— सं० पुर्जन्या॑य॒ प्र गा॑यत = क्रमपाठ- पुर्जन्या॑य॒ प्र। प्र गा॑यत (ऋ० ७, १०२, १)। अवसान के नियम के अनुसार, प्रथम अर्धर्च के अन्त में आने वाले पद को द्वितीय अर्धर्च के आदि में आने वाले पद के साथ संहित नहीं किया जाता है[५१]। क्रमपाठ में सन्धि के सभी नियम पूर्णतया उसी प्रकार लागू होते हैं जैसे संहितापाठ में।

(ख) त्रिक्रम—क्रमपाठ में अपृक्त (एकाक्षर) पदों तथा कतिपय परिगणित पदों को अन्य पदों के समान पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पद के साथ मिला कर नहीं दोहराया जाता है, अपितु ऐसे पद को पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पद के मध्य रख कर केवल एक बार उच्चरित किया जाता है[५२]; यथा—सं० उदु॒ त्यं जा॒तवे॑दसम् = क्रमपाठ- उदु त्यम् (उत्+उ+त्यम्)। उ॒ इत्यूँ। त्यं जा॒तवे॑दसम् (ऋ० १, ५०, १)। जब इस प्रकार तीन

पदों को क्रमपाठ में संहित करके उच्चारण किया जाता है, तब उसे त्रिक्रम कहते हैं। अपृक्त पदों के अतिरिक्त निम्नलिखित पद भी त्रिक्रम के मध्य में उच्चरित किये जाते हैं[५३]—

(१) जब सु तथा स्मु के सकार का मूर्धन्यभाव हो जाय और इन से परे नुः आए ; यथा—मो षु णः (ऋ० १,३८,६)। आसु ष्मा णः (ऋ० ६, ४४,१८)।

(२) जिस अपृक्त पद ईम् के अन्तिम वर्ण म् का लोप हुआ है।

(३) जिस पद के आदि वर्ण का छान्दस दीर्घत्व हुआ है ; यथा—योनिंमारैगर्प (= योनिंम् + अरैक् + अपं– ऋ० १,१२४,८)।

(४) जिस स्कम्भनेन पद के आदि स् का लोप हुआ हो ; यथा—चित्कम्भनेनु स्कभीयान् (= चित् + स्कम्भनेन + स्कभीयान्– ऋ० १०,१११,५)।

(५) "इतो षिञ्चत" तथा "आवर्तमः" में से प्रत्येक के प्रथम पद (इतो तथा आवर्); यथा—परीतो षिञ्चत (ऋ० ९, १०७,१)। उषा आवर्तमः (ऋ० १,९२,४)। इन की सन्धिविशेषता के लिये दे० अनु० ५५ घ (विशेष) तथा ५५ च (विशेष)।

(६) "वीरास एतन" का द्वितीय पद (एतन); यथा—ऋ० ५, ६१, ४— वीरास एतन मर्यासः (पपा०– वीरासः। इतन। मर्यासः)।

अपवाद—यद्यपि अपृक्त पद आ त्रिक्रम के मध्य में आता है और क्रमपाठ के अन्त में नहीं रक्खा जा सकता, तथापि परवर्ती पद के साथ संहित हो कर यह क्रमपाठ के प्रारम्भ में आ सकता है[५४]; यथा—मन्द्रमा वरेण्यम् =क्रमपाठ– मन्द्रमा वरेण्यम्। आ वरेण्यम् (ऋ० ९,६५,२९)। अ० प्रा० के अनुसार, अपृक्त पद ओ भी आ की भांति परवर्ती पद के साथ संहित होकर पदक्रम के प्रारम्भ में आ सकता है (दे० टि०५३); यथा—अ० ७, ७२,२— हविरोषु = क्रमपाठ— हविरो षु। ओ षु। ओ इत्यो। ऋ० प्रा० (१०,३) के अनुसार, अपृक्त पद ओ को त्रिक्रम के मध्य नहीं रक्खा जाता है और अन्य पदों के समान यह क्रमपाठ में पूर्ववर्ती तथा परवर्ती के साथ संहित होता है; यथा— अभूदो (ऋ० १,११३,११)।

तृतीयोऽध्यायः

(ग) **चतुःक्रम**—वा० प्रा० के अनुसार, जब सु पद से पूर्व कोई अपृक्त पद हो और इस से परे नकार हो, तब क्रमपाठ में चार पदों की सन्धि करते हैं[५५]; यथा—वा० सं० १७,८४— क्रमपाट= एताहक्षासऽऊ षु णः। इसे चतुःक्रम कहते हैं। वा० प्रा० कहता है कि कतिपय आचार्य सु से परे मकार आने पर भी चतुःक्रम मानते हैं (टि० ५५)। ऋ० प्रा० ने भी निम्नलिखित पदों का चतुःक्रम माना है।

संहितापाठ में जो पद अन्य पद के द्वारा दो भागों में पृथक् कर दिया जाय वह पद तथा पृथक् करने वाला पद चतुःक्रम में रख कर क्रमपाठ में उच्चरित किया जाता है[५६]; यथा—ऋ० ६,८६,४२—ईयते नरां च शंसं दैव्यम् = क्रमपाठ—ईयते नरां च शंसं दैव्यम् (पपा० ईयते। नराशंसम्। च। दैव्यम्)।

(घ) **पञ्चक्रम**—ऋ० प्रा० (१०,३) ने निम्नलिखित उदाहरण में पांच संहित पदों का क्रमपाठ (पञ्चक्रम) माना है—ऋ० १०,१२७,३—निरु स्वसारमस्कृतोपसम् (पपा०—निः। ऊं इति। स्वसारम्। अकृत। उपसम्)।

(ङ) **क्रमपाठ में सन्धिविकार तथा प्रकृति**—क्रमपाठ में साधारणतया संहितापाठ के अनुसार ही पदों के सन्धिविकार को दिखलाया जाता है, परन्तु इस सम्बन्ध में यह नियम विशेष ध्यान देने योग्य है कि जिस पद के निमित्त से सन्धिविकार हुआ है उस के साथ क्रमपाठ में संहितापाठ के विकृत रूप को ज्यों का त्यों उच्चरित किया जाता है और जिस पद के निमित्त से सन्धिविकार नहीं है उसके साथ क्रमपाठ में पद की प्रकृति दिखलाई जाती है[५७]; यथा— ऋ० ७,३३,४— यच्छर्करीषु बृहता = क्रमपाठ—यच्छर्करीषु। शर्करीषु बृहता।

ऋ० १०,९,१—आपो हि ष्ठा मयोभुवः = क्रमपाठ—आपो हि। हि स्थ। स्था मयोभुवः।

क्रमपाठ के अवसान में आने वाले पद के सांहितिक दीर्घत्व तथा परवर्ती पद के निमित्त से होने वाले अन्य सांहितिक विकारों को हटा दिया जाता है[५८]; यथा—

ऋ० १०,१४१,१—अग्ने अच्छा वद = क्रमपाठ—अग्ने अच्छ । अच्छा वद ।

९४. **परिग्रह, परिहार, स्थितोपस्थित**—जब क्रमपाठ में प्रगृह्य, अवगृह्य, समापाद्य, अवसानगत इत्यादि निम्नलिखित प्रकार के पद आते हैं, तब परवर्ती पद के साथ ऐसे पद की सामान्य सन्धि दिखला कर पुनः पद-पाठ की चर्चा (दे० अनु० ९१) की भांति उस पद का दो वार उच्चारण किया जाता है और उन दो उच्चारणों के मध्य इति का उच्चारण किया जाता है[५९]। इस द्विवचनम् (दो वार उच्चारण) के लिये ऋ० प्रा० में परिग्रह, अ० प्रा० में परिहार और वा० प्रा० में स्थितोपस्थित संज्ञा का प्रयोग मिलता है (दे० टि० ५९)। इस सम्बन्ध में पं० युधिष्ठिर मीमांसक का निम्नलिखित मत ग्राह्य नहीं हो सकता— "ऋक्प्रातिशाख्य में अवग्रह के लिए 'परिग्रह' संज्ञा का व्यवहार मिलता है[१०]।" परिग्रह और अवग्रह (दे० टि० २०) का भेद सर्वथा स्पष्ट है। ऋ० प्रा० (१,५२; ३,२४; ११,३२ इत्यादि) ने अवग्रह के लिए अवग्रह संज्ञा का ही प्रयोग किया है और ऋ० प्रा० (३,२३;१०,२०;११,३६;१३,५० इत्यादि) में परिग्रह संज्ञा का प्रयोग ऊपर समझाये गये (परिहार, स्थितोपस्थित) अर्थ में किया गया है। ऋ० प्रा० (११,३२) में अवग्रह तथा परिग्रह दोनों संज्ञाओं का प्रयोग साथ-साथ मिलता है। ऋ० प्रा० के अनुसार, जिस पद के साथ इति जोड़ा जाता है उसे उपस्थित कहते हैं; इति-रहित अकेले पद को स्थित कहते हैं; और जहां उपस्थित तथा स्थित दोनों की सन्धि करके उच्चारण किया जाय उसे स्थितोपस्थित कहते हैं (दे० टि० २०)।

परिग्रह में समापत्ति—परिग्रह में पदान्तीय न् का विकार, विसर्जनीयविकार, नति, दीर्घत्व, प्रश्लेष, स् का आगम इत्यादि सब सन्धिविकारों का निवारण करके पदों की प्रकृति को दिखलाया जाता है[११]। परिग्रह में प्लुत का अप्लुतवत् और अनुनासिक का शुद्ध रूप दिखलाया जाता है[१२]।

क्रमपाठ में निम्नलिखित प्रकार के पदों का परिग्रह किया जाता है—

(क) **प्रगृह्यपद**—क्रमपाठ में प्रगृह्यसंज्ञक पद का परिग्रह किया जाता है—

(दे० टि० ५९); यथा—इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी (ऋ० ६,५९,६)।

(ख) **इतिकरणयुक्त पद**—प्रगृह्यसंज्ञक पदों के अतिरिक्त जिन पदों के साथ पदपाठ में इति जोड़ा जाता है (दे० अनु० ८८), क्रमपाठ में उन का परिग्रह किया जाता है, (दे० टि० ५६); यथा—ऊँ इत्यूँ (ऋ० १, ५०,१)। अ० प्रा० के अनुसार अपृक्त पद के परिग्रह में दो बार इति जोड़ा जाता है[13]; यथा—ऊँ इत्यूँ इति। ऋ० प्रा० (१०,१७; ११,३२) का मत है कि स्वः का परिग्रह करते समय स्वः और इति के मध्य अवग्रहवत् उच्चारण करना चाहिए; यथा—स्व१रिति स्वः (ऋ० १, ५२,१२)।

(ग) **अवगृह्य पद**—पदपाठ में जिन पदों को अवगृहीत किया जाता है क्रमपाठ में उनका **परिग्रह** किया जाता है (दे० टि० ५६)। अवगृह्य पदों के परिग्रह का यह नियम है कि इति से पूर्व अवगृह्य पद का संहितारूप दिया जाता है और इति के पश्चात् उच्चरित किये जाने वाले रूप में अवग्रह दिखलाया जाता है (दे० टि० ४५); यथा—ऋषिभिरित्यृषि-ऽभिः (ऋ० १,१,२)।

(घ) **समापाद्य पद**—धक्षि इत्यादि जिन पदों के आदि वर्ण में सांहितिक विकार माना जाता है, या जिन के आदि स्वर का छान्दस दीर्घ हुआ है, या जिन में अन्तःपदविकार हुआ है उनका परिग्रह किया जाता है[14]; यथा—पपा०—धक्षि=क्रमपाठ—धक्षीति धक्षि (संहितापाठ ऋ० २,१, १०—दुक्षि); ऋ० १, ११३, १६ संहितापाठ— आरैक्=क्रमपाठ— अरैगित्यरैक् (पपा० अरैक्); ऋ० ८, ५, ११ संहितापाठ— वावृधाना=क्रमपाठ— वृधानेति ववृधाना (पपा० ववृधाना)।

(ङ) त्रिक्रम या चतुःक्रम के मध्य आने वाले पदों का परिग्रह किया जाता है[15]। दे० अनु० ९३ (ख), (ग), (घ)।

(च) अवसान (अर्धर्च के अन्त) में आने वाले पद का परिग्रह किया जाता है[16]; यथा— मीळ्हुषे इति मीळ्हुषे (ऋ० ७,१०२,१)। अ० प्रा० के अनुसार अवसान में आने वाले जिस समापाद्य पद के विकार का निमित्त

स्वयं पद में ही है उस का उच्चारण इति से पूर्व संहितावत् किया जाता है और इति के पश्चात् परिग्रह में उसकी प्रकृति का उच्चारण किया जाता है, और इसके लिये आस्थापित संज्ञा का व्यवहार किया जाता है[८७]; यथा— अ० ५, ५, ९ संहितापाठ— सिुष्युदे=क्रमपाठ— सिुष्युद् इति सिस्यदे ।

(ज) यह भी माना जाता है कि क्रमपाठ के जिस पूर्वपद का अन्तिम वर्ण स्पष्ट न हो उस का परिग्रह करना चाहिए[८८]; यथा— ऋ० १,१०७,३ संहितापाठ— तन्नः=क्रमपाठ— तदिति तत् ।

९५. **जटादि अन्य पाठ**— पदपाठ तथा क्रमपाठ पर आश्रित जटादि अन्य पाठ भी मिलते हैं जो वेदों की रक्षा में सहायक हैं। चरणव्यूह के महिदास-कृत भाष्य में इन पाठों की गणना निम्नलिखित प्रकार से की गई है—

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः ।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः ॥

चरणव्यूह के भाष्य में इन सब पाठों के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं और यह माना जाता है कि व्याडि ने इन आठों विकृतियों के लक्षण बनाये थे। अत एव इस सम्बन्ध में यह श्लोक प्रचलित है—

शैशिरीये समाम्नाये व्याडिनैव महर्षिणा ।
जटाद्या विकृतीरष्टौ लक्ष्यन्ते नातिविस्तरम् ॥

यद्यपि वेदरक्षण में इन सब विकृतियों का महत्त्व है, तथापि व्याकरण तथा प्रातिशाख्यों के अनुसार इनका विवेचन अनावश्यक है। इसलिये यहां पर इनका वर्णन करना अप्रासंगिक होगा।

टिप्पणियां

१. अ० प्रा० ४, १०७— पदाध्ययनमन्तादिशब्दस्वरार्थज्ञानार्थम् ॥

२. ऋ० ७, ५९, १२; १०, २०,१; १०, १२१,१०; १०,१९०, १–३ ।

तृतीयोऽध्यायः

३. The History of Indian Literature, pp. 32-33; Vedische Studien, III, pp. 144-146.

४. Oldenberg, Prolegomena, p. 380, n.; Keith, Aitareya Āraṇyaka, pp. 239-240; Vedic Index, II, p. 369.

५. पा० १, १,१६; ६,१, १२७; ८, ३, १९; ८,४,५१।

६. ऋ० प्रा० १, १५ (अवसान में पदान्तीय स्पर्श वर्ग का तृतीय); ६.३६ (यम के पश्चात् नासिक्या स्वरभक्ति); ११, १७.२६ (क्रमपाठसम्बन्धी-त्रिक्रम का विवेचन); १३, ३१ (पदपाठसम्बन्धी संज्ञा समापाद्य के व्याख्यान में व्याडि और पदकार शाकल्य के साथ गार्ग्य के नाम का उल्लेख)। वा० प्रा० ४, १६५ (ख्या धातु में क् श् का संयोग)। निरुक्त १, ३ (उपसर्गों का अनेकार्थत्व); १,१२ (सब नाम आख्यातज नहीं हैं); ३, १३ (उपमा का लक्षण)।

पा० ७, ३, ९९— (रुदादि धातुओं से परे अपृक्त सार्वधातुक को अट् का आगम); ८, ३, २० (ओ के पश्चात् य् का लोप सन्धि में); ८, ४, ६७ (स्वरित का अभाव); इत्यादि।

७. बौ० गृ० सू० ३,९, ७; आ० गृ० सू० ३,११; हि० गृ० सू० २,२०, १; आग्नि० गृ० सू० १, २,२। इन सब सूत्रों में ये पद मिलते हैं— "आत्रेयाय पदकाराय।"

८. तै० प्रा० ५, ३१; १७, ८।

९. तु०— तै० प्रा० ३, १५=पपा० ३, ५, ८,१; ४, २,९, १।
तै० प्रा० ५, ४=पपा० ४, ७, ५,१; ४, ७, १५, २।
तै० प्रा० ५, ५=पपा० ४, ४, ४, ६; २, २, १२, ७।
तै० प्रा० ५, ६=पपा० ५, ६,६, ४; ६, ५, ५, २।
दे० तै० प्रा० ५, ७-९; ५, १८-१९ इत्यादि।

१०. दे० तै० प्रा० ३, १५। ऋ०, अ० तथा वा० सं० के पदपाठ में प्राण का अवग्रह नहीं किया जाता है। अ० के पपा० में व्यान तथा समान में

अवग्रह दिखलाया जाता है, परन्तु -आन के आ को ह्रस्व नहीं किया जाता है; तु० अ० प्रा० ४, ३९। अ० के पपा० में अपान का अवग्रह नहीं किया जाता है। वा० सं० के पपा० में अपान तथा समान में अवग्रह किया जाता है, परन्तु -आन के दीर्घ अक्षर को ह्रस्व नहीं किया जाता है; (तु० वा० प्रा० ५, ३३-३६)। दे० अनु० ९०।

११. HOS., Vol. 18, p. XXX.

१२. दे० Maitrāyaṇi Saṃhitā, Schroeder's edition, I, pp. XXXI—XXXVII.

१३. निरुक्त ४, १५; Grassmann, W Z R., s.v.; Geldner, HOS., Vol. 33, p. 462, n. पदकार के समान सायण भी द्रुपदे इत्यादि उक्त पदों को सप्तमी एकवचन के मानता है। मेरा मत भी यही है कि द्रुपदे आदि पद सप्तमी एकवचन के रूप हो सकते हैं, क्योंकि द्रुपद शब्द के अन्य प्रयोग "द्रुपदेषु बद्धः" (ऋ० १, २४, १३) में भी सप्तमी विभक्ति का रूप मिलता है और समस्त ऋ० में इस शब्द के ये दो प्रयोग ही मिलते हैं।

१४. निरुक्त ४, १५। गेल्डनर यास्क के मत का अनुसरण करता है, दे० HOS., Vol. 33, p. 462, n. परन्तु ग्रासमन इसका पदविभाग "कनीनके व" (WZR, s v. iva) करता है और व्याकरण की दृष्टि से यह मत अधिक समीचीन है; दे०—अनु० ४५ ख (१) विशेष।

१५. निरुक्त ६, २८।

१६. HOS, Vol. 35, p. 173, n.

१७. The Journal of the Ganganatha Jha Research Institute, Vol. XVII, Parts 3-4, pp. 193 ff. —"A New Interpretation of the Vedic Word Mānuṣa."

१८. अ० प्रा० ४, ७३-७४— प्रकृतिदर्शनं समापत्तिः॥ षत्वणत्वोपाचार-दीर्घटुत्वलोपान्यपदानां चर्चापरिहारयोः समापत्तिः॥ उपाचार— क् प् से पूर्व विसर्जनीय का स् या ष् बनना उपाचार कहलाता है। दे० ऋ० प्रा० ४, ४१; १३, ३१ (टि० १९ में); सन्धि-प्रकरणम्। पदान्तीय -आन्

को स्वर से पूर्व संहिता में जो विकार होता है उसे आन्पदा पदवृत्ति कहते हैं; दे० ऋ० प्रा० ४, ६७; अनु० ५२ (ख)।

१९. ऋ० प्रा० १३, ३१— समापाद्यं नाम वदन्ति षत्वं तथा णत्वं सामवशाँश्च सन्धीन्। उपाचारं लक्षणतश्च सिद्धमाचार्या व्याळिशाकल्यगार्ग्याः॥

२०. ऋ० प्रा० १०, १२-१४— उपस्थितं सेतिकरणम् ॥१२॥ केवलं तु पदं स्थितम् ॥१३॥ तत्स्थितोपस्थितं नाम यत्रोभे आह संहिते ॥१४॥ दे०— ऋ० प्रा० ११, २९; १५, ९; ११, ६१।

२१. पा० ६, १, १२९— "अप्लुतवदुपस्थिते" पर महाभाष्य— " 'उपस्थिते' इत्युच्यते, किमिदमुपस्थितं नाम? अनार्ष इतिकरणः।" काशिका— "उपस्थितं नामानार्ष इतिकरणः समुदायादवच्छिद्य पदं येन स्वरूपेऽवस्थाप्यते···।"

२२. पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने वै० स्व० मी० के पृ० १५४ पर "स्तु इति स्तः। ऋ० ८।३।२॥" उदाहरण का स्थलनिर्देश अशुद्ध किया है, क्योंकि ऋ० ८, ३, २ के संहितापाठ में 'स्तः' रूप नहीं है, अपितु "स्तुरभिमातये" पाठ है जिस में √स्तृ से बना रूप स्तुर् है और जिस में रिफित विसर्जनीय भी नहीं है। अत एव इस का पदपाठ केवल "स्तुः" दिया गया है।

२३. ऋ० प्रा० १, २८— तावदवग्रहान्तरम् ॥ वा० प्रा० ५, १— समासेऽवग्रहो ह्रस्वसमकालः ॥ पा० १, १, ७ के महाभाष्य पर अवग्रह का उच्चारणकाल अर्धमात्रा मानते हुए कैयट कहता है— "अर्धमात्राकालोऽवग्रह इष्यते।" प्रातिशाख्यों के मत के साथ कैयट के मत का समन्वय करते हुए नागेश (उद्योत में) कहता है कि एक वर्ण के अनन्तर दूसरे वर्ण के उच्चारण तक अर्धमात्रा का काल तो नियत ही है और अवग्रह में उस नियत अर्धमात्रा काल से अर्धमात्रा काल और अधिक लगता है। अतएव प्रातिशाख्यसम्मत एकमात्रा काल का इस से विरोध नहीं है— "वर्णाद्वर्णोच्चारणेऽर्धमात्राकालस्य नियतत्वात्तदधिकोऽर्धमात्राकाल इत्यर्थः। अत एव मात्राकालोऽवग्रह इति प्रातिशाख्यान्तरैरविरोधः।"

२४. अ० प्रा० ४, १-२— उपसर्ग आख्यातेनोदात्तेन समस्यते ॥१॥ अनेकोऽनुदात्तेनापि ॥२॥

२५. अ० प्रा० ४, ७— पूर्वेणावग्रहः ॥ वा० प्रा० ५, १६— अनुदात्तोपसर्गे चाख्याते ॥

२६. अ० प्रा० ४, ५७; वा० प्रा० ५, ३३। परन्तु तै० सं० के पदपाठ में ऐसे समास में अवग्रह किया जाता है।

२७. अ० प्रा० ४, ५८— संपरिभ्यां सकारादौ करोतौ। वा० प्रा० ५, ४३ ॥

२८. अ० प्रा० ४, ६२— उदो हन्तिहरतिस्थास्तम्भिषु ॥ वा० प्रा० ५, ३८— उत्तम्भनादीन्यादिसंशयात् ॥ तै० सं० का पदपाठ इन का अवग्रह दिखलाता है।

२८ क. वा० प्रा० ५, ४२.४५— परीत्तो ऽवत्तानां सुविताय सग्धिरिति च ॥४५॥ अ० प्रा० ४, ६१— ददातौ च तकारादौ ॥ दे० वा० प्रा० के उक्त सूत्रों पर उवटभाष्य। अ० प्रा० ४, ६३—दधातौ च हकारादौ।

२९. अ० प्रा० ४, ९—समासे च ॥ वा० प्रा० ५, १ (टि० २३)।

३०. अ० प्रा० ४, १०— उपजाते परेण। वा० प्रा० ५, ७— बहुप्रकृतावागन्तुना पर्वणा।

३१. अ० प्रा० ४, १२— अनिङ्गेन पूर्वेण।

३२. अ० प्रा० ४, ४९— देवताद्वन्द्वे च ॥ वा० प्रा० ५, २८— द्वन्द्वानि द्विवचनान्तानि स्वरान्तपूर्वपदानि ॥ वा० प्रा० ५, २४— प्रतिषेधे नावग्रहः ॥

३३. अ० प्रा० ४, ५०— यस्य चोत्तरपदे दीर्घो व्यञ्जनादौ ॥

३४. अ० प्रा० ४, ५१। दे० वा० प्रा० ५, ३७-३८।

३५. अ० प्रा० ४, ३१— भिर्भ्याभ्यः सु ॥ वा० प्रा० ५, १३— ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यां भकारादौ विभक्तिप्रत्यये ॥ भिः, भ्याम्, भ्यः, तथा सु परे रहने पर पूर्व भाग की पद संज्ञा के निमित्त पा० १, ४, १७— 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र है।

तृतीयोऽध्यायः

३६. अ० प्रा० ४, ३३— न दीर्घात् ॥

३७. अ० प्रा० ४,३२-३४— सौ च ॥३२॥ न दीर्घात् ॥३३॥ विनामे च ॥३४॥ वा० प्रा० ५, १४— स्विति चानतौ ॥

३८. अ० प्रा० ४, ३०— वस्ववस्वप्नसुम्नसाधुभिर्या ॥ वा० प्रा० ५, २० ॥

३९. Ved. Gr. Stu., p. 211; M. W. D., s. v.; WZR., s. v.

४०. अ० प्रा० ४, २९— यादाविच्छायां स्वरात्कर्मनामेतन्मानिप्रेप्सुषु ॥ वा० प्रा० ५, १०— धात्वर्थे यकारे स्वरपूर्वे ॥ दे० पा० ३, १, ८ ।

४१. अ० प्रा० ४, ३५— वसौ ह्रस्वात् ॥ वा० प्रा० ५, ११— वासौ च भूतकाले स्वरेण ह्रस्वादनुषि च ॥ पा० ३, २, १०७ ।

४२. अ० प्रा० ४, १३-२६; वा० प्रा० ५, २.८. ९.१२. १७.२०. २७ ।

४३. वा० प्रा० ५, ८— तद्वति तद्धिते न्यायसंहितं चेत् ॥

४४. पा० १, ४, १९ "तसौ मत्वर्थे" के अनुसार मत् वत् प्रत्यय से पूर्व शब्दरूप की भसंज्ञा होती है और पदसंज्ञा नहीं । इस लिये भसंज्ञकों के लिये ऐसी सन्धि नियमित है और पदसंज्ञा न होने से अवग्रह नहीं करना चाहिए ।

४५. अ०प्रा० ४, १२३— प्रगृह्यावगृह्यचर्चायां क्रमवदुत्तरस्मिन्नवग्रहः ॥ दे० अ० प्रा० ४, ७४ ॥ ऋ० प्रा० १०, १६ ।

४६. ऋ० प्रा० ११, ६४-६५—यथोपदिष्टं क्रमशास्त्रमादितः पुनः पृथक्त्वं- विविधैर्न साधुवत् ॥६४॥ इति प्र बाभ्रव्य उवाच च क्रमं क्रमप्रवक्ता प्रथमं शशंस च ॥६५॥

४७. ऋ० प्रा० ११, ६६— क्रमेण नार्थः पदसंहिताविदः पुराप्रसिद्धाश्रयपूर्व- सिद्धिभिः । अकृत्स्नसिद्धश्च न चान्यसाधको न चोदयापायकरो न च श्रुतः ॥

४८. वा० प्रा० ४, १८१— क्रमः स्मृतिप्रयोजनः ॥

४९. अ० प्रा० ४, १०८-१०९— क्रमाध्ययनं संहितापदद्वार्व्यार्थम् ॥१०८॥ स्वरोपजनश्चादृष्टः पदेषु संहितायां च ॥

५०. ऋ० प्रा० १०, १-२; ११,१; अ० प्रा० ४, ११०-१११; वा० प्रा० ४, १८२—द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरमाऽवसानादपृक्तवर्जम् ॥

५१. ऋ० प्रा० १०, १८; अ० प्रा० ४, ११२।

५२. अ० प्रा० ४, ११३-११४—त्रीणि पदान्यपृक्तमध्यानि ॥११३॥ एकादेशस्वरसन्धिदीर्घविनामाः प्रयोजनम् ॥११४॥ वा० प्रा० ४, १८३—अपृक्तमध्यानि त्रीणि स त्रिक्रमः ॥ ऋ० प्रा० १०, ३; ११, ३।

५३. वा० प्रा० ४, १८५—मो षूणाभीषुणौ च ॥ ऋ० प्रा० १०, ३; ११, २-२४।

५४. ऋ० प्रा० १०, ११; ११, ३४; वा० प्रा० ४, १८४— पुनराकारेणोत्तरम् ॥ अ० प्रा० ४, ११५— आकारौकारादि पुनः ॥

५५. वा० प्रा० ४, १८६-१८७— चत्वार्यपृक्तपूर्वे नकारपरे सौ ॥ मकारपरे चैके ॥

५६. ऋ० प्रा० १०, ३— पदेन च व्यवेतं यत्पदं तच्च व्यवायि च ॥ ऋ० प्रा० ११, १५।

५७. अ० प्रा० ४, ७८— क्रमे परेण विगृह्यात् ॥ ऋ० प्रा० १०, ५-६— पूर्वोत्तरकृतं रूपं प्रत्यादानावसानयोः। न ब्रूयात् ॥५॥ सर्वमेवान्यद्यथासंहितमाचरेत् ॥६॥

५८. अ० प्रा० ४, ७९।

५९. अ० प्रा० ४, ११७— प्रगृह्यावगृह्यसमापद्यान्तगतानां द्विर्वचनं परिहार इति मध्ये ॥

ऋ० प्रा० १०, ७— अवगृह्याण्यतिक्रम्य सहेतिकरणानि च।
धक्षिधुक्षिप्रवादौ च विकृतादी प्लुतादि च ॥
अन्तःपदं च येषां स्याद्विकारोऽनन्यकारितः।
एतानि परिगृह्णीयात् ॥ दे० ऋ० प्रा० ११, २५ (टि० ६४)।

वा० प्रा० ४, १८९— पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितमवगृह्यस्य ॥

६०. वै० स्व० मी०, पृ० १४८।

तृतीयोऽध्यायः

६१. ऋ० प्रा० १०, २०-२२; ११, ३६-४३ ।

६२. अ० प्रा० ४, १२०-१२१; पा० ६, १, १२९ (दे० टि० २१) ।

६३. अ० प्रा० ४, ११८— द्वाभ्यामुकारः ॥

६४. ऋ० प्रा० ११, २५; दे० ऋ० प्रा० १०, ७ (टि० ५९); वा० प्रा० ४, १९१-१९२; अ० प्रा० ४, १२६ ।

६५. ऋ० प्रा० १०, ८; ११, २५; वा० प्रा० ४, १८९ ।

६६. ऋ० प्रा० १०, ९— अर्धर्चान्त्यं च ॥ वा० प्रा० ४, १९५— अवसाने च ॥

६७. अ० प्रा० ४, १२४-१२५— समापाद्यानामन्ते संहितावद्वचनम् ॥ तस्य पुनरास्थापितं नाम ॥ वेबर के अनुसार, यह संज्ञा पुनरास्थापित है, परन्तु अ० प्रा० के भाष्यकार तथा ह्विटने के मतानुसार आस्थापित है । दे० A. Pr. (JAOS. Vol. 7), p. 574.

६८. ऋ० प्रा० १०, १५; ११, २७ ।

चतुर्थोऽध्यायः

नामिकप्रकरणम्

९६. **पदों के चार भेद**—निरुक्त तथा प्रातिशाख्यों में सारे पदों को चार श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—(१) नाम, (२) आख्यात, (३) उपसर्ग तथा (४) निपात[1]। सत्त्व का अभिधान करने वाले पद नाम और क्रिया के वाचक पद आख्यात कहलाते हैं[2]। कतिपय आचार्य उपसर्गों तथा निपातों की परिगणना करते हैं और इनके स्वर का विवेचन भी करते हैं[3]। कतिपय आचार्य उपसर्ग तथा निपात का लक्षण समझाते हुए कहते हैं कि उपसर्ग क्रिया में विशेषता उत्पन्न करता है और निपात पादपूरण है (दे० टि० २), परन्तु ऐसा लक्षण सर्वमान्य नहीं हो सकता। नामों में संज्ञा, सर्वनाम, संख्यावाचक तथा विशेषण शब्दों का समावेश है। संज्ञावाचक तथा विशेषण शब्दों के रूपों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। परन्तु सर्वनाम तथा संख्यावाचक शब्दों के रूपों की कुछ अपनी विशेषताएं हैं। इसलिए सर्वनाम तथा संख्यावाचक शब्दों के रूपों का पृथक् विवेचन वाञ्छनीय है।

पाणिनीय व्याकरण की यह विशेषता है कि इस में सब पदों को सुबन्त तथा तिङन्त इन दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है[4]। प्रादि तथा अन्य निपातों को अव्यय संज्ञा देकर और अव्ययों से परे आने वाली विभक्तियों का लुक् करके प्रत्ययलक्षण द्वारा पाणिनि अव्ययों को भी सुबन्त पद मान लेता है[5]। और जिस शब्दस्वरूप के साथ सुप् विभक्तियां जोड़ी जाती हैं उसके लिए पाणिनि प्रातिपदिक संज्ञा का व्यवहार करता है[6]।

इस अध्याय में हम केवल नामिक रूपों का वर्णन करेंगे और अव्ययों का विवेचन अन्यत्र किया जायगा।

पाणिनि तथा पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार विभक्तियों का साधारण स्वरूप निम्नलिखित है—

	एकवचन		द्विवचन		बहुवचन	
	पुं॰, स्त्री॰, न॰		पुं॰, स्त्री॰, न॰		पुं॰, स्त्री॰, न॰	
प्रथमा	स्	×	औ	ई	अस्	इ
द्वितीया	अम्	×	औ	ई	अस्	इ
तृतीया	आ		भ्याम्		भिस्	
चतुर्थी	ए		भ्याम्		भ्यस्	
पञ्चमी	अस्		भ्याम्		भ्यस्	
षष्ठी	अस्		ओस्		आम्	
सप्तमी	इ		ओस्		सु	

१००. **विभक्तियों की सरूपता**—यद्यपि अर्थभेद के विचार से विभक्तियों की संख्या सात मानी जाती है, तथापि रूपरचना की दृष्टि से नपुंसकलिङ्ग में एकवचन की पांच विभक्तियां और पुँल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग में एकवचन की केवल छः विभक्तियां हैं, क्योंकि पञ्चमी तथा षष्ठी विभक्ति के रूपों में पूर्ण समानता है। तीनों लिङ्गों में द्विवचन की विभक्तियों के केवल तीन रूप मिलते हैं—(१) प्रथमा तथा द्वितीया, (२) तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमी, और (३) षष्ठी तथा सप्तमी। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि द्विवचन में मिलने वाले रूपों का भेद न्यूनतम है; बहुवचन में मिलने वाले रूपों का भेद द्विवचन की तुलना में अधिक है; और एकवचन के रूपों का भेद सब से अधिक है। प्रयोग की दृष्टि से भी इन तीनों वचनों का अनुपात लगभग ऐसा ही है। वैदिक भाषा में द्विवचन का प्रयोग सब से कम है और एकवचन का प्रयोग सब से अधिक है। पाश्चात्य विद्वान् सम्बोधन के जिस रूप के लिए पृथक् विभक्ति (Case) की कल्पना करते हैं वह रूप भी केवल एकवचन में प्रथमा से कुछ भिन्न है और अन्य वचनों में प्रथमा के रूपों के समान है। अतएव यह स्पष्ट है कि रूपवैविध्य साधारणतया प्रयोगबाहुल्य से सम्बद्ध है।

१०१. अङ्गभेद के सम्बन्ध में पाश्चात्य तथा पाणिनीय मत— विभक्तियां जोड़ने पर कई प्रकार के प्रातिपदिकों के अङ्ग (Stem) में विविध विकार हो जाते हैं और इस के परिणामस्वरूप प्रातिपदिक के उदात्त का स्थान-परिवर्तन भी होता है। अङ्ग में होने वाले विकारों के अनुसार पाश्चात्य विद्वानों ने अङ्ग के दो मुख्य भेद माने हैं—शक्ताङ्ग (Strong stem) और अशक्ताङ्ग (Weak stem)। पुं० तथा स्त्री० की प्रथमा के ए०, द्वि० तथा बहु० और द्वितीया के ए० तथा द्वि० और नपुं० की प्रथमा तथा द्वितीया के बहु० की विभक्तियों से पूर्व आने वाले अङ्ग को शक्त माना जाता है और शेष विभक्तियों से पूर्व आने वाले अङ्ग को अशक्त मानते हैं; यथा— म॒हान्, म॒हान्तौ॑, म॒हान्तः॑, म॒हान्त॑म्, म॒हान्तौ॑ में विभक्ति से पूर्व आने वाला रूप म॒हान्त् पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार शक्ताङ्ग है; और म॒हृतः, म॒हृता इत्यादि में विभक्ति से पूर्व आने वाला रूप म॒हृत् अशक्ताङ्ग है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि प्रातिपदिक के उदात्त का स्थान-परिवर्तन ही इस अङ्गभेद का मुख्य कारण है। शक्ताङ्ग में प्रातिपदिक का उदात्त प्रातिपदिक पर ही रहता है, परन्तु अशक्ताङ्ग में उदात्त प्रातिपदिक से हट कर प्रायेण विभक्ति पर चला जाता है; यथा— म॒हान्तः॑ और म॒हृतः में उदात्त के स्थान-परिवर्तन पर ध्यान दीजिए। इस प्रकार का विकार तथा उदात्त का स्थान-परिवर्तन प्रायेण हलन्त प्रातिपदिकों के अङ्ग में दृष्टिगोचर होता है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, सम्बुद्धि में दीर्घस्वर के ह्रस्वत्व का कारण भी उदात्त का स्थान-परिवर्तन है क्योंकि सम्बोधन में उदात्त प्रातिपदिक के प्रथम अक्षर पर चला जाता है; यथा— दे॒वी से देवि॑। शक्ताङ्ग में ही प्रातिपदिक पर उदात्त रहता है और अशक्ताङ्ग में वह विभक्ति पर चला जाता है। इसलिए पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार शक्ताङ्ग में ही प्रातिपदिक का पूर्णरूप प्रकट होता है। इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए पाश्चात्य विद्वान् प्रायेण शक्ताङ्ग को पद की प्रकृति मानते हैं; यथा लैनमन, ह्विटने तथा मैक्डानल आदि विद्वान् रूप-रचना का विवेचन करते समय -वत्, -मत्,

९७. **लिङ्गभेद**—इण्डोयोरोपीय परिवार की अन्य भाषाओं के समान वैदिक भाषा के नामिक रूप पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग इन तीनों लिङ्गों में बनते हैं। वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में लिङ्गों का प्रयोग लगभग समान ही है। विशेषणों के रूप तीनों लिङ्गों में बनते हैं, परन्तु संज्ञावाचक शब्द प्रायेण नियतलिङ्ग हैं। अस्मद् तथा युष्मद् के रूप तीनों लिङ्गों में समान रहते हैं और तद्, एतद् आदि सर्वनामों के रूप तीनों लिङ्गों में भिन्न भिन्न बनते हैं। एक से चार तक संख्यावाचक शब्दों के रूप तीनों लिङ्गों में भिन्न भिन्न बनते हैं परन्तु पांच से प्रारम्भ करके ऊपर के सब संख्यावाचक शब्दों के रूप तीनों लिङ्गों में समान रहते हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि वैदिक भाषा के आख्यातरूपों में कोई लिङ्गभेद नहीं है।

९८. **वचनभेद**—लौकिक संस्कृत की भांति वैदिक भाषा में भी नामिक रूप एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन में बनते हैं। कतिपय वैदिक शब्दों के रूप केवल बहुवचन में ही मिलते हैं; यथा—आपः "जल", दाराः "पत्नी" इत्यादि। प्रायेण नैसर्गिक जोड़ो के लिये और द्वित्ववाचक द्वन्द्व-समासों में द्विवचन का प्रयोग किया जाता है; यथा—अ॒क्षी "आंखें", मि॒त्रावरु॑णा "हे मित्र और वरुण" इत्यादि। कई बार नैसर्गिक जोड़ों के केवल एक शब्द के साथ द्विवचन का प्रयोग किया जाता है और ऐसा द्विवचनान्त रूप जोड़े के दोनों नामों का बोध कराता है; यथा—पि॒तरा॑=मा॒तरा॑पि॒तरा॑; मा॒तरा॑=मा॒तरा॑पि॒तरा॑; उ॒षासा॑=उ॒षासा॒नक्ता॑; द्यावा॑=द्यावा॑पृथि॒वी; मि॒त्रा=मि॒त्रावरु॑णा। एकत्व के अतिरिक्त, समाहार का बोध कराने के लिए भी एकवचन का प्रयोग किया जाता है; यथा—इ॒ष्टापू॒र्तम्, के॒श॒श्म॒श्रु। वैदिक भाषा में कहीं कहीं एकवचन तथा द्विवचन के लिए भी बहुवचन का प्रयोग मिलता है; यथा—नदीसूक्त (ऋ० ३, ३३, ४) में द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग न॒द्यः मिलता है और इसी प्रकार अपालासूक्त (ऋ० ८, ९१; ४) में एकवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग (न॒ः, प॒ति॒द्विषः इत्यादि) किया गया है। ऋ॰ में नदियों के वर्णन में

वचनव्यत्यय के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि एकवचन तथा द्विवचन के स्थान पर बहुवचन के प्रयोग प्रायेण अस्मद् के रूपों के सम्बन्ध में मिलते हैं। शतपथ-ब्राह्मण का निम्नलिखित उदाहरण भी इसी प्रकार का है—स होवाच— "नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मः।" .

९९. **विभक्तियां**—भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार प्रातिपदिकों के साथ जुड़ने वाली विभक्तियों की संख्या केवल सात है और उनको क्रमशः **प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी तथा सप्तमी** कहते हैं। एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन के भेद से ये सात विभक्तियां इक्कीस बनती हैं और कतिपय विद्वानों का मत है कि अ० के प्रथम मन्त्र में त्रिषप्ताः शब्द इन इक्कीस विभक्तियों का निर्देश करता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि पस्पशा-आह्निक में ऋ० ४, ५८, ३ के "सप्त हस्तासः" का व्याख्यान "सप्त विभक्तयः" करता है। पाणिनि ने अपने व्याकरण में सात विभक्तियों के ए०, द्वि० तथा ब० के प्रत्ययों की परिगणना की है। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् सम्बोधन को पृथक् विभक्ति मान कर आठ विभक्तियां स्वीकार करते हैं। रूपरचना की दृष्टि से सम्बोधन के ए० में ही प्रथमा विभक्ति से कुछ भिन्नता है जिस के लिए पाणिनि (२, ३, ४९) सम्बुद्धि संज्ञा का व्यवहार करता है और द्वि० तथा ब० में सम्बोधन तथा प्रथमा के रूप सर्वथा समान हैं और पाणिनि (२, ३, ४७) ने सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का विधान किया है। परन्तु प्रथमा के अन्य रूपों से सम्बोधन की प्रथमा की भिन्नता को स्पष्ट करने के निमित्त से पाणिनि (२, ३, ४८) सम्बोधन-रूपों के लिए आमन्त्रित संज्ञा का प्रयोग करता है और आमन्त्रित रूपों के स्वरविषयक वैशिष्ट्य का भी वर्णन करता है। प्रातिशाख्यों में भी सम्बोधनरूपों के लिए आमन्त्रित संज्ञा का व्यवहार मिलता है। पाश्चात्य विद्वान् सम्बोधन को पृथक् विभक्ति मानने के पक्ष में यही युक्ति देते हैं कि स्वर की दृष्टि से सम्बोधनरूप और प्रथमा के अन्य रूप भिन्न हैं। स्वरविषयक इस तथ्य का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता, परन्तु रूपसाम्य को ध्यान में रखते हुए हम केवल सम्बुद्धि के रूपों का पृथक् वर्णन करेंगे।

पाणिनि तथा पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार विभक्तियों का साधारण स्वरूप निम्नलिखित है—

	एकवचन		द्विवचन		बहुवचन	
	पुं०, स्त्री०	न०	पुं०, स्त्री०	न०	पुं०, स्त्री०	न०
प्रथमा	स्	×	औ आ	ई	अस्	इ
द्वितीया	अम्	×	औ आ	ई	अस्	इ
तृतीया	आ		भ्याम्		भिस्	
चतुर्थी	ए		भ्याम्		भ्यस्	
पञ्चमी	अस्		भ्याम्		भ्यस्	
षष्ठी	अस्		ओस्		आम्	
सप्तमी	इ		ओस्		सु	

१००. **विभक्तियों की सरूपता**—यद्यपि अर्थभेद के विचार से विभक्तियों की संख्या सात मानी जाती है, तथापि रूपरचना की दृष्टि से नपुंसकलिङ्ग में एकवचन की पांच विभक्तियां और पुँल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग में एकवचन की केवल छः विभक्तियां हैं, क्योंकि पञ्चमी तथा षष्ठी विभक्ति के रूपों में पूर्ण समानता है। तीनों लिङ्गों में द्विवचन की विभक्तियों के केवल तीन रूप मिलते हैं—(१) प्रथमा तथा द्वितीया, (२) तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमी, और (३) षष्ठी तथा सप्तमी। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि द्विवचन में मिलने वाले रूपों का भेद न्यूनतम है; बहुवचन में मिलने वाले रूपों का भेद द्विवचन की तुलना में अधिक है; और एकवचन के रूपों का भेद सब से अधिक है। प्रयोग की दृष्टि से भी इन तीनों वचनों का अनुपात लगभग ऐसा ही है। वैदिक भाषा में द्विवचन का प्रयोग सब से कम है और एकवचन का प्रयोग सब से अधिक है। पाश्चात्य विद्वान् सम्बोधन के जिस रूप के लिए पृथक् विभक्ति (Case) की कल्पना करते हैं वह रूप भी केवल एकवचन में प्रथमा से कुछ भिन्न है और अन्य वचनों में प्रथमा के रूपों के समान है। अतएव यह स्पष्ट है कि रूपवैविध्य साधारणतया प्रयोगबाहुल्य से सम्बद्ध है।

१०१. अङ्गभेद के सम्बन्ध में पाश्चात्य तथा पाणिनीय मत—

विभक्तियां जोड़ने पर कई प्रकार के प्रातिपदिकों के अङ्ग (Stem) में विविध विकार हो जाते हैं और इस के परिणामस्वरूप प्रातिपदिक के उदात्त का स्थान-परिवर्तन भी होता है। अङ्ग में होने वाले विकारों के अनुसार पाश्चात्य विद्वानों ने अङ्ग के दो मुख्य भेद माने हैं—शक्ताङ्ग (Strong stem) और अशक्ताङ्ग (Weak stem)। पुं० तथा स्त्री० की प्रथमा के ए०, द्वि० तथा बहु० और द्वितीया के ए० तथा द्वि० और नपुं० की प्रथमा तथा द्वितीया के बहु० की विभक्तियों से पूर्व आने वाले अङ्ग को शक्त माना जाता है और शेष विभक्तियों से पूर्व आने वाले अङ्ग को अशक्त मानते हैं; यथा— म॒हान्, म॒हान्तौ, म॒हान्तः, म॒हान्तम्, म॒हान्तौ में विभक्ति से पूर्व आने वाला रूप म॒हान्त् पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार शक्ताङ्ग है; और म॒हतः, म॒हता इत्यादि में विभक्ति से पूर्व आने वाला रूप म॒हत् अशक्ताङ्ग है।

पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि प्रातिपदिक के उदात्त का स्थान-परिवर्तन ही इस अङ्गभेद का मुख्य कारण है। शक्ताङ्ग में प्रातिपदिक का उदात्त प्रातिपदिक पर ही रहता है, परन्तु अशक्ताङ्ग में उदात्त प्रातिपदिक से हट कर प्रायेण विभक्ति पर चला जाता है; यथा— म॒हान्तः और म॒हतः में उदात्त के स्थान-परिवर्तन पर ध्यान दीजिए। इस प्रकार का विकार तथा उदात्त का स्थान-परिवर्तन प्रायेण हलन्त प्रातिपदिकों के अङ्ग में दृष्टिगोचर होता है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, सम्बुद्धि में दीर्घस्वर के ह्रस्वत्व का कारण भी उदात्त का स्थान-परिवर्तन है क्योंकि सम्बोधन में उदात्त प्रातिपदिक के प्रथम अक्षर पर चला जाता है; यथा— दे॒वी से देवि। शक्ताङ्ग में ही प्रातिपदिक पर उदात्त रहता है और अशक्ताङ्ग में वह विभक्ति पर चला जाता है। इसलिए पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार शक्ताङ्ग में ही प्रातिपदिक का पूर्णरूप प्रकट होता है। इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए पाश्चात्य विद्वान् प्रायेण शक्ताङ्ग को पद की प्रकृति मानते हैं; यथा लैनमन, ह्विट्ने तथा मैक्डानल आदि विद्वान् रूप-रचना का विवेचन करते समय -वत्, -मत्,

-चस् इत्यादि का प्रयोग न करके 'Stems in vant, mant, vāṃs' इत्यादि शब्दों का व्यवहार करते हैं।

जिन प्रातिपदिकों के अशक्ताङ्ग में दो प्रकार के विकार होते हैं उन के अशक्ताङ्ग के दो उपभेद किए जाते हैं— मध्यमाङ्ग (Middle stem) तथा अत्यशक्ताङ्ग (Weakest stem)। द्वितीया के बहु०, तृतीया के ए० तथा चतुर्थी के ए० इत्यादि अजादि विभक्तियों से पूर्व आने वाले अशक्ताङ्ग के लिये अत्यशक्ताङ्ग संज्ञा का व्यवहार किया जाता है और हलादि विभक्तियों से पूर्व आने वाले अशक्ताङ्ग को मध्यमाङ्ग कहते हैं; यथा— वृत्रघ्नः और वृत्रहभिः। जिन प्रातिपदिकों के अन्त में पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार -अन्च्, -अन्, -मन्, -वन् तथा -वांस् और पाणिनि के अनुसार क्रमशः -अच्, -अन्, -मत्, -वत् तथा -वस् मिलता है उन के अशक्ताङ्ग के ये दो उपभेद—मध्यमाङ्ग तथा अत्यशक्ताङ्ग—बनते हैं। इस प्रकार के नपुं० प्रातिपदिकों का अङ्ग प्रथमा तथा द्वितीया के ए० से पूर्व मध्यम (Middle), प्रथमा तथा द्वितीया के द्वि० से पूर्व अत्यशक्त (Weakest), और प्रथमा तथा द्वितीया के बहु० से पूर्व शक्त (Strong) होता है और अन्य विभक्तियों से पूर्व पुं० के अङ्ग के समान रहता है।

पाश्चात्य विद्वान् इस अङ्गभेद के हेतु से विभक्तियों में भी भेद करते हैं; यथा— जिन विभक्तियों से पूर्व शक्ताङ्ग मिलता है उन्हें शक्ताङ्ग-विभक्तियां (Cases with strong stem) और जिनसे पूर्व अशक्ताङ्ग मिलता है उन्हें अशक्ताङ्ग विभक्तियां (Cases with weak stem) कहते हैं, और संक्षेपतः इन्हें शक्त-विभक्तियां (Strong cases) तथा अशक्त- विभक्तियां (Weak cases) भी कहते हैं।

पाणिनि भी प्रातिपदिकों के अङ्गों में होने वाले विकार के अनुसार विभक्तियों तथा अङ्गों का संज्ञाकरण करता है। पाश्चात्य विद्वान् जिन्हें शक्त-विभक्तियां (Strong cases) कहते हैं उन के लिये पाणिनि सर्वनामस्थान संज्ञा का व्यवहार करता है। और पाश्चात्य विद्वान् जिन्हें अशक्त-विभक्तियां (Weak cases) कहते हैं उन के लिये पाणिनि असर्वनामस्थान संज्ञा का प्रयोग करता है।

पाणिनि ने अशक्ताङ्गों के दो उपभेद किये हैं। यकारादि तथा अजादि असर्वनामस्थान संज्ञा वाली विभक्तियों से पूर्व आने वाले अशक्ताङ्ग के लिये पाणिनि भ संज्ञा का व्यवहार करता है और इन से भिन्न असर्वनामस्थान से पूर्व आने वाले अशक्ताङ्ग के लिये पद संज्ञा का प्रयोग करता है[१०]। पाणिनि का पदसंज्ञक अङ्ग पाश्चात्य विद्वानों का मध्यमाङ्ग (Middle stem) है और भसंज्ञक अङ्ग उन का अत्यशक्ताङ्ग (Weakest stem) है।

१०२. **प्रातिपदिकों का वर्गीकरण**—भट्टोजिदीक्षितप्रभृति भारतीय वैयाकरण सब प्रातिपदिकों को अजन्त तथा हलन्त इन दो वर्गों में विभक्त करके अजन्तपुँल्लिङ्ग, अजन्तस्त्रीलिङ्ग, अजन्तनपुंसकलिङ्ग, हलन्तपुँल्लिङ्ग, हलन्तस्त्रीलिङ्ग तथा हलन्तनपुंसकलिङ्ग के क्रम से रूपरचना का वर्णन करते हैं। कई पाश्चात्य विद्वानों ने भी, इसी क्रम से, पहले अजन्त प्रातिपदिकों और पीछे हलन्त प्रातिपदिकों के रूपों का वर्णन किया है। परन्तु कतिपय पाश्चात्य विद्वान् पहले हलन्त प्रातिपदिकों के रूपों का विवेचन करते हैं और पीछे अजन्त प्रातिपदिकों के रूपों पर विचार करते हैं। इस पद्धति का वैशिष्ट्य यह है कि सर्वप्रथम ऐसे हलन्त प्रातिपदिकों के रूपों का वर्णन किया जाता है जिन के अङ्ग में न्यूनतम विकार होता है और जिन के साथ जुड़ने वाली विभक्तियों में भी कहीं कहीं अतिसाधारण विकार होता है। इस पद्धति से पाठकों को रूपरचना के मूल सिद्धान्त समझने में विशेष सुविधा रहती है। अधिकतर अजन्त प्रातिपदिकों के साथ जुड़ने वाली विभक्तियों में और प्रातिपदिकों के अङ्गों में अनेक विकार हो जाते हैं। इसलिये अजन्त प्रातिपदिकों के रूप सर्वप्रथम लेने से पाठकों को रूपरचना की प्रक्रिया सीखने में अधिक काठिन्य होता है।

अत एव हम पहले हलन्त प्रातिपदिकों के रूपों का वर्णन करेंगे और एक प्रकार के प्रातिपदिक के तीनों लिङ्गों के रूपों का यथासम्भव सारूप्य दिखलाने के लिये उन को यथावकाश साथ साथ रक्खा जायगा। कहीं पुं० तथा स्त्री० के रूपों में अधिक सारूप्य है, तो कहीं पुं० और नपुं०

के रूपों में अधिक साम्य है। अवसर आने पर इन समानताओं का विवेचन किया जायगा।

१०३. **हलन्त प्रातिपदिकों का वर्गीकरण**—सि० कौ० आदि भारतीय व्याकरणों में वर्णसमाम्नायक्रम से पुं०, स्त्री० और नपुं० के प्रातिपदिकों के रूप तीन भिन्न प्रकरणों में वर्णित हैं। अङ्ग के विचार से पाश्चात्य विद्वान् हलन्त प्रातिपदिकों के दो मुख्य भेद मानते हैं— (१) **अविकार्यङ्ग प्रातिपदिक** (Unchangeable stems) और (२) **विकार्यङ्ग प्रातिपदिक** (Changeable stems)। जिन हलन्त प्रातिपदिकों के अङ्ग में विकार नहीं होता है उन के रूप सरलतम होते हैं। इसलिये सर्वप्रथम ऐसे प्रातिपदिकों की रूपरचना पर विचार किया जाता है। यद्यपि अविकार्यङ्ग प्रातिपदिकों की श्रेणी में कतिपय ऐसे प्रातिपदिकों का भी सन्निवेश है जिन का अङ्ग सर्वथा अविकारि नहीं है, तथापि प्रधानता के कारण से ऐसे सब प्रातिपदिक एक श्रेणी में रक्खे गये हैं। हलन्त प्रातिपदिकों के रूपों के सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जिन प्रातिपदिकों के अन्त में समान व्यञ्जन आता है उन से बनने वाले पुं० तथा स्त्री० के रूप समान बनते हैं और नपुं० के रूप केवल प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति में भिन्न बनते हैं और अन्य विभक्तियों में पुं० तथा स्त्री० के रूपों के समान बनते हैं। अनेक हलन्त अङ्गों से स्त्री० के रूप नहीं बनते हैं और स्त्री० के रूप बनाने के लिये उन के आगे ई (पा० ङीप्) जोड़ दिया जाता है[११]। इन में प्रायः ऐसे अङ्गों का सन्निवेश है जिन के अन्त में -इन्, -वत्, -मत्, -वस्, -अच् इत्यादि आते हैं। अत एव जिन हलन्त अङ्गों से स्त्री० के रूप बनते हैं उन की संख्या पुं० की तुलना में बहुत कम है।

१. हलन्त प्रातिपदिक

१०४. (क) **अविकार्यङ्ग प्रातिपदिक**—अविकार्यङ्ग प्रातिपदिकों में अधिकतर ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिन का अङ्ग प्रायेण धातु का शुद्धरूपमात्र होता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार धातु के साथ क्विप्, क्विन्, ण्वि इत्यादि कृत्प्रत्यय जुड़ते हैं, जिन का पूर्णतया लोप हो जाता है[१४]। अङ्ग

में धातु का शुद्ध रूप मिलने के हेतु से पाश्चात्य विद्वान् इन के लिये धातुज अङ्ग (Root stem, Radical stem या Primary stem) संज्ञा का व्यवहार करते हैं। यद्यपि कुछ अविकार्यङ्ग प्रातिपदिक ऐसे हैं जिन में क्विप् आदि कृत्प्रत्यय नहीं माना जा सकता, तथापि रूपरचना की दृष्टि से वे क्विवन्त प्रातिपदिकों के सदृश हैं। कतिपय तद्धितान्त शब्द भी अविकार्यङ्ग प्रातिपदिकों में सम्मिलित हैं। अविकार्यङ्ग प्रातिपदिकों से बनने वाले पुं० तथा स्त्री० के रूपों में पूर्ण सारूप्य मिलता है, और नपुं० के रूप केवल प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति में भिन्न बनते हैं। अविकार्यङ्ग प्रातिपदिकों में स्त्री० के शब्दों का बाहुल्य है। स्त्री० के धातुज अङ्ग (Radical stem) प्रायेण भाव की अभिव्यक्ति करते हैं और पुं० के धातुज अङ्ग कर्तृत्व का बोध कराते हैं। अविकार्यङ्ग प्रातिपदिकों के अन्त में सभी वर्गों के व्यञ्जन मिलते हैं। मैक्डानल कवर्गान्त प्रातिपदिकों की सत्ता को स्वीकार नहीं करता, परन्तु अन्य विद्वान् कवर्गान्त प्रातिपदिक भी मानते हैं (दे० अनु० १०५)।

जिन तद्धितान्त प्रातिपदिकों के अन्त में -अस् आता है उन को छोड़ कर शेष सब अविकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिकों से बनने वाले सम्बोधन के रूप प्रथमा के रूपों के समान होते हैं।

सन्धि— हम पहले (अनु० ६६) बतला चुके हैं कि प्रातिपदिक और विभक्ति के बीच अन्तःपदसन्धि होती है। अजादि विभक्तियों से पूर्व अङ्ग का अन्तिम व्यञ्जन अविकृत रहता है, परन्तु भकारादि तथा सकारादि विभक्तियों से पूर्व उस में यथानियम विकार हो जाता है (दे० अनु० ७१)। पदान्तीय नियम (अनु० ३४) के अनुसार अङ्ग के व्यञ्जन पदान्त में यथावत् क् ट् त् प् या विसर्जनीय में से किसी एक वर्ण में परिणत हो जाते हैं। पदान्त में तथा व्यञ्जनादि विभक्तियों से पूर्व अङ्ग के अन्तिम तालव्य वर्ण अपनी मूलध्वनि (क् या ट् में) परिणत हो जाते हैं (दे० अनु० २५)।

व्यञ्जनान्त अङ्ग से परे प्रथमा ए० की विभक्ति स् का लोप हो जाता है (दे० अनु० ७०)। ये सन्धिनियम प्रायेण सभी हलन्त

के रूपों में अधिक साम्य है। अवसर आने पर इन समानताओं का विवेचन किया जायगा।

१०३. **हलन्त प्रातिपदिकों का वर्गीकरण**—सि० कौ० आदि भारतीय व्याकरणों में वर्णसमाम्नायक्रम से पुं०, स्त्री० और नपुं० के प्रातिपदिकों के रूप तीन भिन्न प्रकरणों में वर्णित हैं। अङ्ग के विचार से पाश्चात्य विद्वान् हलन्त प्रातिपदिकों के दो मुख्य भेद मानते हैं—(१) अविकार्यङ्ग प्रातिपदिक (Unchangeable stems) और (२) विकार्यङ्ग प्रातिपदिक (Changeable stems)। जिन हलन्त प्रातिपदिकों के अङ्ग में विकार नहीं होता है उन के रूप सरलतम होते हैं। इसलिये सर्वप्रथम ऐसे प्रातिपदिकों की रूपरचना पर विचार किया जाता है। यद्यपि अविकार्यङ्ग प्रातिपदिकों की श्रेणी में कतिपय ऐसे प्रातिपदिकों का भी सन्निवेश है जिन का अङ्ग सर्वथा अविकारि नहीं है, तथापि प्रधानता के कारण से ऐसे सब प्रातिपदिक एक श्रेणी में रक्खे गये हैं। हलन्त प्रातिपदिकों के रूपों के सम्बन्ध में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जिन प्रातिपदिकों के अन्त में समान व्यञ्जन आता है उन से बनने वाले पुं० तथा स्त्री० के रूप समान बनते हैं और नपुं० के रूप केवल प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति में भिन्न बनते हैं और अन्य विभक्तियों में पुं० तथा स्त्री० के रूपों के समान बनते हैं। अनेक हलन्त अङ्गों से स्त्री० के रूप नहीं बनते हैं और स्त्री० के रूप बनाने के लिये उन के आगे ई (पा० ङीप्) जोड़ दिया जाता है[११]। इन में प्रायः ऐसे अङ्गों का सन्निवेश है जिन के अन्त में -इन्, -वत्, -मत्, -वस्, -अच् इत्यादि आते हैं। अत एव जिन हलन्त अङ्गों से स्त्री० के रूप बनते हैं उन की संख्या पुं० की तुलना में बहुत कम है।

१. हलन्त प्रातिपदिक

१०४. **(क) अविकार्यङ्ग प्रातिपदिक**—अविकार्यङ्ग प्रातिपदिकों में अधिकतर ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिन का अङ्ग प्रायेण धातु का शुद्धरूपमात्र होता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार धातु के साथ क्विप्, क्विन्, विच् इत्यादि कृत्प्रत्यय जुड़ते हैं, जिन का पूर्णतया लोप हो जाता है[१२]। अङ्ग

में धातु का शुद्ध रूप मिलने के हेतु से पाश्चात्य विद्वान् इन के लिये **धातुज अङ्ग** (Root stem, Radical stem या Primary stem) संज्ञा का व्यवहार करते हैं। यद्यपि कुछ अविकार्यङ्ग प्रातिपदिक ऐसे हैं जिन में क्विप् आदि कृत्प्रत्यय नहीं माना जा सकता, तथापि रूपरचना की दृष्टि से वे क्विबन्त प्रातिपदिकों के सदृश हैं। कतिपय तद्धितान्त शब्द भी अविकार्यङ्ग प्रातिपदिकों में सम्मिलित हैं। अविकार्यङ्ग प्रातिपदिकों से बनने वाले पुं० तथा स्त्री० के रूपों में पूर्ण सारूप्य मिलता है, और नपुं० के रूप केवल प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति में भिन्न बनते हैं। अविकार्यङ्ग प्रातिपदिकों में स्त्री० के शब्दों का बाहुल्य है। स्त्री० के **धातुज अङ्ग** (Radical stem) प्रायेण भाव की अभिव्यक्ति करते हैं और पुं० के धातुज अङ्ग कर्तृत्व का बोध कराते हैं। अविकार्यङ्ग प्रातिपदिकों के अन्त में सभी वर्गों के व्यञ्जन मिलते हैं। मैक्डानल कवर्गान्त प्रातिपदिकों की सत्ता को स्वीकार नहीं करता, परन्तु अन्य विद्वान् कवर्गान्त प्रातिपदिक भी मानते हैं (दे० अनु० १०५)।

जिन तद्धितान्त प्रातिपदिकों के अन्त में -अस् आता है उन को छोड़ कर शेष सब अविकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिकों से बनने वाले सम्बोधन के रूप प्रथमा के रूपों के समान होते हैं।

सन्धि— हम पहले (अनु० ६६) बतला चुके हैं कि प्रातिपदिक और विभक्ति के बीच **अन्तःपदसन्धि** होती है। अजादि विभक्तियों से पूर्व अङ्ग का अन्तिम व्यञ्जन अविकृत रहता है, परन्तु भकारादि तथा सकारादि विभक्तियों से पूर्व उस में यथानियम विकार हो जाता है (दे० अनु० ७१)। पदान्तीय नियम (अनु० ३४) के अनुसार अङ्ग के व्यञ्जन पदान्त में यथावत् क् ट् त् प् या विसर्जनीय में से किसी एक वर्ण में परिणत हो जाते हैं। पदान्त में तथा व्यञ्जनादि विभक्तियों से पूर्व अङ्ग के अन्तिम तालव्य वर्ण अपनी मूलध्वनि (क् या ट् में) परिणत हो जाते हैं (दे० अनु० २५)।

व्यञ्जनान्त अङ्ग से परे प्रथमा ए० की विभक्ति स् का लोप हो जाता है (दे० अनु० ७०)। ये सन्धिनियम प्रायेण सभी हलन्त

प्रातिपदिकों से बने रूपो में लागू होते हैं। अन्तःपदसन्धि के लिये देखिये अनु० ६२-७८।

विभक्तिगत वैशिष्ट्य—अविकार्यङ्ग प्रातिपदिकों के साथ जुडने वाली सभी विभक्तिया लौकिक संस्कृत की विभक्तियों के समान हैं। पुं० तथा स्त्री० में प्रथ० तथा द्वितो० के द्वि० की विभक्ति औ के स्थान पर कही कहीं आ हो जाता है। पा० ७, १, ३९ के अनुसार ऐसे रूपों में औ के स्थान पर आ आदेश होता है।

१०५. **कवर्गान्त प्रातिपदिक**—मैक्डानल के मतानुसार ऐसा कोई हलन्त प्रातिपदिक नहीं मिलता है जिस के अन्त में कवर्गीय वर्ण आता हो, क्योंकि प्रातिपदिकान्त कवर्गीय वर्ण उत्तरकालीन तालव्य ध्वनियो (दे० अनु० २५—**द्वितीय तालव्यीकरण**) च् ज् ह् में परिणत हो गये थे[११]। परन्तु लैन्मन तथा कतिपय अन्य विद्वान् सुरघ् स्त्री० "मधु-मक्षिका" शब्द को घकारान्त प्रातिपदिक मानते हैं[१४]। श० ब्रा० ३, ४, ३, १४ के वाक्य "सुरघो मधुकृतः" में इस प्रातिपदिक का प्रथ० ब० रूप सुरघः मिलता है। परन्तु प्रथ० ए० में सुरट् (तै० सं० ५, २, १२, २; श० ब्रा० १२, ३, १, ४) और च० ब० में सुरड्भ्यः (ऋ० १, ११२, २१) रूप मिलता है। इस लिये कतिपय विद्वान् इन रूपों में सुरट् या सुरह् प्रातिपदिक की कल्पना करते हैं[१५]। परन्तु लैन्मन का मत है कि उक्त रूपों में ड् (ट्) इ० यो० मूलध्वनि gh का प्रतिनिधित्व करता है और टकारान्त या हकारान्त प्रातिपदिक की कल्पना करना अनावश्यक है, क्योंकि तै० ब्रा० ३, १०, १०, १ के उदाहरण "इयं वै सुरघा" तथा "सारघं मधु" से सुरघ् प्रातिपदिक के पक्ष की पुष्टि होती है[१६]।

१०६. **चकारान्त प्रातिपदिक**—जो अविकार्याङ्ग चकारान्त प्रातिपदिक एकाच् और असमस्त हैं वे प्रायेण स्त्री० में प्रयुक्त होते हैं। केवल क्रुञ्च् "क्रौञ्च" पुं० है और ऋ० में त्वच् से बना रूप त्वचि दो बार और अर्च् से बना रूप अर्चा एक बार (ऋ० ६, ३४, ४) पुं० के अर्थ में प्रयुक्त

हुआ है। नपुं० में केवल एक रूप आपृक् "मिश्रित प्रकार से" मिलता है जो कि० वि० के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। समास के उत्तरपद में आने पर विशेषणरूपेण प्रयुक्त किये जाने वाले अनेक चकारान्त प्रातिपदिक पुं० में भी मिलते हैं। पदान्त में तथा झलादि विभक्ति से पूर्व अङ्ग के अन्तिम च् का क् बन जाता है (दे० अनु० ७६)। चकारान्त प्रातिपदिकों के जो वैदिक रूप उपलब्ध होते हैं उन के आधार पर वाच् "वाणी" के रूप इस प्रकार बनते हैं—

	एं०	द्वि०	व०
प्रथ०	वाक् ;	वाचा, वाचौ ;	वाचः।
द्विती०	वाचम् ;	,, ;	वाचः, कहीं कहीं वाचः।
तृ०	वाचा ;	वाग्भ्याम् ;	वाग्भिः।
च०	वाचे ;	,, ;	वाग्भ्यः।
पं०	वाचः ;	,, ;	,, ।
ष०	,, ;	(वाचोः) ;	वाचाम्।
स०	वाचि ;	,, ;	(वाक्षु)।

कोष्ठक में दिये गये रूपों के उदाहरण मृग्य हैं।

निम्नलिखित चकारान्त प्रातिपदिकों के रूप भी इसी प्रकार बनते हैं—

स्त्री० चकारान्त प्रातिपदिक—ऋच् "ऋचा"; त्वच् "चमड़ी"; नि-म्रुच् "सूर्यास्त"; मृच् "हिंसा"; रुच् "दीप्ति"; शुच् "ज्वाला"; सिच् "वस्त्राञ्चल"; स्रुच् "यज्ञीय चमच"।

पुं० चकारान्त प्रातिपदिक—अंहो-मुच् "संकटमोचक"; क्रुञ्च् "क्रौञ्च"; त्रि-शुच् "तीन ज्वालाओं वाला"; पुरो-रुच् "सामने चमकने वाला"; मधु-पृच् "माधुर्य मिलाने वाला"; सूर्य-त्वच् "सूर्य के समान कान्ति वाला"। उरु-व्यच् "दूर फैलने वाला" का शक्ताङ्ग (सर्वनामस्थान से पूर्व) उरु-व्यञ्च् बनता है; यथा—द्विती० एं० उरु-व्यञ्चम्। इसी प्रकार -सच् का शक्ताङ्ग -साच् बनता है; यथा—द्विती० एं० अपत्य-साचम्

"अपत्य-युक्त"। क्रुञ्च् का प्रथ० ए० क्रुङ् (वा० सं०) बनता है। पा० ३, २, ५९ में क्रुञ्च् धातु से क्विन् प्रत्यय का विधान कर के क्रुञ्च् प्रातिपदिक की सिद्धि की गई है और संयोगान्त च् का लोप होने पर पा० ८, २, ६२ के द्वारा पदान्त में ञ् का ङ् बनता है। सि० कौ० में क्रुङ्, क्रुञ्चौ, क्रुञ्चः, क्रुङ्भ्याम् इत्यादि रूप दिखलाये गये हैं।

१०७. **छकारान्त प्रातिपदिक**—वैदिक वाङ्मय में केवल एक छकारान्त पुं० प्रातिपदिक बन्धु-पृच्छ् मिलता है जिस से प्रथ० द्वि० में बन्धु-पृच्छा "बन्धुओं को पूछने वाले" (ऋ० ३, ५४, १६) रूप बनता है। -पृच्छ् अङ्ग से बने हुए अन्य वैदिक रूप तुमर्थक (Infinitive) माने जाते हैं; यथा—पृच्छे "पूछना"; सं-पृच्छे "अभिवादन करना"। ये दोनों रूप चतुर्थी ए० के रूप के सदृश हैं। वि-पृच्छम् तथा सं-पृच्छम् "पूछना" ये दोनों रूप द्विती० ए० के रूप के सदृश हैं।

१०८. **जकारान्त प्रातिपदिक**—जो धातुज जकारान्त प्रातिपदिक एकाच् और असमस्त हैं वे प्रायेण स्त्री० में प्रयुक्त होते हैं और नपुंसकलिङ्ग में ऐसे प्रातिपदिक का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। केवल समासों में नपुं० के कुछ जकारान्त प्रातिपदिक उपलब्ध होते हैं।

मूलप्रकृति के अनुसार (अनु० २५) प्रातिपदिकों के अन्त में आने वाला ज् पदान्त में तथा झलादि विभक्तियों से पूर्व ग् या ड् में परिणत हो जाता है और सन्धिनियम के अनुसार ग् या ड् अपने वर्ग के प्रथम वर्ण में बदल जाता है। पूर्वकालीन तालव्य ज् का ड् और उत्तरकालीन तालव्य ज् का ग् बनता है (दे० अनु० २५, ७५, ७६)। परन्तु ऋत्विज् "उचित ऋतु में यज्ञ करने वाला" का ज् इस नियम के अपवाद-स्वरूप ग् में परिणत होता है, जबकि इस प्रातिपदिक के उत्तरपद -यज् का ज् अन्य रूपों में ड् में परिणत होता है[१०]।

(क) **उत्तरकालीन तालव्य वाले प्रातिपदिक**—इन के प्रातिपदिकान्त ज् का पदान्त में तथा झलादि विभक्ति से पूर्व ग् बनता है और सघोषवान्

ग् का क् बन जाता है। उपलब्ध वैदिक रूपों के आधार पर उ॒शिज् "इच्छुक" के रूप पुं० तथा स्त्री० में निम्नलिखित प्रकार से बनेंगे—

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	उ॒शिक् ;	उ॒शिजा॑ ;	उ॒शिज॑ः ।
द्विती०	उ॒शिज॑म् ;	× ;	„ ।
तृ०	उ॒शिजा॑ ;	× ;	उ॒शिग्भि॑ः ।
च०	उ॒शिजे॑ ;	× ;	उ॒शिग्भ्य॑ः ।
पं०	× ;	× ;	× ।
ष०	उ॒शिज॑ः ;	उ॒शिजो॑ः ;	उ॒शिजा॑म् ।
स०	×	„ ;	×

टिप्पणी—जिन विभक्तियों में शब्द का कोई वैदिक उदाहरण नहीं मिलता है वहां पर × चिह्न लगाया गया है।

निम्नलिखित जकारान्त प्रातिपदिकों के रूप इसी प्रकार से बनते हैं और ये पुं० तथा स्त्री० में प्रयुक्त होते हैं—अस्व॑प्नज् "निद्रारहित"; तृ॒ष्णज् "तृषित"; धृ॒षज् "धृष्ट"; स॒नज् "पुराना"।

पुं० प्रातिपदिक—युज् "युक्त"; अ॒-भुज् "भोग न करने वाला"; अ॒र्धे॒-भाज् "भागी"; ऋ॒त॒-युज् "ठीक ऋतु में युक्त"; ऋ॒त्विज् "ठीक ऋतु में यज्ञ करने वाला"; घृ॒त-निर्णिज् "घृत रूपी वस्त्र वाला"; च॒न्द्र-निर्णिज् "चमकते हुए वस्त्र वाला"; प॒रा-वृज् "परित्यक्त"; भि॒षज् "उपचार करने वाला"; व॒णिज् "वनिया"; सं॒-वृज् "अधीन करने वाला"; स॒-युज् "साथी"; सु॒-युज् "सुष्ठु युक्त" (अ०)।

विशेष—जब युज् प्रातिपदिक समास में न हो तो **सर्वनामस्थान** से पूर्व शक्ताङ्ग युज् में उ तथा ज् के मध्य न् का आगम होता है[१८]; यथा—प्रथ० ए० युङ्, द्वि० युञ्जा॑। परन्तु समास में नुम् का आगम नहीं होता है; यथा—स॒-युक्; और ऋ० में द्विती० ए० का रूप युञ्ज॑म् एक बार और युज॑म् पन्द्रह बार आया है।

स्त्री० प्रातिपदिक—ऊर्ज्[१९] "जीवन-शक्ति"; तुज् "सन्तति"; निर्णिज् "चमकता हुआ वस्त्र"; स्रज् "हार"। स० व० में स्रज् का रूप स्रक्षु मिलता है। भुज् "भोग"; अभि-युज् "आक्रान्ता"; अश्व-युज् "घोड़े जोतने वाली" इत्यादि के रूप भी मिलते हैं।

नपुं० प्रातिपदिक—असृज् "रुधिर"; स्वावृज् "सुखपूर्वक प्राप्त"; सु-युज् "सुयुक्त" (क्रि० वि०); इत्रात्र-भाज् "प्रबल करता हुआ"।

विशेष—(१) कहीं कहीं असृज् के स्थान पर असन् के रूप भी प्रयुक्त होते हैं[२०]; यथा—तृ० ए० अस्ना; पं० ष० ए० अस्नः।

(२) तै० सं० ७, ४, ९, १ में असृज् के स्थान पर तकारान्त रूप असृत् (द्विती० ए०) मिलता है।

(ख) पूर्वकालीन तालव्य वाले प्रातिपदिक—इन के प्रातिपदिकान्त ज् का पदान्त में तथा झलादि विभक्ति से पूर्व ड् बनता है और यथास्थान ड् का ट् बन जाता है, परन्तु वेदों में स० व० के सु से पूर्व ज् का क् मिलता है और ट् रूप वाला कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है। सम्राज् से बनने वाले निम्नलिखित रूप वैदिकभाषा में मिलते हैं—

प्रथ० ए० सम्राट्; द्वि० सम्राजौ; ब० सम्राजः।

द्विती० ए० सम्राजम्।

च० ए० सम्राजे।

ष० ए० सम्राजः; द्वि० सम्राजोः।

इस प्रातिपदिक के सब रूप वेद में नहीं मिलते हैं। निम्नलिखित पुं० जकारान्त प्रातिपदिकों के रूप भी इसी प्रकार बनते हैं, परन्तु सब रूप उपलब्ध नहीं होते हैं—राज् "राजा"; एक-राज् "अकेला शासक"; जन-राज् "जनता का राजा"; भ्राज् "प्रकाशमान"; वने-राज् "वन में चमकता हुआ"; वि-भ्राज् "प्रकाशमान"; वि-राज् "दूर तक शासन करने वाला"; विश्व-भ्राज् "सब को प्रकाशित करता हुआ"; सत्र-राज् "सत्र का राजा" इत्यादि।

विशेष—ऋ० १, १६२, ५ में मिलने वाले रूप आ-वयाः "होम करने वाला" का प्रातिपदिक आर्व-यज् माना जाता है[२१]।

स्त्री० प्रातिपदिक—राज् "राजमाना" (तै० सं०); विराज् "विराट् छन्दः"; प्रयज् "हविः"; सं-सृज् "सम्पर्क"; स्वराज् "स्वयं प्रकाशमान"; अव-यज् "हविर्भाग"; उप-यज् "विशेष यजुर्मन्त्रों की संज्ञा" (वा० सं० ६,२१)।

इन प्रातिपदिकों के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० ए० राट्, विराट्, उपयट्; ब० विराजः (वा० सं०)।
द्वि० ए० विराजम्, स्वराजम्।
तृ० ए० विराजा; द्वि० उपयड्भ्याम्; ब० उपयड्भिः।
पं० ए० विराजः।
ष० ए० विराजः।
स० ए० संसृजि; ब० प्रयक्षु (अ०)[१०]।

विशेष—अव-यज् "हविर्भाग" का रूप प्रथ० ए० में अवयाः (का० सं० ३५, १२; ऋ० १, १७३, १२; अ० २, ३५, १) बनता है[११]।

नपुं० प्रातिपदिक—स्वराज् "स्वयं प्रकाशमान" का ष० ए० का रूप स्वराजः (ऋ० १०, १२०, ८) मिलता है।

१०९. टवर्गान्त प्रातिपदिक—(क) कोई असंदिग्ध टकारान्त प्रातिपदिक नहीं मिलता है। अ० ८, ७, २४ में मिलने वाले प्रथ० ब० रूप रुघटः के प्रातिपदिक के विषय में सन्देह है। कतिपय विद्वानों का मत है कि यह रुघर्वः "शीघ्रगामी" का अपपाठ है[१२]।

(ख) केवल दो डकारान्त स्त्री० प्रातिपदिक ईड् "स्तुति" और इड् "स्फूर्तिप्रद अन्न" वेद में दृष्टिगोचर होते हैं और इन के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

तृ० ए० ईळा (ऋ० ८, ३९, १), इळा (ऋ०)।
ष० ए० इळः (ऋ०)।

११०. तकारान्त प्रातिपदिक—वैदिकभाषा में तकारान्त प्रातिपदिक वाले बहुत से शब्द मिलते हैं, परन्तु इन में से अधिकतर शब्द समासों के उत्तरपद में आते हैं और कुछ तद्धितान्त हैं। कृदन्त तकारान्त प्रातिपदिकों की संख्या अधिक है और इस प्रकार के लगभग तीस

प्रातिपदिक इकारान्त, उकारान्त तथा ऋकारान्त धातुओं से बने हुए हैं। ऐसे प्रातिपदिक प्रायेण समासों के उत्तरपद में मिलते हैं। समासों के उत्तरपद में आने वाले तकारान्त शब्द पुं० तथा स्त्री० दोनों में प्रयुक्त होते हैं और दोनों लिङ्गों में उन के रूप सर्वथा समान बनते हैं। उपलब्ध रूपों के आधार पर त्रिवृत् "तिगुना" शब्द के रूप पुं० तथा स्त्री० में निम्नलिखित प्रकार से बनेंगे—

त्रिवृत् (पुं० तथा स्त्री०)

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	त्रिवृत् ;	त्रिवृता, त्रिवृतौ ;	त्रिवृतः ।
द्वि०	त्रिवृतम् ;	,, ,, ;	,, ।
तृ०	त्रिवृता ;	त्रिवृद्भ्याम् ;	त्रिवृद्भिः ।
च०	त्रिवृते ;	,, ;	त्रिवृद्भ्यः ।
पं०	त्रिवृतः ;	,, ;	,, ।
ष०	,, ;	त्रिवृतोः ;	त्रिवृताम् ।
स०	त्रिवृति ;	,, ;	त्रिवृत्सु ।

नपुं० की प्रथ० तथा द्वितीय० के ए० में त्रिवृत् रूप बनता है और प्रथ० तथा द्विती० के द्वि० और ब० को छोड़ कर शेष सब विभक्तियों में इस के रूप उपर्युक्त पुं० तथा स्त्री० के रूपों के समान बनेंगे। प्रथ० तथा द्विती० के द्वि० और बहुवचन में नपुं० तकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों का लगभग अभाव है। सर्व-हुत् "सम्पूर्ण होम करने वाला" प्रातिपदिक के प्रथ० ब० का रूप सर्वहुन्ति ऐ० ब्रा० में मिलता है और -भृत् "धारण करने वाला" तथा -वृत् "मुड़ने वाला" से बने रूप -भृन्ति तथा -वृन्ति ब्राह्मणों में मिलते हैं।

अविकार्यङ्ग तकारान्त प्रातिपदिकों के रूप त्रिवृत् के रूपों की भांति बनते हैं। धातुओं के द्वित्व वाले शत्रन्त प्रातिपदिक ददत्, दधत् इत्यादि के रूप भी इसी प्रकार बनते हैं।

पुं० प्रातिपदिक—पुं० में प्रयुक्त होने वाले अधिकांश तकारान्त प्रातिपदिकों की संख्या बहुत बड़ी है और रूपविषयक कोई विशेषता नहीं है। इस लिये यहां पर परिगणना करनी अनावश्यक है। कुछेक प्रसिद्ध पुं० प्रातिपदिक ये हैं—चिकित् "ज्ञानी", मरुत् "मरुत् देव", पथिकृत् "पथ बनाता हुआ", नपात् "पौत्र", ददत् "देता हुआ", वाघत् "ऋत्विज्", शासत् "उपदेश करता हुआ", दाशत् "उपासना करता हुआ", सश्चत् "शत्रु", जाग्रत् "जागता हुआ"।

एकाच् स्त्री० प्रातिपदिक—एक अक्षर वाले तकारान्त प्रातिपदिक चित् "विचार", द्युत् "चमक", नृत् "नाच", पृत् "युद्ध", वृत् "शत्रुदल" स्त्री० में प्रयुक्त होते हैं और शेष स्त्री० प्रातिपदिकों में एक से अधिक अच् हैं। कुछेक प्रसिद्ध अनेकाच् स्त्री० प्रातिपदिक ये हैं—प्र-वत् "ऊंचाई", देव-तात् "देवों की सेवा", सरित् "नदी", विद्युत् "चमकती हुई", उपभृत् "यज्ञीय चमच", योषित् "युवति", रोहित् "लाल घोड़ी", स्रवत् "जलधारा", वेहत् "वन्ध्या गाय"।

नपुं० प्रातिपदिक—अक्षि-पत् "आंख में गिरने वाला", अनपाकृत् "दूर न हटने वाला", त्रिवृत् "तिगुना", यकृत् "जिगर", शकृत् "गोमय", सं-यत् "निरन्तर", जगत् "जीव-लोक" इत्यादि प्रातिपदिकों के रूप नपुं० में बनते हैं।

विशेष—पा० ६, १, ६३ के अनुसार शस्प्रभृति विभक्तियों से पूर्व शकृत् के स्थान पर शकन् और यकृत् के स्थान पर यकन् आदेश हो जाता है। इन से बने हुए निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० तथा द्विती० ए० शकृत् (ऋ०), यकृत् (ऋ०)।
तृ० ए० शकृता (का० औ०), शक्ना (वा० सं०), यक्ना (वा० सं०);
ब० शकभिः (तै० सं०)।
पं० ए० यक्नः (ऋ०)।
ष० ए० शक्नः (अ०)।

१११. थकारान्त प्रातिपदिक—वेद में केवल चार थकारान्त प्रातिपदिकों के

रूप मिलते हैं। पथ् "मार्ग" तथा सु-पथ् "अच्छा मार्ग" पुं० में आते हैं। अभि-श्नथ् "चुभता हुआ" विशेषण है और कपृथ् "शिश्न" प्रायेण नपुं० शब्द माना जाता है, परन्तु कतिपय विद्वान् इसे पुं० शब्द मानते हैं[२५]। ग्रासमैन ऋ० के पद श्रत् "श्रद्धा" को श्रथ्-प्रातिपदिक से सिद्ध करता है[२६], परन्तु अन्य विद्वान् इस में श्रत् या श्रद् प्रातिपदिक मानते हैं[२७]। पा० के अनुसार पथ् पथिन् का ही अत्यशक्ताङ्ग (Weakest stem) है और स्वतन्त्र प्रातिपदिक नहीं है[२८]।

इन प्रातिपदिकों से बने हुए निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० ए० कपृत्।

द्वि० ए० कपृत, श्रत (आठ बार), पथम् (मै० सं० २, ९, १०);
 ब० पथः (टि० २८)।

तृ० ए० सुपथा, पथा, पथा अंहसा (ऋ० १, १२९, ९)।

च० ए० पथे (वा० सं०)।

पं० ए० पथः, अभिश्नथः।

ष० ए० पथः; ब० पथाम्।

स० ए० पथि।

११२. दकारान्त प्रातिपदिक—(क) दकारान्त प्रातिपदिकों की संख्या सौ से अधिक है। लगभग सौ दकारान्त प्रातिपदिक ऐसे हैं जिन के अन्त में अद् "खाना", क्षद् "बांटना", छद् "ढांपना", पद् "जाना", सद् "बैठना", स्यद् "बहना", छिद् "काटना", निद् "निन्दा करना", भिद् "भेदन करना", उद् "गीला करना", नुद् "धकेलना", मद् "मस्त होना", मुद् "मुदित होना", मृद् "कुचलना", तृद् "चुभाना", रुद् "रोना", विद् "पाना", विद् "जानना", क्षुद् "आनन्द लेना" तथा सूद् "यथाक्रम रखना" इत्यादि धातुओं का द् रहता है और क्विप् इत्यादि कृत्प्रत्यय का लोप हो जाता है। ऐसे दकारान्त प्रातिपदिक प्रायेण समासों के उत्तरपद में मिलते हैं; यथा—अद्रि-भिद् "पर्वत का भेदन करने वाला"। और इन

में भी ऐसे प्रातिपदिक सब से अधिक हैं जिन के अन्त में -विद्, -सद् तथा -पद् आते हैं; यथा—सर्व-विद्, घृषद्, अनुपद् इत्यादि।

एक अच् वाले दकारान्त प्रातिपदिक केवल आठ मिलते हैं जिन में से उद् "तरंग", निद् "निन्दा", भिद् "भेदन करने वाला", मुद् "प्रसन्नता", मृद् "मिट्टी" तथा विद् "ज्ञान" ये छः प्रातिपदिक स्त्री० में प्रयुक्त होते हैं; केवल एक प्रातिपदिक पद् "पांव" पुं० में और हृद् "हृदय" नपुं० में आता है।

इन दकारान्त प्रातिपदिकों के रूप उपर्युक्त अविकार्यङ्ग तकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों की भांति बनते हैं और नपुं० की प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के द्वि० तथा ब० और द्विती० ए० को छोड़ कर शेष सभी विभक्तियों में तीनों लिङ्गों के प्रातिपदिकों के रूप समान बनते हैं। परन्तु नपुं० के प्रथ० द्विती० द्वि० ब० के रूपों का लगभग अभाव है। विद् "ज्ञान" के रूप तथा -विद् "पाना" उत्तरपद में आने वाले प्रातिपदिकों के रूप तीनों लिङ्गों में (नपुं० द्विती० ए० और प्रथ० द्विती० द्वि० ब० को छोड़ कर) निम्नलिखित प्रकार से बनेंगे—

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	वित् ;	विदा, विदौ ;	विदः ।
द्विती०	विदम् ;	,, ;	,, ।
तृ०	विदा ;	विद्भ्याम् ;	विद्भिः ।
च०	विदे ;	,, ;	विद्भ्यः ।
पं०	विदः ;	,, ;	,, ।
ष०	विदः ;	विदोः ;	विदाम् ।
स०	विदि ;	,, ;	वित्सु ।

पद् "पांव" (पुं०)

सर्वनामस्थान (Strong cases) से पूर्व पद् के अकार का दीर्घ होकर पाद् अङ्ग बन जाता है। परन्तु इस के विपरीत पा० ६, १, ६३ के अनुसार शस्प्रभृति विभक्तियों (Weak cases) से पूर्व पाद

के स्थान पर पद् आदेश हो जाता है और मूलशब्द पाद् है। उपलब्ध रूपों के आधार पर पद् के रूप इस प्रकार बनेंगे—

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	पात् ;	पादौ ;	पादः ।
द्विती०	पादम् ;	,, ;	पदः[२९] ।
तृ०	पदा ;	पद्भ्याम् ;	पद्भिः[३०] ।
च०	पदे ;	,, ;	पद्भ्यः ।
पं०	पदः ;	,, ;	,, ।
ष०	पदः ;	पदोः ;	पदाम् ।
स०	पदि ;	,, ;	पत्सु ।

हृद् "हृदय" (नपुं०)

पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार अशक्त विभक्तियों (Weak cases) से पूर्व हृद् प्रातिपदिक आता है और प्रथ० तथा द्विती० के ब० और कुछ अन्य विभक्तियों से पूर्व ऋ० के अवरकालीन अंशों में इस के स्थान पर हृदय प्रातिपदिक का प्रयोग होता है। इस मत के विपरीत पा० ६, १, ६३ के अनुसार अशक्त विभक्तियों (शस्प्रभृति) से पूर्व हृदय का हृद् आदेश हो जाता है। हृद् से बने निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० ए० हृत् (तै० सं० ३, ४, ७, २)।

तृ० ए० हृदा ; ब० हृद्भिः ।

च० ए० हृदे ।

पं० तथा ष० ए० हृदः ।

स० ए० हृदि[३१]; ब० हृत्सु ।

उद् "जल" का केवल एक रूप उदा (तृ० ए०) ऋ० में मिलता है।

(ख) जिन दकारान्त प्रातिपदिकों का अन्तिम दकार धातुज नहीं है और प्रत्यय का माना जाता है ऐसे प्रातिपदिकों की संख्या बहुत कम

है। दृषद् तथा धृषद् (ऋ०) "चक्की का निचला पाट", भसद् "स्त्री की पीठ", शरद् "शरद् ऋतु", ककुद् "शिखर" और काकुद् "तालु" स्त्री० प्रातिपदिक हैं। त्रिककुद् "तीन शिखरों वाला" पुं० है और वनद् "इच्छुक" का लिङ्ग संदिग्ध है। इन में शरद् का प्रयोग सब से अधिक है और अन्य प्रातिपदिकों का प्रयोग बहुत कम है। इन से बने हुए निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० ए० ककुत्, काकुत्, धृषत्, भसत्, शरत्, त्रिककुत्;
    ब० वनर्दः, शरर्दः।
द्वि० ए० काकुर्दम्, दृषर्दम्, भसर्दम्, शरर्दम्, त्रिककुर्दम्;
    ब० शरर्दः।
तृ० ए० दृषर्दा, शरर्दा; ब० शरद्भिः।
च० ए० शरर्दे।
पं० ए० काकुर्दः।
ष० ब० शरर्दाम्।
स० ए० ककुर्दि, शरर्दि; ब० शरत्सु।

कतिपय विद्वानों का मत है कि ककुद् वास्तव में ककुभ् की विकृति है और कहीं कहीं अन्तिम भ् का द् बन गया है[११]।

११३. **धकारान्त प्रातिपदिक**—बुध् "जागना", बाध् "कष्ट पहुंचाना", युध् "लड़ना", वृध् "बढ़ना" तथा रुध् "रोकना" इत्यादि सोलह धकारान्त धातुओं से बने हुए लगभग पचास धकारान्त प्रातिपदिक उपलब्ध होते हैं और वृध् धातु से बने हुए प्रातिपदिक सब से अधिक हैं। सभी धकारान्त प्रातिपदिक कृदन्त हैं और इन में से बहुत से प्रातिपदिक समासों के उत्तरपद में मिलते हैं; यथा—यज्ञ-वृध् "यज्ञवर्धक"। केवल सात धकारान्त प्रातिपदिक एकाच् हैं। क्षुध् "क्षुधा", नध् "बन्धन", मृध् "संग्राम", युध् "युद्ध", वृध् "वृद्धि" तथा स्पृध् "स्पर्धा (लड़ाई)" ये छः एकाच् प्रातिपदिक स्त्री० में हैं और केवल एक वृध् "वर्धक" प्रातिपदिक पुं० विशेषण रूप में

प्रयुक्त होता है। पुं० तथा स्त्री० के प्रातिपदिकों के रूप सर्वथा समान हैं। प्रथ० तथा द्विती० के द्वि० तथा ब० में नपुंसक के रूपों की विशेषता वाला कोई रूप नहीं मिलता है और केवल चार नपुं० रूप प० तथा स० में उपलब्ध होते हैं। किसी धकारान्त प्रातिपदिक में शक्ताङ्ग तथा अशक्ताङ्ग का भेद प्रकट नहीं होता है। कतिपय प्रसिद्ध प्रातिपदिकों के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

वृध्, युध्, उपर्बुध् "प्रातः जागने वाला", ऋतावृध् "सत्यवर्धक"

प्रथ० ए० उपर्भुत्[२२क]; द्वि० ऋतावृधा, ऋतावृधौ; ब० ऋतावृधः।

द्विती० ए० वृधम्, युधम्, उपर्बुधम्; द्वि० ऋतावृधा, ऋतावृधौ;
ब० ऋतावृधः, युधः।

तृ० ए० वृधा, युधा।

च० ए० वृधे, युधे, उपर्बुधे, ऋतावृधे।

पं० ए० युधः।

ष० ब० वृधाम्, ऋतावृधाम्।

स० ए० युधि; ब० युत्सु।

११४. **नकारान्त प्रातिपदिक**—अविकार्यङ्ग नकारान्त प्रातिपदिकों की संख्या अत्यल्प है और तन् "फैलाना", रन् "आनन्दित होना", वन् "प्रिय होना", सन् "प्राप्त करना" तथा स्वन् "ध्वनि करना" से बने हुए छः कृदन्त-नकारान्त प्रातिपदिक उपलब्ध होते हैं। इन में से तन् स्त्री० "सन्तति", रन् पुं० "आनन्द", वन् पुं० "वन" तथा स्वन् वि० "ध्वनि करता हुआ" ये चार एकाच् हैं और गो-षन् "गाय प्राप्त करने वाला" तथा तुवि-ष्वन् "जोर से गर्जता हुआ" ये दोनों विशेषण समासों के उत्तरपद में आते हैं। समासों के उत्तरपद में आने वाले हन् "घातक" के पैंतीस प्रातिपदिक तथा अन्य नकारान्त प्रातिपदिक विकार्यङ्ग हैं। इस लिये आगे चल कर विकार्यङ्ग प्रातिपदिकों में उन का विवेचन किया जायगा।

अविकार्यङ्ग प्रातिपदिकों से बनने वाले वैदिक रूप निम्नलिखित हैं—

प्रथ० ब० सम्बो० तुविष्वणः।

तृ० ए० तना (एक बार ऋ०), तना (१९ बार ऋ०)।

च० ए० रणे, तने ।

ष० ए० गोषणः (गोषणो नपात् सम्बो०); ब० वनाम् ।

स० ए० स्वनि (ऋ० ९, ६६, ९), तुविष्वणि, रन् (विभक्तिलोप);
ब० रंसु, वंसु ।

स्वरवैशिष्ट्य—उपर्युक्त रूपों में तना तथा वनाम् को छोड़ कर शेष रूपों में स्वरसम्बन्धी नियम का अपवाद मिलता है, क्योंकि साधारण नियम के अनुसार इन एकाच् प्रातिपदिकों का उदात्त अशक्तविभक्ति पर चला जाना चाहिए ।

दन् या दम्? अनेक पाश्चात्य विद्वान् दन् "गृह" नकारान्त प्रातिपदिक की कल्पना करते हैं और ऋ० १, १२०, ६; १, १४९, १; १, १५३, ४; १०, ९९, ६; तथा १०, १०५, २ में आने वाले दन् को कुछ विद्वान् स० ए० का रूप और अन्य विद्वान् ष० ए० का रूप मानते हैं[११]। कतिपय विद्वान् दन् को दम् प्रातिपदिक की विकृति मानते हैं[१४]। सायण इन में से एक रूप को दम् धातु से बना शत्रन्त मानता है और अन्य रूपों को दा धातु से सिद्ध करता है। यहां पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि दन् के उपर्युक्त रूप पतिः के साथ जुड़े हुए (पतिर्दन्) मिलते हैं और ऋ० १, १२०, ६ में पती दन् प्रयोग मिलता है। इस लिये पाश्चात्य विद्वान् 'पतिर्दन्' का अर्थ 'गृहस्य पतिः' 'गृहे पतिर्वा' करते हैं ।

११५. **पकारान्त प्रातिपदिक**—लगभग बीस पकारान्त प्रातिपदिक मिलते हैं। इन में से सातों एकाच् प्रातिपदिक अप् "जल", कृप् "सुन्दरता", क्षप् "रात्रि", क्षिप् "अंगुलि", रिप् "वञ्चना", क्षप् "भूमि" तथा विप् "छड़ी या अंगुलि" स्त्री० में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु विशेषण के रूप में विप् पुं० में भी मिलता है। इन के अतिरिक्त समासों के उत्तरपद में आने वाले चार पकारान्त प्रातिपदिक आ-तप् "गर्म करने वाली", पति-रिप् "पति को धोखा देने वाली", ऋत-सप् "यजन करती हुई" तथा वि-ष्टप् "शिखर" भी स्त्री० में आते हैं। शेष सभी पकारान्त

प्रातिपदिक समासों के उत्तरपद में आने वाले पुं० विशेषण हैं—अ॒ग्नि॒-तप् "अग्नि-ताप का आनन्द लेने वाला", अ॒भी-ला॒प-लप् "अत्यधिक वाचाट", अ॒सु-तृप् "दूसरे के प्राणों (जीवन) से तृप्त होने वाला", के॒त॒-सप् "आज्ञाकारी", प॒रि॒-रप् "चारों ओर चिल्लाने वाला", प॒शु॒-तृप् "पशुओं से तृप्त होने वाला", प्र॒-सुप् "सोता हुआ", तथा री॒त्यप् "बहते हुए जल वाला"[१५]। नपुं० में कोई पकारान्त प्रातिपदिक नहीं मिलता है[१६]। पुं० तथा स्त्री० में इन के रूप सर्वथा समान बनते हैं।

प्रथ० के द्वि० तथा ब० में अप् के अकार का दीर्घ हो जाता है[१७], और भकारादि विभक्तियों से पूर्व प् का द् बन जाता है (दे० अनु० ७७)। अप् के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० द्वि० आपा॑; ब० आपः॑।

द्विती० ब० अ॒पः।

तृ० ए० अ॒पा; ब० अ॒द्भिः।

च० ब० अ॒द्भ्यः।

पं० ए० अ॒पः; ब० अ॒द्भ्यः।

ष० ए० अ॒पः; ब० अ॒पाम्।

स० ब० अ॒प्सु।

११६. **भकारान्त प्रातिपदिक**—पुं० तथा स्त्री० में भकारान्त प्रातिपदिक मिलते हैं और नपुं० में भकारान्त प्रातिपदिक से बना कोई रूप उपलब्ध नहीं होता है। क्षुभ् "क्षोभ", गृभ् "ग्रहण", नभ् "हिंसा", शुभ् "शोभा" तथा स्तुभ् "स्तुति" ये पांच एकाच् प्रातिपदिक और अ॒नु॒ष्टुभ्, क॒कुभ् "शिखर" तथा त्रि॒ष्टुभ् ये अनेकाच् प्रातिपदिक स्त्री० में प्रयुक्त होते हैं। जी॒व॒-गृभ् "जीवित पकड़ने वाला", सु॒ते॒-गृभ् "सोम का ग्रहण करने वाला", स्यू॒म॒-गृभ् "लगाम पकड़ने वाला", त्रि॒-क॒कुभ् "तीन शिखरों वाला" तथा छ॒न्दः॒-स्तुभ् "छन्दों में स्तुति करने वाला" इत्यादि समासों में आने वाले अनेकाच् भकारान्त प्रातिपदिक पुं० में प्रयुक्त होते हैं। त्रि॒ष्टुभ् के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० ए० त्रिष्टुप् ।
द्विती० ए० त्रिष्टुभम्; ब० त्रिष्टुभः ।
तृ० ए० त्रिष्टुभा ।
च० ए० त्रिष्टुभे ।
पं० ए० त्रिष्टुभः ।
स० ए० त्रिष्टुभि ।

११७. **मकारान्त प्रातिपदिक**—मकारान्त प्रातिपदिकों की संख्या अत्यल्प है और सुंनम् (अ०) "नमस्कार" स्त्री० को छोड़ कर शेष सभी मकारान्त प्रातिपदिक एकाच् हैं। पृथिवीवाचक तीनों प्रातिपदिक **क्षम्**, **गम्** तथा **ज्म्** स्त्री० में प्रयुक्त होते हैं। **हिम्** "बर्फ" पुं० और **दम्** "गृह" (अनु० ११४) तथा **शम्** "सुख" नपुं० शब्द माने जाते हैं। परन्तु **शम्** "कल्याण" के केवल प्रथ० तथा द्विती० ए० के रूप मिलते हैं। इस लिये कतिपय विद्वानों के मतानुसार **शम्** अव्यय है। केवल **हिमा** (ऋ० १०, ३७, १०) के समाधान के लिये **हिम्** प्रातिपदिक की कल्पना की जाती है, परन्तु अकारान्त पद **हिम** के द्वारा भी **हिमा** रूप का समाधान किया जा सकता है। अत एव यह प्रातिपदिक संदिग्ध है। **गम्** तथा **ज्म्** के रूप केवल अशक्त (असर्वनामस्थान) विभक्तियों में मिलते हैं जहां इन की उपधा के **अ** का लोप हो जाता है। शक्त विभक्तियों (सर्वनामस्थान) से पूर्व क्षम् की उपधा के **अ** का दीर्घ हो जाता है। वेद में निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्र० ए० **शम्**; द्वि० **क्षामा**, द्यावा-क्षामा; ब० क्षामः, सुंनमः (अ०)।
तृ० ए० क्ष्मा, ज्मा, हिमा ।
पं० ए० क्ष्मः, ग्मः, ज्मः[३८] ।
ष० ए० ग्मः, ज्मः, दन् (अनु० ११४); ब० द्मनाम् ।
स० ए० क्षमि ।

११८. **रेफान्त प्रातिपदिक**—पचास से अधिक ऐसे रेफान्त प्रातिपदिक मिलते हैं जो धातुज माने जाते हैं। अधिकतर रेफान्त प्रातिपदिकों का अन्तिम रेफ इ या उ के पश्चात् आता है और केवल तीन रेफान्त

प्रातिपदिकों की उपधा में अ आता है और दो की उपधा में आ मिलता है। लगभग एक दर्जन रेफान्त प्रातिपदिक एकाच् हैं और शेष अनेकाच् हैं जिन में से अधिकतर समास हैं। कतिपय प्रसिद्ध रेफान्त प्रातिपदिक निम्नलिखित हैं—

पुं० प्रातिपदिक—गिर् "स्तोता" (ऋ०), तुर् "प्रवर्द्धक", मुर् "नाशक", गवाशिर् "दुग्धमिश्रित", सुप्रतुर् "विजयी", अप्तुर् "कर्मशील", अजुर् "बूढ़ा न होता हुआ"।

स्त्री० प्रातिपदिक—गिर् "स्तुति", द्वार् "द्वार", धुर् "धुरा या भार", पुर् "दुर्ग", आशिर् "मिश्रण", संस्तिर् "आच्छादन", अमा-जुर् "घर में बुढ़िया होती हुई"।

नपुं० प्रातिपदिक—वार् "जल", स्वर् "प्रकाश"[३९], वर्धर् "आयुध"। अहर्, ऊधर्, उषर्—पाश्चात्य विद्वान् अहर् "दिन" नपुं०; ऊधर् "आपीन" नपुं० तथा उषर् "उषा" स्त्री० को रेफान्त प्रातिपदिक मानते हैं। परन्तु पा० ८, २, ६८-६९ अहर् को 'अहन्' नकारान्त प्रातिपदिक का रूप मानता है; और ऊधर् तथा उषर् का प्रातिपदिक क्रमशः ऊधस् तथा उषस् माना जाता है (दे० अनु० १३० ग; टि० १०९ इत्यादि)।

उपधादीर्घ—पदान्त में तथा हलादि विभक्ति से पूर्व रेफान्त प्रातिपदिक की उपधा के इ उ का दीर्घ हो जाता है[४०]; यथा—गिर् का प्रथ० ए० गीः; तृ० ब० गीर्भिः। र् का अविकार—स० ब० की विभक्ति सु से पूर्व प्रातिपदिक का अन्तिम र् अविकृत रहता है[४१]; यथा—गिर् का स० ब० गीर्षु।

उपलब्ध रूपों के आधार पर पुर् के रूप इस प्रकार बनेंगे—

प्रथ० ए० पूः; द्वि० पुरा, पुरौ; ब० पुरः।
द्विती० ए० पुरम्; द्वि० पुरा, पुरौ; ब० पुरः।
तृ० ए० पुरा; ब० पूर्भिः।
च० ए० पुरे; ब० पूर्भ्यः।

पं० ए० पुरः ।

प० ए० पुरः; ब० पुराम् ।

स० ए० पुरि; ब० पूर्षु ।

द्वार् के रूप—पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि अशक्त विभक्तियों (असर्वनामस्थान) से पूर्व द्वार् का अशक्ताङ्ग दुर् बन जाता है । द्वार् के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० ए० द्वाः (अ०); द्वि० द्वारा; ब० द्वारः, दुरः (ऋ० १, १८८, ५) ।

द्विती० ए० द्वारम् (अ०); द्वि० द्वारा; ब० दुरः (२४ बार), द्वारः (ऋ० १, १३०, ३) ।

स्वर् के रूप—पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि च० ए० तथा प० ए० में स्वर् का सूर् अङ्ग बन जाता है और निम्नलिखित रूप बनते हैं—

प्रथ० ए० स्वर् (पाश्चात्य विद्वान्—सुवर् अ०) ।

च० ए० सूरे (ऋ० ४, ३, ८) ।

प० ए० सूरः (ऋ० ८, ७२, १७)[४१], स्वर् (ऋ० १, ६६, १०; १, ६९, १०) ।

स० ए० स्वर् (५ बार; विभक्तिलोप) ।

११९. **वकारान्त प्रातिपदिक**—वेदों में केवल दो वकारान्त प्रातिपदिक दिव् "द्युलोक" और दीव् "द्यूतक्रीडा" स्त्री० मिलते हैं ।

दीव् के रूप—ऋ० में दीव् के केवल दो रूप मिलते हैं ।

च० ए० दीवे (ऋ० १०, २७, १७) ।

स० ए० दीवि (ऋ० ५, ८५, ८) ।

इसी अर्थ में प्रयुक्त होने वाला प्रातिपदिक द्यू, दीव् का पूरक कहा जा सकता है और अ० में उस से बने हुए निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

द्विती० ए० द्युवम् (अ० ७, ५०, ९) ।

च० ए० द्युवे (अ० ७, १०९, ५) ।

चतुर्थोऽध्यायः

दिव् के रूप—पाणिनि दिव् को प्रातिपदिक मान कर प्रथ० ए० में व् के स्थान पर औ आदेश करके द्यौः रूप सिद्ध करता है[४३] और हलादि विभक्तियों से पूर्व दिव् के व् को उ आदेश करके द्यु अङ्ग बनाता है[४४]।

मैक्डानल दिव् को द्यव् का सम्प्रसारण तथा अशक्ताङ्ग मान कर इन के रूपों का व्याख्यान करता है[४५]। ग्रासमैन तथा लैन्मैन प्रभृति विद्वानों का मत समीचीन प्रतीत होता है, जिस के अनुसार दिव्, द्यु तथा द्यो परस्पर पूरक प्रातिपदिक माने जाते हैं[४६]। वैदिक भाषा में दिव् प्रायेण तथा द्यु नित्य पुं० में आते हैं और द्यो पुं० तथा स्त्री० में प्रयुक्त होता है। लौकिक संस्कृत में दिव् स्त्री० में ही प्रयुक्त किया जाता है। भारतीय वैयाकरण द्यो को पृथक् प्रातिपदिक मानते हैं और स्त्री० में इस के रूप चलाते हैं (दे० टि० २२५)।

दिव्, द्यु तथा द्यो से बने हुए निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं जो अधिकांश में परस्पर पूरक हैं—

द्यो की रूप-रचना के सम्बन्ध में दे० अनु० १४७।

	द्यो	दिव्	द्यु
प्रथ० ए०	द्यौः, सम्बो० द्यौः[४७],	×	×
प्रथ० द्विती० द्वि०	द्यावा (२६ बार), द्यवी[४८],	×	×
प्रथ० ब०	द्यावः (२२ बार),	दिवः (ऋ० एक बार; अ० दो बार),	×
द्विती० ए०	द्याम्[४९],	दिवम् (२१ बार),	×
द्विती० ब०	×	दिवः,	द्यून्[५०]
तृ० ए०	×	दिवा, दिवा,	×
तृ० ब०	×	×	द्युभिः (१९ बार)
च० ए०	×	दिवे,	×
पं० ए०	द्योः (२ बार), द्यौः[५१],	दिवः (५० बार),	×
ष० ए०	द्योः (४ बार),	दिवः (१८० बार से अधिक),	×
स० ए०	द्यवि (१२ बार),	दिवि (११८ बार),	×

टिप्पणी—प्रयोग-संख्या का निर्देश केवल ऋ० से सम्बद्ध है।

१२०. शकारान्त प्रातिपदिक—वैदिक भाषा में ६० से अधिक शकारान्त प्रातिपदिक मिलते हैं और सभी धातुज हैं। इन में से ९ प्रातिपदिक एकाच् हैं और शेष समासों के उत्तरपद में आते हैं। शकारान्त प्रातिपदिक √दाश् "उपासना करना", √दिश् "आदेश करना" प्रभृति लगभग एक दर्जन धातुओं से बने कृदन्त शब्द हैं और अकेले √दृश् "देखना" धातु से लगभग २० प्रातिपदिक बनते हैं। लगभग ४० प्रातिपदिक पुं० में, २० स्त्री० में तथा आधा दर्जन नपुं० में प्रयुक्त होते हैं और कतिपय प्रातिपदिक विशेषणों के रूप में आते हैं। प्रथ० द्विती० के द्वि० व० में नपुं० का कोई रूप नहीं मिलता है जो पुं० तथा स्त्री० के रूपों से भिन्न हो सकता है। इस लिये तीनों लिङ्गों में शकारान्त प्रातिपदिकों के रूप समान बनते हैं। निम्नलिखित एकाच् शकारान्त प्रातिपदिक स्त्री० में प्रयुक्त होते हैं—दिश् "दिशा", दाश् "उपासना", दृश् "दृष्टि", नश् "रात्रि", पश् "दृष्टि", पिश् "अलंकार", प्राश् "विवाद", विश् "बस्ती या प्रजा", वृश् "अङ्गुलि"।

जकारान्त प्रातिपदिकों (अनु० १०८) की भांति मूल प्रकृति के अनुसार शकारान्त प्रातिपदिक भी दो वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) पूर्वकालीन तालव्य श् वाले प्रातिपदिक और (२) उत्तरकालीन तालव्य श् वाले प्रातिपदिक।

पदान्त में तथा भकारादि विभक्तियों से पूर्व पूर्वकालीन तालव्य श् का ट् बनता है, परन्तु दिश् "दिशा" तथा दृश् "दृष्टि" के श् का क् बनता है और स० व० के सु से पूर्व भी क् बनता है। स० व० के सु से पूर्व श् के मूर्धन्यत्व का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। उपलब्ध रूपों के आधार पर विश् के रूप इस प्रकार बनेंगे—

प्रथ० ए० विट् ; द्वि० विशा, विशौ; व० विशः।
द्विती० ए० विशम् ; द्वि० विशा, विशौ; व० विशः।
तृ० ए० विशा ; व० विड्भिः।
च० ए० विशे; व० विड्भ्यः।

पं० ए० विशः ।

प० ए० विशः ; ब० विशाम् ।

स० ए० विशि ; ब० विक्षु ।

विशेष—कीदृश्, ईदृश्, अन्यादृश् इत्यादि जिन समासों के उत्तरपद में -दृश् आता है उन के प्रथ० ए० के रूप में अन्त में कहीं कहीं ङ् हो जाता है; पाणिनि के अनुसार प्रथ० ए० की विभक्ति से पूर्व इन को नुम् का आगम हो जाता है[५२]; यथा—कीदृङ्, ईदृङ्, सदृङ् तथा अन्यादृङ्। परन्तु उत्तरकालीन भाषा में यह प्रवृत्ति कम होती गई है और -दृश् के श् का क् मिलता है; यथा—ईदृक् (अ०)। निम्नलिखित शकारान्त प्रातिपदिकों के रूप विश् की भांति बनते हैं—

पुं० प्रातिपदिक—स्पश् तथा वि-ष्पश् "गुप्तचर"।

स्त्री० प्रातिपदिक—पश् "दृष्टि", विपाश् "व्यास नदी"।

उपर्युक्त पांच प्रातिपदिकों को छोड़ कर शेष सब शकारान्त प्रातिपदिकों का अन्तिम श् प्रथ० ए०, स० ब० (सु) तथा भकारादि विभक्तियों से पूर्व कण्ठ्य स्पर्श में परिणत हो जाता है।

दिवि-स्पृश् "द्युलोक का स्पर्श करने वाला" पुं० के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० ए० दिवि-स्पृक् ; द्वि० दिवि-स्पृशा; ब० दिवि-स्पृशः ।

द्विती० ए० दिवि-स्पृशम् ; द्वि० दिवि-स्पृशा ।

तृ० ए० दिवि-स्पृशा ।

च० ए० दिवि-स्पृशे ।

प० ए० दिवि-स्पृशः ।

स० ए० दिवि-स्पृशि ।

पुरोडाश् के रूप—पुरोडाश् का प्रथ० ए० पुरोडाः बनता है[५३]। ऋ० में पुरोळाः रूप दो बार मिलता है। द्विती० ए० में इस का साधारण रूप पुरोळाशम् बनता है।

१२१. **षकारान्त प्रातिपदिक**—√द्विष् इत्यादि षकारान्त धातुओं से बने हुए कुछ धातुज षकारान्त प्रातिपदिक द्विष् "द्वेष करने वाला" इत्यादि मिलते हैं और कुछ षकारान्त प्रातिपदिक ऐसे हैं जिन की व्युत्पत्ति पूर्णतया निश्चित नहीं है। इष् "अन्न" स्त्री०, त्विष् "आवेश, प्रकाश" स्त्री०, द्विष् "द्वेष करने वाला या द्वेष" स्त्री० पुं, रिष् "चोट" स्त्री०, उष् "उषा" स्त्री०, पृक्ष् "तृप्ति" स्त्री०, दुधृष् "धृष्ट" वि०, इत्यादि षकारान्त प्रातिपदिक स्वतन्त्र रूप से मिलते हैं। परन्तु बहुत से षकारान्त प्रातिपदिक ऐसे हैं, जो समासों के उत्तरपद में आते हैं। ऐसे षकारान्त प्रातिपदिक प्रायेण √द्विष् "द्वेष करना", √उक्ष् "सींचना", √मुष् "चुराना", √धृष् "उत्साह दिखलाना", √वृष् "वर्षा करना" इत्यादि धातुओं से बने कृदन्त शब्द हैं।

रूप-रचना—प्रथ० ए० तथा स० व० (सु) की विभक्तियों से पूर्व इन प्रातिपदिकों का अन्तिम ष् साधारणतया ट् में परिणत हो जाता है और भकारादि विभक्तियों से पूर्व ऐसे ट् का ड् बन जाता है। द्विष् से बने हुए निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० ए० द्विट्; द्वि० द्विषा; ब०. द्विषः।
द्विती० ए० द्विषम्; द्वि० द्विषा; ब०. द्विषः (३९ बार),
द्विषः (४ बार ऋ० में)।
तृ० ए० द्विषा; ब० द्विड्भिः।
च० ए० द्विषे।
पं० ष० ए० द्विषः; ष० ब० द्विषाम्।

विशेष—दुधृष् का प्रथ० ए० का रूप दुधृक् बनता है[५४]। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि वेद में दुधृक् पद क्रि० वि० के रूप में प्रयुक्त होता है। अनक् "अन्धा" (ऋ० २, १५, ७) पद का समाधान करने के लिये पाश्चात्य विद्वान् अनक्ष् (अन्+अक्ष् "आंख") प्रातिपदिक मान कर पदान्त में संयोगान्त ष् का लोप दिखलाते हैं[५५]।

१२२. **सकारान्त प्रातिपदिक**—वैदिकभाषा में चालीस से अधिक सकारान्त प्रातिपदिक मिलते हैं और इन में से अधिकतर कृदन्त शब्द हैं। परन्तु

कुछ सकारान्त प्रातिपदिक ऐसे हैं जिन की व्युत्पत्ति पूर्णतया निश्चित नहीं है। अविकार्यङ्ग सकारान्त प्रातिपदिकों को रूपरचना के विचार से निम्नलिखित पांच वर्गों में विभक्त किया जा सकता है— (१) -अस् अन्त वाले प्रातिपदिक, (२) -आस् अन्त वाले प्रातिपदिक, (३) -इस् अन्त वाले प्रातिपदिक, (४) -उस् अन्त वाले प्रातिपदिक, (५) -ओस् अन्त वाले प्रातिपदिक।

(क) -अस् अन्त वाले प्रातिपदिक— -अस् अन्त वाले लगभग सभी प्रातिपदिक नपुं० में प्रयुक्त होते हैं और इन के धातुसम्बन्धी अक्षर पर उदात्त रहता है। परन्तु जब ऐसे सकारान्त प्रातिपदिक समासों के उत्तरपद में विशेषण के रूप में आते हैं, तब नपुं० के अतिरिक्त पुं० तथा स्त्री० में भी इन के रूप बनते हैं; यथा—मनस् "मन" नपुं०, परन्तु सु-मनाः "अच्छे मन वाला" स्त्री० पुं०, सु-मनः "अच्छे मन वाला" नपुं०।

-अस् अन्त वाले कुछ ऐसे पुं० तथा वि० प्रातिपदिक मिलते हैं जिन के अन्तिम अच् पर उदात्त रहता है; यथा—रक्षस् "राक्षस" पुं० (ऋ० तथा अ०); अपस् "कर्मशील" वि० (परन्तु अपस् "कर्म" नपुं०)। अप्सरस् "अप्सरा" तथा उषस् "उषा" स्त्री० प्रातिपदिक भी अन्तोदात्त हैं।

रूप-रचना—नपुं० की प्रथ० तथा द्विती० विभक्तियों के रूपों को छोड़ कर शेष सब विभक्तियों में तीनों लिङ्गों के रूप सर्वथा समान बनते हैं। नपुं० के प्रथ० तथा द्विती० ए० में साधारण नियम के अनुसार विभक्ति (स्) का लोप हो जाता है और द्वि० में ई विभक्ति (पा० ७, १, १९) प्रातिपदिक के साथ जुड़ जाती है। परन्तु प्रथ० तथा द्विती० के ब० में इ विभक्ति (पा० ७, १, २०) से पूर्व अङ्ग की उपधा के अ के साथ न् (पा० ७, १, ७२ नुम्) जोड़ कर अ का दीर्घ बना दिया जाता है (पा० ६, ४, ८); यथा—मनः, मनसी, मनांसि। पुं० तथा स्त्री० में प्रथ० ए० की विभक्ति से पूर्व -अस् अन्त वाले प्रातिपदिक की उपधा के अ का दीर्घ बन जाता है[५५]; यथा—रक्षाः "राक्षस", उषाः।

भकारादि विभक्तियों से पूर्व -अस् का ओ बन जाता है (अनु० ५७); यथा—अपोभिः। सम्बुद्धि में उपधा-दीर्घत्व नहीं होता है।

नपुं० प्रातिपदिक—-अस् अन्त वाले प्रमुख नपुं० प्रातिपदिक ये हैं—अंहस् "दुःख", अञ्जस् "अञ्जन", अनस् "छकड़ा", अनेहस् "असपत्न", अन्धस् "अन्धकार तथा ओषधि", अपस् "कर्म", अपस् "कर्मशील" वि०, अप्नस् "सम्पत्ति तथा कर्म", अप्सस् "गुह्याङ्ग", अम्भस् "जल", अयस् "धातु (लोहा)", अर्णस् "रुधिर", अवस् "सहायता, अनुग्रह", आगस् "पाप", आपस् "धार्मिक कृत्य", उरस् "छाती", ऊधस् "आपीन", एनस् "पाप", ओकस् "निवास-स्थान", ओजस् "बल", ओहस् "वहन-साधन", क्षोदस् "जलौघ", चनस् "आनन्द", चेतस् "चेतना, बुद्धि", चक्षस् "कान्ति", छन्दस् "छन्द", जवस् "शीघ्र-गति", जंहस् "मार्ग", जुवस् "शीघ्रता", तपस् "गर्मी", तमस् "अन्धकार", तरस् "शीघ्र-गति", तेजस् "तेज", दंसस् "अद्‌भुत शक्ति या कर्म", दुवस् "उपासना", द्रविणस् "धन", द्वेषस् "द्वेष", नभस् "नभ", नमस् "नमस्कार", पक्षस् "पक्ष", पयस् "दुग्ध", पाजस् "बल", पाथस् "स्थान", पीवस् "चर्बी", पेशस् "अलङ्कार", प्रयस् "उपभोग", भर्गस् "तेज", मयस् "प्रसन्नता", महस् "महत्ता", महस् "बड़ा", मृधस् "युद्ध, घृणा", मेदस् "चर्बी", यशस् "यश", रजस् "अन्तरिक्ष, लोक", रपस् "चोट, रोग", रभस् "बल, साहस", राधस् "दान, अनुग्रह", रेक्णस् "धन", रेतस् "प्रस्रवण", रेपस् "कलङ्क", रोधस् "किनारा", वक्षस् "छाती", वचस् "वाणी", वयस् "पक्षी, भोजन", वरिवस् "स्थान", वर्चस् "तेज", वपस् "रूप", वासस् "वस्त्र", वाहस् "हविः", वेदस् "धन", वेपस् "कम्पन", व्यचस् "विस्तार", शर्धस् "सेना, समूह", शवस् "बल", शिरस् "सिर", शेपस् "सन्तति", श्रवस् "कीर्ति", सदस् "स्थान", सनस् "प्राप्ति", सरस् "सरोवर", सहस् "बल", स्रोतस् "जलधारा", हरस् "ज्वाला", हेळस् "क्रोध, घृणा", हेषस् "शक्ति", ह्वरस् "कुटिलता"।

अपस् "कर्म" नपुं० तथा अपस् "कर्मशील" पुं० स्त्री० वि० के रूप—

इन के उपलब्ध रूप इस प्रकार बनते हैं—

प्रथ० ए० अपः, अपाः; द्वि० अपसी, अपसा, अपसौ;
व० अपांसि, अपसः।

सम्बुद्धि अपः।

द्वितीय० ए० अपः, अपसम्; द्वि० तथा ब० प्रथ० के समान।

तृ० ए० अपसा, अपसा; ब० अपोभिः, अपोभिः।

च० ए० अपसे, अपसे; द्वि० अपोभ्याम्;
ब० अपोभ्यः, अपोभ्यः।

पं० ए० अपसः, अपसः।

ष० द्वि० अपसोः; ब० अपसाम्, अपसाम्।

स० ए० अपसि, अपसि; ब० अपस्सु, अपस्सु।

विशेष—प्रथ० द्विती० ए० में कतिपय नपुं० प्रातिपदिकों की उपधा के अ का दीर्घ रूप मिलता है[७]; यथा—देव-व्यचाः (बर्हिः ऋ० ३, ४, ४), द्वि-बर्हाः (वयः ऋ० १, ७१, ६), वीर-पेशाः (द्रविणम् ऋ० ४, ११, ३), गूर्त-वचाः (ब्रह्म ऋ० १०, ६१, १); ऊर्णम्रदाः (बर्हिः ऋ० ५, ५, ४), विश्व-व्यचाः (शर्म अ० ६, ७, १५), सुप्रथाः (शर्म वा० सं० १८, ५४), विष्पर्धाः (छन्दः वा० सं० १५, ५), सुमनाः (तै० सं० ४, ५, १, २)। ऐसे सब रूप समासों के उत्तरपद में मिलते हैं और पाश्चात्य विद्वानों ने इस के लिये अनेक समाधान सुझाये हैं। एक समाधान यह है कि पुं० रूपों के प्रभाव से ऐसे रूप नपुं० में आये हैं और दूसरा समाधान यह है कि ऐसे रूप वास्तव में आकारान्त हैं और इन के अन्त में विसर्ग लुप्त है। ये समाधान विद्वानों को स्वीकार्य नहीं हैं।

पुं० प्रातिपदिक—-अस् अन्त वाले अधिकतर पुं० प्रातिपदिक विशेषण हैं। -अस् अन्त वाले प्रमुख पुं० प्रातिपदिक ये हैं—अङ्गिरस् (अग्नि का एक नाम), दमूनस् "गृह्य", नोधस् (एक ऋषि का नाम), यशस् "यशस्वी", वेधस् "विधाता", जात-वेदस् "प्राणियों को जानने वाला" (अग्नि), प्रचेतस् "सावधान", रिशादस् "शत्रुनाशक", सुमनस्

"अच्छे मन वाला", भियस् "डर", परीणस् "प्रभूति", दुवस् "उपासक", तोशस् "वर्धक?", सजोषस् "संयुक्त"। अनेक पाश्चात्य विद्वान् चन्द्रमस् को चन्द्र तथा मास् का समास मानते हैं[५८]।

विशेष—प्रथ० द्वि० में तोशस् की उपधा का दीर्घ हो जाता है; यथा—तोशासा (ऋ० ८, ३८, २)। उशनस् (एक ऋषि का नाम), अनेहस् "असपत्न" तथा पुरु-दंसस् "बहुत से अद्भुत कर्मों वाला" के प्रथ० ए० में अङ्ग तथा विभक्ति के स् का लोप माना जाता है[५९]; यथा—उशना (ऋ०, तै० सं०), अनेहा (ऋ० १०, ६१, १२)। पुरुदंसा रूप द्वि० में अवश्य मिलता है (दे० ऋ० ७, ७३, १) जिसे ग्रासमैन पुरुदंस प्रातिपदिक का रूप मानता है। परन्तु प्रथ० ए० में इस का कोई रूप उपलब्ध नहीं होता है। द्विती० ए० में पुरुदंसम् (ऋ०, वा० सं०) रूप मिलता है। स्ववस् "धनवान्" तथा स्वतवस् "स्वयं शक्तिमान्" के प्रथ० ए० के रूप क्रमशः स्ववान् तथा स्वतवान् बनते हैं और च० व० में स्वतवद्भ्यः (वा० सं० २४, १६) रूप मिलता है[६०]। प्रथ० व०, द्विती० ए०, द्विती० व०, तृ० ए० इत्यादि अजादि विभक्तियों से पूर्व वेद में कतिपय प्रातिपदिकों के अन्तिम 'स्' का लोप माना जाता है[६१]; यथा—वेधस् का द्विती० ए० वेधाम् (ऋ० ९, २६, ३); महस् का द्विती० ए० महाम्; नवेदस् "ज्ञाता" का प्रथ० व० नवेदाः (ऋ० १, १६५, १३); सजोषस् का प्रथ० व० सजोषाः; अङ्गिरस् का प्रथ० व० अङ्गिराः (ऋ० १, ८३, ४)। सर्वनामस्थान (Strong cases) से पूर्व उक्थशस् "स्तोत्र कहने वाला" की उपधा के अ का दीर्घ बन जाता है[६२]; यथा—उक्थशासम् (ऋ० १०, १०७, ६), उक्थशासा (ऋ० २, ३९, १); उक्थशासः (ऋ० ४, २, १६)। परन्तु पपा० में सर्वत्र उपधादीर्घ का अभाव दिखलाया गया है। इस लिये कतिपय विद्वान् इसे छान्दसदीर्घत्व मानते हैं।

स्त्री० प्रातिपदिक—स्त्री० में प्रयुक्त होने वाले प्रातिपदिक नपुं० तथा पुं० की तुलना में बहुत कम हैं। प्रमुख स्त्री० प्रातिपदिक ये हैं—आशस् "आशा", उषस् "उषा", अप्सरस् "अप्सरा", सुपेशस् "अच्छी

प्रकार अलंकृत", ध्वरस् "ठगने वाली", जरस् "बुढापा", वृभस् "वृद्धि"। स्त्री० में प्रयुक्त होने वाले अधिकतर प्रातिपदिक विशेषणात्मक (बहुव्रीहि) समास हैं; यथा—अरेपस् "निष्कलङ्क", ऊर्णम्रदस् "ऊन के समान मृदु" इत्यादि।

विशेष—ऋ० में द्विती० ए०, प्रथ० द्विती० द्वि० तथा प्रथ० ब० के कुछ रूपों में उषस् की उपधा का दीर्घ मिलता है; यथा—उषासम् (११ बार) तथा उषसम् (३३ बार); उषासा (३ बार) तथा उषसा (४ बार), उषासः (१४ बार) तथा उषसः (४१ बार)। परन्तु पदपाठ में सर्वत्र उपधादीर्घत्व का अभाव दिखलाया गया है। एक बार ष० ए० में उपधादीर्घत्व मिलता है; यथा—उषासः (ऋ० १०, ३९, १), परन्तु पपा० उषसः। पाश्चात्य विद्वान् इस उपधादीर्घत्व को छान्दस (Metrical) मानते हैं[१३]। भकारादि विभक्तियों से पूर्व उषस् के स् का द् बन जाता है (दे० अनु० ७८); यथा—उषस् + भिः = उषद्भिः (ऋ० १, ६, ३)।

कतिपय पाश्चात्य विद्वान् आशाम् (द्विती० ए०), उषाम् (द्विती० ए०), जराम् (द्विती० ए०), अप्सराम् (द्विती० ए०), उषाः (द्विती० ब० ऋ० ९, ४१, ५) इत्यादि रूपों में प्रातिपदिक के स् का लोप मानते हैं[१४], परन्तु ग्रासमैन प्रभृति विद्वान् इन रूपों में आकारान्त प्रातिपदिक की कल्पना करते हैं[१५]।

(ख) -आस् अन्त वाले प्रातिपदिक— -आस् अन्त वाले प्रातिपदिक बहुत थोड़े हैं। मास् "मास" को छोड़ कर अन्य प्रातिपदिकों के रूप बहुत कम मिलते हैं।

पुं० प्रातिपदिक—प्रमुख पुं० प्रातिपदिक ये हैं—ज्ञास् "ज्ञाति", मास् "मास", शास् "शासक", सुदास् "अच्छा दाता", अयास् "गमनशील" वि०, सुभास् "अच्छी प्रकार चमकने वाला"। मास् से बने हुए निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० ए० माः ; द्वि० मासा; ब० मासः।
द्विती० ए० मासम् ; द्वि० मासा; ब० मासः।

तृ० ए० मासा; ब० माद्भिः ।

च० ए० मासे; ब० माद्भ्यः (अ०) ।

पं० ए० मासः; ब० माद्भ्यः (अ०) ।

ष० ए० मासः; द्वि० मासोः; ब० मासाम् ।

स० ए० मासि; द्वि० मासोः (अ०, तै० सं०); ब० मास्सु (अ०) ।

विशेष—भकारादि विभक्तियों से पूर्व मास् का स् द् में परिणत हो जाता है (दे० अनु० ७८) । पा० (६, १, ६३) के मतानुसार, शस्प्रभृति विभक्तियों से पूर्व **मास** प्रातिपदिक का **मास्** बनता है । परन्तु आधुनिक विद्वानों के मतानुसार **मास्** प्रातिपदिक प्राचीनतर है और कालान्तर में मास ने इस का स्थान ग्रहण कर लिया[६६] ।

स्त्री० प्रातिपदिक—अज्ञास् "ज्ञाति-हीन", कास् "खांसी" ।

विशेष—वेदों में नासिकावाचक **नस्** तथा **नास्** से बने हुए रूप मिलते हैं । ग्रासमैन ने अपने कोश में **नस्** तथा **नासा** प्रातिपदिक माने हैं । कतिपय विद्वान् **नास्** प्रातिपदिक को स्वीकार करके **नस्** को उस का अशक्ताङ्ग (Weak stem) मानते हैं[६७] । ह्विटने **नस्** प्रातिपदिक मान कर रूपों का समाधान करता है[६८] । पा० ६, १, ६३ के अनुसार शस्प्रभृति विभक्तियों से पूर्व **नासिका** के स्थान पर **नस्** आता है ।

नपुं० प्रातिपदिक—भास् "प्रकाश", मास् "मांस"[६९], आस् "मुख" । इन से बने हुए निम्नलिखित रूप मिलते हैं और तृ० ए० प्रभृति विभक्तियों में मुखवाचक आसन् शब्द के रूप **आस्** तथा आस्य के रूपों के पूरक हैं[७०]—

प्रथ० ए० भाः, माः ।

तृ० ए० भासा, आसा, आस्ना ।

च० ए० भासे, आस्ने ।

पं० ए० आसः, आस्नः ।

स० ए० आसनि, आसन् ।

(ग) **-इस् अन्त वाले प्रातिपदिक**—-इस् अन्त वाले अधिकतर प्रातिपदिक नपुं० में मिलते हैं और विशेषणात्मक (बहुव्रीहि) समासों के

उत्तरपद में आने वाले कतिपय प्रातिपदिक पुं० में प्रयुक्त होते हैं। केवल आशिस् "आशीर्वाद" तथा स्व-शोचिस् "स्वयं ज्वलित" के रूप स्त्री० में बनते हैं। यद्यपि आशिस् का अन्तिम -इस् प्रत्यय का नहीं है और √शास् धातु की उपधा के विकार से बना है, तथापि -इस् अन्त वाले प्रातिपदिकों से रूपसाम्य है। प्रथ० ए० तथा स० व० में और भकारादि विभक्तियों से पूर्व इस की उपधा का अच् दीर्घ हो जाता है (दे० टि० ४०) और भकारादि विभक्तियों से पूर्व स् का र् बन जाता है; यथा—प्रथ० ए० आशीः, आशीर्भिः, आशीःषु (टि० ४१)। शेष रूप साधारण हैं; यथा—आशिषम्, आशिषा, आशिषः, आशिषाम्।

पुं० प्रातिपदिक—पुं० में प्रायेण बहुव्रीहि समास से बने प्रातिपदिक हैं जिन के उत्तरपद में ज्योतिस्, शोचिस्, बर्हिस् इत्यादि शब्द आते हैं; यथा—चित्र-ज्योतिस् "चमकती हुई ज्योति वाला", शुक्र-शोचिस् "श्वेत ज्वाला वाला", जीव-बर्हिस् "ताज़ा बर्हिस् वाला" इत्यादि।

अजादि विभक्तियों से पूर्व प्रातिपदिक के अन्तिम स् का ष् बन जाता है, भकारादि विभक्तियों से पूर्व स् का र् बन जाता है और स० व० में प्रातिपदिक के अन्तिम स् का ष् और विभक्ति के सु का षु बन जाता है; यथा—प्रथ० ए० शुक्र-शोचिः; द्विती० ए० शुक्र-शोचिषम्; च० ब० ऊर्ध्व-बर्हिर्भ्यः।

नपुं० प्रातिपदिक—प्रमुख नपुं० प्रातिपदिक ये हैं—अर्चिस् "ज्वाला", क्रविस् "कच्चा मांस", छदिस् "आच्छादन", छर्दिस् "बाड़", ज्योतिस् "प्रकाश", वर्तिस् "घेरा या घर", व्यथिस् "मार्ग", शोचिस् "ज्वाला", सर्पिस् "पिघला हुआ घी", हविस् "यज्ञिय द्रव्य", बर्हिस् "यज्ञिय घास"।

प्रथ० द्विती० द्वि० तथा ब० और द्विती० ए० को छोड़ कर शेष विभक्तियों में नपुं० तथा पुं० के रूप समान बनते हैं। उपलब्ध रूपों के आधार पर शोचिस् नपुं० के रूप इस प्रकार बनेंगे—

प्रथ० द्विती० ए० शोचिः; ब० शोचींषि।
तृ० ए० शोचिषा; ब० शोचिर्भिः।

च० ए० शोचिषे; ब० शोचिर्भ्यः।
पं० ष० ए० शोचिषः; ष० ब० शोचिषाम्।
स० ए० शोचिषि; ब० शोचिष्षु।

(घ) -उस् अन्त वाले प्रातिपदिक— -उस् अन्त वाले प्रातिपदिक अधिकतर नपुं० में प्रयुक्त होते हैं और बहुव्रीहि समासों के उत्तरपद में आने वाले अनेक नपुं० प्रातिपदिकों का प्रयोग पुं० में भी होता है। पुं० में कतिपय कृदन्त प्रातिपदिक भी मिलते हैं। बहुव्रीहि समासों के उत्तरपद में आने वाले कुछ प्रातिपदिकों के रूप स्त्री० में चलते हैं। अरुस्, चक्षुस्, तपुस्, वपुस् ये चार नपुं० प्रातिपदिक पुं० विशेषणों के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। जनुस् पुं० तथा नपुं० में आता है।

-उस् अन्त वाले प्रातिपदिकों के रूप सर्वथा -इस् अन्त वाले प्रातिपदिकों के सदृश बनते हैं। अजादि विभक्ति तथा स० ब० (सु) से पूर्व स् का ष् बनता है और भकारादि विभक्तियों से पूर्व इस का र् बनता है। नपुं० प्रथ० द्वितीं० द्वि० तथा ब० और द्वितीं० ए० को छोड़ कर शेष विभक्तियों में तीनों लिङ्गों के रूप समान बनते हैं।

स्वर-भेद—नपुं० के कृदन्त प्रातिपदिकों का उदात्त जनुस् "जन्म" को छोड़ कर शेष सब में धातुसम्बन्धी अक्षर पर रहता है। नहुस् तथा मनुस् को छोड़ कर शेष पुं० प्रातिपदिकों का उदात्त प्रत्यय के अक्षर पर रहता है।

पुं० प्रातिपदिक—प्रमुख पुं० प्रातिपदिक ये हैं—चक्षुस् "देखने वाला" वि०, वपुस् "सुन्दर" वि०, विदुस् "सावधान" (यह उकारान्त प्रातिपदिक भी हो सकता है), जनुस् "जन्म", तपुस् "गर्म" वि०, वनुस् "उत्सुक" वि०, नहुस् "पड़ोसी", मनुस् "मनुष्य", जयुस् "विजयी"। -आयुस् उत्तरपद वाले अनेक बहुव्रीहि समास पुं० में प्रयुक्त होते हैं; यथा—दीर्घायुस् "दीर्घ आयु वाला", शतायुस् "सौ वर्ष की आयु वाला" इत्यादि।

स्त्री० प्रातिपदिक—स्त्री० में निम्नलिखित दो विशेषण तथा चार बहुव्रीहि समास मिलते हैं—चक्षुस् "देखने वाली", तपुस् "गर्म", अघोरचक्षुस्

"वह स्त्री जिस की दृष्टि घोर नहीं है", चित्रायुस् (कुन्या) "विचित्र जीवनशक्ति वाली", हृदेचक्षुस् (श्रेणिः ऋ० १०, ९५, ६) "सरोवर में प्रतिविम्बित ?", गोवपुस् "गायों की आकृति वाली"।

नपुं० प्रातिपदिक—प्रमुख नपुं० प्रातिपदिक ये हैं—अरुस् "घाव", आयुस् "आयु", चक्षुस् "आंख", जनुस् "जन्म", तपुस् "गर्मी", धनुस् "धनुष", परुस् "जोड़", यजुस् "यजन, यजुर्वेद का मन्त्र", वपुस् "सुन्दरता", शासुस् "आज्ञा", तरुस् "श्रेष्ठता"।

उपलब्ध रूपों के आधार पर चक्षुस् के रूप इस प्रकार बनेंगे—

प्रथ० द्विती० ए० चक्षुः, द्वि० चक्षुषी; ब० चक्षूंषि।
तृ० ए० चक्षुषा; ब० चक्षुर्भिः।
च० ए० चक्षुषे; द्वि० चक्षुर्भ्याम्; ब० चक्षुर्भ्यः।
पं० ए० चक्षुषः।
ष० ए० चक्षुषः; ब० चक्षुषाम्।
स० ए० चक्षुषि।

(ङ) -ओस् अन्त वाले प्रातिपदिक—दोस् "बाहु" तथा योस् "कल्याण" इन दो नपुं० प्रातिपदिकों के अन्त में -ओस् मिलता है। योस् का केवल प्रथ० ए० का रूप मिलता है। इसलिये कतिपय विद्वान् इसे अव्यय मानते हैं। यद्यपि कतिपय भारतीय व्याकरणों में दोषन् को दोष प्रातिपदिक का आदेश माना गया है[१], तथापि कैयट तथा आधुनिक विद्वान् दोषन् को दोस् का पूरक मानते हैं[२]। दोस् तथा दोषन् से बने हुए निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं—

प्रथ० द्विती० ए० दोः (अ०, शत० ब्रा०); द्वि० दोषी (कौशि०), दोषणी (अ०, मै० सं०, ऐ० ब्रा०)।
तृ० ए० दोष्णा (राजतरंगिणी ४, ४८१); द्वि० दोर्भ्याम् (या० गं० २५, ३); ब० दोर्भिः (मालविकाग्निमित्र)।
च० द्वि० दोषभ्याम् (तै० सं० ७, ३, १६, २)।
ष० ए० दोष्णः (शत० ब्रा० ३, ८, ३, १७); द्वि० दोष्णोः (राजतरंगिणी)।

स० ए० दोर्षिण (राजतरंगिणी), दोषणि- (अ० में अलुक् समास); ब० दोःषु (भा० पुरा० १, १५, १६)।

१२३. **हकारान्त प्रातिपदिक**—वैदिक भाषा में लगभग ८० हकारान्त प्रातिपदिकों के रूप मिलते हैं। आठ एकाच् प्रातिपदिकों को छोड़ कर शेष सभी हकारान्त प्रातिपदिक समास हैं और अधिकतर समासों के उत्तरपद में √द्रुह्, √वह् तथा √सह् धातुओं से बने हुए कृदन्त रूप मिलते हैं। अकेले √सह् धातु के योग से बनने वाले समासों की संख्या ३० से अधिक है। यद्यपि हकारान्त प्रातिपदिकों के रूप तीनों लिङ्गों में मिलते हैं, तथापि नपुं० प्रातिपदिकों की संख्या अत्यल्प है। पुरुस्पृह् "बहुत वाञ्छित या बहुत जनों द्वारा वाञ्छित" और मह् "बड़ा" इन दो प्रातिपदिकों के रूप नपुं० में मिलते हैं।

पूर्वोक्त नियम (दे० अनु० २५, ७३) के अनुसार पदान्त में तथा झलादि विभक्ति से पूर्व पूर्वकालीन तालव्य ह् का ढ् और उत्तरकालीन तालव्य ह् का घ् बनता है; यथा—तुराषाट् (प्रथ० ए०), पुरुस्पृक् (प्रथ० ए०)।

√वह् से बने हुए प्रातिपदिकों के लगभग सभी रूपों में और √सह् से बने हुए प्रातिपदिकों के कुछ रूपों में इन की उपधा के अ का दीर्घ हो जाता है[७१], और उपधादीर्घत्व होने पर प्रथ० ए० में और कहीं कहीं अन्यत्र सह् के स् का ष् बन जाता है[७४]; यथा—हव्यवाट् (प्रथ० ए०), हव्यवाहम् (द्विती० ए०), वाहे (च० ए०), सत्राषाट् (प्रथ० ए०), सत्राषाहम् (द्विती० ए०), पृतनाषाहम् (द्विती० ए०); परन्तु सदासहम् (द्विती० ए०)। परन्तु पदपाठ में √वह् से बने हुए प्रातिपदिकों के सब रूपों का उपधादीर्घत्व (वाह्-) दिखलाया गया है, जबकि √सह् से बने हुए प्रातिपदिकों के रूपों की उपधा का अच् (प्रथ० ए० को छोड़ कर) सर्वत्र ह्रस्व (सह्-) दिखलाया गया है।

मैक्डानल का यह मत पूर्णतया ग्राह्य नहीं है कि -वह् तथा -सह् जिन समासों के उत्तरपद में आते हैं उन समास-प्रातिपदिकों में शक्ताङ्ग (Strong stem) तथा अशक्ताङ्ग (Weak stem) का भेद होता है

और सर्वनामस्थान (Strong cases) से पूर्व -वह् तथा -सह् की उपधा का अ दीर्घ हो जाता है[७५]। वस्तुतः इन प्रातिपदिकों के विषय में शक्ताङ्ग तथा अशक्ताङ्ग का सिद्धान्त लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि कतिपय रूपों में सर्वनाम-स्थान (Strong cases) से पूर्व उपधादीर्घत्व का अभाव और असर्वनामस्थान (Weak cases) से पूर्व उपधादीर्घत्व मिलता है; यथा—प्रासहम्, विश्वासहम् (द्वितीο एο), सत्रासाहे (चο एο)। अत एव उक्त सिद्धान्त के आधार पर मैक्डानल द्वारा प्रदर्शित सह् प्रातिपदिक के अधोलिखित रूप पूर्णतया स्वीकार नहीं किये जा सकते[७६], क्योंकि वैदिक वाङ्मय में सह् के इन सब रूपों का अस्तित्व नहीं है और केवल कुछेक रूप मिलते हैं—

मैक्डानल द्वारा प्रदर्शित सह् के रूप[७७]

प्रथο तथा सम्बोधन एο पुंο स्त्रीο षाट्; द्विο पुंο स्त्रीο साहा, साहौ; द्विο नपुंο सही; बο पुंο स्त्रीο साहः।

द्वितीο एο पुंο स्त्रीο साहम्; द्विο पुंο स्त्रीο साहा, साहौ; नपुंο द्विο सही; बο पुंο सहः, सहः; बο स्त्रीο सहः।

तृο एο सहा।

चο एο सहे; बο षड्भ्यः।

पंο षο एο सहः; षο बο सहाम्।

सο एο सहि; बο षट्सु।

√दह्, √दुह्, √द्रुह् इत्यादि दकारादि धातुओं से बने हकारान्त प्रातिपदिकों का धातुसम्बन्धी द् प्रथο एο में ध् बन जाता है (देο अनुο ७२); यथा—उशदह्, गोदुह् तथा अभिद्रुह् का प्रथο एο क्रमशः उशधक्, गोधुक् तथा अभिध्रुक् बनता है।

पुंο प्रातिपदिक—प्रमुख पुंο प्रातिपदिक ये हैं—वाह् "वहन करने वाला", सह् "शत्रुओं को जीतने वाला", अभीषाह् "अधीन करने वाला", विश्वा-साह् "सब को अधीन करने वाला", सत्रासाह् "सदा अधीन करने वाला", पृतना-साह् "शत्रु-सेना को अधीन करने वाला", रथा-सह् "रथ को खींचने वाला", गोदुह् "गाय का दोहन करने वाला",

उश्दह् "उत्सुकता से जलता हुआ", अभिद्रुह् "द्रोह करने वाला", हव्य-वाह् "हवि का वहन करने वाला (अग्नि)", इन्द्र-वाह् "इन्द्र का वहन करने वाला"।

विशेष—पा० के अनुसार श्वेतवह् "इन्द्र" का प्रथ० ए० श्वेतवाः बनता है (दे० टि० ५३)। पा० ३, २, ७१ पर महाभाष्य के अनुसार इस के अन्य रूप श्वेतवाहौ, श्वेतवाहः, श्वेतवोभ्याम्, श्वेतवोभिः दिखलाये गये हैं। परन्तु इन रूपों के वैदिक उदाहरण मृग्य हैं।

स्त्री० प्रातिपदिक—प्रमुख स्त्री० प्रातिपदिक ये हैं—उष्णिह् (एक छन्द का नाम), गुह् "छिपने का स्थान", द्रुह् "शत्रु. राक्षस" (इस के कुछ प्रयोग पुं० के प्रतीत होते हैं), नह् "बन्धन", निह् "हनन करने वाली?", मिह् "धुन्ध, वर्षा", रुह् "अङ्कुर", सबर्दुह् "अमृत का दोहन करने वाली", उपानह् "जूती", परीणह् "घेरा", मनोमुह् "मन को मुग्ध करने वाली", प्रासह् "शक्ति"। सरह् प्रातिपदिक के विषय में देखिये अनु० १०५।

विशेष—प्रथ० ए० तथा स० ब० में नह् के ह् का त् बन जाता है और भकारादि विभक्तियों से पूर्व इस का ह् द् में परिणत हो जाता है[८]; यथा—उपानत् (वैखा० गृ० सू०); च० ब० नद्भ्यः (ऋ० १०, ६०, ६); परीणत् (तै० आ० ५, १, १) "स्थान-विशेष का नाम", उपानद्भ्याम् (ला० श्रौ०)।

मह् प्रातिपदिक के रूप—मह् "महान्, शक्तिशाली" विशेषण के रूप तीनों लिङ्गों में बनते हैं और पुं० तथा नपुं० में कहीं-कहीं अकारान्त प्रातिपदिक मह के रूप भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। स्त्री० में प्रायेण मह् का मही बन जाता है और ऋ० में मही से बने हुए बहुत से रूप मिलते हैं। धीरे-धीरे मह् प्रातिपदिक का ह्रास होता गया और उत्तरकालीन भाषा में यह प्रातिपदिक लुप्तप्राय हो गया। मह् के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० द्वि० मही (ऋ० १, १२१, ११)[९]; ब० महः (पुं०)।
द्विती० द्वि० मही (ऋ० ६, ६८, ३)[१०]; ब० महः (पुं०)।

तृ० ए० मुहा (स्त्री० नपुं०)।
च० ए० मुहे (पुं० स्त्री० नपुं०)।
पं० ए० मुहः (पुं० नपुं०)।
ष० ए० मुहः (पुं० नपुं०); व० मुहाम् (पुं०)।

ख. विकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिक

१२४. यद्यपि अविकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिकों के वर्णन में प्रसङ्गवश कुछ विकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिकों के रूपों का गौण विवेचन अनिवार्य है, तथापि वहां पर सब विकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिकों के रूपों का विस्तृत विवेचन वाञ्छनीय नहीं है। अत एव यहां पर विकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिकों के रूपों का पृथक् विवेचन किया जायगा।

(क) **विकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिकों का वर्गीकरण**—सब विकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिकों को दो मुख्य श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—(१) वे विकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिक जिन के अङ्ग में होने वाले विकार व्यापक नियमों का अनुसरण करते हैं; यथा— -अत्, -वत्, -मत्, -अन्, -इन्, -यस् (पा० ईयसुन्), -वस् तथा -अञ्च् अन्त वाले प्रातिपदिक (२) वे विकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिक जिन के अङ्ग में होने वाले विशेष विकार किसी नियम के अधीन नहीं आते हैं और प्रातिपदिकविशेष तक सीमित हैं; यथा—अनुड्वह् (पा० अनुड्ुह्), पुंस् इत्यादि। हम यहां पर सर्वप्रथम उन प्रातिपदिकों के रूपों का वर्णन करेंगे जिन के अङ्ग में नियमपूर्वक विकार होते हैं, और तदनन्तर अन्य प्रातिपदिकों का विवेचन किया जायगा।

(ख) **नियमित अङ्गविकारों का वर्गीकरण**—विकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिकों के अङ्गों में नियमपूर्वक होने वाले विकारों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—(१) सर्वनामस्थान (Strong cases) से पूर्व होने वाले विकार जिन के अनुसार शक्ताङ्ग (Strong stem) तथा अशक्ताङ्ग (Weak stem) का भेद किया जाता है; (२) असर्वनामस्थान या अशक्त विभक्तियों (Weak cases) से पूर्व होने वाले विकार; (३) अशक्त अजादि विभक्तियों से पूर्व भसंज्ञक

या अत्यशक्त अङ्ग (Weakest case) में होने वाले विकार (दे० अनु० १०१)। उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार जिन प्रातिपदिकों के अङ्ग में केवल सर्वनामस्थान से पूर्व विकार होता है उन के दो प्रकार के अङ्ग (शक्ताङ्ग तथा अशक्ताङ्ग) बनते हैं। इस लिये उन्हें द्व्यङ्गप्रातिपदिक कह सकते हैं। जिन प्रातिपदिकों के तीन प्रकार के अङ्ग (शक्ताङ्ग, अशक्ताङ्ग तथा अत्यशक्ताङ्ग) बनते हैं उन्हें त्र्यङ्गप्रातिपदिक कह सकते हैं। द्व्यङ्गप्रातिपदिकों के कुछ उदाहरण अविकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिकों के वर्णन में भी प्रस्तुत किये गये हैं। परन्तु वहां पर उन का वर्णन पूर्णतया गौण है।

द्व्यङ्गप्रातिपदिक

जिन प्रातिपदिकों के अन्त में -अत् (पा० शतृ), -वत्, -मत्, -इन्, या -यस् (पा० ईयसुन्) आए उन के अङ्ग में शक्त तथा अशक्त का भेद दृष्टिगोचर होता है।

१२५. **-अत् (शतृ) अन्त वाले प्रातिपदिक**—ऐसे प्रातिपदिकों के अन्त में -अत् (पा० शतृ) कृत्प्रत्यय आता है और इन के रूप केवल पुं० तथा नपुं० में बनते हैं। स्त्री० में ऐसे प्रातिपदिकों के आगे स्त्रीत्व-वाचक ई (पा० ङीप्) प्रत्यय जोड़ कर ईकारान्त प्रातिपदिकों के समान रूप बनाये जाते हैं। प्रथ० तथा द्विती० को छोड़ कर शेष सब विभक्तियों में पुं० तथा नपुं० के रूप सर्वथा समान बनते हैं।

शक्ताङ्ग की विशेषता—*सर्वनामस्थान से पूर्व शक्ताङ्ग की उपधा के आगे न् आगम जोड़ दिया जाता है*[८०]; यथा—अ॒दत् का द्विती० ए० अ॒दन्त॑म्। अशक्त विभक्तियों से पूर्व प्रातिपदिक के अङ्ग में कोई विकार नहीं होता है; यथा—स० ब० अ॒दत्सु॑।

स्वरवैशिष्ट्य—जिन प्रातिपदिकों के प्रत्ययसम्बन्धी अन्तिम अच् पर उदात्त रहता है उन का उदात्त असर्वनामस्थान की अजादि विभक्तियों के अच् पर चला जाता है; यथा—अ॒दत् का तृ० ए० अ॒दता॑। उपलब्ध रूपों के आधार पर अ॒दत् के रूप इस प्रकार बनेंगे—

अ॒दत् "भक्षण करता हुआ" के पुं० रूप

प्रथ० ए० अ॒दन् ; द्वि० अ॒दन्ता॑, अ॒दन्तौ॑; ब० अ॒दन्तः॑।

सम्बो० ए० अदन्; द्वि० अदन्ता, अदन्तौ; व० अदन्तः।
द्विती० ए० अदन्तम्; द्वि० अदन्ता, अदन्तौ; व० अदतः।
तृ० ए० अदता; व० अदद्भिः।
च० ए० अदते; द्वि० अदद्भ्याम्; व० अदद्भ्यः।
पं० ए० अदतः; व० अदद्भ्यः।
ष० ए० अदतः; द्वि० अदतोः; व० अदताम्।
स० ए० अदति; व० अदत्सु।

नपुं० रूप

प्रथ० द्विती० ए० अदत्; द्वि० अदती; व० अदन्ति।

-. य शत्रन्त प्रातिपदिक—जिन प्रातिपदिकों के रूप अदत् के सदृश बनते हैं उन में से कुछ प्रमुख प्रातिपदिक ये हैं—अर्चत्, इच्छत्, कृण्वत्, करिष्यत्, घ्नत् (√हन्), सत् (√अस्), जानत् (√ज्ञा), जनयत्, सीदत् (√सद्), सुन्वत् (√सु), शृण्वत् (√श्रु)।

. -अत् अन्त वाले वि० प्रातिपदिक—ऋहत् "दुर्बल", पृषत्, बृहत्, रुशत् "प्रकाशमान" इत्यादि विशेषणों के रूप भी इसी प्रकार बनते हैं। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि मूलतः ये विशेषण भी शत्रन्त प्रातिपदिक थे, परन्तु कालान्तर में इन के शतृ-विषयक अर्थ का लोप हो गया।

महत् के रूप—पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार मूलतः महत् भी √मह् (मूल √मघ्) धातु से बना हुआ शत्रन्त प्रातिपदिक था, परन्तु इस के रूपों में कुछ विशेषता आ गई। सर्वनामस्थान से पूर्व महत् की उपधा का अ दीर्घ हो जाता है[८], परन्तु सम्बुद्धि में उपधादीर्घत्व नहीं होता है। महत् के निम्नलिखित पुं० रूप मिलते हैं—

प्रथ० ए० महान्; द्वि० महान्ता, महान्तौ; व० महान्तः।
द्विती० ए० महान्तम्; द्वि० महान्ता, महान्तौ; व० महतः।
तृ० ए० महता; व० महद्भिः।
च० ए० महते; द्वि० महद्भ्याम्; व० महद्भ्यः।
पं० ए० महतः।
ष० ए० महतः; व० महताम्।
स० ए० महति; व० महत्सु।

भर्वत् के रूप—ब्राह्मणों तथा वेदाङ्गों में प्रयुक्त भर्वत् "आप" के रूप भी मुहत् की भांति बनते हैं। परन्तु शत्रन्त भर्वत् "होते हुए" (ऋ०) के रूप सर्वथा अर्दत् की भांति बनते हैं।

अपवाद—धातु के अभ्यस्त (द्वित्वयुक्त Reduplicated) रूप से बने हुए शत्रन्त प्रातिपदिकों के अङ्ग में सर्वनामस्थान से पूर्व भी कोई विकार नहीं होता है[८२]; यथा— √भी "डरना" से बने बिभ्यत् का प्रथ० ए० पुं० भी बिभ्यत् ही होगा। इसी प्रकार √दा से बने ददत् के निम्नलिखित रूप बनते हैं—

प्रथ० ए० पुं० नपुं० ददत् ; व० पुं० ददतः।
द्विती० ए० पुं० ददतम्; व० पुं० ददतः।

शेष विभक्तियों में इस के रूप अुदत् की भांति बनते हैं।

√जागृ, √शास् इत्यादि कतिपय अभ्यस्तसंज्ञक धातुओं के शत्रन्त प्रातिपदिकों (जाग्रत्, शासत्) के रूप भी द्वित्वयुक्त शत्रन्त प्रातिपदिक ददत् इत्यादि की भांति बनते हैं[८३]। इस प्रकार के अविकार्यङ्ग तकारान्त प्रातिपदिकों के लिये देखिये अनु० ११०।

१२६. **-मत्, -वत् अन्त वाले प्रातिपदिक**—जिन प्रातिपदिकों के अन्त में तद्धित प्रत्यय -मत् या -वत् (पा० मतुप्) आता है उन के शक्ताङ्ग की उपधा के आगे न् आगम जोड़ दिया जाता है (टि० ८०) और प्रथ० ए० पुं० में उपधा का अ दीर्घ हो जाता है (टि० ५६)। सम्बुद्धि में -मत् तथा -वत् के अन्तिम त् का स् (पा० 'रु') बन जाता है[८४]; *यथा—भानुमः (भानुमत्), मरुत्वः (मरुत्वत्)*। इन प्रातिपदिकों के रूप केवल पुं० तथा नपुं० में बनते हैं। परन्तु स्त्री० में इन के आगे ई प्रत्यय जोड़ कर ईकारान्त प्रातिपदिकों के समान रूप बनाये जाते हैं। गोमत् "गायों से सम्पन्न" पुं० प्रातिपदिक के निम्नलिखित रूप मिलते हैं, परन्तु कोष्ठकान्तर्गत रूप अन्य प्रातिपदिकों के उपलब्ध रूपों के आधार पर बनाये गये हैं—

प्रथ० ए० गोमान् ; (द्वि० गोमन्ता, गोमन्तौ); (व० गोमन्तः)।
(सम्बो० ए० गोमः)।

द्वितीं० ए० गोमन्तम्; व० गोमतः ।

तृ० ए० गोमता ; व० गोमद्भिः ।

च० ए० गोमते; व० (गोमद्भ्यः) ।

ष० ए० गोमतः; व० गोमताम् (अ०) ।

स० ए० गोमति; व० (गोमत्सु) ।

प्रथ० तथा द्विती० विभक्तियों को छोड़ कर शेष सब विभक्तियों में पुं० तथा नपुं० के रूप सर्वथा समान बनते हैं। प्रथ० द्विती० ए० में बहुत से नपुं० रूप मिलते हैं, परन्तु इन के द्वि० में नपुं० का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। व० में घृतवान्ति (ऋ० ९, ९६, १३) तथा पशुमान्ति (ऋ० ९, ९७, १) रूप मिलते हैं, परन्तु पदकार इन के उपधादीर्घत्व को हटा कर घृतवन्ति तथा पशुमन्ति रूप स्वीकार करता है।

-वत् अन्त वाले प्रातिपदिकों के रूप भी गोमत् की भांति बनते हैं।

१२७. **-इन् अन्त वाले प्रातिपदिक**—जिन प्रातिपदिकों के अन्त में -इन् आता है[८५], वे प्रायेण पुं० में उपलब्ध होते हैं और नपुं० में एक दर्जन से भी कम -इनन्त प्रातिपदिकों के रूप दृष्टिगोचर होते हैं। स्त्री० में -इन् के आगे ई जोड़ कर ईकारान्त रूप बना दिया जाता है; यथा—अश्विन् "अश्वों से सम्पन्न" का स्त्री० अश्विनी बनता है। प्रथ० ए० पुं० में -इनन्त प्रातिपदिकों की उपधा का इ दीर्घ हो जाता है[८६] और अन्तिम न् का लोप हो जाता है[८७]। प्रथ० ए० नपुं० में तथा हलादि विभक्तियों से पूर्व भी अन्तिम न् लुप्त हो जाता है (टि० ८७)। परन्तु सम्बुद्धि में अन्तिम न् का लोप नहीं होता है[८८]; यथा—वज्रिन् "वज्र धारण करने वाला"।

स्वर-वैशिष्ट्य—लगभग सभी -इनन्त प्रातिपदिकों के अन्तिम अच् पर उदात्त रहता है और सम्बोधनवर्जित किसी भी रूप में उदात्त अपने स्थान से विचलित नहीं होता है।

-इनन्त प्रातिपदिकों के उपलब्ध रूपों के आधार पर हुस्तिन् "हाथी" पुं० के रूप इस प्रकार बनेंगे—

प्रथ० ए० हुस्ती (ऋ०); द्वि० हुस्तिना, हुस्तिनौ;
व० हुस्तिनः (ऋ०)।

सम्बो० ए० हस्तिन्।

द्विती० ए० हुस्तिनम्; द्वि० हुस्तिना, हुस्तिनौ;
व० हुस्तिनः (वा० सं०)।

तृ० ए० हुस्तिना; द्वि० हुस्तिभ्याम्; व० हुस्तिभिः (ऋ०)।

च० ए० हुस्तिने; द्वि० हुस्तिभ्याम्; व० हुस्तिभ्यः (अ०, वा० सं०)।

पं० ए० हुस्तिनः।

ष० ए० हुस्तिनः; द्वि० हुस्तिनोः; व० हुस्तिनाम्।

स० ए० हुस्तिनि; द्वि० हुस्तिनोः; व० हुस्तिषु (अ०)।

विशेष—पाणिनि **पथिन्** प्रातिपदिक मान कर **पथिभ्याम्, पथिभिः** इत्यादि रूपों का समाधान करता है, परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इकारान्त पुथि प्रातिपदिक मान कर ऐसे रूपों का समाधान करते हैं (दे० अनु० १२९ ग)। पुथि से बने हुए पुथयः (तै० सं० ५, ७, २, ३), पुथिभिः (ऋ० इत्यादि), पुथीनाम् (ऋ० इत्यादि) तथा पुथिषु वैदिक रूप मिलते हैं।

नपुं० प्रातिपदिकों के रूप—नपुं० में केवल निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं—

प्रथ० ए० अनामि "न झुकने वाला", उभया-हुस्ति "दोनों हाथों से भरने वाला", त्सारि "गुप्त", पुतत्रि "पांखों वाला", वाजि "बलपूर्ण", शुक्रल्येषि "क्षीर का इच्छुक"।

तृ० ए० कीरिणा "स्तुति करते हुए द्वारा"।

ष० ए० प्रहोषिणः "आहुति देते हुए का"।

सुगन्धिना प्रभृति कतिपय रूप सन्दिग्ध हैं।

१२८. (क) -यस् अन्त वाले प्रातिपदिक—तुलनावाचक ईयस् या यस् प्रत्यय (दे० अनु० १९६ क) से बने हुए प्रातिपदिकों के रूप केवल पुं०

तथा नपुं॰ में बनते हैं और स्त्री॰ में ई प्रत्यय जोड़ कर इन्हें ईकारान्त प्रातिपदिक बना दिया जाता है; यथा—प्रेयस् "प्रियतर" का स्त्री॰ प्रेयसी बनता है। सर्वनामस्थान से पूर्व -यस् अन्त वाले प्रातिपदिकों की उपधा का अ दीर्घ हो जाता है (टि॰ ८१) और इस के आगे न् आगम जोड़ा जाता है (टि॰ ८०)। परन्तु सम्बुद्धि में उपधादीर्घत्व नहीं होता है। वेदों में इन का द्विवचनान्त रूप नहीं मिलता है और तृ॰, च॰, पं॰, स॰ के ब॰ का रूप भी उपलब्ध नहीं होता है।

स्वरवैशिष्ट्य—इस प्रकार के लगभग सभी प्रातिपदिकों के आदि अच् पर उदात्त रहता है और किसी भी विभक्ति में वह अपने स्थान से विचलित नहीं होता है।

पुं॰ में कनीयस् तथा श्रेयस् के रूप— -यस् अन्त वाले प्रातिपदिकों के उपलब्ध रूपों के आधार पर कनीयस् तथा श्रेयस् के रूप पुं॰ में इस प्रकार बनेंगे—

प्रथ॰ ए॰ कनीयान्, श्रेयान्; ब॰ कनीयांसः, श्रेयांसः।
द्विती॰ ए॰ कनीयांसम्, श्रेयांसम्; ब॰ कनीयसः, श्रेयसः।
तृ॰ ए॰ कनीयसा, श्रेयसा।
च॰ ए॰ कनीयसे, श्रेयसे।
पं॰ ष॰ ए॰ कनीयसः, श्रेयसः।
स॰ ए॰ कनीयसि, श्रेयसि।

नपुं॰ में कनीयस् तथा श्रेयस् के रूप—तृ॰ प्रभृति विभक्तियों में नपुं॰ तथा पुं॰ के रूप सर्वथा समान बनते हैं। मुख्य भेद निम्नलिखित रूपों में है—

प्रथ॰ द्विती॰ ए॰ कनीयः, श्रेयः; ब॰ कनीयांसि, श्रेयांसि।

सम्बुद्धि—पुं॰ का रूप ज्यायः (ऋ॰ ७, ३२, २४) निश्चय ही सम्बुद्धि में प्रयुक्त किया गया है, परन्तु ओजीयः (ऋ॰ १०, १२०, ४) के विषय में मतभेद है। पाश्चात्य विद्वान् इसे सम्बुद्धि का पुं॰ रूप मानते हैं, जब कि सायण इसे द्विती॰ ए॰ नपुं॰ का रूप मानता है। मैक्डानल ने इन रूपों के आधार पर सम्बुद्धि में कनीयः पुं॰ रूप की कल्पना की है[१०]।

प्रमुख प्रातिपदिक—प्रमुख प्रातिपदिक ये हैं—ऋजीयस् "ऋजुतर", ओजीयस् "बलवत्तर", ज्यायस् "अधिक शक्तिशाली", जवीयस् "शीघ्रतर", तव्यस् तथा तवीयस् "बलवत्तर", नव्यस् तथा नवीयस् "नवतर", नेदीयस् "समीपतर", दवीयस् "दूरतर", पन्यस् तथा पनीयस् "अधिक अद्भुत", भूयस् तथा भवीयस् "अधिक", मंहीयस् "अधिक दानशील", यजीयस् "अधिक यज्ञ करने वाला", वर्षीयस् "उच्चतर", वस्यस् तथा वसीयस् "अधिक अच्छा", सनीयस् "अधिक प्राप्त करने वाला", सह्यस् तथा सहीयस् "बलवत्तर"।

त्र्यङ्गप्रातिपदिक

१२८. (ख) **-वस् अन्त वाले प्रातिपदिक**—ऋ० में लगभग ७५ प्रातिपदिक ऐसे हैं जिनके अन्त में -वस् आता है। इन प्रातिपदिकों के लिये पाश्चात्य विद्वान् Perfect Participle Active संज्ञा का व्यवहार करते हैं और कहते हैं कि धातु के साथ -वांस् प्रत्यय जोड़ कर ऐसा प्रातिपदिक बनाया जाता है। पा० ७, १, ३६ के अनुसार √विद् के साथ शतृ-प्रत्यय का वसु आदेश जोड़ कर विद्वस् प्रातिपदिक बनाया जाता है, और पा० ३, २, १०७ के अनुसार धातुओं के आगे लिडादेशात्मक क्वसु प्रत्यय जोड़ कर चकृवस् इत्यादि अन्य प्रातिपदिक बनाये जाते हैं।

सर्वनामस्थान से पूर्व ऐसे प्रातिपदिकों की उपधा के आगे न् का आगम (टि० ८०) और उपधा के अच् का दीर्घ (टि० ८१) होता है। परन्तु सम्बुद्धि में नकारागम के बहुत कम उदाहरण मिलते हैं और अधिकतर वैदिक प्रयोगों में -वस् अन्त वाला सम्बो० ए० रूप मिलता है (टि० ८४)। व्यञ्जनादि अशक्त विभक्तियों (Weak cases) से पूर्व ऐसे अङ्ग (पा० पदसंज्ञक अङ्ग) के स् का द् बन जाता है[९१]। और अजादि विभक्तियों से पूर्व अत्यशक्त अङ्ग (Weakest stem पा० भसंज्ञक अङ्ग) के -वस् के व् का सम्प्रसारण होकर -उष् बन जाता है[९२]।

स्वरवैशिष्ट्य—इन प्रातिपदिकों के अन्तिम अच् पर उदात्त रहता है और सम्बोधन-वर्जित किसी विभक्ति में यह अपने स्थान से विचलित नहीं होता है।

पुं० तथा नपुं० रूप— -वस् अन्त वाले प्रातिपदिकों के रूप केवल पुं० तथा नपुं० में बनते हैं और स्त्री० में इन के अत्यशक्त अङ्ग के आगे ई प्रत्यय जोड़ कर ईकारान्त प्रातिपदिक बना दिया जाता है; यथा—जग्मिवस् "गया हुआ" से जग्मुषी और चकृवस् से चक्रुषी। प्रथ० तथा द्विती० विभक्ति को छोड़ कर शेष सब विभक्तियों में पुं० तथा नपुं० के रूप सर्वथा समान बनते हैं। ततन्वत् "दूर तक फैला हुआ" (ऋ० ६, २१, ३) तथा संवव्रुत्वत् "आवृत करने वाला" (ऋ० ५, ३१, ३) ये दो नपुं० रूप द्विती० ए० में मिलते हैं और प्रथ० द्विती० के अन्य वचनों में कोई निश्चित नपुं० प्रयोग नहीं मिलता है।

पुं० में चकृवस् "जो कर चुका है" तथा विद्वस् "जानता हुआ" के रूप— -वस् अन्त वाले प्रातिपदिकों से बने हुए उपलब्ध रूपों के आधार पर चकृवस् तथा विद्वस् के रूप इस प्रकार बनेंगे—

प्रथ० ए० चकृवान्, विद्वान्; द्वि० चकृवांसा, विद्वांसा[११];
ब० चकृवांसः, विद्वांसः।
द्विती० ए० चकृवांसम्. विद्वांसम्; द्वि० चकृवांसा, विद्वांसा;
ब० चक्रुषः, विदुषः।
तृ० ए० चक्रुषा, विदुषा; ब० चकृवद्भिः, विद्वद्भिः।
च० ए० चक्रुषे, विदुषे।
पं० ष० ए० चक्रुषः, विदुषः; ष० ब० चक्रुषाम्, विदुषाम्।

सम्बुद्धि—ऋ० में उपलब्ध पुं० सम्बुद्धि के चारों उदाहरणों में -वस् आता है; यथा—चिकित्वः "जानता हुआ", तितिर्वः "जो पार कर चुका है", दीदिवः "चमकता हुआ", मीढ्वः "दानशील"। परन्तु अ० ७, ९७, १ (=ऋ० ३, २९, १६) में चिकित्वः के स्थान पर चिकित्वन् रूप मिलता है। वैदिक प्रयोग के अनुसार सम्बुद्धि में चकृवः तथा विद्वः रूप बनाये जा सकते हैं, परन्तु उत्तरकालीन संस्कृत में विद्वन् प्रयोग का प्रचार है।

विशेष—(१) सर्वनामस्थान से पूर्व -वस् अन्त वाले प्रातिपदिक के अङ्ग को सम्प्रसारण होने के कुछ उदाहरण मिलते हैं; यथा—द्विती० ए० चक्रुषम्

(ऋ० १०, १३७, १; अ० ४, १३, १); प्रथ० व० अविभ्युषः (ऋ० १, ११, ५); द्विती० ए० प्रोषुषम् = प्रोषिवांसम् (शत० ब्रा० १२, ५, २, ८)। एमुषम् तथा भक्तिवांसः इत्यादि कतिपय रूप सन्दिग्ध हैं। महाभारत आदि में भी ऐसे प्रयोग मिलते हैं; यथा— प्रथ० द्वि० दिव्यास्त्रविदुषौ (महाभारत ४, ५८, २४), प्रथ० व० विदुषः (महाभारत वनपर्व), प्रथ० व० वेदविदुषः (बृहत्संहिता १६, २४)।

(२) जिन प्रातिपदिकों में -वस् से पूर्व इ (पा० इट्) आता है उन के भसंज्ञक अङ्ग (Weakest stem) का सम्प्रसारण होने पर इ का लोप हो जाता है[१४]; यथा—तस्थिवस् का ष० ए० तस्थुषः (ऋ० १, ११५, १)। इस प्रकार के कुछ प्रमुख प्रातिपदिक ये हैं—जज्ञिवस् (√ज्ञा "जानना" से), पपिवस् (√पा "पीना" से), ययिवस् (√या "जाना" से), ररिवस् (√रा "देना" से), ईयिवस् (√इ "जाना" से), जग्मिवस् (√गम् "जाना" से), पप्तिवस् (√पत् "उड़ना" से), प्रोषिवस् (प्र+वस् "रहना" से), विविश्वस् (√विश् "प्रवेश करना" से), ओकिवस् (√उच् "आनन्द लेना" से), सेदिवस् (√सद् "बैठना" से)।

१२९. **-अन्, -मन्, तथा -वन् अन्त वाले प्रातिपदिक**—जिन प्रातिपदिकों के अन्त में -अन्, -मन्, तथा -वन् आता है उन के रूप साधारणतया समान विधि से बनते हैं। इस लिये उन की रूप-रचना पर साधारण विचार करना आवश्यक है। ऐसे प्रातिपदिकों में -वन् अन्त वाले प्रातिपदिक सब से अधिक और -अन् अन्त वाले सब से कम हैं। -वन् अन्त वाले अधिकतर प्रातिपदिक कृदन्त विशेषण हैं और प्रायेण पुं० में प्रयुक्त होते हैं। लगभग एक दर्जन -वनन्त प्रातिपदिकों से बने हुए नपुं० रूप उपलब्ध होते हैं और स्त्री० रूप अत्यल्प हैं। -मन् अन्त वाले प्रातिपदिकों के रूप पुं० तथा नपुं० में मिलते हैं; पुं० प्रातिपदिक प्रायेण कर्तृवाचक और नपुं० प्रातिपदिक भाववाचक हैं; यथा—ब्रह्मन् पुं० "प्रार्थना करने वाला" (शाब्दिक—'वर्धक') और

ग्रह्मन् "प्रार्थना" (शाब्दिक—'वृद्धि')। समासों के उत्तरपद में आने वाले लगभग एक दर्जन -मनन्त प्रातिपदिक स्त्री० में प्रयुक्त होते हैं। -अन् अन्त वाले प्रातिपदिक अल्पसंख्यक हैं और इन का प्रयोग प्रायेण पुं० तथा नपुं० में मिलता है। लगभग आधा दर्जन -अनन्त प्रातिपदिकों के रूप स्त्री० में उपलब्ध होते हैं।

अङ्ग-विकार—सम्बुद्धिवर्जित सर्वनामस्थान से पूर्व उपर्युक्त प्रकार के प्रातिपदिकों के अङ्ग की उपधा का अ दीर्घ हो जाता है[१५]। परन्तु अर्यमन् आदि कतिपय प्रातिपदिकों के अङ्ग में यह विकार नहीं होता है। नपुं० के प्रथ० द्वितीॆ० ए० और पुं० के प्रथ० ए० में प्रातिपदिक का अन्तिम न् लुप्त हो जाता है और असर्वनामस्थान हलादि विभक्तियों (Weak cases) से पूर्व भी प्रातिपदिकों के अन्तिम न् का लोप हो जाता है (टि० ८७); यथा—कर्म, राजा, राजभिः। असर्वनामस्थान अजादि विभक्तियों से पूर्व भसंज्ञक अङ्ग की उपधा के अ का लोप हो जाता है[१६]; यथा—राज्ञः, ग्राव्णः, महिम्नः। परन्तु जिन -मनन्त और -वनन्त प्रातिपदिकों में -मन् तथा -वन् से ठीक पूर्व कोई व्यञ्जन हो अर्थात् व् तथा म् से संयुक्त व्यञ्जन हो, उन के अङ्ग का उपधालोप नहीं होता है[१७]; यथा—अध्वनः, अश्मनः। यद्यपि पाणिनि ने स० ए० तथा प्रथ० द्वितीॆ० द्वि० (नपुं०) में वैकल्पिक उपधालोप का विधान किया है[१८], वेदों में ऐसे प्रयोग बहुत कम हैं। स० ए० में उपधालोप का केवल एक उदाहरण शतदाम्नि ऋ० (५, २७, ६) में और कुछेक उदाहरण अ० में मिलते हैं; यथा—स्थाम्नि, विजाम्नि, लोम्नि, अह्नि। ऋ० में प्रथ० द्वितीॆ० द्वि० से पूर्व नपुं० प्रातिपदिक के उपधालोप का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। परन्तु अ० तथा उत्तरकालीन भाषा में इस के कुछ उदाहरण अवश्य मिलते हैं; यथा—नाम्नी (अ० ४,९,१०)।

विभक्ति-लोप—अन्य हलन्त प्रातिपदिकों की भांति इन की प्रथ० ए० विभक्ति (स्) का भी लोप हो जाता है; यथा—राजा, कर्म। प्रमुख विशेषता यह है कि ऋ० के अधिकतर रूपों में स० ए० की विभक्ति इ भी लुप्त हो जाती है[१९]; यथा—मूर्धन् और मूर्धनि। ऋ० के १२७ प्रयोगों में

स० ए० का इकार उपलब्ध होता है और २०३ प्रयोगों में स० ए० के इकार का लोप हो जाता है। लैन्मैन का मत है कि यह विभक्तिलोप प्रायेण छान्दस वैशिष्ट्य से सम्बद्ध है। यद्यपि अधिकतर वैदिक प्रयोगों में नपुं० प्रातिपदिकों के प्रथ० द्विती० ब० रूप साधारण नियम के अनुसार बनते हैं और विभक्ति अलुप्त रहती है (यथा—कर्मा॑णि), तथापि *लगभग एक-तिहाई प्रयोगों में प्रथ० द्विती० ब० की विभक्ति इ का लोप* हो जाता है और प्रथ० द्विती० ए० के समान रूप बनता है[१००]; यथा—कर्म॑न् का प्रथ० द्विती० ब० रूप भी कर्म॑ बनता है। कुछ ऐसे रूपों में विभक्तिलोप होने पर भी प्रातिपदिक का उपधादीर्घत्व दृष्टिगोचर होता है; यथा—शी॒र्षा, अहा॑, पर्वा॑। २७ उदाहरणों में, ऋ० संहिता के अनुसार, प्रातिपदिक की उपधा का अ दीर्घ दिखलाया गया है, परन्तु पदपाठ तथा प्रातिशाख्य उस का ह्रस्व रूप स्वीकार करते हैं; यथा—ज॒नि॑मा, धर्मा॑, नामा॑। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ये २७ रूप -मनन्त प्रातिपदिकों से बने हुए हैं। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि अवेस्ता से उपलब्ध होने वाले प्रमाण के अनुसार, संहिता में मिलने वाला आकारान्त रूप प्राचीनतर है[१०१]।

स्वर-वैशिष्ट्य—अन्तोदात्त प्रातिपदिकों का उदात्त असर्वनामस्थान की अजादि विभक्तियों (Weak cases) से पूर्व अ (उपधा) का लोप होने पर विभक्ति के अच् पर चला जाता है; यथा—म॒हि॒मन् का तृ० ए० म॒हि॒म्ना। अधिकतर -वनन्त प्रातिपदिक आद्युदात्त हैं। इस लिये ऐसे प्रातिपदिकों से बने रूपों में विभक्ति के अच् पर उदात्त-परिवर्तन का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। -मनन्त नपुं० प्रातिपदिक प्रायेण आद्युदात्त हैं, परन्तु पुं० प्रातिपदिक प्रायेण अन्तोदात्त हैं। अत एव उपधालोप होने पर इन का उदात्त विभक्ति के अच् पर चला जाता है; यथा—म॒हि॒म्ना, अ॒र्य॒म्णे, व॒र्ष्मणः। -अन् अन्त वाले बहुत से नपुं० तथा पुं० प्रातिपदिक अन्तोदात्त हैं और उपधालोप होने पर इन का उदात्त विभक्ति के अच् पर चला जाता है; यथा—पू॒ष्णे, मू॒र्ध्नः।

१३०. **-अन् अन्त वाले प्रातिपदिक**—प्रथ० तथा द्विती० विभक्तियों को

छोड़ कर शेष सब विभक्तियों में पुं० तथा नपुं० के रूप सर्वथा समान बनते हैं।

(क) **पुं० प्रातिपदिक**—उपलब्ध रूपों के आधार पर पुं० प्रातिपदिक राजन् "नृप" के रूप इस प्रकार बनेंगे—

प्रथ० ए० राजा; द्वि० राजाना, राजानौ; ब० राजानः।
सम्बो० ए० राजन्।
द्वितीः ए० राजानम्; द्वि० राजाना, राजानौ; ब० राज्ञः।
तृ० ए० राज्ञा; द्वि० राजभ्याम्; ब० राजभिः।
च० ए० राज्ञे; द्वि० राजभ्याम्; ब० राजभ्यः।
पं० ए० राज्ञः; ब० राजभ्यः (अ०)।
ष० ए० राज्ञः; द्वि० राज्ञोः; ब० राज्ञाम्।
स० ए० राजनि, राजन्; ब० राजसु।

विशेष—(१) प्रथ० ए० को छोड़ कर अन्य सर्वनामस्थान विभक्तियों में पूषन् तथा ऋभुक्षन् "ऋभु-पति" की उपधा का अकार दीर्घ नहीं होता है[१०२]; यथा—द्विती० ए० पूषणम्, ऋभुक्षणम्; प्रथ० द्वि० पूषणा; प्रथ० ब० ऋभुक्षणः। उक्षन् "बैल" तथा वृषन् "साण्ड" की उपधा का अकार सर्वनामस्थान से पूर्व कहीं दीर्घ हो जाता है और कहीं ह्रस्व रहता है[१०३]; यथा—द्विती० ए० उक्षाणम्, उक्षणम्, वृषाणम्, वृषणम्; प्रथ० द्वि० वृषाणौ, वृषणा (अ०); प्रथ० ब० उक्षाणः, उक्षणः, वृषाणः, वृषणः।

(२) पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि व्युत्पत्ति के विचार से निम्नलिखित प्रातिपदिकों को -अन् अन्त वाले प्रातिपदिकों के वर्ग में सम्मिलित करना चाहिए, यद्यपि इन में से पांच के अन्त में -वन् और एक के अन्त में -मन् मिलता है[१०४]—युवन् "जवान", श्वन् "कुत्ता", ऋजिश्वन् (पुरुषविशेष का नाम), मातरिश्वन् (एक देवता का नाम, वायु), विभ्वन् "दूर तक पहुंचने वाला", परिज्मन् "चारों ओर जाने वाला"। युवन् तथा श्वन् के अतिरिक्त शेष प्रातिपदिकों के रूप राजन् की भांति बनते हैं। सम्बुद्धि में मातरिश्वन् का रूप मातरिश्वः (ऋ० १०, ८८, १९) मिलता है।

युवन् तथा श्वन् के रूप

असर्वनाम-स्थान की अजादि विभक्तियों (Weakest cases) से पूर्व युवन् तथा श्वन् के व् का सम्प्रसारण हो जाता है[१०५]। इन विभक्तियों से पूर्व सम्प्रसारण होने पर श्वन् का शुन् बनता है और युवन् में सम्प्रसारण तथा सवर्णदीर्घसन्धि होने पर यून् अङ्ग बनता है। इन से बने हुए निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं—

प्रथ० ए० युवा, श्वा; द्वि० युवाना, यूना (ऋ० ९, ६८, ५), श्वाना, श्वानौ; ब० युवानः, श्वानः ।
सम्बो० ए० युवन् ।
द्विती० ए० युवानम्, श्वानम् ; द्वि० युवाना, श्वाना, श्वानौ; ब० यूनः, शुनः ।
तृ० ए० शुना (अ०); ब० युवभिः, श्वभिः ।
च० ए० यूने; ब० युवभ्यः, श्वभ्यः (अ०, वा० सं०)।
ष० ए० यूनः, शुनः; ब० शुनाम् (अ०)।

(३) वृत्रहन् के रूप—ऋ० के पैंतीस समासों के उत्तरपद में आने वाले कृदन्त प्रातिपदिक हन् के रूप साधारणतया पूषन् की भांति बनते हैं। प्रथ० ए० के अतिरिक्त उपधादीर्घत्व नहीं होता है (टि० १०२) *और असर्वनामस्थान की अजादि विभक्तियों (Weakest* cases) से पूर्व भसंज्ञक अङ्ग का उपधालोप होने पर ह् का घ् बन जाता है[१०१]। वृत्रहन् "वृत्र की हत्या करने वाला" से बनने वाले उपलब्ध रूप इस प्रकार हैं—

प्रथ० ए० वृत्रहा; द्वि० वृत्रहणा, वृत्रहणौ; ब० वृत्रहणः।
सम्बो० ए० वृत्रहन् ।
द्विती० ए० वृत्रहणम्; द्वि० वृत्रहणा, वृत्रहणौ; ब० वृत्रघ्नः ।
तृ० ए० वृत्रघ्ना; ब० वृत्रहभिः ।
च० ए० वृत्रघ्ने ।
प० ए० वृत्रघ्नः ।
स० ए० वृत्रघ्नि ।

(४) पाश्चात्य विद्वान् पन्थन् "मार्ग" प्रातिपदिक मान कर निम्नलिखित वैदिक रूपों का समाधान करते हैं—प्रथ० ए० पन्था (का० सं०); द्वितीय० ए० पन्थानम्; प्रथ० व० पन्थानः। पाश्चात्य विद्वान् पथि, पन्था, पन्थन् तथा पथ् को परस्पर पूरक तथा भिन्न प्रातिपदिक मानते हैं। पाणिनि इन्हें पथिन् प्रातिपदिक के अङ्ग मानता है (दे० अनु० १३९ ग)।

(ख) स्त्री० प्रातिपदिक—योषन् "युवति" के रूपों के अतिरिक्त -अन् अन्त वाले प्रातिपदिकों के निम्नलिखित रूप स्त्रीवाचक माने जाते हैं—वृषा (काशा, ऋ० ८, ३३, ११; वाक्, ऋ० १०, ११५, ८), वृषणम् (त्वचम्, ऋ० १,१२९,३), वृषणा (द्यावापृथिवी, ऋ० १०, ६६, ६), परिज्मानः (विद्युतः, ऋ० ५, १०, ५), रुष्दूधभिः (धेनुभिः, ऋ० २, ३४, ५)। सर्वनामस्थान से पूर्व योषन् का उपधा-दीर्घत्व नहीं होता है (दे० टि० १०३); यथा—प्रथ० व० योषणः (ऋ० में ८ वार) पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि योषणा तथा योषा प्रातिपदिक योषन् के पूरक हैं[१०७]।

(ग) नपुं० प्रातिपदिक—-अन् अन्त वाले नपुं० प्रातिपदिक मुख्यतया अन्य प्रातिपदिकों के पूरक हैं और ऐसा कोई नपुं० प्रातिपदिक नहीं मिलता है जिस के रूप सभी विभक्तियों में उपलब्ध होते हों। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि अन्य समानार्थक प्रातिपदिकों से बने रूप -अन् अन्त वाले प्रातिपदिकों के रूपों के पूरक हैं। प्रमुख पूरक नपुं० प्रातिपदिक निम्नलिखित हैं—अक्षन् "आंख" अक्षि का; असन् "रुधिर" असृज् का; अस्थन् "हड्डी" अस्थि का; दधन् "दही" दधि का; दोषन् "बाहु" दोस् का; यकन् "जिगर" यकृत् का; शकन् "गोबर" शकृत् का; शीर्षन् "सिर" शिरस् का; तथा सक्थन् "जंघा" सक्थि का[१०८]। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार निम्नलिखित समूहों में निर्दिष्ट प्रातिपदिक परस्पर पूरक हैं—आसन् "मुख", आस्य, आस्; उदन् "जल", उदक, उद्; यूषन् "क्वथित रस", यूष, यूस् (तै० सं० ६, ३, ११; १.४); ऊधन् "आपीन", ऊधस्, ऊधर्; अहन् "दिन",

अहस्, अहर्[109]। कतिपय -अन् अन्त वाले पूरक प्रातिपदिकों के रूप ऊपर (अविकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिकों के प्रकरण में) दिये जा चुके हैं (दे० अनु० १०८, ११०, १२२)। उदन् के निम्नलिखित रूप ऋ० में मिलते हैं—तृ० ए० उद्ना; पं० ष० ए० उद्नः; स० ए० उदन्, उदनि; तृ० ब० उदभिः (पा० ६, १, ६३)।

पाश्चात्य विद्वानों का यह निष्कर्ष है कि प्रथ० द्विती० ए० में -अन् अन्त वाले नपुं० प्रातिपदिकों का कोई वैदिक प्रयोग नहीं मिलता है और प्रथ० द्विती० ए० रूप अहर् "दिन" रेफान्त प्रातिपदिक अहर् से बनता है[110]। इस मत के अनुसार, अहन्, अहस् तथा अहर् से बनने वाले उपलब्ध वैदिक रूप निम्नलिखित हैं, परन्तु पाणिनि के अनुसार ये सब रूप अहन् प्रातिपदिक से बने हैं—

	अहन्	अहस्	अहर्
प्रथ० द्विती० ए०	—— ;	—— ;	अहः[111] ।
प्रथ० द्विती० द्वि०	अह्नी ;	—— ;	—— ।
प्रथ० द्विती० ब०	अहानि, अहा ;	—— ;	—— ।
तृ० ए०	अह्ना ;	—— ;	—— ।
तृ० ब०	अहभिः (ऋ०);	अहोभिः[112] ;	अहर्भिः (पं० ब्रा०)।
च० ए०	अह्ने ;	—— ;	—— ।
च० द्वि०	—— ;	अहोभ्याम् (तै० सं०);	—— ।
च० पं० ब०	अहभ्यः ;	अहोभ्यः (वा० सं०);	—— ।
पं० ष० ए०	अह्नः ;	—— ;	—— ।
ष० द्वि०	अह्नोः (अ०) ;	—— ;	—— ।
ष० ब०	अह्नाम् ;	—— ;	—— ।
स० ए०	अह्नि, अहन् ;	—— ;	—— ।
स० ब०	अहसु (ऋ०) ;	अहःसु (ऐ० ब्रा०; शत० ब्रा०);	—— ।

१३१. **-मन् अन्त वाले प्रातिपदिक**—इन के रूप साधारणतया -अन् अन्त वाले प्रातिपदिकों की भांति बनते हैं। परन्तु यदि -मन् के म् से ठीक

पूर्व व्यञ्जन हो, तो उपधालोप नहीं होता है (अनु० १२९) और इस प्रकार के प्रातिपदिकों का बाहुल्य है। उपलब्ध रूपों के आधार पर अश्मन् "पत्थर" के रूप इस प्रकार बनेंगे—

(क) पुं० प्रातिपदिक—अश्मन् "पत्थर" के रूप—

प्रथ० ए० अश्मा; द्वि० अश्माना; ब० अश्मानः।

सम्बो० ए० अश्मन् ; द्वि० अश्माना; ब० अश्मानः।

द्वितो० ए० अश्मानम् ; द्वि० अश्माना; ब० अश्मनः।

तृ० ए० अश्मना; ब० अश्मभिः।

च० ए० अश्मने; ब० अश्मभ्यः।

पं० ष० ए० अश्मनः; ष० ब० अश्मनाम्।

स० ए० अश्मनि, अश्मन् ; द्वि० अश्मनोः; ब० अश्मसु।

विशेष—(१) प्रथ० ए० को छोड़ कर अन्य सर्वनामस्थान-विभक्तियों से पूर्व अर्यमन् (अग्नि का एक नाम), त्मन् "अपने आप" तथा जेमन् "विजयी" का उपधादीर्घ नहीं होता है[१११]; यथा—द्विती० ए० अर्यमणम्, त्मनम् ; प्रथ० द्विती० द्वि० अर्यमणा, जेमना।

(२) -मन् के म् से पूर्व स्वर होने पर भी (दे० अनु० १२९) लगभग एक दर्जन प्रातिपदिकों का उपधालोप नहीं होता है; यथा— तृ० ए० ओमना, प्रवद्यामना, भूमना; प० ए० महिमनः।

(३) तृ० ए० के कुछ रूपों में उपधालोप के साथ-साथ निम्नलिखित पांच प्रातिपदिकों के -मन् का म् भी लुप्त हो जाता है— प्रथिमन् "विस्तार" से प्रथिना (=प्रथिम्ना); प्रेमन् "प्रेम" से प्रेणा (=प्रेम्णा); भूमन् "आधिक्य" से भूना (=भूम्ना); महिमन् "महत्ता" से महिना (ऋ० में ३५ बार; महिम्ना केवल २ बार); वरिमन् "विस्तार" से वरिणा (=वरिम्णा)। और ऋ० में द्राघमन् "लम्बाई" तथा रश्मन् "लगाम" के अन्तिम न् का लोप हो जाता है; यथा—द्राघ्मा (=द्राघ्मना), रश्मा (=रश्मना)।

(ख) स्त्री० प्रातिपदिक— -मन् अन्त वाले स्त्री० प्रातिपदिक प्रायेण समासों के उत्तरपद में मिलते हैं। ऐसे प्रातिपदिकों से बनने वाले प्रमुख वैदिक रूप ये हैं—

प्रथ० ए० पुरु-शर्मा (अदितिः) "अनेक रक्षण देने वाली" (वा० सं० १०, ९); सलक्ष्मा "समान लक्षणों वाली" (ऋ० १०, १०, २)।

प्रथ० द्वि० सुजन्मनी (धिषणे) "शोभन जन्म वाली" (ऋ० १, १६०, १)[१२४]।

सम्बो० ए० अरिष्ट-भर्मन् (अदिते) "सुरक्षा देने वाली" (ऋ० ८, १८, ४); पृथु-यामन् (दुहितः) "विशाल मार्ग वाली" (ऋ० ६, ६४, ४)।

द्विती० ए० द्युतद्यामानम् (उषसम्) "प्रकाशमान मार्ग वाली" (ऋ० ५, ८०, १); सुतर्माणम् (नावम्) "अच्छी प्रकार पार करने वाली" (ऋ० ८, ४२, ३); सुत्रामाणम् (पृथिवीम्) "अच्छी प्रकार रक्षा करने वाली" (ऋ० १०, ६३, १०); सुशर्माणम् (अदितिम्) "अच्छा रक्षण देने वाली" (ऋ० १०, ६३, १०)।

द्विती० ब० शुचि-जन्मनः (उषसः) "शुद्ध या प्रकाशमान जन्म वाली" (ऋ० ६, ३९, ३)।

तृ० ए० वाजं-भर्मभिः (ऊतिभिः) "अन्न, बल या पुरस्कार देने वाली" (ऋ० ८, १९, ३०); सुकर्मभिः (अंगुलीभिः—सायण) "शोभन-कर्मयुक्त"।

ष० ब० शुक्र-सद्मनाम् (उपसाम्) "शुभ्रस्थान वाली" (ऋ० ६, ४७, ५)।

(ग) नपुं० प्रातिपदिक—प्रथ० तथा द्विती० विभक्ति को छोड़ कर शेष सब विभक्तियों में नपुं० प्रातिपदिकों के रूप पुं० के समान बनते हैं। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं (दे० अनु० १२९) कुछ नपुं० रूपों

में प्रथ० द्विती० ब० विभक्ति का लोप हो जाता है। कतिपय प्रमुख नपुं० प्रातिपदिकों के प्रथ० तथा द्विती० विभक्ति के उपलब्ध वैदिक रूप इस प्रकार हैं—

प्रथ० द्विती० ए०—कर्म "काम", जन्म तथा जनिम "जन्म", धर्म "धर्म", धाम "स्थान", नाम "नाम", शर्म "रक्षा"।

प्रथ० द्विती० द्वि०—जन्मनी, धामनी, नाम्नी (अ०), शर्मणी।

प्रथ० द्विती० ब०—कर्माणि, कर्म; जन्मानि, जन्म; जनिमानि, जनिम, जनिमा; धर्माणि, धर्म, धर्मा; धामानि, धाम; नामानि, नाम, नामा; शर्माणि, शर्म।

विशेष—(१) संहिता में प्रथ० द्विती० ए० के कतिपय रूपों के अन्त में आ मिलता है, परन्तु पदपाठ में इस का ह्रस्व रूप (अ) दिखलाया गया है; यथा—संहितापाठ कर्मा, जनिमा, भूमा, धामा=पपा० कर्म, जनिम, भूम, धाम।

(२) -मन् के म से पूर्व स्वर होने पर भी (दे० अनु० १२९) कतिपय प्रातिपदिकों का उपधालोप नही होता है; यथा—तृ० ए० भूमना, स्यूमना, हेमना; च० ए० त्रामणे, दामने; पं० ए० भूमनः; ष० ए० दामनः, भूमनः, यामनः, व्योमनः।

१३२. **-वन् अन्त वाले प्रातिपदिक**—-वन् अन्त वाले अधिकतर प्रातिपदिक पुं० में प्रयुक्त होते हैं और स्त्री० तथा नपुं० में बहुत थोड़े प्रातिपदिकों के रूप मिलते हैं। इन के रूप साधारणतया -मन् अन्त वाले प्रातिपदिकों की भाति बनते हैं।

(क) **पुं० प्रातिपदिक**—-वन् अन्त वाले प्रातिपदिको से बने हुए जो वैदिक रूप उपलब्ध होते हैं उन के आधार पर ग्रावन् पुं० "सोम पीसने की शिला" के रूप इस प्रकार बनेंगे—

प्रथ० ए० ग्रावा; द्वि० ग्रावाणा, ग्रावाणौ; ब० ग्रावाणः।
सम्बो० ए० ग्रावन्; द्वि० ग्रावाणा, ग्रावाणौ; ब० ग्रावाणः।

द्विती० ए० ग्रावाणम्; द्वि० ग्रावाणा, ग्रावाणौ; ब० ग्राव्णः।
तृ० ए० ग्राव्णा; द्वि० ग्रावभ्याम्; ब० ग्रावभिः।
च० ए० ग्राव्णे; ब० ग्रावभ्यः।
पं० ष० ए० ग्राव्णः; ष० द्वि० ग्राव्णोः; ष० ब० ग्राव्णाम्।
स० ए० ग्रावणि, ग्रावन्; ब० ग्रावसु।

विशेष—(१) ऐसे प्रातिपदिकों के सम्बो० ए० के अन्त में प्रायेण -वन् मिलता है; यथा—अथर्वन्। परन्तु कतिपय प्रातिपदिकों के सम्बो० ए० में -वन् के स्थान पर -वः उपलब्ध होता है (टि० ८४); यथा—ऋतावः, एवयावः, प्रातरित्वः, विभावः।

(२) -वन् के व् से पूर्व स्वर होने पर भी (दे० अनु० १२९) कतिपय प्रातिपदिकों का उपधालोप नहीं होता है; यथा—च० ए० वसुवने (वा० सं० २१, ४८); स० ए० ऋतावनि (ऋ०)।

(३) मघवन् "दानशील" के रूप—असर्वनामस्थान की अजादि विभक्तियों से पूर्व मघवन् के अङ्ग का सम्प्रसारण होता है (दे० टि० १०५) और मघवत् प्रातिपदिक इस का पूरक माना जाता है[११५]। मघवन् से बने हुए निम्नलिखित वैदिक रूप उपलब्ध होते हैं—

प्रथ० ए० मघवा; द्वि० मघवाना; ब० मघवानः।
सम्बो० ए० मघवन्।
द्विती० ए० मघवानम्; ब० मघोनः।
ष० ए० मघोनः; द्वि० मघोनोः; ब० मघोनाम्।

पूरक प्रातिपदिक मघवत् के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० ए० मघवान्; तृ० ब० मघवद्भिः; च० ब० मघवद्भ्यः; स० ब० मघवत्सु। एक बार (ऋ० ६, ४४, १२) प्रथ० ब० में सम्प्रसारणयुक्त मघोनः रूप मिलता है।

(४) अर्वन् "गमनशील"—प्रथ० ए० से अन्य विभक्तियों में अर्वत् प्रातिपदिक के रूप अर्वन् के रूपों के पूरक हैं[११६]।

(ख) स्त्री० प्रातिपदिक—विशेषणात्मक (बहुव्रीहि) समासों के उत्तरपद

में आने वाले प्रातिपदिकों से बने हुए निम्नलिखित रूप स्त्री० में प्रयुक्त होते हैं—

प्रथ० ए० सयुग्वा (गायत्री) "साथ जुड़ी हुई" (ऋ० १०, १३०, ४), अनर्वा (अदितिः) "अनवरुद्धा" (ऋ० २, ४०, ६); द्वि० संस्थावाना (रोदसी) "साथ खड़ी हुई" (ऋ० ८, ३७, ४)।

द्वितीo एo अनर्वाणम् (अदितिम्) "अनवरुद्धा" (ऋ० १०, ९२, १४)।

तृ० ब० इन्धन्वभिः (धेनुभिः) "इन्धनयुक्त" (ऋ० २, ३४, ५)।

ष० ब० सहस्रदाव्नाम् (सुमतीनाम्) "सहस्र दानों वाली" (ऋ० १, १७, ५)।

विशेष—उपर्युक्त प्रयोग अनर्वाणम् में सर्वनामस्थान से पूर्व भी उपधादीर्घत्व नहीं हुआ है।

(ग) नपुं० प्रातिपदिक—प्रथ० तथा द्वितीo विभक्ति को छोड़ कर शेष विभक्तियों में नपुं० और पुं० के रूप सर्वथा समान बनते हैं। प्रथ० द्वितीo द्वि० में कोई नपुं० रूप नहीं मिलता है। इन विभक्तियों में उपलब्ध होने वाले कतिपय प्रमुख वैदिक रूप ये हैं—

प्रथ० द्वितीo ए० धन्व "धनुष तथा मरुस्थल", पर्व "जोड़" (अ०), विवस्व "शुभ्र ज्वाला", स्नाव "स्नायु" (अ०)।

प्रथ०, द्वितीo ब० धन्वानि, धन्व; पर्वाणि, पर्व, पर्वा (अ० १२, ५, ४२); स्नावानि।

विशेष—संहिता (ऋ० ६, १२, ५) में द्वितीo ए० का रूप धन्वा मिलता है, परन्तु पपा० में धन्व पाठ माना गया है।

१३३. **-अञ्च् अन्त वाले प्रातिपदिक**—उपसर्ग तथा अन्य शब्दों के साथ √अञ्च् "जाना, झुकना, आदर करना" धातु के कृदन्त को उत्तरपद में रख कर बहुत से वैदिक समास बनाये जाते हैं जो प्रायेण विशेषणों का कार्य करते हैं[१९]। -अञ्च् अन्त वाले प्रातिपदिकों की रूपरचना की कुछ विशेषताएं हैं। -अञ्च् उत्तरपद वाले समासों के कतिपय हलन्त

पूर्वपद इकारान्त बनाये जाते हैं और. कुछ पूर्वपदों के अन्त में -रि या अन्तिम अच्‌सहित सम्पूर्ण अन्तिम भाग के स्थान पर -अद्रि कर दिया जाता है[११८]; यथा—अस्मद्+अञ्च्=अस्मद्रि+अञ्च्=अस्मद्र्यञ्च् "हमारी ओर आता हुआ"; सम्+अञ्च्=समि+अञ्च्=सम्यञ्च् "साथ जाता हुआ"; विष्वक् (टि० ११८) +अञ्च्=विष्वद्रि+अञ्च्=विष्वद्र्यञ्च् "सर्वत्र जाता हुआ"; देव+अञ्च्=देवद्रि+अञ्च्=देवद्र्यञ्च् "देवताओं की ओर जाता हुआ"; सह (मूल सध) +अञ्च्=सध्रि+अञ्च्=सध्र्यञ्च् "साथ जाता हुआ"; तिरस्+अञ्च्=तिरि+अञ्च्=तिर्यञ्च् "तिरछा जाता हुआ"। ऐसे सब समासों में उत्तरपद (-अञ्च्) का अर्थ प्रायेण "—की ओर जाता हुआ" होता है। अन्य प्रमुख प्रातिपदिक ये हैं—अधराञ्च् (अधर+अञ्च्) "नीचे की ओर जाता हुआ", अपाञ्च् (अप+अञ्च्) "पीछे की ओर जाता हुआ", अर्वाञ्च् (अर्व+अञ्च्) "इस ओर आता हुआ", पराञ्च् (परा+अञ्च्) "दूर जाता हुआ", प्राञ्च् (प्र+अञ्च्) "सामने आता हुआ", न्यञ्च् (नि+अञ्च्) "नीचे की ओर जाता हुआ", उदञ्च् (उद्+अञ्च्) "ऊपर की ओर जाता हुआ", विष्वञ्च् (विषु+अञ्च्) "सब ओर जाता हुआ", प्रत्यञ्च् (प्रति+अञ्च्) "विपरीत जाता हुआ"।

पुं० तथा नपुं० रूप—इन प्रातिपदिकों के रूप केवल पुं० तथा नपुं० में बनते हैं और स्त्री० में इन के आगे ई जोड़ कर ईकारान्त प्रातिपदिक बना दिया जाता है (दे० अनु० १३७)।

अङ्गविकार—सर्वनामस्थान से पूर्व -अञ्च् अङ्ग प्रयुक्त होता है और प्रथ० ए० पुं० में विभक्ति (स्) का लोप होने पर अङ्ग का अन्तिम वर्ण ङ् में परिणत हो जाता है[११९]; यथा—प्राङ्, प्रत्यङ्। असर्वनामस्थान से पूर्व -अञ्च् की उपधा के वर्ण न् (ञ्) का लोप हो जाता है[१२०]; यथा—द्विती० ब० प्राचः, पराचः। परन्तु जिस प्रातिपदिक के पूर्वपद के अन्त में -अञ्च् से पूर्व इकार या उकार हो उस प्रातिपदिक के भसंज्ञक अङ्ग के -अञ्च् का अकार (असर्वनामस्थान की अजादि विभक्तियों से पूर्व) लुप्त हो जाता है, और ह्रस्व इकार या उकार का दीर्घ हो जाता है[१२१];

यथा—प्रत्यञ्च् का तृ० ए० प्रतीचा; और विष्वञ्च् का द्विती० ब० विषूचः। उपर्युक्त परिस्थिति में उदञ्च् के -अञ्च् का अ ई में परिणत हो जाता है[१२२]; यथा—द्विती० ब० उदीचः। असर्वनामस्थान की अजादि विभक्तियों से पूर्व तिर्यञ्च् का तिरश्च् बनता है (टि० ११८); यथा—तृ० ए० तिरश्चा।

स्वरवैशिष्ट्य—उपर्युक्त अङ्गविकार के अनुसार असर्वनामस्थान की विभक्तियों से पूर्व अन्तोदात्त प्रातिपदिकों के -अञ्च् के अकार का लोप होने पर उस का उदात्त विभक्ति के अच् पर चला जाता है; यथा—प्रत्यञ्च् से प्रतीचा; अन्वञ्च् से अनूचः। और ऐसे प्रातिपदिकों से स्त्री० का रूप बनाते समय भी अन्तोदात्त अङ्ग का उदात्त ई प्रत्यय पर चला जाता है; यथा—प्रत्यञ्च् का स्त्री० प्रतीची। परन्तु स्वरसम्बन्धी यह नियम केवल ऋ० में लागू होता है। अन्य संहिताओं में तथा उत्तरकालीन भाषा में इस नियम का पालन नहीं किया गया है; यथा—अ० में प्रत्यञ्च् का द्विती० ब० प्रतीचः और स्त्री० प्रतीची।

प्राञ्च्, प्रत्यञ्च् तथा विष्वञ्च् के रूप—इस सम्बन्ध में यह तथ्य विशेषतया ध्यान रखने योग्य है कि प्रथ० तथा द्विती० से भिन्न किसी विभक्ति में बहुवचन का प्रयोग नहीं मिलता है और द्वि० का प्रयोग केवल प्रथ०, द्विती० तथा स० में उपलब्ध होता है। ऋ० तथा अ० में प्रथ० द्विती० ब० का कोई नपुं० रूप नहीं मिलता है, ब्राह्मणों में कुछ उदाहरण उपलब्ध होते हैं। अत एव प्रथ० द्विती० ए० के नपुं० रूपों के अतिरिक्त असर्वनामस्थान में इन प्रातिपदिकों से कोई रूप नहीं बनता है। प्राञ्च्, प्रत्यञ्च् तथा विष्वञ्च् से बने हुए वैदिक रूप ये हैं—

पुं०

	प्राञ्च्	प्रत्यञ्च्	विष्वञ्च्
प्रथ० ए०—	प्राङ्	प्रत्यङ्	विष्वङ्।
प्रथ० द्विती० द्वि०—			विष्वञ्चौ (तै० सं०, वा० सं०)।
प्रथ० ब०—	प्राञ्चः	प्रत्यञ्चः	विष्वञ्चः

द्विती० ए०— प्राञ्चम् ; प्रत्यञ्चम् ; विष्वञ्चम् ।
द्विती० ब०— प्राचः ; प्रतीचः (ऋ०),
प्रतीचः (अ०); विषूचः ।
तृ० ए०— प्राचा ; ; ।
पं० ए०— ; प्रतीचः ; ।
स० ए०— प्राचि ; ; ।
स० द्वि०— ; ; विषूचोः ।

नपुं०

प्रथ० द्विती० ए०— प्राक् ; प्रत्यक् ; विष्वक् ।
(ए० के रूप प्रायेण क्रियाविशेषण हैं) ।
प्रथ० द्विती० द्वि०— ; प्रतीची ; ।
प्रथ० द्विती० ब०—प्राञ्चि ; प्रत्यञ्चि (शत० ब्रा०) ; ।

अपाञ्च्, अवाञ्च्, पराञ्च्, अर्वाञ्च् तथा अधराञ्च् प्रभृति के रूप प्राञ्च् की भांति बनते हैं।

न्यञ्च्, सम्यञ्च्, दध्यञ्च्, सध्र्यञ्च्, अस्मद्र्यञ्च्, विष्वद्र्यञ्च्, तथा उदञ्च् के रूप प्रत्यञ्च् की भांति बनते हैं।

अन्वञ्च् तथा स्वञ्च् के रूप विष्वञ्च् की भांति बनते हैं।

१३५. पुंस् "पुरुष" के रूप—सर्वनामस्थान से पूर्व पुंस् का शक्ताङ्ग (Strong stem) पुमांस् बनता है[१३], और भकारादि तथा स० ब० विभक्ति से पूर्व पुंस् के अन्तिम स् का लोप होकर केवल पुम् शेष रहता है[१४]। असर्वनामस्थान की विभक्तियां परे आने पर प्रातिपदिक का उदात्त विभक्ति के अच् पर चला जाता है। पुंस् से बने हुए निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं—

प्रथ० ए० पुमान् ; द्वि० पुमांसौ (ब्रा०); ब० पुमांसः ।
सम्बो० ए० पुमः (ऋ० ९, ९, ७); लौकिक संस्कृत—पुमन् ।
द्विती० ए० पुमांसम् ; ब० पुंसः ।
तृ० ए० पुंसा (पै० सं०, ब्रा०) ।

च० ए० पुंसे (अ० ५, ३०, ३)।
च० पं० व० पुम्भ्यः (गृ० सू०)।
पं० ष० ए० पुंसः; ष० व० पुंसाम्।
स० ए० पुंसि; व० पुंसु (अ० १२, १, २५)।

१३५. अनडुह् (अनड्वह् = अनस् + √वह्) "गाड़ी खींचने वाला, बैल" के रूप—यद्यपि पाणिनि अनडुह् प्रातिपदिक मान कर रूपों का व्याख्यान करता है, तथापि ग्रासमैन प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् व्युत्पत्ति-सम्मत अनड्वह् प्रातिपदिक मानते हैं[१२५]। सर्वनामस्थान से पूर्व उ के पश्चात् पाणिनि आ (आम्) का आगम करके अनड्वाह् शब्दाङ्ग (Strong stem) बनाता है और प्रथ० ए० में इस आ के पश्चात् न् (नुम्) का आगम करके अनड्वान् रूप बनाता है[१२५क]। पाश्चात्य विद्वान् सर्वनामस्थान से पूर्व अनड्वाह् शब्दाङ्ग (Strong stem) मान कर असर्वनामस्थान से पूर्व इस का सम्प्रसारण स्वीकार करते हैं[१२६]। भकारादि विभक्ति तथा स० व० (सु) से पूर्व अनडुह् के ह् का द् बन जाता है (दे० अनु० ७३)। इस के निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं—

प्रथ० ए० अनड्वान्; द्वि० अनड्वाहौ; ब० अनड्वाहः।
द्विती० ए० अनड्वाहम्; द्वि० अनड्वाहौ; ब० अनडुहः।
तृ० ए० अनडुहा (तै० सं०, मै० सं०); ब० अनडुद्भिः (मै० सं० २, ७, १२)।
च० ब० अनडुद्भ्यः (अ०)[१२७]। ष० ए० अनडुहः।
स० ए० अनडुहि (अ०); ब० अनडुत्सु।

२. अजन्त प्रातिपदिक

१३६. **हलन्त से अजन्त प्रातिपदिक बनाने की प्रवृत्ति**—अजन्त प्रातिपदिकों की रूप-रचना के विषय में विचार करने से पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि हलन्त प्रातिपदिकों से अजन्त प्रातिपदिक बनाने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। प्राचीनतम वैदिक भाषा में जो प्रातिपदिक केवल हलन्त थे उन के कुछ रूप प्रारम्भ में अजन्त प्रातिपदिकों की भांति बनाये जाने लगे और कुछ समय तक भाषा में दोनों

प्रकार के रूप साथ-साथ प्रयुक्त होते रहे। अजन्त प्रातिपदिकों के रूपों ने धीरे-धीरे अपना पूर्ण आधिपत्य जमा कर हलन्त प्रातिपदिकों को कालान्तर में भाषा से पूर्णतया निकाल दिया और समास आदि में कहीं-कहीं प्राचीन हलन्त प्रातिपदिकों के अवशेष रह गये। इस तथ्य की पुष्टि के लिये हम धर्म शब्द का उदाहरण ले सकते हैं। ऋ० में केवल हलन्त प्रातिपदिक धर्मन् "धारण-करने वाला" पुं० तथा धर्मन् "नियम" नपुं० के रूप मिलते हैं और अकारान्त प्रातिपदिक धर्म का कोई प्रयोग नहीं है। अ० इत्यादि में अजन्त प्रातिपदिक धर्म का प्रयोग उपलब्ध होता है और इस के समानार्थक हलन्त प्रातिपदिक का प्रयोग धीरे-धीरे लुप्त होता गया। पाणिनि के काल तक इस हलन्त प्रातिपदिक का प्रयोग इतना न्यून हो चुका था कि बहुव्रीहि समास में हलन्त प्रातिपदिक धर्मन् अजन्त प्रातिपदिक धर्म का आदेश माना जाने लगा[१२८]।

प्राचीन भारतीय वैयाकरण भी हलन्त से अजन्त प्रातिपदिक बनाने की प्रवृत्ति से परिचित थे। सि० कौ० के **अव्यय-प्रकरणम्** में भट्टोजिदीक्षित द्वारा उद्धृत निम्नलिखित श्लोक में इस ओर संकेत किया गया है—

> वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
> आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥

इस विषय में यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि प्रायेण अविकार्यङ्ग हलन्त प्रातिपदिकों से अजन्त प्रातिपदिक बनाये गये हैं। इस सम्बन्ध में कुछ प्रमुख उदाहरण प्रस्तुत हैं—

(१) **अकारान्त प्रातिपदिक**—हलन्त प्रातिपदिकों से बनाये गये अधिकतर अकारान्त प्रातिपदिक नपुं० में प्रयुक्त होते हैं और इस प्रकार कतिपय हलन्त प्रातिपदिकों का लिङ्ग-परिवर्तन कर दिया गया है। उदाहरणार्थ विष्टप् "शिखर", द्वार् "दरवाज़ा" तथा पुर् "दुर्ग" स्त्री० हैं और इन से बने हुए अजन्त प्रातिपदिक विष्टप, द्वार तथा पुर नपुं० में प्रयुक्त होते हैं। ककुद् "शिखर" से बना हुआ अकारान्त प्रातिपदिक ककुद पुं० तथा नपुं० दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है। हलन्त से

अकारान्त बनने पर भी कुछ प्रातिपदिकों का लिङ्ग अपरिणत रहता है; यथा—पद्, मास् तथा पुरोडाश् से क्रमशः पाद, मास तथा पुरोडाश पुं० प्रातिपदिक ही बनते हैं। कतिपय नपुं० हलन्त प्रातिपदिकों से पुं० अकारान्त प्रातिपदिक बनाये गये है, यथा—धर्मन् तथा यामन् से क्रमशः धर्म तथा याम।

(२) **आकारान्त प्रातिपदिक**—स्त्री० हलन्त प्रातिपदिकों से बनाये हुए सभी आकारान्त प्रातिपदिक स्त्री० में प्रयुक्त होते है और लिङ्ग-परिवर्तन का कोई उदाहरण नही मिलता है। प्रमुख उदाहरण ये हैं—निद् "निन्दा" से निदा, क्षप् "रात्रि" से क्षपा, क्षिप् "अङ्गुलि" से क्षिपा, अप्सरस् से अप्सरा, आशस् से आशा, उषस् से उषा, जरस् "बुढापा" से जरा, नस् से नास् द्वारा नासा "नासिका", और मेधस् "बुद्धि" से मेधा। पाणिनि केवल बहुव्रीहि समास में मेधा के अन्त में असिच् करके मेधस् के रूप को स्वीकार करता है[१२९]।

(३) **इकारान्त प्रातिपदिक**—हलन्त प्रातिपदिकों से बनाये हुए अधिकतर इकारान्त प्रातिपदिक स्त्री० में प्रयुक्त होते हैं। नपुं० हलन्त प्रातिपदिक वार् "जल" से बने हुए इकारान्त प्रातिपदिक वारि का लिङ्गपरिवर्तन नही हुआ है। परन्तु नपुं० हलन्त प्रातिपदिक अर्चि: "ज्वाला" से अर्चि पुं० और शोचिस् "ज्वाला" से शोचि स्त्री० (अ० १८, २, ९) प्रातिपदिक बनाये गये हैं। ज्योतिस् "प्रकाश" से बने हुए इकारान्त प्रातिपदिक ज्योति के रूप भी उपलब्ध होते हैं (पं० ब्रा० १६, १०, २; इत्यादि)।

१३७. **पुं० हलन्त से स्त्री० अजन्त प्रातिपदिक**—जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं, बहुत से विकार्यङ्ग प्रातिपदिकों के रूप केवल पुं० तथा नपुं० में बनते हैं और स्त्री० में प्रयोग करने के लिये उन से अजन्त प्रातिपदिक बनाये जाते हैं।

(१) जिन विकार्यङ्ग पुं० प्रातिपदिकों के अन्त में -अत्, -मत्, -वत्, -इन्, -यस्, -वस्, तथा -अञ्च् आता है (दे० अनु०

१२५-१२८, १३३) उन से स्त्री० प्रातिपदिक बनाने के लिये उन के साथ ई (पा० ङीप्) प्रत्यय जोड़ा जाता है[१३०]; यथा—अदत् से अदती, पिप्रत् से पिप्रती, परन्तु भवत् से भवन्ती, पुष्यत् से पुष्यन्ती, मदत् से मदन्ती[१३१]; धेनुमत् से धेनुमती; अश्मवत् से अश्मवती; अर्किन् से अर्किणी; नवीयस् से नवीयसी; जग्मिवस् से जग्मुषी; प्रत्यञ्च् से प्रतीची, प्राञ्च् से प्राची ।

(२) -वन् अन्त वाले पुं० प्रातिपदिकों से स्त्री० बनाने के लिये अन्तिम न् के स्थान पर र् आदेश करने के अनन्तर ई (पा० ङीप्) प्रत्यय जोड़ा जाता है[१३२]; यथा—ऋतावन् से ऋतावरी । परन्तु जिन प्रातिपदिकों के अन्त में -मन् आता है उन के पुं० तथा स्त्री० रूप समान रहते हैं[१३३] । दे० अनु० १३१ ।

(३) -अन् अन्त वाले कतिपय प्रातिपदिकों के रूप पुं० तथा स्त्री० में समान रहते हैं । परन्तु कुछ पुं० प्रातिपदिकों का स्त्री० बनाने के लिये उपधालोप के अनन्तर ई (पा० ङीप्) जोड़ा जाता है; यथा—सम्राज्ञी (-राजन् से); अपतिघ्नी (-हन् से); मघवन् से मघोनी; श्वन् से शुनी । परन्तु युवन् का स्त्री० युवति बनता है[१३४] ।

१३८. **अकारान्त प्रातिपदिक**—वैदिक भाषा में अकारान्त प्रातिपदिकों से बने हुए रूप सब से अधिक हैं और इन प्रातिपदिकों के रूप केवल पुं० तथा नपुं० में बनते हैं, क्योंकि स्त्री० में इन से प्रायेण आकारान्त प्रातिपदिक बना कर रूप चलाये जाते हैं । प्रथ० तथा द्विती० को छोड़ कर शेष सब विभक्तियों में पुं० तथा नपुं० के रूप सर्वथा समान बनते हैं ।

(क) **विभक्ति-विकार तथा रूप-वैविध्य**—अकारान्त प्रातिपदिकों के साथ प्रयुक्त होने वाली विभक्तियों में निम्नलिखित परिवर्तन हो जाते हैं और कतिपय विभक्तियों के दो रूप मिलते हैं—

(१) प्रथ० द्विती० ए० में नपुं० के साथ आने वाली विभक्ति का अम् बन जाता है[१३५]; यथा—प्रियम् ।

(२) प्रथ० द्विती० द्वि० नपुं० में ई विभक्ति जोड़ी जाती है[११६], और पुं० में कहीं औ और कहीं आ विभक्ति प्रयुक्त होती है[११७]; यथा—प्रि॒ये (नपुं०), प्रि॒यौ, प्रि॒या (पुं०)।

विशेष—औ विभक्ति वाले द्वि० रूपों की तुलना में आ विभक्ति वाले रूपों का प्रयोग ऋ० में सात-गुने से भी अधिक है।

(३) प्रथ० ब० पुं० में कहीं अस् (पा० जस्) और कहीं असस् विभक्ति प्रयुक्त होती है[११८]; यथा—प्रि॒याः, प्रि॒यास॑ः।

विशेष—असस् विभक्ति वाले रूपों की तुलना में अस् विभक्ति वाले रूपों का प्रयोग ऋ० में दुगुना और अ० में चौबीसगुना है।

(४) प्रथ० द्विती० ब० नपुं० के रूपों में कहीं-कहीं विभक्ति तथा न् आगम अर्थात् नि (न्+इ) का लोप हो जाता है और केवल आकारान्त रूप बनता है (टि० १००); यथा—प्रि॒या, प्रि॒याणि॑।

विशेष—ऋ० में -आ अन्त वाले रूप -आनि अन्त वाले रूपों से ड्योढे हैं। परन्तु अ० में -आनि अन्त वाले प्रयोग -आ अन्त वाले प्रयोगों से ड्योढे हैं और उत्तरकालीन संस्कृत में -आ अन्त वाले रूपों का पूर्ण लोप हो गया। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि -अन् अन्त वाले नपुं० रूपों (यथा नामा॑, ना॒मानि॑) के प्रभाव से -आनि अन्त वाले अन्य रूपों का प्रादुर्भाव हुआ।

(५) द्विती० ब० पुं० में प्रातिपदिक के अन्तिम अच् (अ, इ, उ, ऋ) तथा विभक्ति के आदि अ का पूर्वसवर्णदीर्घ होने के अनन्तर विभक्ति के अन्तिम स् का न् बन जाता है[११९]; यथा—प्रि॒यान्, शुची॑न्, मधू॑न्, पि॒तॄन्।

(६) तृ० ए० में विभक्ति के आ का इन, च० ए० में ए (पा० ङे) का य, पं० ए० में अस् (पा० ङसि) का आत्, और ष० ए० में अस् (पा० ङस्) का स्य बन जाता है[१२०]; यथा—प्रि॒येण॑, प्रि॒याय॑, प्रि॒यात्, प्रि॒यस्य॑।

विशेष—तृ० ए० के कुछ रूपों में आ विभक्ति का प्रयोग मिलता है (टि० ९९); यथा—प्रि॒या। लगभग २५ रूपों में -इन विभक्ति का अकार दीर्घ मिलता है (दे० अनु० ४६ ग); यथा—अ॒मृतेँना, ऋ॒तेना॑।

(७) तृ० व० में प्रायेण भिस् विभक्ति को ऐस् आदेश हो जाता है[१४१]; यथा—प्रि॒यैः, प्रि॒येभिः।

विशेष—ऋ० में -ऐस् विभक्ति वाले रूप -भिस् विभक्ति वाले रूपों से कुछ अधिक हैं, परन्तु अ० में इन का प्रयोग पाँचगुना है और उत्तरकालीन संस्कृत में *-भिस् विभक्ति के रूपों का पूर्ण अभाव है।*

(८) ष० व० में अकारान्त, आकारान्त, इकारान्त, उकारान्त, ऋकारान्त, इय्‌विकाररहित ईकारान्त स्त्री० तथा उव्‌- विकाररहित ऊकारान्त स्त्री० प्रातिपदिकों के साथ प्रयुक्त होने वाली -आम् विभक्ति से पूर्व न् जोड़ कर नाम् विभक्ति बना ली जाती है[१४२]; यथा—प्रि॒याणा॑म् (प्रिय से), प्रि॒याणा॑म् (प्रिया से), शु॒चीना॑म्, मधू॑नाम्, पि॒तॄणाम्, मा॒तॄणाम्, दे॒वीनाम्, त॒नूना॑म्।

(९) सम्बुद्धि में विभक्ति के स् का लोप हो जाता है[१४३]; यथा—प्रिय॑।

(ख) **अङ्गविकार**—(१) च० ए० की विभक्ति ए तथा तृ० च० पं० द्वि० की विभक्ति भ्याम् से पूर्व अङ्ग के अन्तिम अ का दीर्घ हो जाता है[१४४]; यथा—प्रि॒याय॑, प्रि॒याभ्या॑म्।

(२) ष० व० में नाम् से पूर्व अङ्ग के अन्तिम ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाता है[१४५]; यथा—प्रि॒याणा॑म् इत्यादि ऊपर देखिए।

(३) बहुवचन की भकारादि विभक्ति, स० व० की सु विभक्ति, तथा ष० स० द्वि० की ओस् विभक्ति से पूर्व अकारान्त प्रातिपदिक के अन्तिम अ का ए बन जाता है[४६]; यथा—प्रि॒येभिः, प्रि॒येभ्यः, प्रि॒येषु, प्रि॒ययोः (प्रिये+ओस्)।

(ग) **स्वर-वैशिष्ट्य**—सम्बोधनवर्जित सभी विभक्तियों में अकारान्त प्रातिपदिकों का उदात्त अपने मूल स्थान पर ही रहता है।

चतुर्थोऽध्यायः

(घ) प्रिय के रूप—अकारान्त प्रातिपदिकों के जो रूप उपलब्ध होते हैं उन के आधार पर प्रिय शब्द के रूप इस प्रकार बनेंगे—

प्रिय (पुं०)

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	प्रियः ;	प्रिया, प्रियौ ;	प्रियाः, प्रियासः ।
सम्बो०	प्रिय ;	प्रिया, प्रियौ ;	प्रियाः, प्रियासः ।
द्वितो०	प्रियम् ;	प्रिया, प्रियौ ;	प्रियान् ।
तृ०	प्रियेण, प्रिया;	प्रियाभ्याम् ;	प्रियैः, प्रियेभिः ।
च०	प्रियाय ;	,, ;	प्रियेभ्यः ।
पं०	प्रियात् ;	,, ;	,, ।
ष०,	प्रियस्य ;	प्रिययोः ;	प्रियाणाम् ।
स०	प्रिये ;	,, ;	प्रियेषु ।
		नपुं०	
प्रथ० द्वितो०	प्रियम् ;	प्रिये ;	प्रिया, प्रियाणि ।

१३९. **आकारान्त प्रातिपदिक**—आकारान्त प्रातिपदिक दो वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) आबन्त प्रातिपदिक जिन के अन्त में स्त्रीवाची आ (पा० आप्) प्रत्यय आता है[१७७]; यथा—कन्या, मनीषा (२) धातुज आकारान्त प्रातिपदिक; यथा—दा "देने वाला", स्था "ठहरने वाला"। रूप-रचना में इन दोनों वर्गों की कुछ अपनी विशेषताएं हैं। अत एव इन का पृथक् विवेचन वाञ्छनीय है।

(क) **आबन्त प्रातिपदिक**—सभी आबन्त प्रातिपदिक निश्चय ही केवल स्त्री० में प्रयुक्त होते हैं। इन की विभक्तियों में निम्नलिखित विकार होते हैं—

विभक्ति-विकार तथा अङ्गविकार—प्रथ० ए० की विभक्ति का लोप हो जाता है[१७८] और प्रथ० द्वितो० द्वि० में ई (पा० शी) विभक्ति का प्रयोग होता है[११९]; यथा—मनीषा, शुभ्रे। तृ० ए० में दो प्रकार के रूप बनते हैं—कुछ रूपों में आ विभक्ति (टि० ५९) प्रातिपदिक के

साथ सीधी जोड़ दी जाती है, यथा—मनीषा; परन्तु अधिकतर रूपों में आ विभक्ति से पूर्व अङ्ग के अन्तिम आ को ए में परिणत कर दिया जाता है[१५०]; यथा—मनीषया। इसी प्रकार ष० स० द्वि० (टि० १५०) तथा सम्बुद्धि में अङ्ग के अन्तिम आ का ए बन जाता है[१५१]; यथा—जङ्घयोः (अ०); गङ्गे (ऋ०)। च० पं० ष० स० ए० की विभक्ति से पूर्व या (पा० याट्) आगम जोड़ा जाता है[१५२] और स० ए० की विभक्ति इ को आम् आदेश हो जाता है[१५३]; यथा—जरायै, कन्यायाः, ग्रीवायाम्।

विशेष—(१) ऋ० के लगभग बीस स्त्री० रूपों में प्रथ० ब० के विशेष वैदिक प्रत्यय असस् (टि० १३८) का प्रयोग मिलता है; यथा—अतन्द्रासः "तन्द्रारहित", पावकासः "पवित्र"। इस विषय में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि ऐसे रूप प्रायेण विशेषण हैं। मैक्डानल प्रभृति विद्वानों के मतानुसार असस् प्रत्यय वाले पुं० रूपों के प्रभाव से ऐसे रूप बने हैं।

(२) ऋ० में तीन बार प्रयुक्त होने वाला अनुदात्त पद अम्ब अम्बा का सम्बोधन माना जाता है[१५४], परन्तु वा० सं० (२३, १८) तथा तै० सं० (७, ४, १९, १) में अम्बे रूप उपलब्ध होता है।

(३) ब्राह्मणों तथा सूत्रों में, भारतीय वैयाकरणों के अनुसार, षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग मिलता है, और पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार पं० ष० ए० की विभक्ति के स्थान पर च० ए० की विभक्ति प्रयुक्त होती है[१५५]; यथा—जीर्णायै त्वचः (कौ० ब्रा०) = जीर्णायाः त्वचः "जीर्ण त्वचा का"; ज्यायसी याज्यायै (ऐ० ब्रा०) = ज्यायसी याज्यायाः "याज्या से बड़ी"; अर्हल्यायै जारः (शत० ब्रा०) = अर्हल्यायाः जारः।

(४) अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, कतिपय रूपों में स० ए० की विभक्ति का पूर्ण लोप हो जाता है और केवल आकारान्त रूप मिलता है[१५६]; यथा—गुहा (ऋ० ९, ६, ५; इत्यादि), दोषा (ऋ० २, ८, ३; इत्यादि)। परन्तु बहुत से

आधुनिक विद्वानों का मत है कि ये तृ० ए० के रूप हैं और स० ए० में आकारान्त प्रातिपदिकों का ऐसा कोई रूप नहीं है[१५७]।

(५) अधिकतर विद्वान् कुनीनाम् पद को कन्या शब्द का ष० ब० का रूप मानते हैं[१५८], परन्तु कतिपय विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते हैं[१५९]। अ० में एक बार कन्यानाम् पद का प्रयोग मिलता है।

प्रिया के रूप

उपलब्ध रूपों के आधार पर प्रिया शब्द के रूप इस प्रकार बनेंगे—

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	प्रिया ;	प्रिये ;	प्रियाः, प्रियासः।
सम्बो०	प्रिये ;	प्रिये ;	प्रियाः ।
द्विती०	प्रियाम् ;	प्रिये ;	प्रियाः ।
तृ०	प्रियया, प्रिया ;	प्रियाभ्याम् ;	प्रियाभिः ।
च०	प्रियायै ;	,, ;	प्रियाभ्यः ।
पं०	प्रियायाः ;	,, ;	,, ।
ष०	,, ;	प्रिययोः ;	प्रियाणाम् ।
स०	प्रियायाम् ;	,, ;	प्रियासु ।

(ख) **धातुज आकारान्त प्रातिपदिक**—धातुज आकारान्त प्रातिपदिकों के रूप पुं० तथा स्त्री० में बनते हैं, परन्तु नपुं० में इन का कोई रूप नहीं बन सकता, क्योंकि नपुं० में प्रातिपदिकों का अन्तिम दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है[१६०]। लगभग तीस धातुओं से बने हुए आकारान्त प्रातिपदिक मिलते हैं और इन में से अधिकतर प्रातिपदिक विशेषणात्मक समासों के उत्तरपद में मिलते हैं। इस सम्बन्ध में यह तथ्य विशेषतया उल्लेखनीय है कि धातुज आकारान्त प्रातिपदिकों को अकारान्त बनाने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। उदाहरणार्थ अ० में धातुज आकारान्त पुं० प्रातिपदिकों का प्रायेण अभाव है और ऋ० के आकारान्त प्रातिपदिकों के स्थान पर अकारान्त प्रातिपदिक मिलते हैं; यथा—नामधाः (ऋ० १०, ८२, ३) = नामधः (अ० २, १, ३); पूर्वणिप्राः

(ऋ०) = चर्षणिप्रः (अ०); सोमपाः (ऋ०) = सोमप (अ०)। उत्तरकालीन संस्कृत में धातुज आकारान्त प्रातिपदिकों के रूप अत्यल्प हैं।

विभक्तियां तथा अङ्गविकार—इन प्रातिपदिकों के रूपों की प्रमुख विशेषता यह मानी जाती है कि पुं० प्रातिपदिकों की प्रथ० ए० विभक्ति (स) का लोप नहीं होता है और स्त्री० प्रातिपदिकों के कुछ रूपों में भी यह विभक्ति मिलती है[१११]। असर्वनामस्थान की अजादि विभक्तियों से पूर्व प्रातिपदिक के अन्तिम आ का लोप हो जाता है[११२]; यथा—कीलालपा + ए (च० ए०) = कीलालपे (ऋ० १०, ९१, १४)। इन प्रातिपदिकों के अधिकतर रूप प्रथ० तथा द्विती० विभक्ति में मिलते हैं और अन्य विभक्तियों के रूप अत्यल्प हैं। प्रथ० ए० से अन्य विभक्तियों में पुं० तथा स्त्री० के रूप सर्वथा समान बनते हैं।

स्वरवैशिष्ट्य—सब विभक्तियों में इन का उदात्त प्रातिपदिक पर रहता है।

पुं० प्रातिपदिक—जा "सन्तति", त्रा "रक्षक", दा "दाता", तथा स्था "खड़ा हुआ"—ये चार प्रातिपदिक एकाच् हैं और शेष पुं० प्रातिपदिक विशेषणात्मक समासों के उत्तरपद में मिलते हैं। अधिकतर विशेषणात्मक समासों के उत्तरपद में -गा "जाने वाला", -जा (√जन् से) "उत्पन्न हुआ", -दा "दाता", -धा "कर्ता या दाता", -पा "रक्षक", -पा "पीने वाला", -प्रा "पूरक", -या "जाने वाला", -सा (√सन् से) "प्राप्त करने वाला", तथा -स्था "खड़ा हुआ" प्रातिपदिक उपलब्ध होते हैं[११३]; यथा—अग्रेगा, अद्रिजा, गोदा, धामदा, रत्नधा, आयुष्पा, ऋतपा, सोमपा, कीलालपा, चर्षणिप्रा, देवया, धनसा, गोषा, ऋतस्था, रथेष्ठा। इन के अतिरिक्त दधिक्रा (सूर्य का एक नाम), ऋभुक्षा "ऋभुपति" (टि० १०२), बिसखा "मृणाल खोदने वाला", इत्यादि महत्त्वपूर्ण हैं।

जा के रूप

पुं० प्रातिपदिकों के उपलब्ध रूपों के आधार पर जा "सन्तति" के रूप इस प्रकार बनेंगे—

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	जाः ;	जा, जौ ;	जाः ।
सम्बो०	जाः ;	जा, जौ ;	— ।
द्विती०	जाम् ;	जा, जौ ;	— ।
तृ०	— ;	जाभ्याम् ;	जाभिः ।
च०	जे ;	—— ;	— ।
पं०	— ;	—— ;	जाभ्यः ।
ष०	जः ;	—— ;	— ।

स्त्री० प्रातिपदिक—क्षा "निवासस्थान", खा "कूप", ग्ना "देवपत्नी", जा "सन्तति", ज्या "धनुष की डोरी", मा "माप, मापने वाली", तथा व्रा "समूह"—इन एकाच् प्रातिपदिकों के अतिरिक्त बहुत से स्त्री० प्रातिपदिक विशेषणात्मक समासों के उत्तरपद में आते हैं। समासों के उत्तरपद में आने वाले प्रातिपदिक प्रायेण वे ही हैं जिन की परिगणना पुं० प्रातिपदिकों में की जा चुकी है; यथा—अग्रेगा, द्विविजा, वसुदा, गोधा, गोपा, गोषा, प्रतिष्ठा।

प्रथ० ए० विभक्ति—(१) निम्नलिखित स्त्री० रूपों में प्रथ० ए० विभक्ति का स् मिलता है—क्षाः, ग्नाः, ऋतपाः, ऋतेजाः, कुलपाः (अ०), वयोधाः (अ० ६, १, ८), गोधाः, गोपाः (अ०), गोषाः, द्विविजाः, द्विवोजाः, वनेजाः, वसुदाः, शतसाः, समनगाः, सहस्रसाः।

(२) ग्रासमैन प्रभृति विद्वान् ग्नाः (ऋ० १, १२४, ८) को प्रथ० ए० का रूप मानते हैं, जबकि सायण तथा राट प्रभृति इसे प्रथ० ब० का रूप स्वीकार करते हैं[१५४]।

(३) यद्यपि पदपाठ के अनुसार निम्नलिखित रूप आकारान्त हैं अर्थात् इन की प्रथ० ए० विभक्ति का लोप माना गया है, तथापि पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इन रूपों में विभक्ति के स् की सत्ता मानी जा सकती है, क्योंकि इन से परे स्वर रहते हुए भी इन का अन्तिम आ विवृत्ति-भाव (Hiatus) से रहता है[१५५]—ज्या (ऋ० ६, ७५, ३) निद्रा (ऋ० ८, ४८, १४), प्रपा (ऋ० १०,

४, १), श्रद्धा (ऋ० ७, ३२, १४), स्वधा (ऋ० १०, १२९, ५) तै० सं० ४, ४, ११, ३ में प्रतिमा, विमा, उन्मा, प्रमा ।

(४) अन्य सब आकारान्त प्रातिपदिकों की प्रथ० ए० विभक्ति लुप्त हो जाती है ।

जा "सन्तति" के रूप

उपलब्ध रूपों के आधार पर जा स्त्री० प्रातिपदिक के रूप इस प्रकार बनेंगे—

प्रथ० ए० जाः, जा (अ०) ।
प्रथ० व० जाः ।
द्वितीे० ए० जाम्; व० जाः ।
तृ० ए० जा; द्वि० जाभ्याम् ; व० जाभिः ।
च० ए० जे; व० जाभ्यः ।
स० ए० जासु ।

(ग) पन्थां, मन्थां, ऋभुक्षा, महा, अर्तथा और उशना के रूप—पाणिनि के मतानुसार, पथिन् , मथिन् तथा ऋभुक्षिन् प्रातिपदिकों के अन्तिम -इन् के स्थान पर आ आदेश करने से प्रथ० ए० में पन्थाः, मन्थाः तथा ऋभुक्षाः रूप बनते हैं; सर्वनामस्थान में अन्तिम -इन् के स्थान पर -अन् और थ का न्थ आदेश करने से पन्थानौ, पन्थानः, मन्थानौ, मन्थानः, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणः इत्यादि रूप बनते हैं; असर्वनामस्थान की हलादि विभक्तियों से पूर्व अन्तिम न् का लोप करने से पथिभिः, मथिभिः, ऋभुक्षिभिः इत्यादि रूप बनते हैं; और असर्वनामस्थान की अजादि विभक्तियों से पूर्व अन्तिम -इन् का लोप करने से पथः, मथः, ऋभुक्षः इत्यादि रूप बनते हैं[१६१] । पाणिनि उशनस् प्रातिपदिक मान कर प्रथ० ए० में उशना रूप का समाधान करता है (दे० अनु० १२२ क; टि० ५९) ।

आधुनिक विद्वानों के मतानुसार, पन्थां आकारान्त प्रातिपदिक है; पथ्, पन्थन् तथा पथि पृथक् और पूरक प्रातिपदिक हैं; और इन में से प्रत्येक के अपने-अपने रूप मिलते हैं (दे० अनु० १११, १२७, १३० क;

टि० २८)। इसी प्रकार मन्था आकारान्त प्रातिपदिक माना जाता है।

पन्था तथा मन्था के निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं—

प्रथ० ए० पन्थाः।

प्रथ० ब० पन्थाः, पन्थासः (ऋ० १, १००, ३)।

द्विती० ए० पन्थाम्, मन्थाम्।

पुथि प्रातिपदिक से बने हुए रूप भी मिलते हैं; यथा—प्रथ० ब० पुथयः (तै० सं० ५, ७, २, ३), ष० ब० पुथीनाम् (ऋ०, अ०)। इसी प्रकार ऋ० (८, ५३, ८) में मुथीनाम् रूप मिलता है जिस का प्रातिपदिक मुथि (मुथिन् ?) माना जा सकता है।

पाश्चात्य विद्वान् ऋभुक्षा को आकारान्त प्रातिपदिक मान कर प्रथ० ए० में ऋभुक्षाः रूप का समाधान करते हैं (टि० १०२)। उशना को आकारान्त प्रातिपदिक मान कर इस के आधार पर निम्नलिखित रूपों का समाधान किया जाता है[११७]—

प्रथ० ए० उशना।

द्विती० ए० उशनाम्।

च० ए० उशने।

अनेक आधुनिक विद्वान् मुहा प्रातिपदिक के आधार पर द्विती० ए० के रूप मुहाम् (ऋ०) तथा मुहाकुल, मुहाग्राम इत्यादि समासों के पूर्वपद मुहा का समाधान करते हैं, परन्तु पाणिनि के मतानुसार महत् के त् को आ आदेश करने से महा बनता है[११८]। अतथाः (ऋ० १, ८२, १) "वैसा न करने वाला" रूप आकारान्त प्रातिपदिक अतथा (नञ्+तथा) का प्रथ० ए० माना जाता है।

इकारान्त तथा उकारान्त प्रातिपदिक

१४०. वैदिक भाषा में इकारान्त तथा उकारान्त प्रातिपदिकों से बनने वाले रूपों की संख्या बहुत बड़ी है। इन में से अधिकतर रूप पुं० तथा स्त्री० के हैं और कुछ रूप नपुं० के भी हैं। इकारान्त तथा उकारान्त प्रातिपदिकों की रूप-रचना में विशेष सादृश्य है और पाणिनि ने सखिवर्जित इकारान्त तथा उकारान्त प्रातिपदिकों के लिये सामान्य घि संज्ञा का व्यवहार किया

है[१६९]। अत एव इन प्रातिपदिकों की रूप-रचना पर सामान्य विवेचन करना समीचीन होगा।

विभक्ति-विकार तथा अङ्ग-विकार—(१) पुं० तथा स्त्री० प्रातिपदिकों के प्रथ० द्विती० द्वि० रूपों में प्रातिपदिक के अन्तिम स्वर (इ उ) और विभक्ति के स्वर (औ) दोनों के स्थान पर पूर्ववर्ती स्वर (इ उ) का दीर्घ हो जाता है[१७०]; यथा—अग्नी, जामी (स्त्री०), बाहू, धेनू। द्विती० व० में प्रातिपदिक के अन्तिम स्वर (इ उ) और अस् (पा० शस्) विभक्ति के आदि अ के स्थान पर पूर्ववर्ती स्वर (इ उ) का दीर्घ हो जाता है (टि० १७०) और पुं० में विभक्ति के अन्तिम स् का न् बन जाता है (टि० १३९); यथा—गिरीन् , भूमीः, शत्रून् , धेनूः।

विशेष—बाहु का द्विती० द्वि० बाहवा मिलता है (टि० १७४) और पशु का द्विती० व० पश्वः तथा पशून् बनता है।

(२) अकारान्त भिन्न नपुं० प्रातिपदिकों से परे प्रथ० द्विती० ए० की विभक्ति का लोप हो जाता है[१७१]; यथा—दधि, मधु। प्रथ० द्विती० व० की विभक्ति (इ) से पूर्व अङ्ग को न् (पा० नुम्) का आगम होता है[१७२] और उस के पश्चात् अङ्ग के अन्तिम स्वर का दीर्घ हो जाता है (टि० ९५) है; यथा—शुचीनि, मधूनि।

विशेष—प्रथ० द्विती० व० के कुछ रूपों में अङ्ग के अन्तिम स्वर का दीर्घ होने के पश्चात् न् आगमसहित विभक्ति इ अर्थात् नि का लोप हो जाता है और कहीं-कहीं न् आगम से पूर्व ही विभक्ति का लोप हो जाता है (टि० १००); यथा—शुची, भूरि, वसू, मधु। पदपाठ में सर्वत्र ह्रस्व स्वर दिखलाया गया है। ऋ० में प्रथ० द्विती० व० के इकारान्त (भूरि जैसे) तथा ईकारान्त (शुची जैसे) प्रयोग लगभग तुल्य ही हैं और लगभग पचास रूपों में मिलते हैं। शुचीनि जैसे-पूर्ण रूप ऋ० में चौदह बार प्रयुक्त हुए हैं। परन्तु उकारान्त प्रातिपदिकों के मधूनि जैसे पूर्ण रूपों का प्रयोग विभक्तिलोप वाले प्रयोगों से ऋ० में अधिक है, और वसू जैसे ऊकारान्त रूपों की तुलना में मधु जैसे उकारान्त रूपों का

प्रयोग दुगुना है। बारह उकारान्त प्रातिपदिकों से विभक्तिलोप वाले रूप बनते हैं।

अुरि "श्रद्धालु" का द्विती० ए० अुरिम् तथा अुर्यम् बनता है। अनेक विद्वान् वा० सं० ६,३६ के अुरीः पद को इस का प्रथ० ए० मानते हैं[१७२क]।

(३) पुं० तथा नपुं० प्रातिपदिकों के तृ० ए० के रूपों में साधारणतया विभक्ति का ना बन जाता है[१७३]; यथा—शुचिना, मधुना। स्त्री० प्रातिपदिक के साथ विभक्ति का अविकृत रूप आ जोड़ा जाता है; यथा—शुच्या।

विशेष—नपुंसक रूपों में सर्वत्र विभक्ति का ना हो जाता है, परन्तु ऋ० के पांच इकारान्त तथा चार उकारान्त पुं० प्रातिपदिकों के साथ विभक्ति का अविकृत रूप आ जोड़ा जाता है[१७४] यथा; शुच्या, मध्वा। और पच्चीस इकारान्त तथा तीस उकारान्त प्रातिपदिकों के साथ विभक्ति का ना रूप आता है। स्त्री० प्रातिपदिकों के बहुत से रूपों में प्रातिपदिक के अन्तिम स्वर इ और विभक्ति के स्वर आ के स्थान पर पूर्ववर्ती स्वर (इ) का दीर्घ हो जाता है (टि० ९९); यथा—शुचि + आ = शुची; कृती। इस प्रकार के स्त्री० रूप ऋ० में साधारण (आकारान्त) रूपों से दुगुने हैं। कृती का प्रयोग प्रायेण च० के अर्थ में किया जाता है। लगभग एक दर्जन स्त्री० रूपों में इकारान्त प्रातिपदिक से परे आने वाली विभक्ति का लोप हो जाता है (टि० ९९); यथा; सुवृक्ति, सुशस्ति। इकारान्त स्त्री० प्रातिपदिकों के कतिपय रूपों में अङ्ग के साथ पुं० रूपों की भांति ना विभक्ति जोड़ी जाती है[१७५]; यथा—धासिना "स्थान" (ऋ० ६,६७,६); नाभिना (ऋ० ६,३९,४) प्रेतिना "प्रगति" (वा० सं० १५,६; शत० ब्रा० ८,५,३,३)।

विशेष—(४) उत्तरकालीन संस्कृत में सभी अजादि विभक्तियों से पूर्व इकारान्त, उकारान्त तथा ऋकारान्त प्रातिपदिकों के अन्तिम स्वर को न् का आगम किया जाता है[१७६], परन्तु वैदिक-भाषा में बहुत थोड़े प्रातिपदिकों के कतिपय रूपों में अजादि विभक्ति से पूर्व न् का आगम किया जाता है और प्रायेण इस न् आगम के बिना रूप बनाये जाते हैं; यथा—प्रथ०

द्विती० द्वि० शुची (ऋ०), उर्वी (उरु से, ऋ० का एकमात्र उदाहरण); च० ए० शुचये (ऋ०), उरवे; पं० ए० मघोः; ष० ए० भूरेः, मघोः। इकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों में न् आगम के उदाहरण लगभग अप्राप्य हैं, परन्तु उकारान्त प्रातिपदिकों की निम्नलिखित विभक्तियों में न् आगम के कतिपय उदाहरण उपलब्ध होते हैं; यथा— प्रथ० द्वि० जानुनी (वा० सं० २०,८, एकमात्र उदाहरण); च० ए० मधुने (ऋ०); पं० ष० ए० मधुनः; स० ए० सानुनि; ष० द्वि० जानुनोः (अ०)।

(५) प्रथ० ब० तथा च० पं० ष० ए० में पुं० और स्त्री० इकारान्त तथा उकारान्त प्रातिपदिकों के अङ्ग के अन्तिम स्वर को गुण हो जाता है[१७७]; और गुण स्वर के पश्चात् पं० ष० ए० की विभक्ति (अस्) के आदि अ का पूर्वरूप हो जाता है[१७८]। उदाहरण नीचे देखिये। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि च० पं० ष० ए० में जिन नपुं० प्रातिपदिकों के अङ्ग को न् का आगम नहीं होता उन के अन्तिम स्वर को गुण होकर पुं० तथा स्त्री० की भांति रूप बनते हैं।

विशेष—(क) कुछ रूपों में इकारान्त तथा उकारान्त प्रातिपदिकों के अङ्ग को गुण नहीं होता है[१७९]; यथा—प्रथ० ब० पुं० स्त्री० अर्यः (ऋ० में १६ बार, अरि "श्रद्धालु" से); पुं० स्त्री० मध्वः (ऋ० में ४ बार), स्त्री० शतक्रत्वः (ऋ० १०,९७,२); च० ए० पुं० क्रत्वे (क्रतु से), शिश्वे (शिशु से), सहस्रबाह्वे (बाहु से), नपुं० पश्वे[१८०]; पं० ए० पुं० पित्वः (पितु "अन्न" से), नपुं० मध्वः (एक बार); ष० ए० पुं० अर्यः (अरि से), अव्यः (अवि "भेड़" से), पश्वः, पित्वः, क्रत्वः; पुं० नपुं० मध्वः, वस्वः (वसु से)।

(ख) ऋ० में प्रथ० ब० से पूर्व दस इकारान्त स्त्री० प्रातिपदिकों के कुछ रूपों में अन्तिम इ को गुण नहीं होता है (टि० १७९) और ईकारान्त स्त्री० रूपों की भांति अङ्ग के अन्तिम इकार तथा अस् विभक्ति के अकार के स्थान पर पूर्वसवर्णदीर्घ (ई) हो जाता है[१८१]; यथा— अवनीः "धाराएं", आजानीः "जन्म", ऊतीः "अनुग्रह", भूमीः, अङ्गुलीः (अ०), नाभीः (अ०)। सामान्यतया अवनयः, ऊतयः, भूमयः

इत्यादि बनते हैं। च० पं० प० ए० में इकारान्त स्त्री० प्रातिपदिकों के कुछ रूप ईकारान्त स्त्री० की भांति बनते हैं और अन्तिम स्वर को गुण नहीं होता है; यथा—च० ए० भृत्यै (भृति "भरण" से); पं० प० ए० भूम्याः, प० एं० युवत्याः। ब्राह्मणग्रन्थों में प० ए० विभक्ति के स्थान पर च० ए० विभक्ति ऐ (आ+ए) का प्रयोग मिलता है (टि० १५५)।

(ग) वेबर दिद्योत् (तै० सं० १,८,१४,१) तथा विद्योत् (वा० सं० २२,२) को उकारान्त प्रातिपदिक का पं० ए० मानता है[१८२]।

(६) स० ए० में प्रातिपदिक के अन्तिम स्वर का अ बन जाता है और विभक्ति (इ) का औ बन जाता है[१८३]; यथा—शुचौ, मधौ।

विशेष—(क) परन्तु पुं० तथा स्त्री० इकारान्त प्रातिपदिकों के लगभग एक तिहाई रूपों में इ विभक्ति के स्थान पर आ (पा० डा) का प्रयोग होता है और अङ्ग के अन्तिम स्वर का लोप हो जाता है (टि० ९९); यथा—स० ए० पुं० अग्ना, स्त्री० नाभा। केवल एक रूप अप्रता (ऋ० ८,३२, १६) नपुं० में मिलता है।

(ख) कुछ इकारान्त स्त्री० प्रातिपदिकों के साथ स० ए० में ईकारान्त स्त्री० प्रातिपदिकों की भांति आम् (टि० १५३) विभक्ति आती है[१८४]; यथा—भूम्याम्, युवत्याम्।

(ग) चार प्रयोगों में वेदि का स० ए० वेदी और ऋ० ३,५१,७ में प्रणीति का स० ए० प्रणीती बनता है [दे० अनु० ४५ ख (२)]। प्रणीती तृ० ए० का रूप भी हो सकता है जैसा कि सायण ने माना है।

(घ) कुछ उकारान्त पुं० तथा नपुं० प्रातिपदिकों के स० ए० रूप में अङ्ग के अन्तिम स्वर को गुण होने पर इ विभक्ति जोड़ी जाती है (इ का औ नहीं बनता है, न उ का अ; दे० टि० १७९); यथा—पुं० सूनवि (सूनु से), नपुं० सानवि (सानु से)।

(७) सम्बुद्धि में इकारान्त तथा उकारान्त पुं० स्त्री० प्रातिपदिकों के अन्तिम स्वर को गुण हो जाता है[१८५] और विभक्ति (स् का लोप हो

जाता है (टि० १४३); यथा—अग्ने, अदिते, वायो, सिन्धो।

विशेष—नपुं० में गुग्गुलु (अ० १९,३८,२; पाभे० गुल्गुलु, गुग्गुलु, गुग्गुलो) तथा उरो (तै० सं० १,३,८,१) दो उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जिन में से एक को गुण हुआ है[१८६]।

(८) वि "पक्षी" का प्रथ० ए० विः तथा वेः बनता है[१८७]। जनि "पत्नी" का ष० ए० जन्युः (ऋ० १०,१०,३) और प्रथ० ए० जनी (ऋ० ४,५२,१) माना जाता है[१८८]। अक्षि, अस्थि, दधि तथा सक्थि अपूर्ण प्रातिपदिक हैं और इन के पूरक प्रातिपदिकों के लिये देखिये अनु० १३० (ग)।

स्वर-वैशिष्ट्य—जिन विभक्तियों में अन्तोदात्त प्रातिपदिकों के इ उ का य् व् बनता है, उन विभक्तियों में तथा ष० ब० में अन्तोदात्त प्रातिपदिकों का उदात्त विभक्ति के स्वर पर चला जाता है; यथा—क्रत्वः, अर्यः, अग्नीनाम्, पशूनाम्।

शुचि तथा मधु के रूप—

यद्यपि किसी भी प्रातिपदिक के सम्पूर्ण रूप नहीं मिलते हैं, तथापि शुचि "शुभ्र" तथा मधु "मधुर" शब्दों के अनेक रूप तीनों लिङ्गों में उपलब्ध होते हैं। अत एव हम इन के रूप चलाएंगे। इकारान्त तथा उकारान्त प्रातिपदिकों के उपलब्ध रूपों के आधार पर इनके रूप इस प्रकार बनेंगे—

शुचि पुं०

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	शुचिः	शुची	शुचयः।
सम्बो०	शुचे	शुची	शुचयः।
द्विती०	शुचिम्	शुची	शुचीन्।
तृ०	शुचिना, शुच्या	शुचिभ्याम्	शुचिभिः।
च०	शुचये	,,	शुचिभ्यः।
पं०	शुचेः	,,	,,

ष०	शुचेः	शुच्योः	शुचीनाम् ।
स०	शुचौ, शुचा	,,	शुचिषु ।

शुचि स्त्री०

प्रथ०	शुचिः	शुची	शुचयः ।
सम्बो०	शुचे	शुची	शुचयः ।
द्विती०	शुचिम्	शुची	शुचीः ।
तृ०	शुच्या, शुची, शुचि	शुचिभ्याम्	शुचिभिः ।
च०	शुचये	शुचिभ्याम्	शुचिभ्यः ।
पं०	शुचेः	शुचिभ्याम्	शुचिभ्यः ।
ष०	शुचेः	शुच्योः	शुचीनाम् ।
स०	शुचौ, शुचा	,,	शुचिषु ।

शुचि नपुं०

प्रथ० द्विती०	शुचि	शुची	शुची, शुचि, शुचीनि
सम्बो०	×	×	×
तृ०	शुचिना (एकमात्र उदाहरण, ऋ० २,३५,८)	शुचिभ्याम्	×
च०	शुचये (एकमात्र उदाहरण, ऋ० ७,४१,६)	×	×
पं०	×	×	शुचिभ्यः ।
ष०	शुचेः	×	× ।
स०	शुचौ, शुचा	शुच्योः	शुचिषु ।

× इन के उदाहरण अनुपलब्ध हैं ।

मधु पुं०

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	मधुः	मधू	मधवः, मध्वः ।
सम्बो०	मधो	मधू	मधवः, मध्वः ।
द्विती०	मधुम्	मधू	मधून् ।

तृ०	मधुना, मध्वा ;	मधुभ्याम् ;	मधुभिः ।
च०	मधवे, मध्वै ;	मधुभ्याम् ;	मधुभ्यः ।
पं०	मधोः, मध्वः ;	मधुभ्याम् ;	मधुभ्यः ।
ष०	मधोः, मध्वः ;	मध्वोः ;	मधूनाम् ।
स०	मधौ, मधवि ;	मध्वोः ;	मधुषु ।

मधु स्त्री०

प्रथ०	मधुः ;	मधू ;	मधवः, मध्वः ।
सम्बो०	मधो ;	मधू ;	मधवः, मध्वः ।
द्विती०	मधुम् ;	मधू ;	मधूः, मध्वः ।
तृ०	मध्वा ;	× ;	मधुभिः ।
च०	मधवे ;	× ;	मधुभ्यः ।
पं०	मधोः ;	× ;	मधुभ्यः ।
ष०	मधोः ;	× ;	मधूनाम् ।
स०	मधौ ;	मध्वोः ;	मधुषु ।

मधु नपुं०

प्रथ० द्विती०	मधु ;	मध्वी, मधुनी ;	मधू, मधु, मधूनि
सम्बो०	मधु, मधो ;	× ;	×
तृ०	मधुना, मध्वा ;	× ;	मधुभिः ।
च०	मधुने, मधवे, मध्वै ;	× ;	मधुभ्यः ।
पं०	मधुनः, मधोः, मध्वः ;	मधुभ्याम् (अ०) ;	×
ष०	मधुनः, मधोः, मध्वः ;	मधुनोः (अ०) ;	मधूनाम् ।
स०	मधुनि, मधौ, मधवि ;	×	मधुषु ।

× इन के उदाहरण अनुपलब्ध हैं ।

२४१. पति तथा सखि के रूप—

इन दोनों प्रातिपदिकों के रूपों की अनेक विशेषताएं हैं । अत एव इनका पृथक् विवेचन वाञ्छनीय है । पति के रूप प्रथ० तथा द्विती० में और इन दोनों शब्दों के रूप सम्बुद्धि में और तृ० द्वि० आदि हलादि

तथा ओस् (ष० स० द्वि०) से पूर्व साधारण इकारान्त (घिसंज्ञक) प्रातिपदिकों के समान बनते हैं।

(क) पति के रूप—जब पति शब्द का अर्थ "भर्ता" होता है और यह समास के उत्तरपद में नहीं आता है, तब इसके तृ० च० ए० में शुद्ध अङ्ग के साथ विभक्ति का शुद्धरूप (आ, ए) जोड़ा जाता है; यथा—पत्या, पत्ये। पति "भर्ता" से परे पं० ष० ए० की विभक्ति को उस् आदेश और स० ए० विभक्ति को औ आदेश हो जाता है[१८९]; यथा—पत्युः, पत्यौ। अन्य विभक्तियों में इसके रूप साधारण इकारान्त (घिसंज्ञक) प्रातिपदिकों की भांति बनते हैं।

परन्तु जब पति शब्द "स्वामी" अर्थ का वाचक है या समास के उत्तरपद में आता है, तब इसके रूप साधारण इकारान्त (घिसंज्ञक) प्रातिपदिकों की भांति बनते हैं[१९०]; यथा—पतिना, पतये (अ० ३,१०, ९), ष० ए० पतेः (ऋ० ९,३५,६), बृहस्पतिना, बृहस्पतये, पं० ए० प्रजापतेः, ष० ए० बृहस्पतेः, स० ए० गोपतौ।

अपवाद—उपर्युक्त नियम के अपवाद भी मिलते हैं। "भर्ता" अर्थ के वाचक पति शब्द के रूप घिसंज्ञक के समान मिलते हैं; यथा—पतौ (अ० ३,१८,३)। इसके विपरीत "स्वामी" अर्थ के वाचक पति शब्द के रूप गुणरहित अङ्ग के साथ शुद्ध विभक्ति से बनते हैं; यथा—पत्ये विश्वस्य भूमनः (वा० सं० १७,७८)। पति का स्त्री० पत्नी बनता है और उसके रूप ईकारान्त स्त्री० (देवी इत्यादि) के सदृश चलते हैं।

(ख) सखि के रूप—प्रथ० ए० में सखि का सखा रूप बनता है और सर्वनामस्थान की सम्बुद्धिवर्जित विभक्तियों से पूर्व सखि के इ को गुण हो जाता है[१९१]; यथा—प्रथ० ए० सखा; द्वि० सखाया, सखायौ; ब० सखायः। द्विती० ए० सखायम्; द्वि० सखाया, सखायौ; ब० सखीन्। सम्बो० ए० सखे।

च० ए० इत्यादि विभक्तियों से पूर्व सखि के इ को गुण नहीं होता है (टि० १६९) और तृ० च० ए० की शुद्ध विभक्ति (आ, ए) शुद्ध अङ्ग के साथ जोड़ी जाती है; यथा—सख्या, सख्ये। पं० ष० ए०

की विभक्ति को उस् और स० ए० की विभक्ति को औ आदेश (टि० १८९) हो जाता है; यथा—सख्युः, (सख्यौ)।

ऋ० में आठ समासों के उत्तरपद में आने वाले सखि शब्द के रूप पुं० तथा स्त्री० में उपर्युक्त नियमों के अनुसार बनते हैं; यथा—प्रथ० ए० पुं० स्त्री० मरुत्सखा (बस०), पुं० गोसखायम्, सुसखायः। परन्तु ऋ० के चार समासों के उत्तरपद में आने वाला सखि शब्द अकारान्त बना दिया गया है[१९२]; यथा—मन्दयत्सखम् (ऋ० १,४,७)। दे० अनु० १९१ (ख)।

ईकारान्त तथा ऊकारान्त प्रातिपदिक

१४२. अधिकतर ईकारान्त तथा ऊकारान्त प्रातिपदिक स्त्री० में प्रयुक्त होते हैं और पुं० प्रातिपदिक बहुत थोड़े हैं। समासों के उत्तरपद में प्रयुक्त होने वाले विशेषणात्मक प्रातिपदिक पुं० तथा स्त्री० में आते हैं। नपुं० में कोई ईकारान्त तथा ऊकारान्त प्रातिपदिक नहीं है और समास के उत्तरपद में आने वाला ईकारान्त तथा ऊकारान्त प्रातिपदिक जब नपुं० का विशेषण बनता है, उस का अन्तिम ई ऊ ह्रस्व हो जाता है (टि० १६०)।

रूप-रचना के विचार से प्रातिपदिकों को पाणिनीय व्याकरण के अनुसार तीन मुख्य वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) नदीसंज्ञक प्रातिपदिक[१९३];
(२) इयङुवङ्स्थान प्रातिपदिक[१९४] तथा
(३) यण्स्थान प्रातिपदिक।

नदीसंज्ञक प्रातिपदिक प्रायेण अनेकाच् और इयङुवङ्स्थान प्रातिपदिक एकाच् हैं। पुं० प्रातिपदिकों की विशेषता यह है कि उन के अङ्ग में तथा विभक्ति में प्रायेण विकार नहीं होता है। कुछेक पुं० प्रातिपदिक एकाच् हैं और अधिकतर पुं० प्रातिपदिक समासों के उत्तर-पद में मिलते हैं। अधिकतर पुं० प्रातिपदिक तृतीय वर्ग में आते हैं, परन्तु तृतीय वर्ग में अनेक स्त्री० प्रातिपदिक भी सम्मिलित हैं।

ईकारान्त प्रातिपदिकों के रूप

१४२. (क) नदीसंज्ञक ईकारान्त प्रातिपदिक—

नदीसंज्ञक ईकारान्त प्रातिपदिकों की संख्या बहुत बड़ी है और इन में से अधिकतर प्रातिपदिक स्त्रीवाचक ई (पा० ङी) प्रत्यय जोड़ने से बने हुए हैं[१९५]। इन प्रातिपदिकों को ङ्यन्त कहा जा सकता है। देवी प्रातिपदिक को इन का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। इस वर्ग में कतिपय प्रातिपदिक ऐसे हैं जिन के रूप प्रथ० द्विती० के सब वचन, च० पं० ष० स० ए० में कहीं-कहीं भिन्न बनते हैं। इन में वृकी, यमी, गौरी आदि प्रमुख हैं और वृकी को इन का प्रतिनिधि माना जा सकता है। उत्तरकालीन संस्कृत में दोनों की रूप-रचना का भेद विलीन हो गया।

विभक्तिविकार तथा अङ्गविकार—

(१) ङ्यन्त प्रातिपदिकों से परे आने वाले प्रथ० ए० स् का लोप हो जाता है (टि० १४८); यथा—देवी।

विशेष—जो ईकारान्त प्रातिपदिक ङ्यन्त नहीं माने जाते हैं उन से परे प्रथ० ए० स् का लोप नहीं होता है। यद्यपि उत्तरकालीन संस्कृत भाषा में ऐसे प्रातिपदिक कुछेक हैं, तथापि वैदिक भाषा में ३३ प्रातिपदिकों से बने ५६ रूप मिलते हैं जिनमें स् का लोप नहीं होता है; यथा—लक्ष्मीः, नाद्यीः, तन्द्रीः, शकटीः। कुछ प्रातिपदिकों के अन्त में ङी प्रत्यय माना जाता है, तब भी वेद में उन से परे स् विभक्ति का लोप नहीं होता है; यथा—गौरीः (ऋ० १, १६४, ४१), कल्याणीः (ऋ० ३, ५३, ६), यमीः (ऋ० १०, १०,९); वृकीः।

(२) सम्बुद्धि में अङ्ग के अन्तिम स्वर का ह्रस्व हो जाता है (टि० १५४) यथा—देवि।

(३) प्रथ० द्विती० द्वि० के अधिकतर रूपों में औ विभक्ति अङ्ग के ई में विलीन (अर्थात् पूर्वरूप) हो जाती है (टि० १८१); यथा—देवी। ऋ० में एक भी ऐसा रूप नहीं मिलता है जिस में औ आता हो, परन्तु अन्य संहिताओं के कुछेक रूपों में औ मिलता है; यथा—फल्गुन्यौ (अ०), गवीन्यौ (तै० सं०),

पत्न्यौ (वा० सं०)। कुछ रूपों में औ का आ हो जाता है; यथा— नुद्या, यम्या (ऋ०), नाड्यौ (अ०)।

(४) अधिकतर वैदिक रूपों में प्रथ० ब० विभक्ति अस् (पा० जस्) का अकार अङ्ग के अन्तिम ई में विलीन (अर्थात् पूर्वरूप) हो जाता है (टि० १८१); यथा—देवीः। ऋ० में उपलब्ध होने वाले ४०० से अधिक रूपों में से केवल स्त्रियः, पृशान्यः तथा सुपर्ण्यः में इस का अपवाद मिलता है। इसी प्रकार अ० के दो रूपों में और वा० सं० के लगभग दस रूपों में इस नियम का अपवाद मिलता है।

द्विती० ब० के रूपों में सर्वत्र अस् (पा० शस्) विभक्ति का अकार अङ्ग के अन्तिम ई में विलीन हो जाता है (टि० १७०); यथा—देवीः। परन्तु वृकी सदृश प्रातिपदिकों के प्रथ० द्विती० ब० रूपों में विभक्ति (अस्) का पूर्वरूप नहीं होता है; यथा—गौर्यः, नुद्यः, यम्यः।

(५) द्विती० ए० की अम् विभक्ति का अकार प्रायेण अङ्ग के अन्तिम ई में विलीन हो जाता है[१९५]; यथा—देवीम्। परन्तु वृकी सदृश प्रातिपदिकों के रूपों में विभक्ति के अ के निमित्त से अङ्ग के ई का य् बन जाता है (टि० १९६); यथा—नुद्यम् (ऋ०), गौर्यम् (ऋ०), सिंह्यम्, कुमार्यम् (अ०), लक्ष्म्यम् (अ०), वृक्यम् (ऋ०)।

(६) च० पं० ष० ए० की विभक्ति से पूर्व आ (पा० आट्) आगम जोड़ा जाता है[१९७]; और उस से इन विभक्तियों का रूप क्रमशः ऐ, आस्, आस् बन जाता है: यथा—देव्यै, देव्याः, देव्याः। परन्तु वृकी सदृश प्रातिपदिकों की विभक्तियों को आ आगम नहीं होता है; यथा—च० ए० वृक्ये; ष० ए० नुद्यः (ऋ०)।

(७) स० ए० की विभक्ति इ को आम् आदेश हो जाता है (टि० १५३); यथा—देव्याम्। परन्तु दो रूपों में स० ए० की विभक्ति का लोप हो जाता है[१९८], यथा—गौरी (ऋ० ९, १२, ३), सरसी (ऋ० ७, १०३, २)।

(८) स्त्री शब्द के रूप नदीसंज्ञक तथा इयङ्स्थान प्रातिपदिकों की

भाँति बनते हैं। प्रथ० ए० में स् का लोप होता है और च० पं० ष० स० ए० में भी नदीसंज्ञक रूपों के प्रत्यय ऐ, आस्, आस्, आम् आते हैं; परन्तु अजादि विभक्तियों से पूर्व इयङ् आदेश भी होता है[१९]; यथा—स्त्री, स्त्रियम्, प्रथ० द्विती० ब० स्त्रियः, स्त्रीभिः, स्त्रियै (अ०), ष० ए० स्त्रियाः।

(१) पा० ७, १, १० (टि० १४१) का व्याख्यान करते हुए काशि० ने नदी का तृ० ब० नद्यैः वैदिक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, परन्तु वैदिक भाषा में ऐसा कोई प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है।

स्वर-वैशिष्ट्य—तृ० च० पं० ष० स० ए०, ष० स० द्वि०, तथा ष० ब० में अन्तोदात्त प्रातिपदिकों का उदात्त विभक्ति के अच् पर चला जाता है। वृकी सदृश अन्तोदात्त अङ्ग से परे अजादि विभक्ति आने पर उदात्त का नाश हो कर विभक्ति के अच् पर क्षैप्र स्वरित आ जाता है, और ष० ब० की विभक्ति से पूर्व उदात्त अङ्ग पर ही रहता है। तृ० ब० में स्त्री का उदात्त विभक्ति पर चला जाता है।

उपलब्ध रूपों के आधार पर देवी शब्द के रूप इस प्रकार बनेंगे—

देवी के रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	देवी ;	देवी ;	देवीः।
सम्बो०	देवि ;	देवी ;	देवीः।
द्विती०	देवीम् ;	देवी ;	देवीः।
तृ०	देव्या ;	× ;	देवीभिः।
च०	देव्यै ;	देवीभ्याम् ;	देवीभ्यः।
पं०	देव्याः ;	,, ;	,, ।
ष०	,, ;	देव्योः ;	देवीनाम्[२००]।
स०	देव्याम् ;	,, ;	देवीषु।

वृकी सदृश प्रातिपदिकों के उपलब्ध रूपों के आधार पर वृकी के रूप इस प्रकार बनेंगे—

वृकी के रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	वृकीः	वृक्या	वृक्यः ।
द्वितीο	वृक्यम्	वृक्या	वृक्यः ।
तृ०	वृक्या	वृकीभ्याम्	वृकीभिः ।
च०	वृक्यै	×	वृकीभ्यः ।
ष०	वृक्यः	वृक्योः	वृकीणाम् ।
स०	(सरसी, गौरी)	वृक्योः	वृकीषु ।

(ख) इयङ्स्थान प्रातिपदिकों के रूप—

इयङ्स्थान प्रातिपदिक प्रायेण एकाच्, स्त्री० और धातुज हैं। धी "बुद्धि", भी "भय" तथा श्री "कान्ति" ये तीन एकाच् स्त्री० प्रातिपदिक हैं, और समासों के उत्तरपद में इन प्रातिपदिकों के आने से भी कुछ नये प्रातिपदिक बनते हैं; यथा—अबुद्धभी, आधी। समासों के उत्तरपद में √क्री "खरीदना", √नी "ले जाना", √प्री "प्रेम करना", √श्री "मिश्रित करना", तथा √मी "घटाना" का कृदन्त रूप आने से भी कुछ प्रातिपदिक बनते हैं; यथा—प्रक्री "खरीदने योग्य", आप्री "प्रीति प्राप्त करने वाली", अभिश्री "सम्यक् मिश्रण, या मिश्रण करने वाली"।

विभक्तियां— प्रथ० ए० विभक्ति स् का लोप नहीं होता है। ष० ब० में अङ्ग के साथ नाम् विभक्ति जोड़ी जाती है, और उपलब्ध रूपों में से केवल एक रूप में ष० ब० आम् विभक्ति का प्रयोग मिलता है—धियाम्। प्रथ० द्विती० द्वि० में प्रायेण आ विभक्ति आती है और शेष विभक्तियों का अविकृत रूप प्रयुक्त होता है। स० ब० में सु का षु अवश्य बनता है।

विशेष—नदीसंज्ञक प्रातिपदिकों के रूपों के सदृश इन प्रातिपदिकों के रूप बनाने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई[२०१], और इस प्रकार के कतिपय रूप ये हैं—भियै (ऋ०); ह्रियै (वा० सं०); श्रियै (वा० सं०), ष० ए० श्रियाम् (अ०), श्रीम् (शत० ब्रा०)।

इयङ् तथा यण् का नियम—अजादि विभक्ति से पूर्व एकाच् ईकारान्त प्रातिपदिक के ई के स्थान पर इय् (पा० इयङ्) हो जाता है (दे० अनु० १७)। अनेकाच् प्रातिपदिक के अन्तिम ई के स्थान पर भी इय् होता है, यदि ई से ठीक पूर्व संयुक्त व्यञ्जन हों (टि० २०४); यथा—अभिश्रियः, आध्रियः। अन्यथा ई का य् बनता है; यथा—च० ए० आध्ये, प्रथ० ब० आध्यः (आधी से)।

स्वर-वैशिष्ट्य—इन की प्रमुख विशेषता यह है कि ये प्रातिपदिक प्रायेण अन्तोदात्त हैं और अनेकाच् प्रातिपदिकों का उदात्त सम्बोधनवर्जित सभी रूपों में अचल रहता है। प्रथ० द्विती० को छोड़ कर शेष विभक्तियों में एकाच् प्रातिपदिकों का उदात्त विभक्ति पर चला जाता है। उपलब्ध रूपों के आधार पर धी के रूप इस प्रकार बनेंगे—

धी के रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	धीः	धिया, धियौ	धियः।
द्विती०	धियम्	धिया, धियौ	धियः।
तृ०	धिया	×	धीभिः।
च०	धिये	×	×
प०	धियः	×	धीनाम्, धियाम्(एक बार)।
स०	×	×	धीषु।

× इन के उदाहरण अनुपलब्ध हैं[२०२]।

(ग) पुं० प्रातिपदिक—तिरश्ची, नर्मी, पृथी, मातली, सोभरी (सब व्यक्तिविशेषों के नाम;) राष्ट्री "शासक" तथा सिरी "जुलाहा या हलवाहा ?"—ये सात प्रातिपदिक पुं० माने जाते हैं और इन के रूप नदीसंज्ञक ईकारान्त प्रातिपदिकों की भांति बनते हैं[२०३]; यथा—प्रथ० ए० विभक्ति स् का लोप हो जाता है, तृ० ए० में आ, और प०

एं० में आस् विभक्ति आती है। इन से बने हुए निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं।

प्रथ० ए० नमीं, पृथीं, मार्तली, राष्ट्री (ऋ० ६,४,५), सोभरी (ऋ० ८,२२,१५)।

प्रथ० ब० सिरीः (ऋ० १०,७१,९)।

द्वितीं० ए० नमीम्।

तृ० ए० नम्यां।

ष० ए० तिरश्च्याः, पृथ्याः, सोभर्याः (ऋ० ८,१०३,१४)।

इयङ्स्थान तथा यण्स्थान पुं० प्रातिपदिक—पुं० में केवल एक प्रातिपदिक वी "इच्छुक, पाने वाला"—एकाच् है और उसका एक ही रूप वीः (ऋ १,१४३,६) प्रथ० ए० में उपलब्ध होता है। शेष सभी ईकारान्त प्रातिपदिक अनेकाच् हैं। प्रायेण बहुव्रीहि समासों के उत्तरपद में धी तथा श्री आने से कई पुं० प्रातिपदिक बनते हैं; यथा—**ऋतधी** "शुद्ध बुद्धि वाला", **दीर्घाधी** "विशाल बुद्धि वाला", **दुराधी** तथा **दूढी** "दुष्ट बुद्धि वाला", **नानाधी** "अनेक मतियों वाला", **सुधी** "अच्छी बुद्धि वाला"; **अध्वरश्री** "यज्ञ को सुशोभित करने वाला", **क्षत्रश्री** "राष्ट्र को सुशोभित करने वाला", **घृतश्री** "घृत द्वारा सुशोभित", **जनश्री** "जनता को सुशोभित करने वाला", **यज्ञश्री** "यज्ञ को सुशोभित करने वाला", इत्यादि। समासों के उत्तरपद में √क्री "खरीदना", √नी "ले जाना, नेतृत्व करना", √प्री "प्रेम करना", √मी "घटाना", √वी "जाना, ढांपना", तथा √शी "सोना", तथा √श्री "मिश्रित करना" के कृदन्त रूप आने से कई प्रातिपदिक बनते हैं; यथा—**सद्यःक्री** "तुरन्त खरीदा हुआ", **अग्रेणी** "नेता", **ग्रामणी** "ग्राम का नेता", **सेनानी** "सेना का नेता", **यज्ञप्री** "यज्ञ से प्रेम करने वाला", **मन्युमी** "क्रोध को घटाने वाला", **वातप्रमी** "वायु को पीछे छोड़ने वाला", **देववी** "देवों को प्रसन्न करने वाला", **पदवी** "नेता", **मध्यमशी** "बीच में सोने वाला", **गणश्री** "समूह को मिश्रित करने वाला", इत्यादि।

इनके अतिरिक्त कतिपय ईकारान्त पुं० प्रातिपदिक ये भी हैं—अ॒ही "सांप", उ॒पा॒वी "प्रोत्साह देने वाला", य॒यी "जाता हुआ", र॒थी "कोचवान"।

इयङ् तथा यण् का नियम—जिस ईकारान्त प्रातिपदिक के अन्तिम ई से ठीक पूर्व संयुक्त व्यञ्जन हों उससे परे अजादि विभक्ति आने पर ई के स्थान पर इय् (पा० इयङ्) हो जाता है, परन्तु ई से पूर्व संयुक्त व्यञ्जन न होने पर ई का य् (पा० यण्) बनता है[२०४]; यथा—प्रथ० ब० अ॒ग्नि॒श्रियः, अ॒ध्व॒र॒श्रियः; द्विती० ए० अ॒ध्व॒र॒श्रियम्, क्ष॒त्र॒श्रियम्; प० ए० गु॒ण॒श्रियः; परन्तु—प्रथ० ब० ग्रा॒म॒ण्यः (अ०), र॒थ्यः; द्विती० ए० ग्रा॒म॒ण्यम् (वा० सं०)।

विशेष—(१) कुछ वैदिक प्रयोगों में सु॒धी के ई को इय् और कहीं-कहीं य् आदेश होता है[२०५]; यथा— प्रथ० ब० सु॒ध्यः (ऋ० ६,१,७), सु॒धियः (तै० ब्रा० ३,६,१०,३)।

(२) समास में जिन एकाच् ईकारान्त प्रातिपदिकों से पूर्व कारक या गति से भिन्न (अर्थात् विशेषण, आदि) शब्द हो, उनके ई को भी इय् आदेश होता है[२०६]; यथा—प्रथ० ब० दी॒र्घाधियः, नानाधियः; च० ए० इ॒त्थाधिये।

विभक्तियां—इन प्रातिपदिकों के साथ जुड़ने वाली विभक्तियों में प्रायेण कोई विकार नहीं होता है। कहीं-कहीं प्रथ० द्विती० द्वि० में आ विभक्ति का प्रयोग मिलता है।

जिन ईकारान्त प्रातिपदिकों के ई को इय् होता है उनके उपलब्ध रूपों के आधार पर य॒ज्ञ॒श्री के रूप इस प्रकार बनेंगे—

य॒ज्ञ॒श्री के रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	य॒ज्ञ॒श्रीः	य॒ज्ञ॒श्रिया, य॒ज्ञ॒श्रियौ (अ०)	य॒ज्ञ॒श्रियः
द्विती०	य॒ज्ञ॒श्रियम्	,, ,,	,,
तृ०	य॒ज्ञ॒श्रिया	×	य॒ज्ञ॒श्रीभिः।

च० ए० यज्ञश्रियै ।

ष० ए० यज्ञश्रियः ।

जिन ईकारान्त प्रातिपदिकों के ई को य् होता है उनके उपलब्ध रूपों के आधार पर (तथा रथी प्रातिपदिक के अपने उपलब्ध रूपों के आधार पर) इसके रूप इस प्रकार बनेंगे—

रथी के रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	रथीः	रथ्या	रथ्यः ।
सम्बो०	×	रथ्या	रथ्युः ।
द्विती०	रथ्यम्	रथ्या	रथ्यः ।
तृ०	रथ्या	रथीभ्याम्	रथीभिः ।
च०	रथ्यै	×	रथीभ्यः ।
ष०	रथ्यः	रथ्योः	रथीनाम् ।

पं० स० तथा सम्बुद्धि का कोई उदाहरण नहीं मिलता है[२०७] ।

ऊकारान्त प्रातिपदिक

१४४. जू "गतिशील, घोड़ा", दू "दान", भू "पृथिवी", भ्रू "भौंह", सू "जनयिता, जनयित्री", स्यू "धागा", स्रू "धारा"—ये सात प्रातिपदिक एकाच् हैं जिन में से जू पुं०, सू पुं० स्त्री० और शेष सब स्त्री० शब्द हैं । इन के अतिरिक्त लगभग साठ समासों के उत्तरपद में लगभग ग्यारह धातुओं से बने हुए ऊकारान्त एकाच् प्रातिपदिक आते हैं, जिन में से कुछ स्त्री० और पुं० संज्ञाएं हैं और कुछ उभयलिङ्ग विशेषण हैं;—यथा अपीजू "प्रेरक", धीजू "बुद्धि-प्रेरक", मनोजू "मनः-प्रेरक", अग्रेपू "पहले पीने वाला", उदपू "जल-पूत", केतपू "संकल्प को पवित्र करने वाला", स्वपू "झाड़ू", अभिभू "अभिभूत करने वाला", आभू "विद्यमान", परिभू "घेरने वाला", प्रभू "श्रेष्ठ", मयोभू "सुखोत्पादक", विभू "दूर तक व्यापक",

शुम्भू "कल्याणकारी", विश्वसू "सब को उत्पन्न करने वाली", वीरसू "वीर को जन्म देने वाली", सुहू "अच्छी प्रकार आह्वान करने वाला", अग्रेगू "आगे जाने वाला", रघुद्रू "तेज़ भागने वाला", घृतस्नू "घी टपकाने वाला"। जुहू "जिह्वा" स्त्री०, जुहू "यज्ञीय चमच" स्त्री० और जोगू "ज़ोर से गाने वाला" पुं०, ये प्रातिपदिक धातुओं के द्वित्व द्वारा बने हुए माने जाते हैं। उपर्युक्त प्रातिपदिक कृदन्त हैं और इन में पुं० तथा स्त्री० दोनों प्रकार के शब्द हैं।

द्वितीय वर्ग के प्रातिपदिक प्रायेण उकारान्त पुं० प्रातिपदिकों तथा विशेषणों के साथ स्त्रीत्ववाची ऊ प्रत्यय जोड़ कर बनाये गये हैं[२०८]। प्राशू "अतिथि", अतप्ततनू "जिसका शरीर नहीं तपाया गया है", सर्वतनू "विश्व जिसका शरीर है", कृकदाशू (एक राक्षस), मक्षू "शीघ्र"—इन पांच प्रातिपदिकों के अतिरिक्त शेष सभी स्त्री० हैं। कुछ ऊकारान्त स्त्री० प्रातिपदिक आद्युदात्त उकारान्त नपुं० या पुं० प्रातिपदिकों से बने हुए माने जाते हैं; यथा—अग्रू (पुं० अग्रु) "कुमारी", कद्रू (पुं० कद्रु "भूरा") "सोम-पात्र", गुग्गुलू (नपुं० गुग्गुलु) "एक अप्सरा का नाम", जतू (नपुं० जतु) "चमगीदड़", धनू (पुं० धनु) "सूखी मिट्टी का तट", पृदाकू (पुं० पृदाकु) "सांप", मधू (मधु) "मधुर"। श्वश्रू "सास" अकारान्त श्वशुर से बनता है (टि० २०८)।

बहुत से अन्तोदात्त ऊकारान्त स्त्री० वि० प्रातिपदिकों का आधार अन्तोदात्त उकारान्त पुं० वि० प्रातिपदिक माना जाता है, यद्यपि सभी स्त्री० प्रातिपदिकों के आधारभूत पुं० प्रयोग उपलब्ध नहीं होते हैं; यथा—अंहोयू "कष्टप्रद", अघायू "बुरा चाहने वाली", अपस्यू "कर्मशील", अभिदिप्सू "धोखा देने की इच्छुक", अवस्यू "अनुग्रह की इच्छुक", आयू "कर्मशील", जिघत्सू "भूखी", तनू "पतली", पतयालू "उड़ती हुई", बभ्रू "भूरी", बीभत्सू "घृणा करने वाली", सनायू "प्राप्त करने की इच्छुक", इत्यादि।

निम्नलिखित ऊकारान्त स्त्री० प्रातिपदिकों के लिये आधारभूत पुं० प्रातिपदिकों का निर्देश करना कठिन है—कुहू "चन्द्रदर्शन रहित

अमावास्या", चमू "सोमपात्र", सुहू "जिह्वा", जुहू "यज्ञीय चमच", तनू "शरीर", वधू "वहू"।

उवङ् तथा यण् का नियम—(१) एकाच् ऊकारान्त प्रातिपदिकों से परे अजादि विभक्ति आने पर अङ्ग के ऊ के स्थान पर उव् आदेश हो जाता है (अनु० ६७); यथा—प्रथ० व० जुवः; भुवः। जिन समासों का उत्तरपद धातुज एकाच् हैं उन का अन्तिम ऊ भी अजादि विभक्ति से पूर्व उव् में परिणत होता है; यथा—प्रथ० व० मयोभुवः, मनोजुवः।

विशेष—उत्तरपद में -पू, -भू तथा -सू आने वाले लगभग एक दर्जन समासों में अजादि विभक्ति से पूर्व ऊ के स्थान पर व् (पा० यण्) आदेश होता है[२०१]; यथा—प्रथ० व० घृतप्वः, नवस्वः, प्रस्वः, विभ्वः, सुम्वः।

(२) जिन प्रातिपदिकों का अन्तिम ऊ धातुज नहीं है उन से परे अजादि विभक्ति आने पर ऊ का व् बनता है; यथा—प्रथ० व० चम्वः, तन्वः।

विशेष—परन्तु अग्रू, कद्रू, बीभत्सू, तथा यकारोपध प्रातिपदिकों (अंहोयू, अपस्यू, अवस्यू इत्यादि) के ऊ को उव् आदेश होता है; यथा—प्रथ० व० अग्रुवः, अपस्युवः।

(३) तै० सं० में यण् के स्थान पर इयङ् या उवङ् करने की प्रवृत्ति प्रधान है (दे० अनु० ६ छ): यथा—द्विती० ए० तनुवम्।

विभक्तियां—ऊकारान्त प्रातिपदिकों के साथ विभक्तियों का शुद्ध रूप जोड़ा जाता है और पुं० तथा स्त्री० में समान रूप बनते हैं। समासरहित कृदन्त प्रातिपदिकों (जोगू, भू) के ष० ब० के केवल दो रूप जोगुवाम् (ऋ० १०,५३.६) तथा भुवाम् (वा० सं० ३७,१८) उपलब्ध होते हैं जिन में आम् विभक्ति प्रयुक्त हुई है। अनेकाच् तथा अकृदन्त प्रातिपदिकों के ष० ब० रूपों में नाम् विभक्ति का प्रयोग मिलता है। प्रथ० द्विती० द्वि० में आ विभक्ति प्रयुक्त होती है।

विशेष—(१) अकृदन्त ऊकारान्त प्रातिपदिकों के कुछ रूपों में स० ए० विभक्ति

का लोप हो जाता है (अनु० ४५खर[२], टि० १९८); यथा—घृमू (६ बार), तुनू (ऋ० १०,१८३,२)।

(२) द्विती० च० प० स० ए० के कुछ स्त्री० रूपों में नदीसंज्ञक प्रातिपदिकों के रूपों की भांति क्रमशः अम् के अ का पूर्वरूप, ऐ आस् तथा आम् विभक्ति का प्रयोग मिलता है (टि० १९७,१५३); यथा— द्विती० ए० कुहूम् (तै० सं०, अ०), तनूम् (तै० सं० अ०), वधूम् (अ०); च० ए० तन्वै (वा० सं०), वध्वै (अ०), श्वश्रुवै (अ०); ष० ए० तन्वाः (वा० सं०), श्वश्र्वाः (अ०); स० ए० तन्वाम्, तनुवाम् (तै० सं० १,७,१२,२), श्वश्र्वाम् (ऋ०)।

स्वर-वैशिष्ट्य—गिने-चुने अपवादों को छोड़ कर ऊकारान्त प्रातिपदिक अन्तोदात्त हैं। प्रथ० द्विती० से भिन्न विभक्तियों में एकाच् प्रातिपदिकों का उदात्त विभक्ति पर चला जाता है, परन्तु अनेकाच् प्रातिपदिकों का उदात्त सम्बोधनवर्जित सभी विभक्तियों में अचल रहता है। तनू इत्यादि प्रातिपदिकों का उदात्त अजादि विभक्तियों के साथ होने वाली क्षैप्रसन्धि के कारण नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर क्षैप्र स्वरित आता है।

एकाच् ऊकारान्त प्रातिपदिकों के उपलब्ध रूपों के आधार पर भू के रूप इस प्रकार बनेंगे—

भू के रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	भूः	भुवा	भुवः।
द्विती०	भुवम्	भुवा	भुवः।
तृ०	भुवा	भूभ्याम् (वा० सं)	× ।
पं०	भुवः	×	× ।
ष०	,,	×	भुवाम्।
स०	भुवि	भुवोः	×।

अनेकाच् यणस्थान ऊकारान्त स्त्री० प्रातिपदिकों के उपलब्ध रूपों

के आधार पर तनू के रूप इस प्रकार बनेंगे—

तनू के रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	तनूः	तन्वौ	तन्वः ।
सम्बो०	तनु	×	× ।
द्विती०	तन्वम्	तन्वौ	तन्वः ।
तृ०	तन्वा	×	तनूभिः ।
च०	तन्वे, तन्वै	तनूभ्याम्	तनूभ्यः ।
पं०	तन्वः	×	× ।
ष०	तन्वः, तन्वाः	×	तनूनाम् ।
स०	तन्वि, तन्वाम्, तनू	तन्वोः	तनूषु ।

ऋकारान्त प्रातिपदिक

१४५. ऋकारान्त प्रातिपदिकों में पुं० शब्दों का बाहुल्य है। सम्बन्ध-वाचक कुछ स्त्री० शब्द भी हैं, परन्तु नपुं० शब्द अत्यल्प हैं। देवृ "देवर", नृ "नर", उस्र "उषा", ननान्द "ननन्द", स्वसृ "भगिनी" इन पांच प्रातिपदिकों के अन्त में केवल ऋ आता है और इनकी व्युत्पत्ति अनिश्चित है। १५० से अधिक जिन प्रातिपदिकों के अन्त में –तृ प्रत्यय मिलता है, उनमें से अधिकतर कर्तृत्व के वाचक हैं और कुछ सम्बन्ध-वाचक हैं।

अङ्गविकार— सर्वनामस्थान परे रहने पर ऋकारान्त प्रातिपदिकों के अङ्ग म जो विकार होता है उसके अनुसार सब प्रातिपदिकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) गुण-विकार वाले प्रातिपदिक और (२) वृद्धि-विकार (पा० उपधादीर्घत्व) वाले प्रातिपदिक।

(१) गुण-विकार वाले प्रातिपदिक— इस वर्ग में सम्बन्धवाचक प्रातिपदिक जामातृ, दुहितृ, देवृ, ननान्द, पितृ, भ्रातृ तथा मातृ और नृ प्रातिपदिक का संनिवेश है। सर्वनामस्थान तथा

स० ए० परे रहने पर इनके अन्तिम ऋ का अर् बन जाता है[२१०]; यथा—द्वितीο ए० दे॒वरं॑म् , पि॒तरं॑म्, जामा॑तरम् (ऋ० ८,२६,२२)।

(२) वृद्धि-विकार वाले प्रातिपदिक— सम्बन्धवाचक शब्द स्वसृ॑ तथा -तृ प्रत्यय अन्त वाले शेष सभी प्रातिपदिक इस वर्ग में आते हैं। सर्वनामस्थान परे रहने पर इनके ऋ को आर् आदेश होता है (टि० ३७); यथा—द्वितीο ए० स्वसा॑रम्, दा॒तारं॑म्।

विशेष— लैन्मन, मैक्डानल प्रभृति विद्वान् नप्तृ॑ शब्द को गुण-विकार वर्ग में रखते हैं[२११]; परन्तु पाणिनि (टि० ३७) इसे उपधादीर्घत्व का आदेश करता है और ऐसे रूप भी उपलब्ध होते हैं; यथा—न॒प्तारं॑म् (तै० सं० १,३,११,१; का० सं० ३,८)। ऋ० में इसका कोई भी रूप सर्वनामस्थान में नहीं मिलता है और केवल नपा॑त् के रूप (प्र० ए० नपा॑त्; द्वि० नपा॑ता; ब० नपा॑तः; द्वितीο ए० नपा॑तम्) इसी अर्थ में उपलब्ध होते हैं। नप्तृ॑ के रूप केवल असर्वनामस्थान में मिलते हैं; यथा—तृ० ए० नप्त्रा॑; ब० नप्तृ॑भिः; च० ए० नप्त्रे॑; ष० ए० नप्तुः।

(३) प्रथ० ए० में ऋकारान्त प्रातिपदिकों के अन्त में आ हो कर विभक्ति-लोप हो जाता है[२१२]; यथा— दा॒ता, मा॒ता, पि॒ता।

(४) स० ए० में सभी प्रकार के ऋकारान्त प्रातिपदिकों के ऋ को गुण अर् होता है (टि० २१०); यथा— दा॒तरि॑, मा॒तरि॑, पि॒तरि॑। सम्बोधन में भी इसी प्रकार ऋ को गुण हो जाता है (टि० २१०) और विभक्ति का लोप हो जाता है (टि० १४८); यथा—दात॑ः, पित॑ः, मात॑ः।

विशेष— (५) उ॒स्र के रूपों में ऋ का र् बनता है और सम्बुद्धि के अतिरिक्त कहीं गुण नहीं होता है; यथा— द्वितीο ब० उ॒स्रः; तृ० ए० उ॒स्रा; ष० ए० उ॒स्रः; स० ए० उ॒स्रि तथा ईकारान्त-सदृश रूप उ॒स्राम्; सम्बो० ए० उ॒षः (ऋ० १,४९,४)[२१३]।

विभक्तियां—(१) जैसा कि हम अभी स्पष्ट कर चुके हैं, प्रथ० ए० तथा सम्बो० ए० की विभक्ति का लोप हो जाता है। द्वितीο ब० में पुं० प्रातिपदिकों के अन्तिम स्वर ऋ और अस् विभक्ति के अ का पूर्वसवर्ण-

दीर्घ (ॠ) बन कर विभक्ति के स् का न् बन जाता है (टि० १७०, १३९), परन्तु पूर्वसवर्णदीर्घ होने पर स्त्री० प्रातिपदिकों से परे अस् का स् बना रहता है; यथा— पितॄन्, मातॄः ।

विशेष— ऋ० १०,३५,२ में मातॄन्[२१३क] (सिन्धून्) मिलता है और सायण इसका व्याख्यान निर्मातॄन् करता है, परन्तु ग्रासमैन इसे मातृ के रूपों में दिखाता है।

(२) ऋ० में प्रथ० द्विती० द्वि० में प्रायेण आ विभक्ति आती है, परन्तु पीछे औ का प्रयोग बढ़ता गया; यथा— दातारा, पितरा ।

(३) पं० ष० ए० में अङ्ग के अन्तिम ऋ तथा अस् के अ के स्थान पर उ होने से उस् विभक्ति बन जाती है[२१४]; यथा—दातुः, पितुः ।

(४) ष० ब० में आम् को न् का आगम हो कर नाम् बनता है और उससे पूर्व अङ्ग के अन्तिम ऋ का दीर्घ हो जाता है (टि० १४२, १४५); यथा — दातॄणाम्, पितॄणाम् ।

विशेष— नृ के अधिकतर वैदिक रूपों में ऋ ह्रस्व ही रहता है[२१५]; यथा — नृणाम् । ऋ० में नृ के १६ रूपों में और स्वसृ के एक रूप में आम् विभक्ति को न् का आगम नहीं होता है; यथा—नराम्, स्वस्राम् (ऋ० १,६५,७) ।

स्वर-वैशिष्ट्य—जिन विभक्तियों में अन्तोदात्त अङ्ग के ऋ का र् बनता है उन रूपों का उदात्त विभक्ति पर चला जाता है; यथा—पित्रा, मात्रोः । इसी प्रकार ष० ब० में भी अन्तोदात्त अङ्ग का उदात्त विभक्ति पर चला जाता है; यथा—पितॄणाम् । पं० ष० ए० में उस् एकादेश होने पर अन्तोदात्त अङ्ग का उदात्त निश्चय ही उस् पर रहेगा; यथा—पितुः ।

पुं० पितृ, दातृ और स्त्री० मातृ के रूप इस प्रकार बनेंगे—

पितृ के रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	पिता ;	पितरा, पितरौ ;	पितरः ।
सम्बो०	पितः ;	पितरा, पितरौ ;	पितरः ।
द्विती०	पितरम् ;	पितरा, पितरौ ;	पितॄन् ।

तृ०	पित्रा ;	पितृभ्याम् ;	पितृभिः ।
च०	पित्रे ;	,, ;	पितृभ्यः ।
पं०	पितुः ;	,, ;	,, ।
ष०	,, ;	पित्रोः ;	पितॄणाम् ।
स०	पितरि ;	,, ;	पितृषु ।

मातृ के रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	माता ;	मातरा, मातरौ ;	मातरः ।
सम्बो०	मातः ;	मातरा, मातरौ ;	मातरः ।
द्विती०	मातरम् ;	मातरा, मातरौ ;	मातॄः ।
तृ०	मात्रा ;	मातृभ्याम् ;	मातृभिः ।
च०	मात्रे ;	,, ;	मातृभ्यः ।
पं०	मातुः ;	,, ;	,,
ष०	,, ;	मात्रोः ;	मातॄणाम् ।
स०	मातरि ;	,, ;	मातृषु ।

दातृ के रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	दाता ;	दातारा, दातारौ ;	दातारः ।
सम्बो०	दातः ;	दातारा, दातारौ ;	दातारः ।
द्विती०	दातारम् ;	दातारा, दातारौ ;	दातॄन् ।
तृ०	दात्रा ;	दातृभ्याम् ;	दातृभिः ।
च०	दात्रे ;	,, ;	दातृभ्यः ।
पं०	दातुः ;	,, ;	,,
ष०	,, ;	दात्रोः ;	दातॄणाम् ।
स०	दातरि ;	,, ;	दातृषु ।

स्वसृ के रूप

इसके निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं—

प्रथ० ए० स्वसा ; द्वि० स्वसारा, स्वसारौ ; ब० स्वसारः ।
द्वितीο ए० स्वसारम् ; द्वि० स्वसारा, स्वसारौ ; ब० स्वसॄः ।
तृ० ए० स्वस्रा ; ब० स्वसृभिः ।
च० ए० स्वस्रे ।
पं० ष० ए० स्वसुः ; ष० ब० स्वसॄणाम्, स्वस्राम् ।
स० द्वि० स्वस्रोः ।

नपुं० प्रातिपदिक—वेदों के मन्त्रभाग में ऋकारान्त नपुं० प्रातिपदिकों के रूप अत्यल्प हैं। ऋ० में धर्तृ, ध्मातृ, स्थातृ तथा विधर्तृ से बने हुए लगभग आधा दर्जन रूप उपलब्ध होते हैं, परन्तु इन में से अधिकतर रूपों के वास्तविक स्वरूप तथा अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।

प्रथ० तथा द्वितीο ए०—वेदों के मन्त्रभाग में ऋकारान्त नपुं० का कोई ऐसा रूप नहीं मिलता है जो उत्तरकालीन संस्कृत के रूपों की भांति प्रथ० द्वितीο ए० में ऋकारान्त हो।

विशेष—(१)—कतिपय पाश्चात्य विद्वान् निम्नलिखित ऋग्वैदिक रूपों को ऋकारान्त नपुं० प्रातिपदिकों के प्रथ० द्वितीο ए० के रूपों के प्रतिनिधि मानते हैं—

स्थातुर् (ऋ० ६,४९,६)[२१६]; स्थातुर् (ऋ० १,५८,५; ६८,१; ७०,७)[२१७]; स्थातॄन् (ऋ० १,७२,६)[२१८]; धर्तरि (ऋ० २,२३,१७; ९, ८६,४२)[२१९]; विधर्तरि (ऋ० ८,७०,२;९,४७,४)[२२०]।

(२) कतिपय विद्वानों का मत है कि तै० सं० ७,५,२०,१ (वहाँ पर्जन्यः पक्ता सस्यम्)का पद पक्ता तथा शत० ब्रा० २,५,२,२७ (क्षत्रं वै विशो निषेद्धा) का पद निषेद्धा नपुं० प्रथ० ए० है और पुं० के सदृश है[२२१]।

(३) उत्तरकालीन संस्कृत में प्रथ० द्वितीο ए० के ऋकारान्त रूपों के उदाहरण उपलब्ध होते हैं; यथा—तै० ब्रा० ३,११,१,८ में

जनयितृ "उत्पादक" तथा भर्तृ "धारक" (अन्तरिक्षम् के विशेषण); बृ० उप० ३, ८, ११ में द्रष्टृ "देखने वाला", श्रोतृ "सुनने वाला", मन्तृ "सोचने वाला", तथा विज्ञातृ "जानने वाला", (अक्षरम् के विशेषण); और कौ० उप० २,१ में (चक्षुर्) गोप्तृ "रक्षक" तथा (श्रोत्रम्) संश्रावयितृ "सुनाने वाला" प्रयोग मिलते हैं।

प्रथ० द्विती० ब०—वेदों के मन्त्र-भाग में इनके कोई उदाहरण नहीं मिलते हैं, परन्तु उत्तरकालीन संस्कृत में इनके उदाहरण उपलब्ध होते हैं; यथा—तै० ब्रा० ३ ११, १, १३ में भर्तृणि तथा जनयितृणि (नक्षत्राणि के विशेषण); और मनुस्मृति १,१५ में ग्रहीतृणि (इन्द्रियाणि का विशेषण) मिलते हैं।

तृ० ए०—वैदिक-भाषा में इसके उदाहरण नहीं मिले हैं, परन्तु रामायण तथा महाभारत आदि में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं; यथा—ब्रह्मणा लोककर्तृणा (रामायण ७,३७ प्रक्षिप्त १,१०; महाभारत ३,११०,३६)।

च० ए०—सायण तथा वेङ्कटमाधव स्थात्रे को स्थातृ का च० ए० मानते हैं, परन्तु अनेक आधुनिक विद्वान् इसे स्थात्र "स्थान" का स० ए० मानते हैं[२२२]।

ष० ए०—स्थातुः (ऋ० १, १५९, ३; २,३१, ५;४,५३, ६; ६, ५०, ७; ७, ६०,२; १०,६३, ८)। निधातुः (ऋ० ५, ३०, २)[२२३]।

स० ए०—ध्मातरी (पपा० ध्मातरि—ऋ० ५, ९, ५)।

ऐकारान्त प्रातिपदिक

१४६. वैदिक भाषा में लृकारान्त तथा एकारान्त प्रातिपदिकों के रूप का कोई उदाहरण नहीं मिलता है। कुछ वैदिक रूप ऐकारान्त प्रातिपदिक रै "धन" से बने हुए माने जाते हैं। रै प्रातिपदिक प्रायेण पुं० है और कहीं-कहीं स्त्री० है।

विभक्तियां—हलन्त प्रातिपदिकों की भांति रै के साथ विभक्तियों का शुद्ध रूप प्रयुक्त किया जाता है।

अङ्ग-विकार—हलादि विभक्तियों से पूर्व रै का रा आदेश हो जाता है[२२४]। द्विती० ए० तथा ब० के दो वैदिक रूपों में अजादि विभक्ति से पूर्व भी रै का रा बन जाता है; यथा—राम् (ऋ० १०, १११, ७); राः (सा० १, ४, १, ४)।

पूरक प्रातिपदिक र॒यि—रै के रूप सब विभक्तियों में नहीं मिलते हैं और अनेक विभक्तियों में र॒यि "धन" (पुं० तथा स्त्री०) के रूप रै के रूपों के पूरक हैं।

स्वर-वैशिष्ट्य—प्रथ० ए० ब० तथा द्विती० ए० में उदात्त प्रातिपदिक पर रहता है, परन्तु तृ० प्रभृति विभक्तियों के रूपों में उदात्त विभक्ति के अच् पर चला जाता है। ऋ० में द्विती० ब० के केवल ४ रूपों में प्रातिपदिक पर और २२ रूपों में विभक्ति पर उदात्त है। ष० ए० के कतिपय रूपों में प्रातिपदिक पर उदात्त है।

रै तथा र॒यि के रूप

रै तथा इस के पूरक प्रातिपदिक र॒यि के निम्नलिखित वैदिक रूप मिलते हैं—

	रै	;	र॒यि
प्रथ० ए०	×	;	र॒यिः।
प्रथ० ब०	रायः	;	×।
द्विती० ए०	राम् (ऋ०)	;	र॒यिम्।
द्विती० ब०	रा॒यः, रायः, राः (सा०)	;	×।
तृ० ए०	रा॒या,	;	र॒यिणा, र॒य्या (ऋ०)।
तृ० ब०	×	;	र॒यिभिः।
च० ए०	रा॒ये	;	×।
पं० ए०	रा॒यः	;	×।
ष० ए०	रा॒यः, रायः	;	×।
ष० ब०	रा॒याम्	;	र॒यीणाम्।

विशेष—उत्तरकालीन संस्कृत में राः (प्रथ० ए०), रा॒यि (स० ए०), रायम् (द्विती० ए०), रा॒भ्याम् (तृ० च० पं० द्वि०), रा॒भिः (तृ० ब०), रा॒भ्यः

(च० पं० ब०), रायोः (ष० स० द्वि०), तथा रासु (स० ब०) इत्यादि रूप बनते हैं।

ओकारान्त प्रातिपदिक

१४७. गो पुं० "बैल", स्त्री० "गाय" और द्यो पुं० स्त्री० "द्युलोक" इन दो ओकारान्त प्रातिपदिकों के रूप उपलब्ध होते हैं। हम पहले अनु० ११९ में दिव् तथा द्यु पूरक प्रातिपदिकों के रूपों के साथ द्यो के रूपों का वर्णन कर चुके हैं। यहां पर हम ओकारान्त प्रातिपदिकों की रूप-रचना के साधारण नियम तथा गो की रूप-रचना पर विचार करेंगे।

विभक्तियां—ओकारान्त प्रातिपदिकों के साथ अधिकतर विभक्तियों का शुद्ध रूप प्रयुक्त किया जाता है। गो के ष० ब० के लगभग २० रूपों में (टि० २२७) आम् विभक्ति को न् का आगम करके नाम् बनाया जाता है; यथा—गोनाम्। परन्तु ऋ० के ५५ प्रयोगों में गवाम् मिलता है। पं० ष० ए० के अस् का अ अङ्ग के ओ के साथ विलीन (पा० पूर्वरूप) हो जाता है (टि० १७८)।

अङ्ग-विकार—सर्वनामस्थान से पूर्व ओकारान्त प्रातिपदिक के अन्तिम ओ का औ बन जाता है[१२५]; परन्तु द्विती० ए० तथा ब० में ओ का आ हो जाता है[१२६]।

स्वर-वैशिष्ट्य—सभी विभक्तियों में गो तथा द्यो का उदात्त प्रातिपदिक के अङ्ग पर रहता है।

गो के रूप

गो के निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं—

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	गौः	गावा, गावौ	गावः।
सम्बो०	×	×	गावः।
द्विती०	गाम्	गावा, गावौ	गाः।
तृ०	गवा	×	गोभिः।
च०	गवे	×	गोभ्यः।

पं०	गोः	×	× ।
ष०	गोः	×	गवाम्, गोनाम्[२२७] ।
स०	गवि	×	गोषु ।

औकारान्त प्रातिपदिक

१४८. नौ "नाव" स्त्री० और ग्लौ "पिण्ड, फोड़ा, हृदय-नाडी" पुं० इन दो औकारान्त प्रातिपदिकों के निम्नलिखित वैदिक रूप मिलते हैं। विभक्ति या अङ्ग में कोई विशेष विकार नहीं होता है। प्रथ० द्विती० से भिन्न विभक्तियों में उदात्त विभक्ति के अच् पर चला जाता है।

नौ के रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	नौः	×	नावः ।
द्विती०	नावम्	×	(नावः) ।
तृ०	नावा	×	नौभिः ।
ष०	नावः	×	× ।
स०	नावि	×	× ।

विशेष—ऋ० १, ९७, ८ में मिलने वाले नावया रूप को पाश्चात्य विद्वान् आकारान्त प्रातिपदिक नावा का तृ० ए० मानते हैं (दे० तै० आ० ६, ११, २)। परन्तु सायण इस रूप में तृ० ए० के आ के स्थान पर अयाद् आदेश मान कर समाधान करता है[२२८]।

ग्लौ के रूप

प्रथ० ए० ग्लौः (अ० ६,८३,३)। द्विती० ब० ग्लावः (ऐ० ब्रा० १, २५)[२२९]। तृ० ब० ग्लौभिः (वा० सं० २५, ८; मै० सं० ३, १५, ७)।

३. संख्यावाचक शब्द

१४९. संख्यावाचक शब्द विशेषणों की भांति प्रयुक्त होते हैं। परन्तु केवल एक, दो, तीन तथा चार की संख्या के वाचक शब्दों के रूप लिङ्ग के

अनुसार भिन्न बनते हैं और पांच से प्रारम्भ करके ऊपर की सभी संख्याओं के वाचक शब्दों के रूप तीनों लिङ्गों में समान रहते हैं। एक से दस तक संख्यावाचक शब्द मूल हैं और इन्हीं के द्वन्द्वसमास (टि० २३१) या तद्धित रूप द्वारा ११ से ९९ तक संख्यावाचक शब्द बनाये जाते हैं। प्रमुख संख्यावाचक शब्द निम्नलिखित हैं—

१. एक		३०. त्रिंशत्	स्त्री०
२. द्वि (Lat. duo)		४०. चत्वारिंशत्	स्त्री०
३. त्रि (Lat. tri)		५०. पञ्चाशत्	स्त्री०
४. चतुर् (Lat. quatuor)		६०. षष्टि	स्त्री०
५. पञ्चन् (Gk. pénte)		७०. सप्तति	स्त्री०
६. षष् (Lat. sex)		८०. अशीति	स्त्री०
७. सप्तन् (Gk. heptá)		९०. नवति	स्त्री०
८. अष्टन् (Lat. octō)		१००. शत (Lat. centum)	नपुं०
९. नवन् (Lat. novem)	१,०००.	सहस्र	नपुं०
१०. दशन् (Gk. déka)	१०,०००.	अयुत	नपुं०
११. एकादशन्	१००,०००.	नियुत	नपुं०
१२. द्वादशन्	१,०००,०००.	प्रयुत	नपुं०
१३. त्रयोदशन्	१०,०००,०००.	अर्बुद	नपुं०
१४. चतुर्दशन्	१००,०००,०००.	न्यर्बुद	नपुं०
१५. पञ्चदशन्	१,०००,०००,०००.	समुद्र	पुं०
१६. षोडशन्	१०,०००,०००,०००.	मध्य	नपुं०
१७. सप्तदशन्	१००,०००,०००,०००.	अन्त	पुं०
१८. अष्टादशन्	१०००,०००,०००,०००.	परार्ध	पुं०[२३०]
१९. नवदशन्			
२०. विंशति (Lat. viginti) स्त्री०			

१५०. **२१-९९ तक संख्यावाचक शब्द**—२१ से ९९ तक संख्यावाचक शब्द द्वन्द्वसमासों (टि० २३१) के रूप में बनाये जाते हैं; यथा—एकविंशति २१, पञ्चत्रिंशत् ३५, नवषष्टि ६९ इत्यादि। ऐसे द्वन्द्व समास में छोटी

संख्या को पहले और बड़ी संख्या को पीछे रखते हैं और पूर्वपद पर उदात्त प्रकृतिभाव से रहता है। ऐसे संख्यावाचक समासों में पूर्वपद के द्वि, त्रि तथा अष्टन् को प्रायेण क्रमशः द्वा, त्रयस् तथा अष्टा आदेश हो जाता है, परन्तु अशीति से पूर्व यह आदेश नहीं होता है[२३१]; यथा—द्वात्रिंशत् ३२, त्रयस्त्रिंशत् ३३, अष्टात्रिंशत् ३८, परन्तु द्व्यशीति ८२, त्र्यशीति।

१५१. **१०० से ऊपर संख्या**—सौ से ऊपर की संख्या के वाचक शब्द भी इसी प्रकार छोटी संख्या को पूर्वपद के रूप में रख कर बनाये जाते हैं; यथा—एकशतम् १०१, चतुःशतम् १०४, त्रिंशच्छतम् १३०। शत, सहस्र आदि से पूर्व उपर्युक्त द्वा आदि आदेश नहीं होता है[२३१क]; यथा—द्विशतम् १०२, त्रिशतम् १०३। ब्राह्मणग्रन्थों में तथा उत्तरकालीन संस्कृत में १०० से ऊपर की संख्या को प्रकट करने की एक अन्य पद्धति भी है, जिस के अनुसार छोटी संख्या के पूरण तद्धित रूप को बड़ी संख्या के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है[२३२]; यथा—**द्वादशं शतम्** = ११२; चतुश्चत्वारिंशं शतम् = १४४; षट्षष्टं शतम् = १६६ (दे० अनु० १५९)।

१५२. **च का प्रयोग**—च निपात के प्रयोग द्वारा भी दो संख्यावाचक शब्दों के समाहार को अभिव्यक्त किया जाता है; यथा—नव च नवतिं च = ९९। च के विना भी यह अर्थ अभिव्यक्त किया जाता है; यथा—नवतिं नव=९९।

१५३. **न तथा ऊन का प्रयोग**—बड़ी संख्या में से छोटी संख्या को घटाने के लिये वैदिक वाङ्मय में प्रायेण न का प्रयोग मिलता है। छोटी संख्या के तृ० ए० या पं० ए० के साथ यह न प्रयुक्त किया जाता है और तै० सं० के कुछ प्रयोगों में एक के पं० ए० एकस्मात् के स्थान पर एकात् रूप मिलता है[२३२क]; यथा—एकान्न विंशति=१९; एकान्न चत्वारिंशत्=३९; एकान्न षष्टि=५९; एकान्नाशीति=७९; एकान्न शतम्=९९। उत्तरकालीन संस्कृत में भी यह प्रयोग मिलता है। एक के साधारण रूपों का प्रयोग भी तै० सं० में मिलता है; यथा—तै० सं० ७,४,७,२ में एकस्यै न पञ्चाशत् तथा एकस्मान्न पञ्चाशत्

(४९) प्रयोग उपलब्ध होते हैं। ऐसे अन्य प्रयोग भी मिलते हैं; यथा—एकया न त्रिंशत्=२९ (शत० ब्रा०, पं० ब्रा०, कौ० ब्रा०): द्वाभ्यां नाशीतिम् =७८ (शत० ब्रा०); पञ्चभिर्न चत्वारि शतानि=३९५ (शत० ब्रा०)। बीस, तीस इत्यादि संख्याओं में से एक की न्यूनता को प्रकट करने के लिये एक तथा ऊन के साथ उस संख्या का समास करते हैं; यथा—एकोनविंशति=१९ (अ० १९)। परन्तु वैदिक वाङ्मय में ऐसे प्रयोग बहुत कम हैं।

१५४. **गुणा करना**—गुणा करने की प्रमुख पद्धति यह है कि छोटी संख्या को बड़ी संख्या के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है और वचन के अनुसार बड़ी संख्या का द्वि० या ब० रूप प्रयुक्त होता है; यथा—द्वे शते=२०० (ऋ० ७,१८,२२); षष्टिं सहस्रा=६०,००० (ऋ० ६, २६,६); त्रीणि शता त्री सहस्राणि त्रिंशच्च नव च=३,३३९ (ऋ० ३,९,९); नवतीर्नव=९×९०=८१० (ऋ० १,८४,१३)। गुणित संख्या को प्रकट करने की दूसरी पद्धति यह है कि जिस संख्या से गुणा करना हो उसे पूर्वपद में रख कर दूसरी संख्या के साथ बहुव्रीहि समास बनाते हैं[२११] और समस्त पद विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया जाता है; यथा—त्रिसप्तैः (सत्वभिः)=२१ (ऋ० १,१३३,६); त्रिषप्ताः (अ० १, १,१); त्रिणव=२७ (वा० सं०); त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः=६,३३३ (अ०)।

रूप-रचना

१५५. **एक, द्वि, त्रि, चतुर् के रूप**—इन शब्दों के रूप पुं०, स्त्री० तथा नपुं० में भिन्न-भिन्न बनते हैं। पाणिनि ने एक तथा द्वि को सर्वनामों में गिनाया है। च०, पं०, स० ए० में एक के रूप सर्वनामों की भांति बनते हैं (अनु० १६५)।

(क) **एक के रूप**—संख्यावाचक एक शब्द के रूप केवल एकवचन में बनते हैं। एक से बने हुए निम्नलिखित वैदिक रूप उपलब्ध होते हैं—

प्रथ० एकः पुं०, एका स्त्री०, एकम् नपुं०।
द्विती० एकम् पुं० नपुं०, एकाम् स्त्री०।

तृ० एकेन पुं० नपुं०, एकया स्त्री० ।

च० एकस्मै पुं० नपुं०, एकस्यै स्त्री० ।

पं० एकस्मात् पुं० नपुं०, एकात् (अनु० १५३), एकस्याः स्त्री० ।

ष० एकस्य पुं० नपुं०, एकस्याः स्त्री० ।

स० एकस्मिन् पुं० नपुं०, एकस्याम् स्त्री० ।

स० नपुं० एके (अ० १९,५६,२)[२१३क] ।

विशेष—जब एक शब्द 'कतिपय' का वाचक होता है, तब उसके रूप द्वि० तथा ब० में भी चलते हैं और वे रूप भी सर्वनामों के रूपों की भांति बनते हैं (अनु० १६५)। द्वि० तथा ब० में एक के निम्नलिखित वैदिक रूप मिलते हैं—

प्रथ० द्वि० एके युवती स्त्री० (अ० १०,७,४२); प्रथ० ब० एके पुं०, एकाः स्त्री० (अ०)।

च० ब० एकेभ्यः पुं० ।

ष० ब० एकेषाम् (ऐ० आ०; कल्पसूत्र तथा प्रातिशाख्य) ।

(ख) द्वि के रूप—द्वि के रूप केवल द्वि० में बनते हैं। इस के निम्नलिखित वैदिक रूप मिलते हैं—

प्रथ० द्वितीं०—द्वा, द्वौ पुं०; द्वे स्त्री० नपुं० ।

तृ० द्वाभ्याम् पुं० स्त्री० नपुं० ।

ष० स० द्वयोः पुं० स्त्री० नपुं० ।

(ग) त्रि के रूप—पुं० तथा नपुं० में त्रि के रूप इकारान्त प्रातिपदिक की भांति (अनु० १४०) चलते हैं। परन्तु स्त्री० में त्रि का तिसृ बन जाता है[११४] और तिसृ के रूप साधारणतया ऋकारान्त प्रातिपदिकों की भांति चलते हैं (अनु० १४५)। परन्तु प्रथ० तथा द्वितीं० में अस् विभक्ति से पूर्व ऋ को गुण न होकर र् होता है[११५]। त्रि के रूप केवल ब० में बनते हैं।

त्रि के निम्नलिखित वैदिक रूप उपलब्ध होते हैं—

प्रथ० त्रयः पुं०; त्रीणि, त्री नपुं०; तिस्रः स्त्री० ।

द्वितीं० त्रीन् पुं०; त्रीणि, त्री नपुं०; तिस्रः स्त्री० ।

तृ० त्रिभिः पुं०; तिसृभिः स्त्री० ।

च० त्रिभ्यः पुं०; तिसृभ्यः स्त्री० ।

ष० त्रीणाम्, त्रयाणाम् पुं०[२३९]; तिसृणाम् स्त्री०[२३७] ।

स० त्रिषु० पुं०; तिसृषु स्त्री० ।

(घ) चतुर् के रूप—चतुर् के रूप केवल ब० में बनते हैं और स्त्री० में इस का चतसृ हो जाता है (टि० २३४)। चतसृ के रूप ऋकारान्त प्रातिपदिकों की भांति चलते हैं (अनु० १४५), परन्तु प्रथ० तथा द्विती० में अस् विभक्ति से पूर्व ऋ को गुण न होकर र् होता है (टि० २३५)। सर्वनामस्थान से पूर्व चतुर् का चत्वार् बन जाता है (टि० १२५)। चतुर् के निम्नलिखित वैदिक रूप मिलते हैं—

प्रथ० चत्वारः पुं०; चत्वारि नपुं०; चतस्रः स्त्री० ।

द्विती० चतुरः पुं०; चत्वारि नपुं०; चतस्रः स्त्री० ।

तृ० चतुर्भिः पुं०; चतसृभिः स्त्री० ।

च० चतुर्भ्यः पुं०; चतसृभ्यः स्त्री० ।

ष० चतुर्णाम् पुं०[२४१]; चतसृणाम् स्त्री०[२३८] ।

स० चतसृषु स्त्री० (शत० ब्रा०) ।

१५६. ५ से १९ तक की संख्याओं के रूप— पांच से उन्नीस तक की संख्याओं के रूप केवल बहुवचन में बनते हैं और सभी लिङ्गों में समान रहते हैं।

प्रातिपदिक रूप— पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, षष् को छोड़ कर पांच से उन्नीस तक की संख्या के वाचक प्रातिपदिक नकारान्त हैं, जैसा कि हमने अनु० १४९ में दिखलाया है। परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इन्हें अकारान्त मानते हैं और कहते हैं कि आठ के वाचक प्रातिपदिक से प्रथ० द्विती० में बनने वाला रूप अष्टा या अष्टौ वास्तव में द्विवचन का रूप है[२३९]। यद्यपि अधिकतर वैदिक रूपों में अष्टा अङ्ग मिलता है और पाणिनि ने भी इस आ का व्याख्यान किया है[२४०], तथापि कतिपय रूपों में अष्ट अङ्ग दृष्टिगोचर होता है[२४१]; यथा— अष्ट प्रथ० (ऋ० १०, २७,१५; अ०)। पूरणवाचक रूप अष्टमम् (ऋ०) तथा अष्ट-स्तना (तै० सं०) इत्यादि समासों में भी अष्ट अङ्ग मिलता है।

विभक्तियां तथा अङ्गविकार—अष्ट-वर्जित पांच से उन्नीस तक के प्रातिपदिकों से परे प्रथ० द्विती० विभक्ति का लोप हो जाता है[२४२]। ष० में **आम्** को नुट् का आगम हो कर **नाम्** विभक्ति बनती है और **नाम्** से पूर्व नकारान्त प्रातिपदिकों की उपधा के अकार का दीर्घ हो जाता है[२४३]।

स्वर-वैशिष्ट्य— षष् तथा अ॒ष्टन् के अष्टा अङ्ग का उदात्त विभक्ति के अच् पर चला जाता है[२४४], परन्तु अ॒ष्ट का उदात्त अङ्ग पर ही रहता है। शेष नकारान्त संख्यावाचक प्रातिपदिकों का उदात्त ष० में विभक्ति के अच् पर चला जाता है परन्तु हलादि विभक्तियों से पूर्व अङ्ग की उपधा अर्थात् अन्तिम अ पर रहता है।

इन संख्यावाचक शब्दों के निम्नलिखित वैदिक रूप उपलब्ध होते हैं—

(क) **षष् के रूप**— प्रथ० द्विती० षट्; तृ० ष॒ड्भिः; च० ष॒ड्भ्यः; ष० ष॒ण्णाम् (पै० सं०); स० ष॒ट्सु।

(ख) **अ॒ष्टन् के रूप**— प्रथ० द्विती० अ॒ष्टौ, अ॒ष्टा, अ॒ष्ट (ऋ०, अ०); तृ० अ॒ष्टाभिः; च० अ॒ष्टाभ्यः; ष० अष्टानाम् (ऐ० ब्रा०); स० अ॒ष्टासु।

(ग) **प॒ञ्चन् के रूप**— प्रथ० द्विती० पञ्च; तृ० प॒ञ्चभिः; च० प॒ञ्चभ्यः; ष० प॒ञ्चानाम्; स० प॒ञ्चसु।

(घ) **स॒प्तन् के रूप**— प्रथ० द्विती० स॒प्त; तृ० स॒प्तभिः; च० पं० स॒प्तभ्यः; ष० स॒प्तानाम्; स० स॒प्तसु (मै० सं०, ब्रा०)।

(ङ) **नवन् के रूप**— प्रथ० द्विती० नव; तृ० न॒वभिः; च० न॒वभ्यः; ष० न॒वानाम्।

(च) **दशन् के रूप**— प्रथ० द्विती० दश; तृ० द॒शभिः; च० द॒शभ्यः; ष० द॒शानाम्; स० द॒शसु।

(छ) **एकादशन् के रूप**— प्रथ० द्विती० एकादश; च० ए॒का॒द॒शभ्यः (तै० सं०)।

(ज) **द्वादशन् के रूप**— प्रथ० द्विती० द्वादश; च० द्वा॒द॒शभ्यः (तै० सं०)।

(झ) त्रयोदशन् के रूप— प्रथ० द्विती० त्रयोदश; तृ० त्रयोदशभिः (तै० सं०); च० त्रयोदशभ्यः (तै० सं०)।

(ञ) चतुर्दशन् के रूप— प्रथ० द्विती० चतुर्दश; च० चतुर्दशभ्यः (तै० सं०)।

(ट) पञ्चदशन् के रूप— प्रथ० द्विती० पञ्चदश; च० पञ्चदशभ्यः (तै० सं०)।

(ठ) षोडशन् के रूप— प्रथ० द्विती० षोडश (वा० सं०); च० षोडशभ्यः (तै० सं०)।

(ड) सप्तदशन् के रूप— प्रथ० सप्तदश; च० सप्तदशभ्यः (तै० सं०)।

(ढ) अष्टादशन् के रूप— प्रथ० अष्टादश; च० अष्टादशभ्यः (तै० सं०)।

(ण) नवदशन् के रूप— प्रथ० नवदश (वा० सं०); तृ० नवदशभिः (वा० सं०)।

तै० सं० में १९ के लिये च० का रूप एकान्न विंशत्यै भी मिलता है।

१५७. **विंशति तथा ऊपर की संख्याओं के रूप**— २० से ९९ तक की संख्याओं के रूप स्त्री० के एकवचन में और १०० से १००,०००,००० तक की संख्याओं के रूप नपुं० के एकवचन में चलते हैं और इन के रूप प्रातिपदिक के अन्तिम वर्ण के अनुसार नियमपूर्वक बनाये जाते हैं[२४५]; यथा— प्रथ० विंशतिः; द्विती० विंशतिम्; तृ० विंशत्या; प्रथ० त्रिंशत्; द्विती० त्रिंशतम्; तृ० त्रिंशता; स० त्रिंशति; प्रथ० द्विती० शतम्; तृ० शतेन। इन संख्याओं को गुणा करते समय (अनु० १५४) इन्हें द्वि० या ब० में प्रयुक्त करते हैं (टि० २४५); यथा— नवतीर्नव = ९×९०=८१० (ऋ० १,८४,१३); नवानां नवतीनाम् (ऋ० १,१९१, १३); द्वे शते "दो सौ"; सप्त शतानि "सात सौ"; त्री सहस्राणि "तीन हज़ार"।

१५८. **वाक्य-रचना में संख्यावाचक शब्दों का प्रयोग**—

(क) १ से १९ तक संख्यावाचक शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त होते हैं और विशेष्य की विभक्ति तथा वचन के अनुसार इन के रूप चलते हैं और १ से ४ तक संख्यावाचक शब्दों का लिङ्ग भी विशेष्य के अनुसार रहता है; यथा— देव एकः (ऋ०); एका सरस्वती (ऋ०); त्रयो वीराः

(ऋ०); तिसृभिर्गीर्भिः (ऋ०); जनेषु पञ्चसु (ऋ०); सप्तभिः पुत्रैः (ऋ०); दशभिर्वीरैः (ऋ०); देवा एकादश (अ०)।

(ख) १९ से ऊपर के संख्यावाचक शब्द साधारणतया एकवचन में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु जब इन की संख्या को गुणा करना हो तब इन का प्रयोग प्रकरणानुसार द्विवचन या बहुवचन में किया जाता है (अनु० १५४)। इन संख्यावाचक शब्दों का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है—

१. बहुवचन विशेष्य के साथ भी इन का प्रयोग एकवचन में ही होता है, परन्तु विशेष्य की विभक्ति के अनुसार इन का रूप बनता है और ये प्रायेण विशेष्य से पूर्व प्रयुक्त होते हैं; यथा— तृ० विंशत्या हरिभिः (ऋ०); प्रथ० त्रिंशद् देवाः (ऋ०); द्विती० त्रिंशतं योजनानि (ऋ०); तृ० त्रिंशता हरिभिः (ऋ०); तृ० चत्वारिंशता हरिभिः (ऋ० २,१८,५); प्रथ० शतं पुरः (ऋ० ४,२७,१); तृ० शतेन हरिभिः (ऋ० २, १८, ६); प्रथ० सहस्रं हरयः (ऋ० ४, ४६, ३); द्विती० सहस्रं पशून् (तै० सं०); त्रयस्त्रिंशतो देवानाम् (ऐ० ब्रा०)।

विशेष— (१) कतिपय वैदिक प्रयोगों में विशेष्य के अनुसार संख्यावाचक शब्दों के बहुवचनान्त रूप भी मिलते हैं; यथा— द्विती० शता पुरः (ऋ० १,५३,८); प्रथ० सहस्राण्यधिरथानि (ऋ० १०,९८,९)।

(२) सहस्राद् यूपात् (ऋ० ५,२,७) प्रयोग में विशेष्य का रूप भी ए० में प्रयुक्त है[२४९]।

२. इन संख्यावाचक शब्दों के प्रयोग की दूसरी पद्धति यह है कि इन के विशेष्य को षष्ठी विभक्ति में प्रयुक्त किया जाता है और संख्यावाचक शब्द का रूप विशेष्य के अर्थ के अनुसार निर्धारित किया जाता है; अर्थात् विशेष्य के कारक के अनुसार संख्यावाचक शब्द का विभक्ति-रूप होगा और यदि संख्या को गुणा करना है तो उसका रूप द्वि० या ब० में होगा अन्यथा ए० में ही रहेगा; यथा— द्विती० पञ्चाशतमश्वानाम् (ऋ० ५,१८,५); द्विती० षष्टिं सहस्रा⋯अश्वानाम् (ऋ० ८,४६,२९); द्विती० शतं गोनाम् (ऋ० १,१२६,२); द्विती० शतं सहस्रम् अयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनाम् (अ० ८,८,७); द्विती० गवां शतानि

(ऋ० ७,१०३,१०); द्वितीय सहस्राणि गवांन् (ऋ० ८,५१,२)।

(ग) विशेष— १. कतिपय वैदिक प्रयोगों में संख्यावाचक शब्दों का विभक्ति-रूप विशेष्य के रूप के अनुसार नहीं बनता। संख्यावाचक शब्द का रूप प्रथ० (या द्विती०) विभक्ति में रहता है जब कि विशेष्य का रूप किसी अन्य विभक्ति में होता है[२४७]; यथा— अधि पञ्च कृष्टिषु (ऋ० २,२,१०); पञ्च क्षितीनाम् (ऋ० ५,३५,२); सप्त होतृभिः (ऋ० ३,१०,४); सप्त धामभिः (ऋ० १,२२,१६); सप्त सिन्धुषु (ऋ० ८,२४,२७); शतम् ऊतिभिः (ऋ० ४,३१,३); शतं पूर्भिः (ऋ० ६,४८,८); सहस्रम् ऋषिभिः (ऋ० १,१८९,८)[२४८]; सहस्रं पितृभिः (ऋ० १०,१५,१०)।

२. कति "कितने", तति "उतने", और यति "जितने" के प्रथ० द्विती० के रूपों में विभक्ति का लोप हो जाता है और संहिताओं में इन के रूप केवल प्रथ० द्विती० में ही मिलते हैं[२४९]; यथा— कत्यग्नयः कति सूर्यासः कत्युषासः कत्यु स्विदापः (ऋ० १०,८८,१८) "कितनी अग्नियां, कितने सूर्य, कितनी उषायें, और कितने जल ?"

क्रमवाचक शब्द Ordinals

१५९. पाणिनीय व्याकरण में प्रथम से भिन्न क्रमवाचक शब्दों के लिये पूरण संज्ञा का प्रयोग मिलता है[२५०], और संख्यावाचक शब्द के साथ जिस प्रत्यय के जोड़ने से पूरण बनता है उसे पूरण-प्रत्यय कहते हैं। पाणिनि द्वारा किया गया यह संज्ञाकरण सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है, क्योंकि पूरण के द्वारा संख्या (संख्यान या गणना) पूर्ण होती है; यथा— द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः (अ० ४,१६,२) "दो बैठ कर जो मन्त्रणा करते हैं उसे राजा वरुण तीसरा (होते हुए) जानता है"; दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि (ऋ० १०, ८५, ४५) "इसे दस पुत्र प्रदान कीजिये और पति को ग्यारहवां कीजिये"; द्वादश मासाः, पञ्चर्तवः, त्रयं इमे लोकाः असावादित्य एकविंशः (तै० सं० ५,४,१२,२) "बारह महीने, पांच ऋतुएं, तीन ये लोक, वह आदित्य इक्कीसवां है"।

१६०. क्रमवाचक शब्द बनाने की विधि के अनुसार संख्यावाचक शब्दों को

चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है— (क) १–१०; (ख) ११–१९; (ग) २०–९९; (घ) १००–१०००।

(क) १ से १० तक संख्यावाचक शब्दों से क्रमवाचक शब्द बनाने के लिये अनेक प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। कतिपय संख्यावाचक शब्दों से दो क्रमवाचक शब्द बनते हैं और चतुर् से तीन बनते हैं।

१. भिन्न शब्द का प्रयोग— एक से क्रमवाचक शब्द बनाने के लिये इसका प्रयोग नहीं किया जाता है और प्र के साथ प्रत्यय जोड़ कर प्रथम क्रमवाचक शब्द बनाया जाता है[२५१]।

२. –तीय प्रत्यय— द्वि तथा त्रि से क्रमवाचक शब्द बनाने के लिये इनके साथ –तीय प्रत्यय जोड़ा जाता है और सम्प्रसारण द्वारा त्रि का तृ बनाया जाता है[२५२]; यथा— द्वितीय, तृतीय।

३. –ईय तथा –य प्रत्यय—चतुर् से क्रमवाचक शब्द बनाने के लिये जब इस के साथ –ईय और –य प्रत्यय जोड़े जाते हैं तब इस के आदि अक्षर (च) का लोप हो जाता है[२५३]; यथा— तुरीय, तुर्य (अ०)।

४. –थ प्रत्यय— चतुर् तथा षष् से क्रमवाचक शब्द बनाने के लिये –थ प्रत्यय जोड़ा जाता है[२५४]; और कतिपय वैदिक प्रयोगों में पञ्चन् तथा सप्तन् से भी –थ प्रत्यय द्वारा क्रमवाचक रूप बनाये जाते हैं[२५५]; यथा— चतुर्थ (अ०, वा० सं०); षष्ठ (अ०, वा० सं); पञ्चथ (का० सं०); सप्तथ (ऋ०)।

५. –म प्रत्यय—पञ्चन्, सप्तन्, अष्टन्, नवन् तथा दशन् से क्रमवाचक शब्द बनाने के लिये साधारणतया –म प्रत्यय जोड़ा जाता है[२५६]; यथा— पञ्चम (अ०, वा० सं०); सप्तम (वा० सं०); अष्टम; नवम; दशम।

(ख) ११ से १९ तक संख्यावचक शब्दों के साथ –अ (पा० ८८—टि० २५४) प्रत्यय जोड़ कर क्रमवाचक शब्द बनाये जाते हैं; यथा— एकादश; द्वादश (वा० सं०); त्रयोदश (अ०, वा० सं०); चतुर्दश (वा० सं०); पञ्चदश (अ०, वा० सं०); षोडश (अ०, वा० सं०); सप्तदश (वा० सं०)।

चतुर्थोऽध्यायः

(ग) २० से ९९ तक संख्यावाचक शब्दों से क्रमवाचक शब्द बनाने के लिये प्रायेण -अ (पा० ह्र्—टि० २५४) प्रत्यय जोड़ा जाता है और इस से पूर्व संख्यावाचक शब्द के अन्तिम अक्षर (व्यञ्जनसहित स्वर) का लोप हो जाता है; यथा— एकविंश (तै० सं०, शत० ब्रा०) "२१वां"; त्रयोविंश (वा० सं०) "२३वां"; एकत्रिंश (वा० सं) "३१वां"; चतुस्त्रिंश (शत० ब्रा०) "३४वां"; चत्वारिंश (ऋ०) "४०वां"; अष्टाचत्वारिंश (वा० सं०) "४८वां"; द्वापञ्चाश (कौ० ब्रा०) "५२वां"; एकषष्ट (शत० ब्रा०) "६१वां"। कुछेक ब्राह्मण-प्रयोगों में तथा उत्तरकालीन भाषा में -तम प्रत्यय द्वारा भी क्रमवाचक शब्द बनाये जाते हैं[२५७]; यथा— एकविंशतितम।

(घ) शत, सहस्र आदि से क्रमवाचक शब्द बनाने के लिये इन के साथ -तम प्रत्यय जोड़ा जाता है[२५८]; यथा— शततम "१००वां"; सहस्रतम (तै० सं०, शत० ब्रा०) "१०००वां"।

१६१. (क) **स्वर-वैशिष्ट्य तथा अंशवाचक शब्द**— पूरण-संज्ञक शब्दों का उदात्त प्रायेण अन्तिम अक्षर पर रहता है और केवल द्वितीय, तृतीय, तुरीय, तुर्य, सप्तथ में इस नियम का अपवाद मिलता है। परन्तु जब ऐसे शब्द अंशवाचक होते हैं तब इन का उदात्त प्रातिपदिक के प्रथम अक्षर पर चला जाता है[२५९]; यथा— चतुर्थ "चौथा", परन्तु चतुर्थ "$\frac{1}{4}$" (शत० ब्रा०); तुरीय "चौथा", परन्तु तुरीय (अ०) "$\frac{1}{4}$"; तृतीय "तीसरा", परन्तु तृतीय (मै० सं०, तै० सं०) "$\frac{1}{3}$"। ऋ० में अंशवाचक प्रयोग नहीं मिलते हैं; परन्तु अ० तथा यजुर्वेदसंहिताओं के ब्राह्मणभाग में और ब्राह्मणग्रन्थों में ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं। परन्तु अंशवाचक शब्द में उदात्त-परिवर्तन-सम्बन्धी नियम के अनेक अपवाद भी दृष्टिगोचर होते हैं; यथा— चतुर्थ (मै० सं० १,९,४) "$\frac{1}{4}$"; पञ्चम (मै० सं० १,९,४) "$\frac{1}{5}$"; षष्ठ (मै० सं० १,९,४) "$\frac{1}{6}$"; षोडश (अ०) "$\frac{1}{16}$"; दे० टि० २५९।

(ख) **स्त्री-वाचक शब्द**— उपर्युक्त क्रमवाचक शब्द पुं० तथा नपुं० में अकारान्त हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय, तुर्य, तुरीय से स्त्रीवाचक शब्द

बनाने के लिये इनके साथ आ (पा० टाप्) प्रत्यय जोड़ा जाता है और शेष सब क्रमवाचक शब्दों के साथ ई (पा० ङीप्) जोड़ा जाता है; यथा— प्रथमा (अ०); द्वितीया; तृतीया (अ०); तुरीया (तै० सं०); चतुर्थी (अ०); अष्टमी (अ०); दशमी (अ०); पञ्चदशी (तै० ब्रा०); त्रिंशत्तमी (शत० ब्रा०); चत्वारिंशी (ऋ०); द्वापञ्चाशी (कौ० ब्रा०); सहस्रतमी (तै० सं०)।

(ग) **विभक्ति-रूप**—पुं० तथा नपुं० क्रमवाचक शब्दों के रूप अकारान्त प्रातिपदिकों की भांति बनते हैं (अनु० १३८); यथा एकादश पुं० के रूप इस प्रकार चलते हैं- प्रथ० ए० एकादशः; प्रथ० ब० एकादशाः; एकादशासः; द्वितीο ए० एकादशम्; द्वितीο ब० एकादशान्; तृ० ए० एकादशेन; तृ० ब० एकादशैः; इत्यादि। प्रथ० ब० में प्रथम से प्रथमे रूप सर्वनामों की भांति बनता है (अनु० १६५) और प्रथमासः (ऋ०) भी मिलता है। स्त्री० क्रमवाचक शब्दों के रूप आकारान्त तथा ईकारान्त स्त्री० प्रातिपदिकों के रूपों की भांति बनते हैं (अनु० १३९, १४३); परन्तु -तीय प्रत्ययान्त स्त्री० शब्द तथा प्रथमा के च० पं० ष० स० ए० के रूप सर्वनामों की भांति भी बनते हैं[२६०]; यथा—स० ए० तृतीयस्याम् (अ०); ष० ए० प्रथमस्याः (अ०)।

संख्यावाचक शब्दों के अन्य तद्धित रूप

१६२. संख्यावाचक शब्दों से क्रमवाचक शब्दों के अतिरिक्त अन्य तद्धित रूप भी बनते हैं जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(क) **आवृत्ति-वाचक तद्धित अव्यय**— किसी क्रिया की आवृत्ति (पा० अभ्यावृत्ति) को प्रकट करने के लिये संख्यावाचक शब्दों से जो तद्धित शब्द बनते हैं वे सभी अव्यय होते हैं और ऐसे अव्यय तीन प्रकार से बनाये जाते हैं—

१. एक से आवृत्ति-वाचक अव्यय सकृत् "एक बार" बनता है[२६१]।

२. द्वि, त्रि तथा चतुर् से क्रमशः द्विः "दो बार", त्रिः "तीन बार" तथा चतुः "चार बार" आवृत्ति-वाचक अव्यय -स् प्रत्यय द्वारा बनते हैं[२६२]।

१. चार से ऊपर संख्यावाचक शब्दों से आवृत्ति-वाचक शब्द बनाने के लिये इन के साथ कृत्वः (पा० कृत्वसुच् प्रत्यय) जोड़ दिया जाता है और कुछेक शब्दों को छोड़ कर शेष वैदिक प्रयोगों में संख्यावाचक शब्द तथा कृत्वः का समास नहीं होता है और वे दोनों पृथक् पदों के रूप में रहते हैं[२६३]; यथा— (समास-रूप में) अ॒ष्ट॒कृत्वः॑ (अ० ११, २, ९) "आठ बार"; प॒ञ्च॒कृत्वः॑ (तै० ब्रा० २, ३, ६, २) "पांच बार"; ष॒ट्कृत्वः॑ (तै० ब्रा० २, ३, ६, ३) "छः बार"; स॒प्त॒कृत्वः॑ (तै० ब्रा० २, ३, ६, ३) "सात बार"; द॒श॒कृत्वः॑ (तै० ब्रा० २, ३, ६, ४) "दस बार"; (पृथक् पदों के रूप में)—दश॒ कृत्वः॑ (अ० ११, २, ९) "दस बार"; त्रिः स॒प्त कृत्वः॑ (अ० १२, २, २९) "तीन बार सात बार"; भूरि॑ कृत्वः॑ (ऋ० ३, १८, ४) "बहुत बार"। कृष्णयजुर्वेद की संहिताओं के ब्राह्मणभाग में तथा शत० ब्रा० में पञ्च, षट्, स॒प्त, अ॒ष्टौ, दश, एकादश, द्वादश, स॒प्तद॑श इत्यादि के पश्चात् कृत्वः का प्रयोग पृथक् पद के रूप में मिलता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में द्विः, त्रिः, च॒तुः जैसे आवृत्ति-वाचक शब्दों के साथ भी कृत्वः का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है; यथा—द्विस्तु कृत्वः (शत० ब्रा० ६, ८, २, ५); त्रिः कृत्वः (शत० ब्रा० ७, ३, २, १९); च॒तुः कृत्वः (शत० ब्रा० ३, २, ४, ८)। इस में सन्देह नहीं कि सूत्रकालीन भाषा में कृत्वः संख्यावाचक शब्द के साथ केवल समास में प्रयुक्त होता था और एक प्रत्यय बन कर रह गया था, जैसा कि पाणिनि ने माना है; यथा—शतकृत्वः (आप० श्रौ० सू० २०, ४, ६); सहस्रकृत्वः (आप० ध० सू० १, २६, १४)।

(ख) क्रिया-प्रकार-वाचक तथा विभाग-वाचक तद्धित अव्यय — संख्यावाचक शब्दों के साथ -धा प्रत्यय जोड़ कर क्रिया-प्रकार-वाचक तथा विभाग-वाचक तद्धित अव्यय बनाये जाते हैं[२६४]; यथा— ए॒क॒धा (अ०) "एक प्रकार से"; द्वि॒धा (ऋ० १०,५६,६) "दो प्रकार से"; द्वेधा[२६५] (ब्रा०) "दो प्रकार से"; त्रि॒धा (ऋ० २,३,१०) "तीन प्रकार से"; त्रि॒धा (ऋ० १,११७,२४) "तीन भागों में"; त्रे॒धा[२६५क] (ऋ० १, १५४,१) "तीन प्रकार से"; त्रे॒धा (ऋ० १०,८७,१०) "तीन भागों में"; च॒तु॒र्धा (ऋ०) "चार प्रकार से"; षो॒ढा[२६६] (ऋ०) "छः प्रकार से"; ष॒ड्ढा (शत० ब्रा०) "छः प्रकार से"; षड्धा (पं० ब्रा०) "छः

प्रकार से"; सहस्रधा (ऋ० १०,११४,८) "सहस्र प्रकार से, सहस्र भागों में"। इसी प्रकार पञ्चधा (अ०); सप्तधा (अ०, वा० सं०, तै० सं०); अष्टधा (अ०); नवधा (अ०), इत्यादि बनते हैं।

(ग) **वीप्सा-वाचक तद्धित अव्यय**— संख्यावाचक शब्दों के साथ -शस् प्रत्यय जोड़ कर वीप्सा-वाचक तद्धित अव्यय बनाये जाते हैं[२६७]; यथा— सहस्रशः (ऋ० ८, ३४, १५) "हज़ार हज़ार करके"; शतशः (अ०) "सौ सौ करके"; बद्वशः (ऐ० ब्रा० ८,२३,४) "बद्व बद्व करके"।

(घ) **समुदाय-वाचक तद्धित शब्द**— संख्या-वाचक शब्दों के साथ साधारणतया -तय (पा० तयप्) प्रत्यय जोड़ कर समुदाय-वाचक पुं० नपुं० शब्द बनाये जाते हैं[२६८], और द्वि तथा त्रि के साथ -अय (पा० अयच्) प्रत्यय जोड़ कर भी समुदाय-वाचक शब्द बनाये जाते हैं[२६९]। चतुर् के साथ -वय प्रत्यय जोड़ कर भी ऐसा रूप बनाया जाता है। इन शब्दों का स्त्री० रूप बनाने के लिये इनके साथ ई (पा० ङीप्) प्रत्यय जोड़ा जाता है; यथा— एकतय "एक अवयव वाला"; द्वितय या द्वय "दो अवयवों वाला"; त्रितय या त्रय "तीन अवयवों वाला"; चतुष्टय या चतुर्वय (ऋ०) "चार अवयवों वाला"; दशतय "दश अवयवों वाला"; स्त्री० शब्द त्रयी (शत० ब्रा०); एकतयी (मै० सं०); द्वयी (मै० सं०)।

४. सर्वनाम-संज्ञक शब्द

१६३. सर्वनामों की अपनी अनेक विशेषताएं हैं। रूप-रचना के विषय में नामों और सर्वनामों का विशेष भेद है और सर्वनाम-रूपों के मूल में अनेक प्रातिपदिक माने जाते हैं, यद्यपि इस सम्बन्ध में पूर्ण मतैक्य नहीं है।

पाणिनि के अतिरिक्त, निरुक्त, अ० प्रा०, तथा आप० ध० सू० में **सर्वनामन्** संज्ञा का उल्लेख मिलता है और आप० ध० सू० ने एक ही सूत्र में नामन् तथा सर्वनामन् दोनों का उल्लेख किया है[२७०]। पतञ्जलि के मतानुसार, जो सब का नामन् है वही सर्वनामन् है[२७१]। सर्वनामों का प्रयोग सभी के लिये प्रसङ्गानुसार किया जा सकता है, जबकि नाम एक एक विषय के लिये प्रयुक्त होते हैं; यथा—तद् सर्वनाम का

प्रयोग सभी विषयों का संकेत करने के लिये सामान्यतया किया जा सकता है, परन्तु पुरुष, अश्व इत्यादि नामों का प्रयोग विशिष्ट विषयों के लिये किया जाता है।

पाणिनि (१,१,२७) ने निम्नलिखित सर्वनामों की परिगणना की है—

सर्वं "सब"; विश्व "सब"; उभ "दोनों"; उभय "दोनों"; डतर-प्रत्ययान्त शब्द (पा॰ ५,३,९२; अनु॰ २०१ग) यथा—कतर "दो में से कौन सा", यतर "दो में से जौन सा", ततर "दो में से वही"; डतम-प्रत्ययान्त शब्द (पा॰ ५,३,९३; अनु॰ २०१ग) यथा—कतम "बहुतों में से कौन सा", यतम "बहुतों में से जौन सा", ततम "बहुतों में से वही"; अन्य; अन्यतर; इतर "अन्य"; त्वत् "अन्य", त्व "अन्य" (टि॰ २९९); नेम "कई, आधा"; सम "प्रत्येक"; सिम "सब"; पूर्व; पर, अवर; दक्षिण "दक्षिण में स्थित"; उत्तर "उत्तर में स्थित"; अपर; अधर; स्व "अपना"; अन्तर "बाह्य, अन्तरीय"; त्यद् "वह"; तद्; यद्; एतद्; इदम्; अदस्; एक; द्वि; युष्मद्; अस्मद्; भवत् "आप"; किम्।

अब हम उन सर्वनामों की रूप-रचना पर विचार करेंगे जिन का प्रयोग वैदिक भाषा में उपलब्ध होता है। इस विषय में यह तथ्य विशेषतया उल्लेखनीय है कि रूप रचना की दृष्टि से अस्मद् तथा युष्मद् को एक वर्ग में और शेष सर्वनामों को दूसरे वर्ग में रक्खा जा सकता है।

अस्मद् तथा युष्मद्

१६४. अस्मद् तथा युष्मद् के रूपों के व्याख्यान के लिये विशिष्ट नियम नहीं निर्धारित किये जा सकते, क्योंकि कुछ रूपों में कोई भी सामान्य विभक्ति-चिह्न नहीं दीख पड़ता है। युष्माः (वा॰ सं॰) को छोड़ कर इनके रूपों में कोई लिङ्गभेद नहीं माना जाता है। यद्यपि पाणिनि ने अस्मद् तथा युष्मद् प्रातिपदिक मान कर इन रूपों का व्याख्यान किया है[३०२], आधुनिक विद्वानों के मतानुसार इन रूपों की रचना भिन्न-भिन्न प्राति-

पदिकों से है और एक साधारण प्रातिपदिक के आधार पर इनका व्याख्यान नहीं किया जा सकता। अन्य सर्वनामों के समान **अस्मद्** तथा युष्मद् का भी सम्बोधनरूप नहीं होता है।

(क) अस्मद् के रूप—

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	अहम्	वाम्[२७३], आवम् (मै०सं०, तै०सं०, शत०ब्रा०)[२७४]	वयम्।
द्वितीο	माम्	आवाम् (शत० ब्रा०)	अस्मान्।
तृ०	मया	आवाभ्याम् (ऐ० ब्रा० २,३)	अस्माभिः।
च०	मह्यम्, मह्य[२७५]	×	अस्मभ्यम्, अस्मे[२७६] (ऋ०)।
पं०	मत्	आवाभ्याम् (का०सं०), आवत् (तै०सं)	अस्मत्।
ष०	मम	आवयोः (तै०सं०, का०सं०, शत०ब्रा०)	अस्माकम्, अस्माक (ऋ० १,१७३,१०)।
स०	मयि, मे (वा० सं० ४,२२)[२७७]		अस्मासु, अस्मे (ऋ०)[२७६]।

अस्मद् के निघातादेश— द्वितीο, च०, ष० विभक्ति में अस्मद् के ऐसे संक्षिप्त रूप भी बनते हैं जो पूर्णतया अनुदात्त होते हैं। ऐसे रूपों को निघातादेश कहा जाता है। अस्मद् के निघातादेश निम्नलिखित हैं[२७८]—

	ए०	द्वि०	ब०
द्वितीο	मा	नौ	नः।
च० ष०	मे	नौ	नः।

वाक्य में इन के प्रयोग पर नीचे (ग) भाग में विचार किया गया है।

(ख) युष्मद् के रूप—

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	त्वम्	युवम्	यूयम्।
द्वितीο	त्वाम्	युवाम्	युष्मान्, युष्माः[२७९] (वा० सं० १,१३;११,४७) स्त्री०।
तृ०	त्वया, त्वा (ऋ०)	युवभ्याम् (ऋ०, आश्व० श्रौ० सू०), युवाभ्याम्	युष्माभिः (ऋ० ८, ६३,१०; तै०सं०)।

च० तुभ्यम्, तुभ्य (ऋ०)[२८०] ; × ; युष्मभ्यम्, युष्मे (ऋ०)[२७१] ।
पं० त्वत् ; युवत् (ऋ० १,१०९,१) : युष्मत् ।
ष० तव ; युवोः (ऋ०), युवयोः (तै० सं०) ;
युष्माकम्, युष्माक (ऋ० ७,५९,९.१०) ।
स० त्वयि (अ०,वा०सं०, तै० सं०), त्वे (ऋ०)[२७७] ;
× ; युष्मे (ऋ०)[२७१], युष्मासु (का०सं०) ।

युष्मद् के निघातादेश— द्वितीं०, च०, तथा ष० विभक्ति में युष्मद् के ऐसे संक्षिप्त रूप भी बनते हैं जो पूर्णतया अनुदात्त होते हैं। युष्मद् के निघातादेश निम्नलिखित हैं (टि० २७८)—

	ए०	द्वि०	ब०
द्विती०	त्वा	वाम्	वः ।
च० ष०	ते	वाम्	वः ।

(ग) निघातादेशों का वाक्य में प्रयोग— अस्मद् तथा युष्मद् के निघातादेश ऋक्पाद, श्लोकपाद और वाक्य के आदि में प्रयुक्त नहीं किये जा सकते[२८१]। च, वा, ह, अह, एव निपातों के साथ भी इन का प्रयोग नहीं होता है[२८२]। ऐसे निघात आदेशों का प्रयोग समान वाक्य में किया जा सकता है और एक वाक्य में साधारणतया एक ही तिङन्त (आख्यात) होता है[२८३]; यथा— शं ते सन्तु प्रचेतसे (ऋ० १,५,७); अप्सु मे सोमो अब्रवीत् (ऋ० १,२३,२०)।

सर्वनामों की विभक्तियां

१६५. अस्मद् तथा युष्मद् को छोड़ कर अन्य सर्वनामों की बहुत सी विभक्तियां समान हैं। अतएव यहां पर उन सामान्य विभक्तियों का विवेचन आवश्यक है। सर्वनाम की इन विशेष विभक्तियों के अतिरिक्त अन्य विभक्तियां लगभग वैसी ही हैं जो नामों के रूपों में साधारणतया जोड़ी जाती हैं और अदस् इत्यादि के साथ जुड़ने वाली विभक्तियों की विशेषताओं पर आगे चल कर यथाप्रसङ्ग विचार करेंगे। यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि अदस् को छोड़ कर शेष सर्वनामों का अङ्ग विभक्तियों से पूर्व पुं० में प्रायेण अकारान्त और स्त्री० में आकारान्त

होता है। प्रथ० द्विती० ए० से पूर्व कुछ सर्वनामों का अङ्ग हलन्त रहता है, परन्तु शेष विभक्तियों से पूर्व वह पुं० के समान होता है।

(क) **पुं० तथा नपुं० सर्वनामों की सामान्य विभक्तियां**—अकारान्त पुं० के प्रथ० व० में ई (पा० शी) विभक्ति आती है[२८४]; यथा—**विश्व + ई = विश्वे; सर्व + ई = सर्वे।** अकारान्त पुं० तथा नपुं० के च० ए० में स्मै, पं० ए० में स्मात्, स० ए० में स्मिन्, और ष० व० में साम् विभक्ति आती है[२८५]; और साम् से पूर्व सर्वनाम के अन्तिम अ का ए और परिणाम-स्वरूप साम् के स् का ष् बन जाता है; यथा—च० ए० विश्वस्मै; पं० ए० विश्वस्मात्; स० ए० विश्वस्मिन्; ष० ब० विश्वेषाम्। शेष विभक्तियों में पुं० तथा नपुं० सर्वनामों के रूप प्रायेण अकारान्त प्रातिपदिकों के समान चलते हैं। अदस् के साथ भी सर्वनाम की विशेष विभक्तियां आती हैं।

विशेष— पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व तथा अन्तर—इन नौ सर्वनामों के साथ कहीं कहीं सर्वनामों की विशेष विभक्तियों के स्थान पर नामों के साथ जुड़ने वाली साधारण विभक्तियां जोड़ कर भी प्रथ० च० पं० तथा स० के रूप बनाये जाते हैं[२८६]; यथा— प्रथ० व० **पूर्वे, पूर्वासः; अपरे, अपरासः;** पं० ए० **उत्तरस्मात्, उत्तरात्;** स० ए० **उत्तरस्मिन्, उत्तरे।** इसी प्रकार नेम (टि० २८६), विश्व, उपर इत्यादि कतिपय अन्य विशेषणों के रूप भी कहीं सर्वनामों की भांति और कहीं नामों की भांति बनते हैं; यथा— च० ए० विश्वस्मै, **विश्वाय;** पं० ए० विश्वस्मात्, विश्वात्; स० ए० विश्वस्मिन्, विश्वे (ऋ०); प्रथ० व० उपरे, उपराः।

(ख) **स्त्री० सर्वनामों की सामान्य विभक्तियां**—जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, अदस् को छोड़ कर अन्य सर्वनामों का अङ्ग स्त्री० में प्रायेण आकारान्त रहता है। स्त्री० सर्वनामों के आकारान्त अङ्ग के साथ च० ए० में स्यै, पं० ष० ए० में स्याः, तथा स० ए० में स्याम् विभक्ति जोड़ी जाती है और इन विभक्तियों से पूर्व अङ्ग के आ को ह्रस्व कर दिया जाता है[२८७]; यथा—च० ए० तस्यै, सर्वस्यै; पं० ष० ए० तस्याः, अन्यस्याः; स० ए० तस्याम्, पूर्वस्याम्। पुं० नपुं० की भांति (टि०

२८५) स्त्री० में भी ष० ब० की विभक्ति स् के आगम द्वारा साम् बन जाती है; यथा—तासाम्, आसाम्, अन्यासाम्। अदस् (स्त्री०) के साथ भी सर्वनाम की विशेष विभक्तियां जोड़ी जाती हैं। शेष विभक्तियों में स्त्री० सर्वनामों के रूप प्रायेण आकारान्त स्त्री० प्रातिपदिकों के समान बनते हैं।

१६६. तद्, एतद् तथा त्यद्—इन तीनों सर्वनामों के रूपों में विशेष समानताएं हैं। अतएव इन के रूपों के सम्बन्ध में सामान्य विमर्श आवश्यक है। नपुं० की प्रथ० द्वितीo ए० में इन सर्वनामों का अङ्ग दकारान्त रहता है और विभक्ति का लोप हो जाता है (टि० १७१), परन्तु नपुं० की शेष विभक्तियों तथा पुं० की सभी विभक्तियों से पूर्व इन सर्वनामों का अङ्ग अकारान्त रहता है[१८८]; और स्त्री० में इन का अङ्ग आकारान्त हो जाता है। और प्रथ० ए० पुं० स्त्री० में इन सर्वनामों के तकार को सकार आदेश हो जाता है[२८९]। यथाप्रसङ्ग सर्वनामों की विशेष विभक्तियां (अनु० १६५) और अन्यत्र पुं० तथा नपुं० में अकारान्त प्रातिपदिकों की विभक्तियां और स्त्री० में आकारान्त स्त्री० प्रातिपदिकों की विभक्तियां जोड़ कर इन सर्वनामों के रूप बनाये जाते हैं। प्रथ० ए० पुं० के रूप सः, एषः तथा स्यः के सन्धि-विकारों के लिये दे० अनु० ६०।

विशेष—ऋ० में कहीं-कहीं स० ए० पुं० नपुं० में और छान्दोग्योपनिषद् में पं० ए० पुं० में भी तद् के त् का स् बन जाता है; यथा—सस्मिन्, सस्मात्।

(क) तद् "वह" के रूप[२९०]—

पुं० रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	सः ;	ता, तौ ;	ते।
द्वितीo	तम् ;	ता, तौ ;	तान्।
तृ०	तेन, तेना (पपा० तेन, अनु० ४६ग);	ताभ्याम् ;	तेभिः, तैः।
च०	तस्मै ;	× ;	तेभ्यः।

पं०	तस्मात्,तात् (ऋ०)[२११]; तस्मात् (छा० उप० ?);	ताभ्याम् ;	तेभ्यः ।
ष०	तस्य ;	तयोः ;	तेषाम् ।
स०	तस्मिन् (२२बार); तस्मिन्[२११क] (ऋ० में ९बार);	तयोः ;	तेषु

नपुं० रूप

	ए० ;	द्वि० ;	ब०
प्रथ० द्विती०	तत् ;	ते ;	ता, तानि ।

नपुं० के शेष रूप पुं० के समान बनते हैं ।

स्त्री० रूप

	ए० ;	द्वि० ;	ब०
प्रथ०	सा ;	ते ;	ताः ।
द्विती०	ताम् ;	ते ;	ताः ।
तृ०	तया ;	ताभ्याम् ;	ताभिः ।
च०	तस्यै ;	× ;	ताभ्यः ।
पं०	तस्याः ;	ताभ्याम् ;	× ।
ष०	तस्याः ;	× ;	तासाम् ।
स०	तस्याम् ;	× ;	तासु ।

(ख) एतद् "यह" के रूप[२११]—

पुं० रूप

	ए० ;	द्वि० ;	ब०
प्रथ०	एषः ;	एता, एतौ ;	एते ।
द्विती०	एतम् ;	एतौ (तै० सं) ;	एतान् ।
तृ०	एतेन ;	एताभ्याम् (तै० सं०);	एतेभिः, एतैः ।
च०	एतस्मै (तै० सं०);	× ;	एतेभ्यः ।
पं०	एतस्मात् (अ०,तै० सं०);	× ;	× ।
ष०	एतस्य (अ०,तै०सं०) ;	एतयोः(तै०सं०);	एतेषाम् (तै०सं०) ।
स०	एतस्मिन् (तै०सं०) ;	× ;	एतेषु (ऐ०ब्रा०) ।

नपुं० रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०द्विती०	एतत्	एते (तै०सं०)	एतानि, एता ।

शेष रूप पुं० के समान बनते हैं।

स्त्री० रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	एषा	एते	एताः ।
द्विती०	एताम्	×	एताः ।
तृ०	एतया, एता (ऋ० १०,९५,२);	एताभ्याम् (मै०सं०)	एताभिः ।
च०	एतस्यै (तै०सं०);	×	एताभ्यः (तै०सं०) ।
ष०	एतस्याः (तै०सं०);	×	एतासाम् (तै०सं०) ।
स०	एतस्याम्;	×	एतासु ।

(ग) स्यद् "वह" के रूप[२९३]—ऋ० में इस सर्वनाम से बने हुए बहुत से रूप मिलते हैं, परन्तु उत्तरकालीन संहिताओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में इस के बहुत कम रूप उपलब्ध होते हैं। तद् की भांति स्यद् का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता है और यह प्रायेण विशेषण के रूप में विशेष्य के साथ ही प्रयुक्त होता है। यदि स्यद् के तुरन्त पश्चात् उ, चित्, नु, सु इत्यादि निपात न आए, तो स्यद् पाद या वाक्य के आरम्भ में नहीं आता है। स्यद् अनेक बार एतद्, इदम् जैसे सर्वनामों के रूपों के साथ प्रयुक्त होता है; यथा—एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमः (ऋ० ९,८७,४)।

स्यद् से बने हुए निम्नलिखित वैदिक रूप उपलब्ध होते हैं—

पुं० रूप

प्रथ० ए० स्यः ; द्वि० स्या (ऋ०), स्यौ (तै० सं०); ब० स्ये;
द्विती०ए० त्यम् ; ; ब० स्यान्।
तृ० ब० त्येभिः ।

ष० ए० त्यस्य ; द्वि० त्ययोः (तै० सं०)।
स० ए० त्यस्मिन् (मै० सं०)।

नपुं० रूप

प्रथ०द्वितीए० त्यद्, त्यम् (शत०ब्रा० १४,५,३,१); ब० त्या, त्यानि।

स्त्री० रूप

प्रथ० ए० त्या[२९४] ; द्वि० त्ये ; ब० त्याः।
द्विती०ए० त्याम् ; ; ब० त्याः।
तृ० ए० त्या (ऋ० १०,७५,६)।
ष० ए० त्यस्याः।

(घ) तक "वह" शब्द भी, पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार[२९५], तद् सर्वनाम के साथ ह्रस्ववाचक क प्रत्यय जोड़ कर बनाया गया है[२९५क]। इस के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० ब० पुं० तकाः (का० श्रौ० १३,३,२१); द्विती० ए० पुं० तकम् (ऋ०); द्विती० ए० नपुं० तकत् (ऋ०)।

तद् से बने हुए शब्द सक "वह छोटा" (टि० २९५) का स्त्री० रूप सका भी मिलता है।

१६७. अव, अम, त्वत्, त्व, नेम, सिम, सम— इन सर्वनामों से बने हुए बहुत थोड़े रूप उपलब्ध होते हैं; इनके अर्थ तथा प्रयोग के विषय में भी अनेक मतभेद हैं; और इन के अर्थों में पारस्परिक सम्बन्ध भी है। अत एव यहां पर इन का विवेचन वाञ्छनीय है।

(क) अव "यह" के रूप—इस सर्वनाम के केवल तीन रूप ऋ० में ही मिलते हैं। "अवोरित्था वाम्" (ऋ० ६,६७,११) तथा "अवोर्वाम्" (ऋ० ७,६७,११) में अवोः के पश्चात् वाम्, और "अवोर्वा" (ऋ० १०,१३२,५) में वा आता है[२९६]। स त्वम् "तुम ऐसे" की भांति अवोर्वाम् का अर्थ है "ऐसे तुम दोनों का" और ये तीनों रूप ष० द्वि० के हैं[२९७]।

(ख) अम "यह" के रूप—अ० १४,२,७१ तथा का० सं० ३५,१८ के मन्त्रभाग—अमोऽहमस्मि सा त्वम् "मैं यह हूं, तुम वह हो" में इस

सर्वनाम के प्रथ० ए० पुं० का प्रयोग मिलता है और गृह्यसूत्रों के विवाह-मन्त्रों में भी इसी रूप का प्रयोग उपलब्ध होता है। इसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी अमः अनेक बार प्रयुक्त किया गया है[२९८]।

(ग) त्वत्, त्व के रूप—इन सर्वनामों के अर्थ तथा प्रयोग के विषय में अनेक मतभेद हैं। कतिपय भारतीय वैयाकरणों के मतानुसार, त्वत् तथा त्व दो पृथक् सर्वनाम हैं—एक उदात्त, दूसरा अनुदात्त; अन्य मत के अनुसार दोनों सर्वनाम अनुदात्त हैं; कुछ वैयाकरण दोनों सर्वनामों को अकारान्त मानते हैं[२९९]। पाश्चात्य विद्वान् केवल एक अकारान्त तथा अनुदात्त सर्वनाम त्व की सत्ता को स्वीकार करते हैं। वस्तुतः अ० ८,९,९ के प्रयोग "त्वे न त्वे" तथा ऋ० खिलसूक्त ६,४५,१ के अप्रामाणिक पाठ "एतं त्वं मन्ये"[३००] को छोड़ कर समस्त वैदिक वाङ्मय में त्व का उदात्त रूप नहीं मिलता है।

अनेक भारतीय वैयाकरण त्व का अर्थ "अन्य" मानते हैं (टि० २९९)। निरुक्त के अनुसार त्व का अर्थ "अर्ध" भी माना जाता था[३०१]। त्व का अर्थ साधारणतया "एक, अनेक" है; और जब त्व की आवृत्ति की जाये तब प्रथम त्व का अर्थ "एक" और द्वितीय त्व का अर्थ "अपर" होता है[३०२]; यथा—उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् (ऋ० १०,७१,४) "एक देखते हुए भी वाणी को नहीं देखता है, दूसरा सुनते हुए भी इसे नहीं सुनता है।"

ऋ० में त्व के लगभग बीस रूप मिलते हैं और वैदिक वाङ्मय में त्व से बने हुए निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं—

पुं० रूप

प्रथ० ए० त्वः ; ब० त्वे (ऋ०), त्वे (अ)।

द्विती० ए० त्वम् ; ब० त्वान् (जै० ब्रा०)।

तृ० ए० त्वेन। च० ए० त्वस्मै।

ष० ए० त्वस्य।

स्त्री० रूप

प्रथ० ए० त्वा ; ब० त्वाः (जै०ब्रा०; पं० ब्रा०)।

च० ए० त्वस्यै।

नपुं० रूप

प्रथ० ए० त्वत्। वैदिक वाङ्मय में विशेषतः ब्राह्मणग्रन्थों में कहीं-कहीं त्वत् पद "अंशतः" के अर्थ में अव्यय की भांति प्रयुक्त होता है[१०३]।

(घ) नेम के रूप— यास्क तथा वैयाकरणों के मतानुसार, नेम शब्द अर्धवाचक है[१०४]। परन्तु सायण ने नेम के अर्थ "यह" "कुछ", "अर्ध" इत्यादि किये हैं[१०५]। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, नेम का अर्थ भी लगभग "त्व" जैसा ही है, अर्थात् "एक, अनेक, अपर"। जहां नेम की आवृत्ति होती है, वहां भी नेम का अर्थ "त्व" के समान है और "त्व" के साथ भी इस का प्रयोग मिलता है; यथा— प्र नेमस्मिन्ददृशे सोमो अन्तर्गोपा नेममाविरस्था कृणोति (ऋ० १०,४८,१०) "एक के अन्दर सोम दिखाई देता है, दूसरे को रक्षक अस्थि से प्रकट करता है"; नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभि ष्टवाम (ऋ० ८, १००,३) "'इन्द्र नहीं है' यह बात एक, और दूसरा कहता है 'इसे किसने देखा है, हम किस की स्तुति करें'।"

नेम के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

पुं० रूप

प्रथ० ए० नेमः ; ब० नेमे (ऋ०,मै०सं०), नेमाः (मै०सं०)।

द्विती०ए० नेमम्।

ष० ब० नेमानाम् (ऋ० ६,१६,१८)।

स० ए० नेमस्मिन्।

नपुं० रूप

प्रथ० द्विती० ए० नेमम्।

(ङ) सिम "सब, प्रत्येक"[१०१] के थोड़े से रूप ऋ० में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि फिट्सूत्र तथा महाभाष्य में इसे अनुदात्त माना गया है[१०७], तथापि ऋ० में यह सर्वनाम अन्तोदात्त है। इसके निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं—

प्रथ० ए० पुं० सिमः ; ब० पुं० सिमे।

सम्बो० ए० पुं० सिम (ऋ० ८,४,१)।

च० ए० नपुं० सिमस्मै (ऋ० १,११५,४)।

पं० ए० नपुं० सिमस्मात् (ऋ० १,९५,७)।

(च) सम "प्रत्येक, कोई" के रूप— वैयाकरणों के मतानुसार यह सर्वनाम सर्व-वाचक तथा अनुदात्त है और अन्तोदात्त सम "समान" से भिन्न है जो कि सर्वनाम नहीं है[१०८]। इसके निम्नलिखित पुं० रूप मिलते हैं—

प्रथ० ब० समे (ऋ०)।

द्वितीο ए० समम् (ऋ० १,१७६,४)।

च० ए० समस्मै (ऋ० ६,५१,६)।

पं० ए० समस्मात् (ऋ० ५,२४,३; वा० सं० ३,२६)[१०९]।

ष० ए० समस्य (ऋ०)।

स० ए० समस्मिन् (ऋ० ८,२१,८)।

१६८. इदम् "यह" के रूप—इस सर्वनाम का प्रयोग समीपस्थ द्रव्य की ओर संकेत करने के लिये किया जाता है; यथा—अयं सोमः (ऋ० १,४६, १०) "यह सोम" जो समीप विद्यमान है। पाणिनि के अनुसार, इदम् प्रातिपदिक से अयम्–, इयम्–, इम–, अन–, अ–, इत्यादि अङ्ग बनते हैं और इन के साथ भिन्न-भिन्न विभक्तियाँ जोड़ी जाती हैं[११०]। प्रथ० ए० पुं० में अयम्–, तथा स्त्री० में इयम्–, प्रथ० द्विती० के शेष रूपों में इम–, और तृ० आदि शेष विभक्तियों से पूर्व अ–, परन्तु तृ० ए०, तथा ष० स० द्वि० में कहीं-कहीं अन–, से बने रूपों का प्रयोग मिलता है (टि० ३१०)। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार अ, इ, इम मूलतः पृथक् प्रातिपदिक थे जिन से सर्वनाम रूप तथा

तद्धित रूप वनते थे; यथा—अ से अत्र "यहां", अथ "तव", अस्य "इस का" इत्यादि; इ से इह "यहां", इतर "अन्य", इतः "यहां से", इयम् "यह स्त्री"; इम से इमस्य (ऋ०) "इस का", इमथा (ऋ०) "इस प्रकार", इमम् "इसको"[१११]। इन के निम्नलिखित वैदिक रूप उपलब्ध होते हैं—

पुं० रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	अयम् ;	इमा, इमौ ;	इमे।
द्विती०	इमम् ;	इमा, इमौ ;	इमान्।
तृ०	एना (अनु० १६९ क), अनेन[१११क];	आभ्याम् ;	एभिः, इमैः (महाभारत १,१२८,२३)
च०	अस्मै, इमस्मै (ऐ० आ०);	आभ्याम् ;	एभ्यः।
पं०	अस्मात्, आत्[११२];	आभ्याम् ;	एभ्यः।
ष०	अस्य, इमस्य (ऋ०);	अयोः (ऋ०), अनयोः (तै० सं०);	एषाम्।
स०	अस्मिन् ;	अयोः (ऋ०)[११३], अनयोः (तै० सं०);	एषु।

नपुं० रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ० द्विती०	इदम् ;	इमे ;	इमा, इमानि।

शेष रूप पुं० के समान हैं।

स्त्री० रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	इयम् ;	इमे ;	इमाः।
द्विती०	इमाम् ;	इमे ;	इमाः।
तृ०	अया, अनया;	;	आभिः।
च०	अस्यै ;	;	आभ्यः।
पं०	अस्याः ;	;	आभ्यः।

प०	अस्याः ;	अयोः (ऋ० १,१८५,१); आसाम्।
स०	अस्याम् ;	अयोः (ऋ० ३,५४,२)[११३]; आसु।

स्वर-वैशिष्ट्य तथा स्वर-निघात— साधारणतया इदम् के अङ्ग से परे आने वाली असर्वनाम-विभक्ति पर उदात्त रहता है[११४], जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है। परन्तु इस साधारण नियम के कुछ अपवाद भी मिलते हैं; यथा— ऋ० में आद्युदात्त रूप अस्मै, अस्य, आभिः, तथा अया (ऋ० ६,६६;४)[११५] उपलब्ध होते हैं। ऐसे आद्युदात्त रूप प्रायेण पाद के आदि में आते हैं।

जिस रूप का वाक्य में प्रथम वार प्रयोग होता है उस पर उदात्त रहता है, परन्तु तृतीयादि विभक्ति में इदम् सर्वनाम का जो रूप पूर्व-कथित वस्तु को कहता है वह अन्वादेश-विषय (वा० प्रा० अनुदेश) कहलाता है और पूर्णतया अनुदात्त होता है[११६]; यथा— कथा दाशेमाग्नये कास्मै देवजुष्टोच्यते भामिने गीः (ऋ० १,७७,१) "हम अग्नि के लिये किस प्रकार हवि प्रदान करें; इस तेजस्वी के लिये (अस्मै) कौन सी देवप्रिय वाणी बोली जाती है।" इसी प्रकार अन्वादेश में अस्मात्, अस्य, अस्मिन्, अस्याः, अस्याम्, एभिः, एभ्यः, आभिः, आभ्यः, एषाम्, आसाम्, एषु, आसु इत्यादि अनुदात्त रूप बनते हैं।

१६९. **एन तथा एन के रूप**— एन के अधिकतर रूप द्विती० में मिलते हैं, परन्तु तृ० ए०, ष० स० द्वि० में भी कुछ रूप उपलब्ध होते हैं। पाणिनि के मतानुसार, द्विती०, तृ० ए०, ष० स० द्वि० विभक्ति परे रहने पर, अन्वादेश (टि० ३१६) को प्रकट करने वाले इदम् तथा एतद् सर्वनाम को पुं० स्त्री० में अनुदात्त एन आदेश हो जाता है[११७], और वार्तिक के अनुसार नपुं० ए० में एनद् आदेश होता है। पाश्चात्य विद्वान् एन को अपूर्ण (defective) परन्तु पृथक् सर्वनाम मानते हैं[११८], यद्यपि वे इस का अर्थ एतद् तथा इदम् से भिन्न नहीं समझते हैं। ऐसे रूप प्रायेण पाद या वाक्य के प्रारम्भ में नहीं आते हैं।

एन के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

पुं० तथा नपुं० रूप

द्वितो० ए० पुं० एनम् ; द्वि० पुं० एनौ; ब० पुं० एनान्।
द्विती० ए० नपुं० एनत् (अ०,तै०सं०); द्वि० नपुं० एने (का०सं०);
ब० नपुं० एनानि।
तृ० ए० एनेन (अ०,तै०सं०), एना (ऋ०)[११९]।
ष० द्वि० एनोः (ऋ०), एनयोः (अ०,तै०सं०)।

स्त्री० रूप

द्विती० ए० एनाम् ; द्वि० एने ; ब० एनाः।
तृ० ए० एनया (तै० सं० ६,१,७,७)।
ष० द्वि० एनयोः (तै० सं० ५,५,४,२)।

विशेष— एन की द्विती० विभक्ति के उपर्युक्त कतिपय रूप प्रथ० के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं[१२०]; यथा—एनत्—तदेनत्प्रीतं क्षत्राद्गोपायति (ऐ० ब्रा० ७,२२,४) "यह प्रसन्न हुआ (ब्रह्म) (यजमान को) क्षत्र (क्षत्रियबल) से बचाता है"; तदेनत्सृष्टं पराङत्यजिघांसत् (ऐ० आ० २,४,३) "इस उत्पन्न हुए (अन्न) ने दूर होकर बचना चाहा"; इसी प्रकार एनौ— तस्मादेनौ प्रथमौ शस्येते स्वर्ग्यौ (कौ० ब्रा० २२,१) "इस लिये प्रथम इन दोनों की स्वर्ग्य के रूप में स्तुति की जाती है"; अथैनौ दधिमधु समश्नुतः (मा० गृ० सू० १,१२,५) "तब ये दोनों (दम्पती) दही और शहद का भक्षण करते हैं"।

(क) **उदात्तयुक्त एन के रूप**— उदात्तयुक्त एन से बने हुए कुछ रूप भी वैदिक भाषा में उपलब्ध होते हैं। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, इन में से अधिकतर रूप अ सर्वनाम (इदम्) से बने हैं और कतिपय रूपों में पाण्डुलिपि की अशुद्धि से उदात्त है[१२१]। एन के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

द्विती० ए० स्त्री० एनाम् (ऋ० ८,६,१९ पाद के आदि में)[१२२]।

एना—संहितापाठ में मिलने वाले एना पाठों में से अधिकतर रूप निःसन्देह तृ० ए० पुं० तथा नपुं० के हैं। परन्तु इन में से कुछ पाठों

के रूप के सम्बन्ध में मतभेद है; यथा— एना सख्या (ऋ० १०,२३, ७) "ये मित्रताएं" के एना को सायण तथा अनेक पाश्चात्य विद्वान् द्वितीय० व० नपुं० का रूप मानते हैं, परन्तु राट इस मत को स्वीकार नहीं करता है। अथर्ववेद के पपा० तथा अ० प्रा० ३,३४ के अनुसार, अ० १२,३,३३ के "एना एह्याः" का विग्रह "एना+एह्याः" है और एना तृ० ए० का रूप है, परन्तु ह्विटने (अ० प्रा० ३,३४की टि०) के अनुसार यह द्विती० ब० स्त्री० पद एनाः है। कहीं कहीं एना पद "इस प्रकार" के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

अशुद्ध उदात्त— कहीं कहीं पाण्डुलिपि की अशुद्धि के कारण भी एन पर उदात्त लग गया है; यथा—का० सं० ११,६ में एनम् पर उदात्त है, जबकि मै० सं० २,२,१ के समान भाग में एनम् अनुदात्त है[१११]।

१७०. **अदस् "वह" के रूप**—इस सर्वनाम का प्रयोग दूरस्थ द्रव्य की ओर संकेत करने के लिये किया जाता है; यथा—असौ सूर्यः (ऋ० १, १९१, ९) "वह सूर्य"। प्रथ० ए० पुं० स्त्री० में असौ[११४] और प्रथ० द्विती० ए० नपुं० में अदः रूप बनता है। प्रथ० व० पुं० में अमी रूप और तृ० च० पं० प० स० व० पुं० नपुं० में विभक्ति से पूर्व **अमी-** अङ्ग बनता है[११५]। पुं० नपुं० तथा स्त्री० की शेष विभक्तियों से पूर्व **अमु-** अङ्ग बनता है जिस का उकार पुं० की द्विती० ए० और पुं० नपुं० स्त्री० की तृ० च० पं० प० स० ए० तथा प० स० द्वि० को छोड़ कर अन्य विभक्तियों से पूर्व दीर्घ हो जाता है[११६]। अदस् के निम्नलिखित वैदिक रूप उपलब्ध होते हैं—

पुं० रूप

प्रथ० ए०	असौ	;	व०	अमी (प्रगृह्य, अनु० ४५ ख)।
द्विती० ए०	अमुम्	;	व०	अमून् (अ०)।
तृ० ए०	अमुना	;	व०	अमीभिः।
च० ए०	अमुष्मै	;	व०	अमीभ्यः (अ०)।
पं० ए०	अमुष्मात्	;	व०	अमीभ्यः (अ०)।

ष० ए० अमुष्य ; ब० अमीषाम् ।

स० ए० अमुष्मिन् ; ब० अमीषु ।

नपुं० रूप

प्रथ० द्विती० ए० अदः ; ब० अमू (अ०) ।

शेष विभक्तियों में इस के रूप पुं० के समान बनते हैं ।

स्त्री० रूप

प्रथ० ए० असौ ; द्वि० अमू (अ०, का० सं०); ब० अमूः ।

द्विती० ए० अमूम् ; ब० अमूः ।

तृ० ए० अमुया[३२७] ; ब० अमूभिः ।

च० ए० अमुष्यै (वा० सं०) ।

ष० ए० अमुष्याः (अ०, तै० सं०) ।

स० ए० अमुष्याम् (तै० सं०) ।

विशेष—अदस् के साथ ह्रस्ववाचक क प्रत्यय जोड़ने से असकौ "वह छोटा" शब्द बनता है (टि० ३२४); यथा—प्रथ० ए० स्त्री० असकौ (वा० सं० २३,२२.२३) ।

१७१. यद् "जो" के रूप—नपुं० प्रथ० द्विती० ए० में इस सर्वनाम का रूप यद् बनता है, परन्तु नपुं० की शेष विभक्तियों में और पुं० की सभी विभक्तियों में इस के रूप अकारान्त सर्वनाम के सामान्य नियमों के अनुसार (अनु० १६५) बनते हैं। स्त्री० में यद् का या बन जाता है। इस के निम्नलिखित वैदिक रूप उपलब्ध होते हैं—

पुं० रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	यः ;	या, यौ ;	ये ।
द्विती०	यम् ;	या, यौ ;	यान् ।
तृ०	येन॑,येना (पपा०	येन॑, अनु० ४६ग);	यैः(अ०)येभिः(ऋ०)
च०	यस्मै ;	याभ्याम् ;	येभ्यः ।

पं० यस्मात् , यात् "क्योंकि, जब तक" निपात के रूप में प्रयुक्त होता है।

ष० यस्य ; ययोः ; येषाम् ।

स० यस्मिन् ; ययोः, योः (ऋ० १०,१०५,३)[३२८]; येषु ।

नपुं० रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ० द्विती०	यत्	ये	या, यानि ।

शेष विभक्तियों में पुं० के समान रूप बनते हैं।

स्त्री० रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	या	ये (अ०, तै० सं०)	याः ।
द्विती०	याम्		याः ।
तृ०	यया		याभिः ।
च०	यस्यै		याभ्यः ।
पं०प०ए०	यस्याः	प० द्वि० ययोः	प०ब० यासाम् ।
स०	यस्याम्	ययोः	यासु ।

(क) यक "जो छोटा" के रूप— यद् के साथ ह्रस्ववाचक क प्रत्यय जोड़ने से जो तद्धित शब्द बनता है[३२९] उस के निम्नलिखित रूप मिलते हैं—

प्रथ० ए० पुं० यकः; ब० यके (ऋ०)।

प्रथ० ए० स्त्री० यका (वा० सं०)।

(ख) यद् से बने शब्द यतर "दो में से जौन सा" तथा यतम "बहुतों में से जौन सा" के रूप भी सर्वनामों की भांति बनते हैं; यथा— प्रथ० ए० नपुं० यतरत् (ऋ०), यतमत् (अ०); प्रथ० ब० पुं० यतरे (का० सं०), यतमे (अ०); स० ए० स्त्री० यतमस्याम् (अ०)।

१७२. किम् "कौन, क्या" के रूप—प्रथ० द्विती० ए० नपुं० में किम् रूप बनता है, परन्तु नपुं० की शेष विभक्तियों में और पुं० की सभी विभक्तियों में

इस सर्वनाम का अङ्ग क- बनता है[३३०]। इस लिये पुं० तथा नपुं० में अकारान्त और स्त्री० में आकारान्त सर्वनाम के सामान्य नियमों के अनुसार (अनु० १६५), क और का अङ्ग से रूप बनाये जाते हैं।

विशेष— ऋ० में किम् के अतिरिक्त कत् रूप भी प्रथ० द्विती० ए० नपुं० में प्रयुक्त होता है। कत् का प्रयोग प्रायेण प्रश्नात्मक विशेषण के रूप में किया जाता है। प्रथ० ए० पुं० में एक बार किः (ऋ० १०,५२,३) रूप का प्रयोग भी हुआ है[३३१]। और निषेधवाचक निपात मा तथा न के साथ समस्त हो कर भी किः प्रयुक्त होता है; यथा— माकिः "कोई नहीं, कुछ नहीं"; नकिः "कोई नहीं, कुछ नहीं"।

निम्नलिखित वैदिक रूप उपलब्ध होते हैं—

पुं० रूप

	ए०	द्वि०	व०
प्रथ०	कः, किः ;	कौ ;	के।
द्विती०	कम् ;	;	कान् (शत० ब्रा०)।
तृ०	केन ;	;	केभिः (ऋ०), कैः।
च०	कस्मै ;	;	केभ्यः (गो० ब्रा०)।
पं०	कस्मात् ;		
ष०	कस्य ;		केषाम् (ला० श्रौ०)।
स०	कस्मिन् ;	;	केषु।

नपुं० रूप

प्रथ० द्विती० ए० किम्, कत् ; ; व० का, कानि।

नपुं० की शेष विभक्तियों के रूप पुं० के समान बनते हैं।

स्त्री० रूप

प्रथ०	ए० का ;		व० काः।
द्विती०	ए० काम् ;		व० काः।
तृ०	ए० कया।		
ष०	ए० कस्याः (अ०, वा० सं०);		स० व० कासु।

विशेष— (१) ऋ० में किम् के अर्थ में कर्य का प्रयोग भी मिलता है, परन्तु इस शब्द का केवल ष० ए० रूप चित् निपात के साथ प्रयुक्त हुआ है; यथा— कर्यस्यचित् (ऋ० १, २७, ८; १, १२९, ५; ८, २५, १५) "किसी का"।

(२) अनिश्चित द्रव्य का संकेत करने के लिये किम् सर्वनाम के रूप के साथ प्रायेण चन, चित् या च निपात का प्रयोग किया जाता है; और प्रश्नवाचक वाक्यों में स्वित् निपात प्रयुक्त होता है; यथा— कश्चन "कोई"; कश्चित् "कोई"; कश्च "कोई"; कः स्वित् "कौन सा"।

(३) किम् से बने हुए शब्द कतर "दो में से कौन सा", कतम "बहुत व्यक्तियों में से कौन सा", तथा कति "कितने" भी प्रश्नवाचक वाक्यों में प्रयुक्त होते हैं। इनके निम्नलिखित वैदिक रूप उपलब्ध होते हैं—

प्रथ० ए० पुं० कतरः, कतमः (ऋ०); प्रथ० ए० नपुं० कतरत् (अ०), कतमत् (ऋ०); प्रथ० ब० पुं० कतमे (अ०); च० ए० पुं० कतमस्मै (वा० सं०, का० सं०); प्रथ० ए० स्त्री० कतरा (ऋ०), कतमा (ऋ०); द्विती० ए० स्त्री० कतमाम् (ऋ०); ष० ए० स्त्री० कतमस्याः (अ०); ष० ब० स्त्री० कतमासाम् (अ०); ष० ए० पुं० कतमस्य; प्रथ० द्विती० ब० पुं० स्त्री० नपुं० कति (ऋ०)।

१७३. स्व "अपना", स्वयम् "अपने आप", तनू "शरीर", तथा आत्मन् "अपना"—

(क) स्व "अपना" के कुछ रूप सर्वनामों की भांति और शेष रूप नामों की भांति बनते हैं। इस से बने हुए निम्नलिखित वैदिक रूप उपलब्ध होते हैं—

पुं० रूप

प्रथ० ए० स्वः ;	ब० स्वाः (अ०)।
द्विती० ए० स्वम् ;	ब० स्वान् (अ०)।
तृ० ए० स्वेन, स्वेना (पण० स्वेन, अनु० ४६ग);	ब० स्वेभिः, स्वैः।
च० ए० स्वाय ;	ब० स्वेभ्यः।
पं० ए० स्वात्।	

ष० ए० स्वस्य ;　　　　　　व० स्वानाम् ।
स० ए० स्वे, स्वस्मिन् (ऋ०);　　　　　　व० स्वेषु ।

नपुं० रूप

प्रथ० द्विती० ए० स्वम् ;　　　　　　व० स्वा ।

शेष रूप पुं० के समान बनते हैं ।

स्त्री० रूप

प्रथ० ए० स्वा ;　　　　　　व० स्वाः ।
द्विती० ए० स्वाम् ;　　　　　　व० स्वाः ।
तृ० ए० स्वया ;　　　　　　व० स्वाभिः ।
च० ए० स्वायै ।
पं० ए० स्वायाः ।
ष० ए० स्वस्याः (ऋ०) ।
स० ए० स्वायाम् ;　　　　　　व० स्वासु ।

(ख) स्वयम् "अपने आप"— स्व से बने हुए अव्यय स्वयम् का प्रयोग सभी पुरुषों तथा वचनों में होता है। इस का मुख्य प्रयोग कर्तृवाचक अर्थ से सम्बद्ध रहता है; यथा— प्र० पु० में स्वयं चित्स मन्यते दाशुरिर्जनः (ऋ० ८,४,१२) "दाता जन अपने आप समझता है"; म० पु० में— स्वयं यजस्व दिवि देव देवान् (ऋ० १०,७,६) "हे देव, तुम अपने आप द्युलोक में देवताओं का यजन (सत्कार) करो"; उ० पु० में— अहमेव स्वयमिदं वदामि (ऋ० १०,१२५,५) "मैं स्वयं यह कहती हूँ।" पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार कहीं-कहीं यह शब्द कर्म आदि कारकों के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है: यथा— अयुजि स्वयं धुरि (ऋ० ५,४६,१) "मैंने अपने आप को धुरे में जोता है"[२३२]।

(ग) तनू "शरीर"— तनू "शरीर" शब्द भी "अपना" अर्थ प्रकट करने के लिये वेद में अनेक वार प्रयुक्त किया जाता है, परन्तु इस का प्रयोग प्रायेण कर्तृवाचक से भिन्न अर्थों के साथ किया जाता है और इस के साथ स्व या अन्य सम्बन्धवाचक शब्द का प्रयोग मिलता है; यथा— कर्मवाचक

अर्थ में तन्वं जुषस्व (ऋ० ३,१,१) "अपने आप को आनन्दित करो", सूर उपाके तन्वं दधानः (ऋ० ४,१६,१४) "सूर्य के समीप अपने आप को धारण करता हुआ"; च० के अर्थ में—स्वयं गातुं तन्वं इच्छमानम् (ऋ० ४,१८,१०) "अपने लिये अपने आप मार्ग की इच्छा करते हुए को"; द्विती० तथा तृ० के अर्थ में— स्वया तन्वा तन्वमैरयत् (अ० ७,३,१) "उस ने अपने आप को अपने आप से (शरीर से) प्रेरित किया।"

(घ) आत्मन् "अपना"— ऋ० के कतिपय प्रयोगों में और अन्य संहिताओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक बार आत्मन् शब्द "अपना" अथवा "शरीर" अर्थ में प्रयुक्त होता है; बलं दधान आत्मनि (ऋ० ९,११३,१) "अपने अन्दर बल स्थापित करता हुआ"; यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनः... वि वृहामि ते (ऋ १०,१६३,६) "मैं क्षयरोग को तेरे समस्त शरीर से निकालता हूं"; मात्मानमप गूहथाः (अ० ४,२०,५) "अपने आप को मत छुपाओ"।

१७४. अन्य, इतर "अन्य", सर्व "सब", तथा विश्व "सब" के रूप—

(क) अन्य के रूप सामान्य नियमों के अनुसार बनते हैं। इस के निम्नलिखित रूप उपलब्ध होते हैं—

पुं० रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	अन्यः ;	;	अन्ये।
द्विती०	अन्यम् ;	;	अन्यान्।
तृ०	अन्येन ;	;	अन्येभिः, अन्यैः।
च०	अन्यस्मै (अ०) ;	;	अन्येभ्यः (अ०)।
पं०	अन्यस्मात् (पै०सं०, शत०ब्रा०)।		
ष०	अन्यस्य ;	;	अन्येषाम्।
स०	अन्यस्मिन् ;	;	अन्येषु।

नपुं० रूप

प्रथ० ए० अन्यत् ; ब० अन्या।
तृ० द्वि० अन्याभ्याम् (अ०)।

स्त्री० रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	अन्या ;	अन्ये ;	अन्याः।
द्विती०	अन्याम् ;	;	अन्याः।
तृ०	अन्यया ;	;	अन्याभिः।
च०	अन्यस्यै ;		
ष०	अन्यस्याः ;	;	अन्यासाम्।
स०	अन्यस्याम् ;	;	अन्यासु।

(क) इतर के निम्नलिखित वैदिक रूप मिलते हैं—

पुं० तथा नपुं० रूप

ए० द्वि० ब०

प्रथ० पुं० इतरः, नपुं० इतरत्, इतरम्[३३३]; इतरौ (का० सं०); पुं० इतरे, नपुं० प्रथ० द्विती० इतराणि (मै० सं० इत्यादि)।

द्विती० पुं० इतरम्, नपुं० इतरत् ; इतरम् (टि०[३३३]); पुं० इतरान् (तै० सं०)।

तृ० इतरेण (का० सं० इत्यादि); इतरैः (शत० ब्रा०)।

च० इतरस्मै (का० सं०); इतरेभ्यः (तै० सं०)।

पं० इतरस्मात् (शत० ब्रा०)।

ष० ; इतरयोः (का० सं०); इतरेषाम् (तै०सं०, ब्रा०)।

स० इतरस्मिन् (शत० ब्रा०); इतरयोः (ऐ० ब्रा० इत्यादि); इतरेषु (मै० सं० इत्यादि)।

स्त्री० रूप

प्रथ० ए० इतरा ; प्रथ० ब० इतराः।

द्विती० ए० इतराम् (ब्रा०); द्विती० ब० इतराः।

तृ० ब० इतराभिः (मै० सं०, ब्रा०)।

च० ब० इतराभ्यः (ब्रा०)।

पं० ष० ए० इतरस्याः (ब्रा०); ष० ब० इतरासाम् (ब्रा०)।

स० ए० इतरस्याम् (ब्रा०); स० ब० इतरासु (मै० सं०, ब्रा०)।

(ग) सर्व के रूप— सर्व के सभी रूप सामान्य नियमों (अनु० १६५) के अनुसार बनते हैं। इसके निम्नलिखित वैदिक रूप मिलते हैं—

पुं० नपुं० रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	पुं० सर्वः, नपुं० सर्वम्;		पुं० सर्वे, नपुं० सर्वा(ऋ०), सर्वाणि (वा० सं०, ब्रा०)।
द्विती०	पुं० नपुं० सर्वम् ;	;	पुं० सर्वान्, नपुं० सर्वा (ऋ०), सर्वाणि (ब्रा०)।
तृ०	सर्वेण (ब्रा०) ;	;	सर्वैः (तै० सं० इत्यादि)।
च०	सर्वस्मै ;	;	सर्वेभ्यः(वा० सं० इत्यादि)।
पं०	सर्वस्मात् ;	;	सर्वेभ्यः (ब्रा०)।
ष०	सर्वस्य ;	;	सर्वेषाम्।
स०	सर्वस्मिन् (ब्रा०);	;	सर्वेषु (मै० सं० इत्यादि)।

स्त्री०रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	सर्वा ;	;	सर्वाः।
द्विती०	सर्वाम्(तै० सं० इत्यादि);	;	सर्वाः।
तृ०	सर्वया ;	;	सर्वाभिः (वा०सं०, ब्रा०)
च०	सर्वस्यै ;	;	सर्वाभ्यः (ब्रा०)।
पं०	;	;	सर्वाभ्यः।
ष०	सर्वस्याः (अ० इत्यादि);	;	सर्वासाम्।
स०	सर्वस्याम् (ब्रा०);	;	सर्वासु (ब्रा०)।

(घ) विश्व "सब" के रूप—विश्व के अधिकतर रूप सर्वनामसम्बन्धी सामान्य नियमों के अनुसार बनते हैं, परन्तु अपवादस्वरूप कतिपय रूप अकारान्त नामों के समान भी बनते हैं; यथा—

पुं० नपुं० रूप

	ए०	द्वि०	ब०
प्रथ०	पुं० विश्वः, नपुं० विश्वम् ;	×	पु० विश्वे, नपुं० विश्वानि, विश्वा।

द्वितीo	पुंo नपुंo विश्वम् ; पुंo विश्वा (ऋo);	विश्वान् , नपुंo विश्वानि, विश्वा।
तृo	विश्वेन ;	; विश्वेभिः (ऋo), विश्वैः।
चo	विश्वस्म, विश्वाय (ऋo १,५०,१) ;	विश्वेभ्यः।
पंo	विश्वस्मात् , विश्वात् (ऋo १,१८९,६);	विश्वेभ्यः।
षo	विश्वस्य ;	; विश्वेषाम् ।
सo	विश्वस्मिन् , विश्वे (ऋo में दो बार) ;	विश्वेषु ।

स्त्रीo रूप

	एo	द्विo	बo
प्रथo	विश्वा ;	विश्वे (ऋo);	विश्वाः।
द्वितीo	विश्वाम् ;		; विश्वाः।
तृo	विश्वया ;		; विश्वाभिः।
चo	विश्वस्यै ;		; विश्वाभ्यः (तैo संo, वाo संo इत्यादि)
षo	विश्वस्याः;		; विश्वासाम् ।
सo	विश्वस्याम् (तैo संo इत्यादि);		विश्वासु ।

१७५. **वैकल्पिक रूपों वाले सर्वनाम**—प्रथo बo पुंo तथा चo पंo षo सo एo में निम्नलिखित शब्दों के रूप कहीं सर्वनामों के समान और कहीं केवल अकारान्त नामों के समान बनते हैं[११५]। ऐसे शब्द प्रायेण दिशावाचक हैं और इन के अधिकतर रूप सर्वनामों के समान हैं।

(क) उत्तर "उत्तर या उच्चतर" के रूप—प्रथo बo पुंo उत्तरे ; पंo एo पुंo नपुंo उत्तरस्मात् , उत्तरात् ; षo बo पुंo नपुंo उत्तरेषाम् (काo संo); सo एo पुंo नपुंo उत्तरस्मिन् , उत्तरे । सo एo स्त्रीo उत्तरस्याम् ।

(ख) अपर "अन्य या अधर", अवर "अधर", उपर "अधर" के रूप—प्रथo बo पुंo अपरे, अवरे, उपरे, तथा अपरासः, अवरासः, उपरासः, उपराः ।

(ग) अधम "निम्नतम", उपम "उच्चतम", परम "दूरतम" तथा मध्यम "विचला" के रूप—प्रथo बo पुंo परमे (काo संo); षo एo स्त्रीo

परमस्याः ; स० ए० स्त्री० अवमस्याम्, उपमस्याम्, परमस्याम्, मध्यमस्याम्।

(घ) परे "दूर, अन्य" के रूप—प्रथ० ब० पुं० परे, परासः ; च० ए० पुं० परस्मै ; पं० ए० पुं० परस्मात् ; स० ए० पुं० परस्मिन् , परे ; ष० ब० पुं० परेषाम्। ष० ए० स्त्री० परस्याः।

(ङ) पूर्व "पहला" के रूप—प्रथ० ब० पुं० पूर्वे (अधिकतर), पूर्वासः (कहीं कहीं); च० ए० पुं० नपुं० पूर्वस्मै ; पं० ए० पुं० नपुं० पूर्वस्मात् ; ष० ब० पुं० नपुं० पूर्वेषाम् ; स० ए० पुं० नपुं० पूर्वस्मिन् (का० सं०), पूर्वे (ऋ०)। ष० ब० स्त्री० पूर्वासाम्; स० ए० स्त्री० पूर्वस्याम्।

टिप्पणियां

१. निरुक्त १,१—तद् यानि चत्वारि पदजातानि नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च तानीमानि भवन्ति।

ऋ० प्रा० १२,१७—नामाख्यातमुपसर्गो निपातश्चत्वार्याहुः पद-जातानि शाब्दाः॥

वा० प्रा० ८,४३-४४—तच्चतुर्धा॥ नामाख्यातोपसर्गनिपाताः॥

अ० प्रा० १,१—चतुर्णां पदजातानां नामाख्यातोपसर्गनिपातानां सन्ध्यपद्यौ गुणौ प्रातिज्ञम्॥

महाभा० १,१,१—चत्वारि पदजातानि। नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च।

कौटलीय अर्थशास्त्र २,१०,१६-१७—वर्णसंघातः पदम्॥ तच्चतुर्विधं नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च॥

२. निरुक्त १,१—तत्रैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति। भावप्रधानमाख्यातम्। सत्त्वप्रधानानि नामानि।

ऋ० प्रा० १२, १८-१९—तन्नाम येनाभिदधाति सत्त्वम् ॥ तदाख्यातं येन भावं स धातुः ॥

ऋ० प्रा० १२,२५ तथा ना० प्रा० ८,४६—

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत् ।
सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः ॥

बृहद्देवता० २,१२१—भावप्रधानमाख्यातम्… ।

कौटलीय अर्थशास्त्र २,१०,१८-१९—तत्र नाम सत्त्वाभिधायि ॥ अविशिष्टलिङ्गमाख्यातं क्रियावाचि ॥

३. ऋ० प्रा० १२,२०—

प्राभ्या परा निर्दुरनु व्युपाप सं परि प्रति न्यत्यधि सूदवापि ।
उपसर्गा विंशतिरर्थवाचकाः सहेतराभ्याम् ॥

पा० १,४,५८-५९—प्रादयः ॥ उपसर्गाः क्रियायोगे ॥

कौटलीय अर्थशास्त्र २,१०,२०-२१— क्रियाविशेषकाः प्रादय उपसर्गाः ॥ अव्ययाश्चादयो निपाताः ॥

४. पा० १,४,१४—सुप्तिङन्तं पदम् ॥

५. पा० १,४,५७—५८;१,१,३७;२,४,८२;१,१,६२ ॥

६. पा० १,२,४५—४६ ॥

७. Skt. Gr., p. 107; Ved. Gr. Stu., p. 48; Gr. Lg. Ved., pp. 191 ff.; Skt. Lg., p. 219.

८. पा० १,१,४२-४३—शि सर्वनामस्थानम् ॥ सुडनपुंसकस्य ॥

९. पा० १,४,१७—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ॥

१०. पा० १,४,१८—यचि भम् ॥ १,४,१७ (टि० ९) ।

११. पा० ४,१,५-७—ऋन्नेभ्यो ङीप् ॥ उगितश्च ॥ वनो र च ॥

१२. पा० ३,२,५८-७६;६,१,६७—वेरपृक्तस्य ॥

१३. Ved. Gr., p. 179; Ved. Gr. Stu., p. 50.

१४. JAOS., vol. X, p. 454; M. W. D., s. v.; SPW., s. v. Alt. Gr. III, p. 229.

चतुर्थोऽध्यायः

१५. सायण इस प्रातिपदिक को टकारान्त मानते हुए निम्नलिखित व्युत्पत्ति देता है—"सृ गतौ। सर्तेरटि।" मैक्डानल (Ved. Gr. Stu., p. 56; Ved. Gr. p. 240) इस प्रातिपदिक को ड्कारान्त मानता है। दे० Skt. Gr., p. 145; WZR. s. v.; वै० प० को०।

१६ JAOS., vol. X, p. 454; Weber, Ind. Stu., vol. XIII, p. 110; Alt. Gr. III, p. 229. सारघ शब्द के लिये दे० ऋ० १०,१०६,१०; ८,४,८; वा० सं० १९,९१; श० ब्रा० ३,४, ३, १४। सायण तथा उवट आदि विद्वान् सरघा शब्द से सारघ की सिद्धि दिखलाते हैं, परन्तु तै० ब्रा० तथा पं० ब्रा० से पूर्वकालीन वाङ्मय में सरघा शब्द नहीं मिलता है। उत्तरकालीन वाङ्मय में यह शब्द अनेक बार आया है।

१७. पा० ३,२,५९ में ऋतु+यज् के साथ क्विन् प्रत्यय का विधान करके ऋत्विज् की सिद्धि दिखलाई गई है और ८,२,६२ के द्वारा पदान्त में और झलादि विभक्ति से पूर्व ऋत्विज् के ज् का ग् (कुत्व) किया गया है।

१८. पा० ७,१,७१— युजेरसमासे ॥ टि० १७ में निर्दिष्ट सूत्रों द्वारा क्विन् प्रत्यय और कुत्व का विधान किया गया है।

१९. सि० कौ० में भट्टोजिदीक्षित ने हलन्तपुँल्लिङ्ग तथा हलन्तनपुंसकलिङ्ग प्रकरण में ऊर्ज् के रूप चलाये हैं और इस विषय में नागेश ल० शे० में कहता है— "अयं पुँल्लिङ्गोऽपि। नपुंसकस्येति सूत्रे 'बहव ऊर्जः' इति कैयटात्"। परन्तु वेद में ऊर्ज् का प्रयोग स्त्री० में ही दृष्टिगोचर होता है। दे० वा० सं० ४, १० इत्यादि; तै० सं०; का० सं०।

२०. पा० ६,१,६३– शस्प्रभृति विभक्तियों से पूर्व असृज् को असन् आदेश करता है।

२१. SPW., s. v.; JAOS., vol. X, p. 463; Ved. Gr. p. 183.

२२. तै० सं० ४,१,८,१ तथा वा० सं० २७,१४ में प्रयत्सु पाठ मिलता है।

२३. पा० ३,२,७२ अव+√यज् के साथ ण्विन् प्रत्यय का विधान करता है और ८,२,६७ अवयाः रूप का निपातन करता है। दे० Ind. Stu. XIII, 96; JAOS. X, 463; ZDMG. xxvii, 709. पा० ८, २,६७ पर काशिका तथा सि० कौ० के अनुसार सम्बुद्धि में अवयाः रूप बनता है, परन्तु वैदिकप्रयोग की इस मत से संगति नहीं है, क्योंकि सम्बोधन के बिना भी प्रथ० ए० में यह रूप मिलता है। मैक्डानल प्रभृति विद्वान् प्रथ० ए० में अव+याज्+स के ज् का लोप मानते हैं; Ved. Gr., pp. 61, 183; Ved Gr. Stu., p. 54. कतिपय पाश्चात्य विद्वान् अव-या प्रातिपदिक से इस रूप का समाधान करते हैं; Alt. Gr. III, p. 325; Skt. Gr., p. 152; अ० २,३५,१ पर ह्विटने की टि०। वै० प० को० में आचार्य विश्वबन्धु ने अनेक मतों का विवेचन करके अव-याज् तथा अवयाजस् प्रातिपदिकों के आधार पर अवयाः के रूपों का समाधान सुझाया है।

२४. SPW; s v. ने रघवः (श्येनाः) पाठ सुझाया है। HOS. VIII, p. 501.

२५. SPW. s. v.; WZR; s. v.

२६. WZR; s. v.

२७. JAOS., X, 470.

२८. पा० ७, १, ८८ भस्य टेर्लोपः ॥ पथ् को स्वतन्त्र प्रातिपदिक मानने पर द्विती० ब० में उदात्त का स्थानपरिवर्तन अर्थात् पथः की विभक्ति पर उदात्त का व्याख्यान कठिन है। इसी लिये पाश्चात्य विद्वान् इस रूप में उदात्तनियम का अपवाद मानते हैं। दे० JAOS; X, p. 470; Ved. Gr; p. 196 f. n. 10; वै० प० को० में पथः; पा० ६,१,१७१ (टि० ३१४)।

२९. पदः में उदात्त का स्थान साधारण नियम का अपवाद है।

३०. पश् "दृष्टि या चक्षु" से बने पड्भिः (ऋ० ४,२,१२) के प्रभाव से पद् का रूप भी तृ० ब० में पड्भिः (ऋ०) बन जाता है।

३१. कतिपय पाश्चात्य विद्वान् ऋ० ६,५३,६ इत्यादि कुछ स्थलों में हृदि को हृदि प्रातिपदिक का द्विती० ए० का रूप मानते हैं। दे० JAOS., X, p.

473; SPW., s. v.

३२. Ind. Stu., XIII, pp. 108–110; JAOS., X, p. 471; Gr. Lg. Ved., p. 54.

३२क. व् के म् विकार के लिये दे० अनु० ७२ (ग)।

३३. SPW., s. v.; JAOS., X, 478–80 (N.IF). WZR., s. v. ग्रासमैन तथा लैन्मैन दन् को स० ए० का रूप मानते हैं।

३४. Ved. Gr., p. 218; Ved. Gr. Stu., p. 53; Gr. Lg. Ved., pp. 81, 147; M.W. D., s. v.; Skt. Gr., p. 145; Brugmann, Grundriss II, p. 453. मैक्डानल तथा मोनियर विलियम्स प्रभृति विद्वान् दन् को प० ए० का रूप मानते हैं।

पा० ८,२,६४ (मो नो धातोः) के अनुसार, मकारान्त धातु के पद को नकार आदेश हो जाता है और काशिका ने इस के व्याख्यान में प्रशान्, प्रतान् तथा प्रदान् (प्र+√दम्) उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

३५. सि० कौ० में भट्टोजिदीक्षित ने गुप् 'रक्षक' पुं० के रूप चलाये हैं। दे० नैषधचरितम् ६,६६; धर्मगुप् (महाभारत)। कोई वैदिक उदाहरण नहीं मिला है।

३६. भट्टोजिदीक्षित ने सि० कौ० हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् में स्वप् "अच्छे जल वाला" के रूप चलाये हैं। परन्तु कोई वैदिक उदाहरण नहीं मिला है।

३७. पा० ६,४,११; ऋ० प्रा० १,९३।

३८. ग्रासमैन (WZR. s. v.) ने ग्मः तथा ज्मः को क्रमशः ग्मा तथा ज्मा से बने हुए रूप माना है और इसी प्रकार क्ष्मः को भी क्ष्मा का रूप माना जा सकता है। JAOS., X, p. 485.

३९. पाश्चात्य विद्वान् स्वर् को सुवर् मान कर उसी प्रकार लिखते हैं। तै० सं० में सुवर् मिलता है [दे० अनु० ६ (छ)]। भारतीय वैयाकरण स्वर् को अव्यय मानते हैं। दे० पा० १,१,३७।

४०. पा० ८,२,७६—र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ॥

४१. पा० ८,३,१६—रोः सुपि ॥

४२. पदकार ने ऋ० ८,७२,१७ "सूर आ ददे" में "सूरे। आ। ददे।" पदपाठ किया है। परन्तु पाश्चात्य विद्वान इन में सूरः पाठ मानते हैं। WZR., s. v.; JAOS., X, p. 488; Ved. Gr. p. 241, f. n. 12.

४३. पा० ७,१,८४—दिव औत् ॥

४४. पा० ६,१,१३१—दिव उत् ॥

४५. Ved. Gr.; p. 247; Ved. Gr. Stu., p.85 f. n. 1; Gr. Lg. Ved., pp. 41, 65, 211 (द्यु तथा दिव् अशक्ताश्च माने गये हैं)। Ved. Gr. Stu., p. 84 में मैक्डानल का मत है कि द्यु, जो मूलतः द्विउ था, द्यो का अशक्ताश्च है। Ved. Gr. p. 247 में मैक्डानल ने इस प्रातिपदिक के रूप ओकारान्त प्रातिपदिकों के क्रम में वर्णित किये हैं। परन्तु Ved. Gr. Stu., pp. 84-85 में उसने द्यु को प्रातिपदिक मान कर उकारान्त प्रातिपदिकों के क्रम में इस प्रातिपदिक के रूपों का वर्णन किया है। मोनियर विलियम्स (M. W. D., s. v.) द्यो को द्यु का गुण रूप मानता है। मैक्डानल ने Ved. Gr. Stu., p. 94 में द्यो के रूप पृथक् दिखलाये हैं। ह्विटने ने Skt. Gr. p. 131 में द्यो प्रातिपदिक के नीचे इन के रूप चलाये हैं। दे० Kuiper, N.V.N., pp. 38-39.

४६. WZR , s. v.; JAOS., X, p. 432; SPW., s. v.

४७. लैन्मैन (JAOS., X, p. 432) का मत है कि ऋ० के ४६ प्रयोगों में द्यौः का उच्चारण एक अच् वाला है, परन्तु २६ प्रयोगों में इस का उच्चारण दो अचों वाला अर्थात् दिऔः होना चाहिए। ऋ० के चार प्रयोगों में सम्बो० द्यौः एकाच् माना जाता है, परन्तु ऋ० ६,५१,५ का सम्बो० द्यौः दो अचों वाला माना जाता है अर्थात् इस का उच्चारण दिऔः माना जाता है; दे० JAOS., X, p. 432; Ved.Gr., p.

247 f. n. 11; WZR., s. v.

४८. द्यवीं नपुं० का रूप माना जाता है और यह प्रयोग केवल एक बार (ऋ० ४,५६,५) मिलता है।

४९. ग्रासमैन (WZR., s. v.) के अनुसार १२ प्रयोगों में द्याम् का उच्चारण दिआम् करना चाहिए, परन्तु लैन्मैन के अनुसार (JAOS., X, p. 432) लगभग ८ या ९ प्रयोगों में ऐसा उच्चारण करना उचित है। लगभग ७० प्रयोगों में द्याम् का एकाच् उच्चारण शुद्ध है।

५०. द्यून् तथा द्युभिः रूपों का प्रयोग केवल ऋ० में या ऋ० से गृहीत मन्त्रों में मिलता है। ऋ० ५,८६,५ में आने वाले द्यून् का उच्चारण दो अचों वाला अर्थात् दिऊन् माना जाता है; दे० WZR., s. v.

५१. ऋ० १,७१,८; तै० सं० १,३,१४,६; तथा वा० सं० ३३,११ के प्रयोग "द्यौरभीके" का द्यौः पं० ए० का रूप माना जाता है। दे० WZR., s. v.; JAOS., X, p. 433; Ved. Gr., p. 247. कतिपय विद्वान् द्यौः को प० ए० का रूप मानते हैं; दे० HOS., XVIII, p. 50 f. n. 1. वा. सं० ३३,११ पर महीधर कहता है—"प्रथमा पष्ठ्यर्थे। दिवः समीपेऽन्तरिक्षे······।"

५२. पा० ७,१,८३—दृक्स्ववस्स्वतवसां छन्दसि ॥

५३. पा० ८,२,६७—अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च ॥

५४. पा० ३,२,५९; ८,२,६२।

५५. WZR., s. v.; JAOS., X, p. 494; Ved. Gr., p. 220; Ved. Gr. Stu., p. 56; Gr. Lg. Ved., pp. 121, 149.

५६. पा० ६,४,१४—अत्वसन्तस्य चाधातोः ॥

५७. लैन्मैन (JAOS., X, p. 560) के अनुसार २० से अधिक ऐसे रूप मिलते हैं। ग्रासमैन (WZR., s. v.) केवल देव-व्यचाः को स्वीकार करता है। (Ved. Gr., p. 228। वेदों के भाष्यकार ऐसे रूपों को किसी पुं० या स्त्री० विशेष्य का विशेषण मान कर कहीं कहीं समाधान करते हैं। दे० सायण (ऋ० १,७१,६;१०,६१,१); महीधर (वा० सं० १८,५४; १५, ५)।

५८. JAOS., X, p. 547; Alt. Gr. III, p. 249; Ved. Gr., p. 225, f. n. 7.

५९. JAOS., X, p. 559; Ved. Gr., p. 226 f. n. 5; Skt. Gr., pp. 155-156. पा० ७,१,९४ 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' के द्वारा सम्बुद्धिवर्जित सु (अर्थात् प्रथ० ए०) से पूर्व इन को अनङ् आदेश किया गया है। कतिपय विद्वान् अनेहा को प्रथ० ब० का रूप मानते हैं। दे० Alt. Gr., III, p. 287.

६०. JAOS., X, p. 559; Skt. Gr., p. 155; दे० द्वितीयाध्याय की टि० १८९। पा० ७,१, ६३ (टि० ५२) के द्वारा नुम् का आगम करता है।

६१. JAOS., X, pp. 549ff.; Ved. Gr., pp. 229-33; Ved. Gr. Stu., p. 59. ग्रासमैन अधिकतर रूपों में प्रातिपदिक के स् का लोप नहीं स्वीकार करता है अपितु इन्हें अकारान्त प्रातिपदिकों के रूप मानता है।

६२. पा० ३,२,७१— मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन् ॥
इस पर वार्तिक—श्वेतवहादीनां डस्पदस्येति वक्तव्यम् ॥

JAOS., X, p. 493; Ved. Gr., p. 219; Gr. Lg. Ved., p. 207.

६३. JAOS., X, p. 546; Ved. Mtr., p. 130; Ved. Gr., p. 224; Alt. Gr. III, p. 281.

६४. JAOS., X, pp. 550ff.; Ved. Gr., pp. 229-33; Alt. Gr. III, pp. 282 ff.

६५. WZR., s. v.; Alt. Gr. III, p 283; Gr. Lg. Ved., p. 195. पा० ७,२,१०१—'जराया जरसन्यतरस्याम्' सूत्र के द्वारा अजादि विभक्ति से पूर्व जरा को वैकल्पिक जरस् आदेश करता है।

६६. JAOS., X, pp. 493; Alt. Gr III, p. 322

६७. JAOS., X, pp. 361, 492-94, 546; Ved. Gr., p. 219;

Ved. Gr. Stu., p. 58; Gr. Lg., Ved., p. 207; Alt. Gr. III, pp. 248 ff.

६८. Skt. Gr., pp. 145, 149; MWD., s. v.

६९. पा० ६,१,६३ पर वार्तिक "पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम्" के अनुसार शस्प्रभृति विभक्तियों से पूर्व मांस के स्थान पर मांस् बन जाता है।

७०. सि० कौ० में पा० ६,१,६३ पर भट्टोजिदीक्षित आसन् को आस्य का आदेश मानता है और काशिकावृत्ति आसन् को आसन का आदेश स्वीकार करती है। ग्रासमैन ने आस्, आसन् तथा आस्य तीन प्रातिपदिक माने हैं। अनेक पाश्चात्य विद्वान् आसन् को आस् के रूपों का पूरक मानते हैं। दे० Ved. Gr., p. 219; JAOS., X, pp. 492, 523; Skt Gr, p 150, Alt. Gr. III, pp. 316ff.

७१. कतिपय व्याकरणों में, सम्भवतः मुद्रण की अशुद्धि से, दोष का दोषन् आदेश दिखलाया गया है; यथा— दे० काशि० तथा सि० कौ० के कतिपय संस्करण; सि० कौ० के श्रीवेङ्कटेश्वरमुद्रणालयसंस्करण में दोष् पाठ है। मध्यकौमुदी (निर्णयसागरसंस्करण) में भी दोष् पाठ है।

७२. JAOS., X, p. 493; Ved. Gr., p. 219; Skt. Gr., pp. 149, 160; Gr. Lg. Ved, pp. 205, 227; Alt. Gr. III, pp. 317ff. पा० ६,१,६३ के महाभाष्य के व्याख्यान में कैयट ने दोषन् को दोस् का आदेश माना है— "औटि दोश्शब्दस्य दोषन्नादेशः"। दे० वै० प० को०।

७३. तु० पा० ३, २, ६३–६४— छन्दसि सहः ॥ वहश्च ॥

७४. तु० पा० ८,३,५६— सहेः साडः सः ॥

७५. Ved. Gr., p. 238; Ved. Gr Stu., p. 57; cf. JAOS., X p. 498.

७६. Alt. Gr. III, p. 253– "Nach obiger Darstellung ist das Paradigma *sah- -sah-* bei Macdonell 239 falsch."

इत्यादि तुलनार्थक प्रातिपदिकों में ईयस् के ई का लोप हो जाता है। परन्तु अनेक पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि धातु के साथ -यांस् - कृत्प्रत्यय जोड़ कर ये प्रातिपदिक बनाये जाते हैं और -यांस् से पूर्व प्रायेण ई भी जोड़ देते हैं। Ved. Gr., p. 233; Ved. Gr. Stu., p. 65; Skt. Gr., pp. 172-73; Alt. Gr. III, pp. 294ff.

९०. Ved. Gr., p. 233; Ved. Gr. Stu., p. 65; ह्विटने ने (Skt. Gr., p. 172) सम्बो० ए० पुं० में श्रेयन् रूप बनाया है और उत्तर-कालीन संस्कृत में यही रूप बनता है। परन्तु वैदिक भाषा में इन दो रूपों के अतिरिक्त कोई अन्य उदाहरण उपलब्ध नहीं हुआ है।

९१. पा० ८,२,७२— वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ॥ दे० अनु० ७८ ॥

९२. पा० ६,४,१३१— वसोः सम्प्रसारणम् ॥ पा० ६,१,१०८ ॥

९३. एक बार विद्वांसौ (ऋ० १,१२०,२) प्रयोग मिलता है।

९४. पा० ६,४,१३१ के व्याख्यान से आगे सि० कौ० में सेदिवस् से बने हुए सेदुषः, सेदुषा इत्यादि रूपों में इडागम के अभाव का समाधान करते हुए भट्टोजिदीक्षित कहते हैं— "अन्तरङ्गोऽपीडागमः सम्प्रसारणविषये न प्रवर्तते, 'अकृतव्यूहाः—' इति परिभाषया।" इस पर बालमनोरमाटीका इ का यण् करके "लोपो व्योर्वलि" सूत्र से य् का लोप करती है।

पा० ७,२,६७-६८ के अनुसार, वसु (वस्) प्रत्यय परे रहते इडागम होता है।

९५. पा० ६,४,८— सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ॥

९६. पा० ६,४,१३४— अल्लोपोऽनः ॥

९७. पा० ६,४,१३७— न संयोगाद्वमन्तात् ॥

९८. पा० ६,४,१३६— विभाषा ङिश्योः ॥

९९. पा० ७,१,३९— सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥

१००. पा० ६,१,७०— शेश्छन्दसि बहुलम् ॥

१०१. JAOS., X, p. 535; Ved. Gr., p. 203; Ved. Gr. Stu., p. 67 f. n. 4.

१०२. पा० ६,४, १२-१३— इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ॥ सौ च ॥ वैकल्पिक उपधा-दीर्घ के लिये दे० टि० १०३। पा० ७,१,८५ (टि० १६६) में ऋभुक्षिन् प्रातिपदिक के प्रथ० ए० रूप ऋभुक्षाः का समाधान है। कतिपय पाश्चात्य विद्वान् ऋभुक्षा तथा ऋभुक्षन् को भिन्न प्रातिपदिक मानते हैं। दे० WZR., s. v.; Ved. Gr., p. 250; पा० ६,४,९ के व्याख्यान में काशि० ने ऋभुक्षाणम् रूप का उदाहरण दिया है, परन्तु यह प्रयोग सन्दिग्ध है। इसका कोई वैदिक प्रयोग नहीं मिला है।

१०३. वैकल्पिक उपधादीर्घत्व के लिये पाणिनि ने निम्नलिखित सूत्र बनाया है— ६,४,९—वा षपूर्वस्य निगमे ॥

१०४. JAOS., X, p. 522; Ved. Gr. p. 203; Ved. Gr. Stu., p. 68. मैक्डानल के मतानुसार ऋजिश्वन् तथा मातरिश्वन् के -श्वन् की व्युत्पत्ति √श्वि "फूलना" से, विभ्वन् की व्युत्पत्ति √भू "होना" से, और परिज्मन् की व्युत्पत्ति √गम् "आना" से मानी जा सकती है।

१०५. पा० ६,४,१३३— श्वयुवमघोनामतद्धिते ॥ दे० पा० ६,१,१०८; ६,१,३७।

१०६. पा० ७,३,५४— हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार इन रूपों में हकार अपना मूल रूप घकार धारण करता है।

१०७. WZR., s. v.; JAOS., X, p. 523; Ved. Gr., p. 204; Alt. Gr. III, pp. 112-113; Gr Lg. Ved., pp. 184, 202.

१०८. पा० ७, १, ७५— अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः (काशि०:···एतेषां नपुंसकानां तृतीयादिष्वजादिषु विभक्तिषु···) ॥ ६, १, ६३— पद्दन्नोमास्-हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु ॥ पाणिनि द्वारा निर्धारित विभक्तियों से अन्य विभक्तियों में भी इन प्रातिपदिकों के वैदिक प्रयोग मिलते हैं; *यथा*— *प्रथ० द्विती० ब०* अक्षाणि, सक्थानि, अस्थानि; तृ० ब० अक्षभिः, अस्थभिः; च० ब० अस्थभ्यः (वा० सं); प्रथ० द्विती० द्वि० दोषणी (अ०)। तु० पा० ७,१,७६— छन्दस्यपि दृश्यते ॥

१०९. *JAOS., X, p. 523; Ved. Gr., p. 204; Skt. Gr.; p. 160;*

WZR., s. v.; Alt. Gr. III, pp. 310 ff. दे० पा० ६, १,६३ (टि० १०८)। पाणिनि केवल ऊधस् प्रातिपदिक मानकर ऊधर् (८,२ ७०) तथा ऊधन् का व्याख्यान करता है; यथा— ५, ४, १३१— ऊधसोऽनङ् (काशि० कुण्डोध्नी)। तद्धित रूप ऊधन्य तथा ऊधस्य दोनों बनते हैं। ऊधस् का स० ब० ऊधःसु (ऋ०) मिलता है। ऊधन् के रूप ऊध्नः, ऊधनि, ऊधभिः उपलब्ध होते हैं।

११०. JAOS., X, p. 530; Ved. Gr, p. 204; Ved. Gr. Stu., p. 68.

१११. पा० ८,२,६९— रोऽसुपि।

११२. अहोभिः इत्यादि रूपों की सिद्धि के लिये पाणिनि ८,२,६८ "अहन्" सूत्र द्वारा न् का रु बना कर सन्धिनियमों के अनुसार रु का उ, तथा अ+उ का ओ बनाता है।

११३. दे० टि० १०७। आत्मन् शब्द के आदि आ का लोप करके त्मन् की सिद्धि के लिये देखिए— पा० ६,४,१४१— मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः॥ इस पर वार्तिक— आङोऽन्यत्रापि छन्दसि लोपो दृश्यते॥

११४. इस रूप में नपुं० द्वि० विभक्ति ई (पा० 'शी') का प्रयोग मिलता है। दे० JAOS, X. pp. 433, 528; Ved. Gr., p. 206, f. n. 9.

११५. पा० ६,४,१२८— मघवा बहुलम्॥

११६. पा० ६,४,१२७— अर्वणस्त्रसावनञः॥

११७. पाणिनि (३,२,५९) क्विन् प्रत्यय द्वारा ऐसे रूप बनाता है। काशि०— "अव्रतेः सुबन्तमात्र उपपदे क्विन् प्रत्ययो भवति"।

११८. पा० ६,३, ९२-९५— विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ व-प्रत्यये। समः समि॥ तिरसस्तिर्यलोपे॥ सहस्य सध्रिः॥ तिरस् का तिरि असर्वनाम-स्थान की अजादि विभक्तियों से पूर्व नहीं बनता है। पा० के अनुसार विष्वद्र्यञ्च् समास का पूर्वपद विष्वक् है, परन्तु ग्रासमैन इसमें विष्व+द्रि (√दृ से)+अञ्च् मानता है और इसी प्रकार जिन अन्य प्रातिपदिकों में -द्रि मिलता है उन में भी तीन पद मानता है।

११९. पाणिनि ६,४,२४ 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति" सूत्र द्वारा सर्वत्र गत्यर्थक अञ्च् अन्त वाले अङ्ग की उपधा के न् अर्थात् अञ्च् के ञ् का लोप कर देता है और अन्य सूत्र (टि० ८०) द्वारा सर्वनामस्थान से पूर्व अङ्ग की उपधा में न् का आगम करता है। प्रथ० ए० पुं० में "क्विन्प्रत्ययस्य कुः" (८,२,२६) सूत्र द्वारा पदान्त के न् को ङ् में परिणत कर देता है।

१२०. जैसा कि ऊपर टि० ११९ में स्पष्ट किया गया है, पाणिनि के अनुसार सभी विभक्तियों से पूर्व उपधा के न् का लोप होता है, परन्तु सर्वनामस्थान में अन्य सूत्र द्वारा पुनः न् का आगम कर दिया जाता है। अतएव वास्तव में असर्वनामस्थान से पूर्व उपधालोप सार्थक होता है।

१२१. पाणिनि ६,४,१३८ "अचः" के अनुसार, असर्वनामस्थान की अजादि विभक्तियों (Weakest cases) से पूर्व -अञ्च् अन्त वाले उन सब प्रातिपदिकों के अङ्ग के -अच् के अ का लोप होता है जिन की उपधा के अकार का लोप हुआ है (टि० ११९)। और अङ्ग के अ का लोप करने पर, पाणिनि ६,३,१३८ "चौ" सूत्र द्वारा पूर्वपद के अ, इ, उ को दीर्घ करता है।

१२२. पा. ६,४,१३९—उद ईत् ॥

१२३. पा० ७,१,८९—"पुंसोऽसुङ्" सूत्र से पुंस् के अन्तिम स् के स्थान पर -अस् आदेश होकर पुमस् अङ्ग बनता है; पा० ६,४,१० (टि० ८१) के द्वारा उपधा के अकार का दीर्घ; और पा० ७,१,७० (टि० ८०) के द्वारा नुम् आगम किया जाता है। प्रथ० ए० की विभक्ति के लोप के लिये देखिये अनु० ७०।

१२४. संयोगान्त के स् के लोप के लिये दे० अनु० ७०।

१२५. वा० प्रा० ३,४५—"अनसो वाहौ सकारो डकारम्" में यह स्पष्ट किया है कि अनस्+वाह् में स् का ड् हो जाता है। दे० वै० प० को०।

१२५. (क) पा० ७,१,९८—चतुरनडुहोरामुदात्तः ॥ सम्बुद्धि में पाणिनि अम् का आगम करता है—७,१,९९— अम् सम्बुद्धौ ॥ पा० ७,१,८२— सावनडुहः ॥

चतुर्थोऽध्यायः

१२६. JAOS., X, pp. 498–99; Ved. Gr., p. 238; Ved. Gr. Stu., pp. 75–76; Skt. Gr., p. 151.

१२७. मैक्डानल की पुस्तक (Ved. Gr. Stu., p. 76) में अनुडुद्भ्यः के स्थान पर मुद्रण-स्खलन से अनुडुद्भिः पाठ छप गया है। तृ० ब० का रूप अप्राप्य है। दे० Skt. Gr., p 152.

१२८. पा० ५, ४, १२४ — धर्मादनिच् केवलात् ॥ उदाहरण— कल्याणधर्मा, प्रियधर्मा (काशि०)।

१२९. पा० ५, ४, १२२—नित्यमसिच् प्रजामेधयोः।

१३०. पा० ४, १, ५-६—ऋन्नेभ्यो ङीप् ॥ उगितश्च ॥ वार्तिक—अचतेश्चोपसंख्यानम् ॥

१३१. तु० पा० ७, १, ८०-८१—आच्छीनद्योर्नुम् ॥ शप्श्यनोर्नित्यम् ॥

१३२. पा० ४, १, ७—वनो र च ॥

१३३. पा० ४, १, ११—मनः ॥

१३४. पा० ४, १, ७७—यूनस्तिः ॥

१३५. पा० ७, १, २४—अतोऽम् ॥

१३६. पा० ७, १, १९—नपुंसकाच्च ॥

१३७. पा० ७,१,३९ (दे० टि० ९९) के अनुसार, औ को आ आदेश होता है।

१३८. पा० ७, १, ५०—आज्जसेरसुक् ॥

१३९. पा० ६,१,१०३—तस्माच्छसो नः पुंसि ॥ पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, सन्धिनियम (अनु० ५२) तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान से यह प्रतीत होता है कि इस विभक्ति के अन्त में मूलतः न्स् आता था; तु० Goth.-ans, Gk.-ons.।

१४०. पा० ७, १, १२-१३—टाङसिङसामिनात्स्याः ॥ ङेर्यः ॥

१४१. पा० ७, १, ९-१०—अतो भिस ऐस् ॥ बहुलं छन्दसि ॥

१४२. पा० ७, १, ५४—ह्रस्वनद्यापो नुट् ॥

१४३. पा० ६, १, ६९— एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः ॥

१४४. पा० ७, ३, १०२—सुपि च ॥

१४५. पा० ६, ४, ३—नामि ॥

१४६. पा० ७, ३, १०३-१०४—बहुवचने झल्येत् ॥ ओसि च ॥

१४७. अकारान्त पुं० शब्दों से आकारान्त स्त्री० शब्द बनाने के लिये पाणिनि ने टाप् (४, १, ४—अजाद्यतष्टाप्), डाप् (४, १, १३— डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्), तथा चाप् (४, १, ७४-७५—यङश्चाप् ॥ आवट्याच्च) प्रत्ययों का विधान किया है, और अनेक सूत्रों में इन प्रत्ययों के लिये सामान्यसंज्ञा आप् का व्यवहार किया है। दे० ४, १, १; ७, १, ५४; ६, १, ६८; इत्यादि। अतएव यहां पर ऐसे प्रातिपदिकों के लिये हमने आबन्त विशेषण का प्रयोग किया है।

१४८. पा० ६, १, ६८—हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ॥

१४९. पा० ७, १, १८—औङ आपः ॥

१५०. पा० ७, ३, १०५—आङि चापः ॥

१५१. पा० ७, ३, १०६—सम्बुद्धौ च ॥

१५२. पा० ७,३,११३—याडापः ॥ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ईकारान्त प्रातिपदिकों की रूप-रचना के प्रभाव से आकारान्त प्रातिपदिकों के इन रूपों में या का आगम किया गया है। दे० Ved. Gr., p. 264 n. 9; Ved. Gr. Stu., p. 77 n. 5.

१५३. पा० ७,३,११६— ङेराम् नद्याम्नीभ्यः ॥

१५४. पा० ७,३,१०७— अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ॥ कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि अम्ब पद सर्वत्र मातृशब्द का पर्यायवाचक नहीं है और सम्भव है कि मूलतः यह नैसर्गिक ध्वनि को प्रकट करने वाला निपात रहा होगा। दे० JAOS., X, p. 360; Ved. Gr. p. 265; Alt. Gr. III, pp. 121 ff; Gr. Lg. Ved., p. 219; शत० ब्रा० ६,६,२, ५ (अम्बेति वै योषाया आमन्त्रणम्) के अनुसार, स्त्री को पुकारने के लिये अम्ब शब्द का प्रयोग किया जाता है।

१५५. पा० २,३,६२ पर वार्तिक—षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या (काशि०)॥ दे० Skt. Gr., p. 134; Ved. Gr. Stu., p. 78.

१५६. ऋ० १,६,५ इत्यादि पर सायण पा० ७,१,३९ (टि० ९९) के अनुसार गुहा में विभक्ति का डा आदेश मानता है। दे० Bollensen, Z D

MG., XXII, pp. 606, 618.

१५७. JAOS., X, p. 360; Alt. Gr. III, p. 120.

१५८. सायण ने कुनीनाम को कुन्या शब्द का ष० ब० मानते हुए अनेक समाधान प्रस्तुत किए हैं। ऋ० १, ६६; ८ पर सायण कहता है—'कन्याशब्दात् षष्ठ्येकवचने (?) 'बहुलं छन्दसि' इति बहुलग्रहणात् संप्रसारणम्।' और ऋ० १,११६,१० पर कहता है—" 'र्ययेर्मतौ बहुलम्' इति बहुलवचनात् कन्याशब्दस्यात्र संप्रसारणम्॥" ऋ० १,१५२,४ पर सायण का कथन है—"आमि कन्याशब्दस्य वा छान्दसं संप्रसारणम्।" दे० JAOS., X, p. 364; Ved, Gr., p. 267; WZR., s. v.

१५९. M W D., s. v. (कुनी का ष० ब०); Alt. Gr., III, p. 113; Gr. Lg. Ved., p. 202 n.

१६०. पा० १, २, ४७— ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य॥ नपुं० पदों के साथ प्रयुक्त किये जाने वाले आकारान्त समासों के रूपों को नपुं० नहीं माना जा सकता, जैसा कि लैन्मैन इत्यादि ने माना है। JAOS., X, pp. 445 ff. सम्भवतः यह मत उचित है कि नपुं० के स्थान पर पुं० रूप प्रयुक्त किये गये हैं। दे० Ved. Gr, p. 251. f. n, 14.

१६१. पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि आबन्त स्त्री० रूपों के प्रभाव से धातुज आकारान्त स्त्री० प्रातिपदिकों की प्रथ० ए० विभक्ति का लोप हो जाता है। दे० Ved. Gr. p. 249; Ved. Gr. Stu., p., 79.

१६२. पा० ६, ४, १४०— आतो धातोः॥

१६३. ऐसे धातुज आकारान्त प्रातिपदिकों की सिद्धि के लिये पाणिनि ने यह सूत्र (३, २, ६७) बनाया है—जनसनखनक्रमगमो विट्॥

१६४. WZR., s. v.; JAOS., X, p. 444; Ved. Gr., p. 251. इस मत के विपरीत दे० सायणभाष्य; SPW., s. v.

१६५. JAOS., X p. 444; Ved. Gr., p. 251; Alt. Gr. III, p. 128. दे० अनु० ४०; ऋ० प्रा० २,५९ तथा तै० प्रा० १०,१२ (द्वितीयाध्याय की टि० ८क)। Ind. Stu, XIII, p. 104.

१६६. पा० ७,१,८५-८८— पथिमथ्यृभुक्षामात् ॥ इतोऽत्सर्वनामस्थाने ॥ थो न्थः ॥ भस्य टेर्लोपः ॥ अन्तिम न् के लोप के लिये दे० टि० ८७ ॥

१६७. दे० WZR., s. v.; Ved. Gr., p. 249; Ved. Gr. Stu., p. 79; Gr. Lg. Ved., p. 195; Skt. Gr., p. 128; Alt. Gr. III, p. 285. मैक्डानल प्रभृति कतिपय विद्वान् प्रथ० ए० के रूप उशना को स्त्री० के सदृश मानते हैं। कुछ विद्वान् कहते हैं कि इस रूप का मूल स्त्री० उशना शब्द या –अन् अन्त वाला *उशनन् रहा होगा; दे० Alt. Gr. III, p. 285. ह्विट्नी इस आकारान्त प्रातिपदिक नहीं मानता है और उशनस् प्रातिपदिक के आधार पर वर्ण-लोप द्वारा इन रूपों का समाधान करता है; JAOS., X, pp. 441, 551, 559.

१६८. पा० ६,३,४६— आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ॥

१६९. पा० १,४,७— शेषो घ्यसखि ॥

१७०. पा० ६,१,१०२— प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ॥

१७१. पा० ७,१,२३— स्वमोर्नपुंसकात् ॥

१७२. पा० ७,१,७२— नपुंसकस्य झलचः ॥ मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् न् आगम वाले पूर्ण रूपों को गौण (secondary) और ईकारान्त तथा ऊकारान्त ब० रूपों को सामान्य (normal) मानते हैं। इन का मत है कि नकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों के प्रभाव से ऐसे (न् आगम वाले) रूप बनने लगे।

१७२क. SPW., s. v.; JAOS., X, p. 371; Ved. Gr., p. 279; Ved. Gr. Stu; p. 85; Gr. Lg. Ved., p. 216. शत० ब्रा० ३, ९,४,२१— "प्रजा वा अरीः"।

१७३. पा० ७,३,१२०— आङो नाऽस्त्रियाम् ॥ पाश्चात्य विद्वान् इसमें भी नकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों का प्रभाव मानते हैं।

१७४. पा० ७,१,३९ (टि० ९९) पर वार्तिक— आङ्याजयारामुपसंख्यानम् ॥ काशि० तथा सि० कौ० दोनों इस वार्तिक के आधार पर बाहवा को बाहुना के स्थान पर तृ० ए० का रूप मानते हैं। वास्तव में बाहवा द्वितीο द्वि० का रूप है; दे० ऋ० ७,६२,५। तृ० ए० आ के स्थान पर ना आदेश

के अभाव के लिये टि० १७९ में लिखित वार्तिक समीचीन है। तु० Av. bāzava. मैक्डानल (Ved. Gr., p. 297, f. n. 9) बाहवा को बाहव का रूप मानता है।

१७५. JAOS., X, p. 381; Ved. Gr., p. 281; Skt. Gr., p. 117; Alt. Gr. III, p. 147. मै० सं० २,८,८ में वा० सं० के प्रेतिना के स्थान पर प्रेत्या पाठ मिलता है। उत्तरकालीन संस्कृत में नाभि शब्द के अनेक पुं० प्रयोग मिलते हैं। वेद में पुं० धासि "अन्न" शब्द के रूप भी उपलब्ध होते हैं।

१७६. पा० ७,१,७३— इकोऽचि विभक्तौ ॥ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि नकारान्त प्रातिपदिकों के रूपों के प्रभाव से न् का आगम किया जाने लगा।

१७७. पा० ७,३,१०९.१११— जसि च ॥ घेर्ङिति ॥

१७८. पा० ६,१,११० — ङसिङसोश्च ॥

१७९. पा० ७,३,१०९ पर वार्तिक— जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ् णौ चङ्युपधाया ह्रस्व इति।

१८०. इसके प्रातिपदिक के सम्बन्ध में मतभेद है। ग्रासमैन प्रभृति विद्वान् इसे पशु पुं० का च० ए० रूप मानते हैं; दे० WZR., s. v.; MWD., s. v.; JAOS., X, p. 409. अन्य विद्वान् इसे पशु नपुं० का रूप मानते हैं; दे० Skt. Gr., p. 121; Ved. Gr., p. 296 n. 1. वार्तिक (टि० १७९) पर काशि० तथा सि० कौ० इसे पुं० का रूप मानते हैं॥

१८१ पा० ६,१,१०६— वा छन्दसि ॥

१८२. Ind. Stu., XIII, p. 101; Skt. Gr., p. 117; Alt. Gr. III, p. 151. राट प्रभृति अन्य विद्वान् विद्योत् को विद्युत् का पं० ए० निपात रूप मानते हैं; दे० SPW., s. v.; JAOS., X, p. 468; Ved. Gr., p. 185, f. n. 7; Gr. Lg. Ved., p. 222.

१८३. पा० ७,३,११९— अच्च घेः ॥

१८४. पा० ७,३,११७— इदुद्भ्याम् ॥

१८५. पा० ७,३,१०८— ह्रस्वस्य गुणः ॥

१८६. पा० ७,१,९४ पर काशि० में कारिका—
सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम् ।
माध्यन्दिनिर्वष्टि गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः ॥
पा० ७,१,७३ पर महाभाष्य में "हे त्रपो !" और पा० ६,१,६९ पर महाभाष्य में "हे त्रपु !" प्रयोग मिलता है ।

१८७. Ved. Gr., p. 279; Ved. Gr. Stu., p. 84; JAOS., X, p. 375; Alt. Gr. III, pp. 139, 144; Skt. Gr., p. 122. ऋ० में विः का प्रयोग छः बार और वेः का प्रयोग पांच बार मिलता है । इन में से केवल दो प्रयोगों (६,३,५; ९,७२,५) में सायण वेः को प्रथ० ए० का रूप मानता है; ३,५४,६ तथा १०,३३,२ में वह इसे ष० ए० का रूप मानता है और १,१७३,१ में वह इसे आख्यात समझता है ।

१८८. JAOS., X, pp. 371, 400; Ved. Gr., p. 279; Ved. Gr. Stu.; p. 84; Alt. Gr. III, p. 137. ग्रासमैन (W Z R., s. v.) जनि तथा जनी दो प्रातिपदिकों की कल्पना करता है, और इसी प्रकार भूमि तथा भूमी को पृथक् मानता है । ऋ० ९,६१,१० (भूम्या ददे) में ग्रासमैन प्रभृति विद्वान् प्रथ० ए० रूप भूमी स्वीकार करते हैं, परन्तु पपा० में भूमिः+आ दिखलाया गया है । दे० अनु० ५९ (क) । सायण जन्युः को प्रथ० ए० का रूप मानता है ।

१८९. पा० ६,१,११२—ख्यत्यात्परस्य ॥ पा० ७,३,११८—औत् ॥

१९०. पा० १,४,८-९—पतिः समास एव ॥ षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा ॥

१९१. पा० ७,१,९२-९३—सख्युरसम्बुद्धौ ॥ अनङ् सौ ॥

१९२. पा० ५,४,९१—राजाहस्सखिभ्यष्टच् ॥

१९३. पा० १,४,३—यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥

१९४. पा० १,४,४—नेयङुवङ्स्थानावस्त्री ॥

१९५. पा० ने पुं० से स्त्री० बनाने के लिये जिन प्रत्ययों का विधान किया है (अनु० १३७) उन में से तीन प्रत्यय ङीप्, ङीष् तथा ङीन् हैं । इन तीनों के लिये पा० सामान्य संज्ञा ङी का प्रयोग करता है । दे० पा० ४,१,१;६,१,६८ इत्यादि ।

चतुर्थोऽध्यायः

१९६. पा० ६,१,१०७— अमि पूर्वः ॥ काशिका इस सूत्र में "वा छन्दसि" (टि० १८१) सूत्र की अनुवृत्ति करके शमीम्, शम्यम्, गौरीम्, गौर्यम् इत्यादि रूप सिद्ध करती है।

१९७. पा० ७,३,११२— आण् नद्याः ।

१९८. पा० ७,१,३९ (टि० ९९) पर काशिका के अनुसार, सुरसी में विभक्ति (ङि) को ईकार आदेश हुआ है, परन्तु सि० कौ० का मत है कि इसमें विभक्ति-लोप है। दे० अनु० ४५ख(२)।

१९९. पा० ६,४,७९-८०— स्त्रियाः वाऽमशसोः ॥ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि स्त्री शब्द मूलतः द्व्यच् (सम्भवतः सूत्री "जनयित्री") था; दे० WZR., s. v.; MWD., s. v.; Skt. Gr., p. 135.

२००. Ved. Gr. Stu., p. 88; Skt Lg., p. 252 तथा Skt. Gr., p 134 में देवीनाम् पद के ई पर उदात्त रखना स्वर-सम्बन्धी साधारण नियम के विरुद्ध है। मैक्डानल ने ही अपनी अन्य पुस्तक (Ved. Gr., p. 274) में देवीनाम् की विभक्ति पर उदात्त रक्खा है और यही नियम के अनुकूल है; दे० JAOS., X, pp. 398-99; Gr. Lg. Ved., 217; Alt. Gr. III, pp. 165, 178. ऋ० में इस नियम के तीन अपवाद मिलते हैं— मुहीनाम्, युतीनाम्, देवयुतीनाम्। दे० पा०, ६, १,१७८।

२०१. पा० १,४ ६— ङिति ह्रस्वश्च ॥

२०२. मैक्डानल ने (Ved. Gr. Stu., p. 87) पर तृ० द्वि० धीभ्याम् और ष० स० द्वि० धियोः रूप दिये हैं। परन्तु ऐसा कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं है; दे० JAOS., X, p. 392; Ved. Gr., pp. 270ff.

२०३. JAOS., X. p. 367; Ved. Gr., p. 273; Ved. Gr. Stu., p. 87; WZR., s. v., परन्तु ऋ० ६ ४,५ पर सायणभाष्य के अनुसार, राष्ट्री पद राष्ट्रिन् से बना है। इसी प्रकार ऋ० १०,१४,३ के भाष्य में सायण मातली पद को मातलिन् प्रातिपदिक और ऋ० ८,१९,३२; १०३,१४ के भाष्य में सोभरी, सोभर्यः, सोभरीणाम् इत्यादि रूपों में सोभरि प्रातिपदिक मानता है। ग्रासमैन ने भी सोभरी तथा सोभर्यः दो रूपों के लिये सोभरी और शेष रूपों के लिये सोभरि प्रातिपदिक

माना है। मोनियर विलियम्स नर्मी को नपुं०, राष्ट्री को स्त्री०, सिरी को सन्दिग्धलिङ्ग और सोभरि (या सोभरी) को अनिश्चित प्रातिपदिक मानता है; MWD., s. v.

२०४. पा० ६,४,८२— एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ॥

२०५. पा० ६,४,८६— छन्दस्युभयथा ॥ लौकिक संस्कृत में केवल यण् आदेश होता है— पा० ६,४,८५ न भूसुधियोः ॥

२०६. पा० ६,४,८२ पर वार्तिक (सि० कौ०)— गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते ॥

२०७. मैक्डानल ने ऋ० १,१४१,८ के दृश्रि पद को काल्पनिक दृक्षी प्रातिपदिक का सम्बुद्धिरूप मान कर रथी का सम्बुद्धिरूप रथि दिखलाया है; दे० Ved. Gr., p. 270; Ved. Gr Stu., p. 87 (रथि); JAOS , X, p. 390; WZR., s. v. परन्तु पपा० में धृक्षि पद दिखलाया गया है और ऋ० प्रा० ४, ९८ में इस विशेष सन्धिविकार का उल्लेख है। जैसा कि सायण मानता है, सम्भवतः दृश्रि पद √दह का आख्यातरूप हो; दे० SPW; ऋ० ४,४,४.

२०८. पा० ४,१,६६-७२।

२०९. पा० ६,४,८३-८४—ओः सुपि ॥ वर्षाभ्वश्च—इस पर वार्तिक—पुनर्भ्वश्चेति वक्तव्यम्; काशि०—कारापूर्वस्यापीष्यते ॥ दे० टि० २०६।

२१०. पा० ७,३,११०—ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ॥

२११. JAOS., X, p. 419; Ved. Gr., p. 243; Ved. Gr. Stu., p. 91; इस मत के विपरीत, दे० Skt. Gr., p. 137.

२१२. पा० ७,१,९४—ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ॥ दे० टि० ३७,९५ १४८।

२१३. WZR., s. v.; Ved. Gr., p. 243; Ved. Gr. Stu., p. 91; Skt. Gr., p. 138; JAOS., X, p. 427. ऋ० ४,४५,५ के उस्रा को ग्रासमैन उस्र का द्विती० द्वि० मानता है, परन्तु मोनियर विलियम्स उस्र् का तृ० ए० समझता है।

२१३क. अनेक पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि मातृ "माँ" के साथ पुं० विभक्ति जोड़ने से यह रूप बना है; दे० Ved. Gr., p. 246 f. n. 2; Gr.

Lg. Ved., p. 203; Alt. Gr. III, pp. 160, 208; JAOS., X, p. 429; Skt. Gr., p. 140.

२१४. पा० ६,१,१११—ऋत उत् ॥

२१५. पा० ६,४,६— नृ च ॥ तै० सं० में प्रयुक्त होने वाले कतिपय ष० ब० रूपों में प्रातिपदिक के अन्तिम ऋ का दीर्घ नहीं होता है; यथा— पितृणाम् (तै० सं० १,३,६,१; बृ० उप० ४,३,३३); भ्रातृणाम् (तै० सं० ४,७,१४,३); नेतृणाम् (तै० सं० १,३,६,१); उद्गातृणाम् (तै० सं० ३,२,९,५); भ्रातृणाम् (तै० सं० २,६,६,२)। महाभारत में भी कुछ ऐसे प्रयोग मिलते हैं; यथा—१२,६६,२३ में नप्तृणाम् रूप उपलब्ध होता है। भट्टोजिदीक्षित सि० कौ० के वैदिकप्रकरणम् में पा० ६, ४,५ "छन्दस्युभयथा" सूत्र द्वारा उपर्युक्त प्रकार के रूपों का समाधान करते हुए कहते हैं—"नामि दीर्घो वा ॥ धाता धातृणामिति बह्वृचाः । तैत्तिरीयास्तु ह्रस्वमेव पठन्ति ।"

२१६. Skt. Gr., p. 140; Ved. Gr., p. 243; JAOS., X, p. 422; ग्रासमैन अपने कोश (WZR, s. v.) में स्थातुर् पाठ को स्थातुर् के रूप में संशोधित करता है और कहता है कि प्रथ० द्विती० ए० नपुं० के रूपों में ष० ए० की भांति –उर् आता है। वाकरनागल (Alt. Gr. III, p. 204) इसे प्रथ० द्विती० ए० का रूप नहीं मानता है। SPW. के लेखक इस पाठ वाले मन्त्र-भाग को भ्रष्ट मानते हैं। सायण इसे स्थातृ का सम्बोधनरूप मानता है। दे० वै० प० को०।

२१७. Skt. Gr., p. 140; Ved. Gr. p. 243; JAOS., X, p. 422; Alt. Gr. III, p. 204; WZR., s. v. (टि० २१६); Gr. Lg. Ved., p. 203, MWD., s. v. परन्तु SPW. के लेखक ऋ० के इन तीनों मन्त्रों में प्रयुक्त स्थातुर् पद को स्थातुर् प्रातिपदिक का रूप मानते हैं। सायण ने ऋ० १,५८,५ के स्थातुः के दो व्याख्यान दिये हैं— (१) "स्थातुः स्थावरम्" अर्थात् √स्था के साथ औणादिक उ प्रत्यय जुड़ने से बने स्थातु प्रातिपदिक का प्रथ० ए० रूप (२) अथवा— "स्थातुरनन्तरम्" अर्थात् स्थातृ का पं० ए० रूप। सायण ने ऋ० १, ६८,१ तथा १,७०,७ के स्थातुः का व्याख्यान केवल स्थावरम् किया

है। आचार्य विश्वबन्धु वै० प० को० में स्थातुस् प्रातिपदिक मानते हैं और √स्था के साथ तुसिः प्रत्यय जोड़ कर इस का समाधान करते हैं।

२१८ Ved. Gr., p. 243. वाकरनागल इस मत को स्वीकार नहीं करता है; दे० Alt. Gr. III, p. 204; WZR., s. v. और SPW. के लेखक इस पाठ में संशोधन करके स्थातृ पाठ का सुझाव देते हैं। इस संशोधन का समर्थन करते हुए लैन्मैन कहता है कि इस रूप को छोड़ कर शेष सब पुं० रूप आद्युदात्त प्रातिपदिक स्थातृ से बनते हैं; दे० JAOS., X, p. 422. वै० प० को० में स्थातृ प्रातिपदिक के आधार पर स्थातॄन् का व्याख्यान किया गया है।

२१९. Ved. Gr., p. 243; Skt. Gr., p. 140; JAOS., X, p. 422; Alt. Gr. III, p. 205; WZR., s. v. मोनियर विलियम्स (MWD., s. v.) इसे सप्तमीतुमर्थक रूप (locative infinitive) मानता है। सायण इसे धर्तृ (धारक) का स० ए० स्वीकार करता है। सप्तमीतुमर्थक के लिये दे० Skt. Gr., p. 351. वै० प० को० में अनेक मतों पर विवेचन किया गया है।

२२०. Ved. Gr., p. 243; JAOS., X, p. 423. इसे भी अनेक विद्वान् सप्तमी-तुमर्थक मानते हैं; दे० Skt. Gr., p. 351; MWD. (वि+√धृ); WZR. (√धृ); वै० प० को०।

२२१. Alt. Gr. III, p. 204; Gr. Lg. Ved., p. 203; वै० प० को० में पक्तृ तथा निषेद्धृ प्रातिपदिक माने गये हैं।

२२२. WZR., s. v.; JAOS., X, p. 423; MWD., s. v. परन्तु वाकरनागल सायण के मत का समर्थक है; दे० Alt. Gr. III, p. 205. वै० प० को० में आचार्य विश्वबन्धु √स्था के साथ अधिकरण में त्र प्रत्यय मान कर स्थात्र प्रातिपदिक बनाते हैं और इस का अर्थ करते हैं— "अचलत्वविशिष्टपृथिवीलोक—"।

२२३. गैल्डनर (Ved. St. I, p. 146A) इसे नपुं० निधातृ से बना तुमर्थक रूप मानता है; दे० Alt. Gr. III, p. 204.

चतुर्थोऽध्यायः

२२४. पा० ७,२,८५— रायो हलि ॥

२२५. पा० ७,१,९०— गोतो णित् ॥ इस सूत्र पर काशि० का कथन है— "केचिदोतो णिदिति पठन्ति । द्योशब्दादपि यत्सर्वनामस्थानं विद्यते तदर्थम् । द्यौः । द्यावौ । द्यावः । गोत इत्येव तपरकरणनिर्देशादोकारान्तोपलक्षणं द्रष्टव्यम् । वर्णनिर्देशेषु हि तपरकरणं प्रसिद्धम् ।" द्यो को सर्वनामस्थान से पूर्व वृद्धि करने के लिये भट्टोजिदीक्षित ने (सि० कौ० में पा० ६,१,९३ के अनन्तर) कहा है—"ओतो णिदिति वाच्यम् । विहितविशेषणं च । तेन सुद्यौः सुद्यावौ सुद्यावः ।" सि० कौ० के इस वचन पर नागेश (ल० शे० पृ० २८१) कहता है—"'द्योः सर्वनामस्थाने णित्वं वक्तव्यम्' इति औतोऽम्' इत्यत्र भाष्ये उक्तमित्याहुः ।" पा० ६,१,९३ पर महाभाष्य में यह वार्तिक है—"द्योश्च सर्वनामस्थाने वृद्धिविधिः" और इस पर पतञ्जलि कहता है—"द्योश्च सर्वनामस्थाने वृद्धिर्विधेया ।" इस महाभाष्य पर कैयट प्रदीप में कहता है— "'ओतो णित्' इति सूत्रं पठितव्यम् । गोत इत्योकारान्तोपलक्षणार्थं वा व्याख्येयम् । वर्णनिर्देशे हि तपरत्वं प्रसिद्धम् ।" भट्टोजिदीक्षित ने सि० कौ० के अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् में द्यो के रूपों पर और अजन्त पुंलिङ्गप्रकरणम् में सुद्यो के रूपों पर विचार किया है ।

२२६. पा० ६,१,९३—औतोऽम्शसोः ॥

२२७. गोनाम् रूप का प्रयोग केवल पाद के अन्त में मिलता है; तु० पा० ७, १,५७—गोः पादान्ते । परन्तु पाद के अन्त में दो बार गवाम् का प्रयोग भी मिलता है (ऋ० १०,१६६,१;९,८१,१) । ऐसे रूपों का समाधान करते हुए पा० के उक्त सूत्र पर काशि० कहती है—"सर्वे विधयश्छन्दसि विकल्प्यन्त इति पादान्तेऽपि क्वचिन्न भवति ।"

२२८. पा० ७,१,३९ पर वार्तिक (काशि०)—"आङ्याजयाराणामुपसंख्यानम् ।" सि० कौ० में "आङ्याजयारामुपसंख्यानम्" पाठ मिलता है । परन्तु इन दोनों में अयार् आदेश माना गया है और यही उदाहरण दिया गया है ।

२२९. अनेक पाश्चात्य विद्वान् इसे प्रथ० ब० का रूप मानते हैं; दे० JAOS., X, p. 434; Ved. Gr., p. 248 f. n. 2; Ved. Gr. Stu., p.

94 f. n. 3; *Alt. Gr. III, p. 218.* परन्तु ऐ० ब्रा० के भाष्यकार षड्गुरुशिष्य तथा सायण इसे द्विती० य० का रूप मानते हैं और मैं उनसे सहमत हूँ।

२३०. तै० सं० ४,४,११,४;७,२,२०,१; वा० सं० १७,२ में संख्याओं का यही क्रम है। मै० सं० (२,८,१४) में भी यही क्रम है, परन्तु नियुत संख्या का अभाव है और शत, सहस्र, अयुत तथा प्रयुत की आवृत्ति मिलती है। का० सं० (१७,१०) में भी संख्याओं का यही क्रम है, परन्तु प्रयुत को नियुत से पूर्व रक्खा गया है। का० सं० (३९,६) में भी इसी प्रकार प्रयुत को नियुत से पूर्व रक्खा गया है और न्यर्बुद के पश्चात् एक नई संख्या बद्व गिनाई गई है और उसके पश्चात् उपर्युक्त समुद्र आदि चार संख्याएं हैं। पं० ब्रा० (१७,१४,१) में सहस्र, अयुत, प्रयुत, नियुत, अर्बुद, न्यर्बुद, निखर्वक, बद्व, अक्षित संख्याओं का इस क्रम से उल्लेख मिलता है और अक्षित के पश्चात् गो शब्द आता है जो मैक्डानल तथा कीथ (Vedic Index, Vol. I, p. 342) के अनुसार उत्तरवर्ती संख्या का वाचक है, परन्तु सायणभाष्य के अनुसार यहां गो शब्द आदित्यवाची है। आप० श्रौ० सू० में एक, दशन्, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, पद्म, अन्त, परार्ध संख्याएं उल्लिखित हैं और बौ० श्रौ० सू० में भी ये संख्याएं गिनाई गई हैं, परन्तु नियुत तथा पद्म का लोप है। शां० श्रौ० सू० में संख्याओं का क्रम यह है—एक, दशन्, शत, सहस्र, अयुत, प्रयुत, नियुत, अर्बुद, न्यर्बुद, निखर्वाद, समुद्र, सलिल, अन्त्य, अनन्त्य। वैदिक गणना में दशमलव-पद्धति का ग्रहण किया गया है। दे० Ind. V. K., pp. 338 f.

२३१. पा० ६,३,४७-४८—द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ॥ त्रेस्त्रयः ॥ भारतीय वैयाकरण ऐसे रूपों में समाहारद्वन्द्व या मध्यमपदलोपी तत्पुरुष समास मानते हैं जैसा कि महाभाष्य कहता है— "एकादश द्वादशेति कोऽयं समासः ? एकादीनां दशादिभिर्द्वन्द्वः। अधिकान्ता संख्या संख्यया समानाधिकरणाधिकारेऽधिकलोपश्च।" सि० कौ० में भी इसी प्रकार दो व्याख्यान प्रस्तुत किये गये हैं।

चतुर्थोऽध्यायः

२३१क. पा० ६,३,४७ पर वार्तिक— "प्राक् शतादिति वक्तव्यम् ।"

२३२. पा० ५,२,४५-४६—तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः ॥ शदन्तविंशतेश्च ॥

२३२क. ह्विटने तथा मैक्डानल प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् इसे पं० ए० का रूप मानते हैं, परन्तु पाणिनि ६,३,७६ "एकादिश्चैकस्य चादुक्" सूत्र द्वारा एक और न के साथ समास करके एक को अदुक् आगम करता है। दे० अनु० १८७।

२३३. पा० २,२,२५। इस पर महाभाष्य—"अथ द्विदशाः त्रिदशा इति कोऽयं समासः ? बहुव्रीहिरित्याह। कोऽस्य विग्रहः ? द्विर्दश द्विदशा इति।" इस पर सि० कौ० का मत है—"द्विरावृत्ता दश द्विदशाः, विंशतिरित्यर्थः।"

२३३ क. अ० १९,५६,२ पर टि० में ह्विटने इसे स० ए० का रूप मानता है; HOS., Vol 8, p. 994. परन्तु सायण इसे प्रथ० ब० का रूप मानता है।

२३४. पा० ७,२,९९—त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ॥

२३५. पा० ७,२,१००—अचि र ऋतः ॥

२३६. ऋ० में केवल त्रीणाम् रूप मिलता है, परन्तु उत्तरकालीन भाषा में त्रयाणाम् रूप पुं० तथा नपुं में बनता है; यथा—तै० सं० ३,४,३,८; का० सं० १३,१२; ऐ० ब्रा० ३,४६,५-६ (नपुं०)। दे० पा० ७,१, ५३—त्रेस्त्रयः ॥ इस पर काशि० कहती है—"त्रीणामित्यपि छन्दसीष्यते। त्रीणामपि समुद्राणामिति।"

२३७. ऋ० ५,६९,२ के एकमात्र प्रयोग तिसॄणाम् को छोड़ कर सारे ऋ० में तिसृणाम् रूप मिलता है। दे० अनु० ५ (ङ) तथा प्रथम अध्याय की टि० २१। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि इस ह्रस्व ऋ का भी दीर्घ उच्चारण करना चाहिए; दे० WZR., s. v.; Ved. Gr., p. 309; Ved. Gr. Stu., p. 99 f. n.5. उत्तरकालीन भाषा में तिसॄणाम् का प्रयोग होने लगा; यथा—का० सं० २७,९; मै० सं० ४,५,९; तथा शत० ब्रा० १२,८,२,११ में तिसॄणाम्। वैदिक भाषा में ह्रस्व तथा

दीर्घ ऋकार के रूप मिलते हैं, परन्तु लौकिक संस्कृत में केवल ह्रस्व ऋकार वाले रूप प्रचलित हैं। इस लिये पाणिनि ने निम्नलिखित सूत्र बनाये—

पा० ६,४,४-५—न तिसृचतसृ ॥ छन्दस्युभयथा ॥

२३८. यद्यपि पा० ६,४,५ (टि० २३७) के अनुसार वैदिक भाषा में चतसृणाम् रूप भी बनता है, तथापि इस का वैदिक उदाहरण शून्य है। रामायण १,७२,१२ इत्यादि में ऐसा रूप अवश्य दृष्टिगोचर होता है।

२३९. Ved. Gr., p. 309; Ved. Gr. Stu., p. 100; Alt. Gr. III, p. 357.

२४०. पा० ७,२,८४—अष्टन आ विभक्तौ ॥

२४१. पा० ६,१,१७२ (टि० २४४) तथा ७,१,२१ (टि० २४२) पर महाभाष्य और काशिका के अनुसार इन सूत्रों से यह ज्ञापित होता है कि अष्टन् को आ आदेश विकल्प से होता है। दे० पा० ७,१,२१ पर सि० कौ० "वैकल्पिकं चेदमष्टन आत्वम्— 'अष्टनो दीर्घादिति सूत्रे दीर्घग्रहणाज्ज्ञापकात्'।"

२४२. पा० ७,१,२१—अष्टाभ्य औश् ॥ १,१,२४ "ष्णान्ता षट्" से पाणिनि षकारान्त तथा नकारान्त संख्यावाचक प्रातिपदिकों को षट्संज्ञक करता है और ७,१,२२ "षड्भ्यो लुक्" द्वारा प्रथ० द्विती० विभक्ति का लोप करता है।

२४३. पा० ७,१,५५ "षट्चतुर्भ्यश्च" से नुट् का आगम और ६,४,७ "नोपधायाः" से उपधादीर्घ होता है।

२४४. पा० ६,१,१७२—अष्टनो दीर्घात्।

२४५. पा० २,२,२५ पर सि० कौ० की बालमनोरमा टीका कहती है—"विंशतेः प्रागेकादिशब्दाः संख्येयेषु वर्तन्ते विशेष्यलिङ्गाश्च। दशादयो नित्यबहुवचनान्ताः। विंशत्यादिशब्दास्तु नित्यमेकवचनान्ताः संख्यायां संख्येये च वर्तन्ते नवतिपर्यन्ता नित्यस्त्रीलिङ्गाश्च। ......यदा विंशत्यादिः संख्या, ततो द्वित्वबहुवचने स्तः।"

चतुर्थोऽध्यायः

तु० अमरकोश २,८३— विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येय-संख्ययोः। संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तस्तासु चानवतेः स्त्रियः।

२४६. मैक्डानल यूथात् के प्रयोग को समाहार के अर्थ में मानता है; दे० Ved. Gr., p. 310. सायण इस मन्त्र के सहस्रात् का व्याख्यान "अनेकरूपात्" करता है। निघण्टु ३,१ में सहस्र शब्द 'बहु' के नामों में गिनाया गया है। गैल्डनर प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् इस मन्त्र के सहस्र शब्द को हज़ार का वाचक मानते हैं।

२४७. सायण प्रभृति भारतीय विद्वान् 'सुपां सुलुक्' (पा० ७,१,३९) तथा 'व्यत्ययो बहुलम्' (पा० ३, १, ८५) इत्यादि के आधार पर ऐसे संख्या-वाचक रूपों का समाधान करते हैं।

२४८. पाश्चात्य विद्वान् सहस्रम् को ऋषिभिः का विशेषण मानते हैं; दे० Skt. Gr., p. 183; Ved. Gr., p. 311; Ved. Gr. Stu., p. 291; WZR., s. v. परन्तु सायण इस मन्त्र में सहस्रम् का व्याख्यान 'अपरिमितं धनम्' करता है। परन्तु आगामी उदाहरण में सायण भी इसे तृ० के अर्थ में मानता हुआ कहता है "तृतीयार्थे प्रथमा"।

२४९. पा० १,१,२३— बहुगणवतुडति संख्या ॥ १,१,२५— डति च ॥ ७, १, २२— षड्भ्यो लुक् ॥

२५०. पा० २,२,११; ५,३,४८; ५,१,४८; ५,४,१४९; ५,२,४८; इत्यादि।

२५१. प्रथम के प्रत्यय के सम्बन्ध में मतभेद है। निरुक्त २,२२ "प्रथम इति मुख्यनाम। प्रतमो भवति" के अनुसार प्र के साथ तम प्रत्यय जोड़ने से यह शब्द बनता है और अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी इस मत का समर्थन करते हुए ब्राह्मणग्रन्थों के प्रतमाम् (शत० ब्रा०, ऐ० ब्रा०) शब्द को उद्धृत करते हैं और कहते हैं कि चतुर्थ, पञ्चथ, षष्ठ इत्यादि थकारान्त संख्यावाचक शब्दों के प्रभाव से प्रतम के त का थ बन गया; दे० Ved. Gr., p. 311 f. n. 4; Ved. Gr. Stu., p. 102 f. n. 4; Skt. Gr., p. 184; MWD., s. v. परन्तु वाकरनागल का मत है कि

प्र के साथ थ तथा म इन दो प्रत्ययों के जोड़ने से यह शब्द बना है; दे० Alt. Gr. III, p. 404; Gr. Lg. Ved., p. 245. सूत्रों में प्रथम के स्थान पर आद्य शब्द का प्रयोग भी होने लगा था।

२५२. पा० ५,२,५४-५५— द्वेस्तीयः ॥ त्रेः सम्प्रसारणं च ॥ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि प्राचीन वैदिक शब्द द्वित "दूसरा" और त्रित "तीसरा" के साथ –ईय प्रत्यय जोड़ कर ये तद्धित रूप बनाये गये हैं; दे० Skt. Gr., p. 184; Alt. Gr. III, p. 406, Ved. Gr., p. 311; Ved. Gr. Stu., p. 102 f. n. 5-6 में मैक्डानल ने तृत पाठ दिया है जो केवल अ० में मिलता है।

२५३. पा० ५,२,५१ (टि० २५४) पर वार्तिक (काशि०)— चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, प्रकल्पित शब्द *क्तुरीय से तुरीय बना है और तुर्य इसी का विकार है; Ved. Gr., p. 311; Ved. Gr. Stu., p. 102; MWD., s. v.; Zend. Khtuiria; Alt. Gr. III, p. 407; Gr. Lg. Ved., p. 245. परन्तु ग्रासमैन के अनुसार, इस का पूर्वरूप *चतुरीय रहा होगा; WZR., s. v.

२५४. पा० ५,२,४८—तस्य पूरणे डट् ॥ ५, २, ५१— षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् ॥ थुक् आगम है।

२५५. पा० ५,२,४८; ५,२,५०—थट् च च्छन्दसि (थट् आगम) ॥

२५६. पा० ५,२,४८; ५,२,४९—नान्तादसंख्यादेर्मट् (मट् आगम) ॥

२५७. पा० ५,२,४८ (डट् प्रत्यय); ५,२,५६—विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् ॥ पा० ५, २, ५८— "षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः" के अनुसार, षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति से केवल –तम प्रत्यय द्वारा क्रमवाचक शब्द **षष्टितम**, सप्ततितम, अशीतितम, नवतितम बनते हैं।

२५८. पा० ५,२,५७—नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च ॥

२५९. पा० ५,३,४८—"पूरणाद्भागे तीयादन्" से तीय के पश्चात् अन् प्रत्यय होता है और पा० ६, १, १९७—"ञ्नित्यादिर्नित्यम्" से ऐसा शब्द

आद्युदात्त हो जाता है। पा० ५,३,४९—"प्रागेकादशभ्योऽच्छन्दसि" के द्वारा ११ से पूर्व संख्यावाचक शब्दों से बने पूरणप्रत्ययान्त शब्दों के साथ -अन् प्रत्यय आता है और उपर्युक्त नियम से ऐसे शब्द आद्युदात्त हो जाते हैं, परन्तु पाणिनि के मतानुसार वैदिकभाषा में यह सूत्र लागू नहीं होता है।

२६०. पा० ७,३,११५—विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् ॥

२६१. पा० ५,४,१९—एकस्य सकृच्च ॥ पाश्चात्य विद्वान् सकृत् में सन्+कृत् का समास मानते हैं और कहते हैं कि इस का मूल अर्थ "एक, करता हुआ" रहा होगा; दे० Ved. Gr., p. 312; Ved. Gr. Stu., p. 103; Skt. Gr., p. 406; Alt. Gr. III, pp. 423-24; WZR, s. v.; MWD., s. v.

२६२. पा० ५,४,१८—द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् (स् प्रत्यय) ॥

२६३. पा० ५,४,१७—संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् ॥ अनेक पाश्चात्य विद्वान् कृत्वः को कृत्वु 'करना" का द्विती० ब० मानते हैं; दे० SPW., s. v.; Ved. Gr., p. 312; Ved. Gr Stu., p. 103; MWD., s. v. परन्तु कतिपय पाश्चात्य विद्वान् इसे पं० ए० का रूप भी मानते हैं; दे० Alt. Gr. III, p. 425.

२६४. पा० ५,३,४२-४३— संख्याया विधार्थे धा ॥ अधिकरणविचाले च ॥

२६५. पा० ५,३,४६—एधाच्च ॥

२६६. पा० ६,३,१०९ पर वार्तिक ४ (काशि०)—धासु वा षष उत्वं भवति उत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम् ॥

२६७. पा० ५,४,४३—संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् ॥

२६८. पा० ५,२,४२—संख्याया अवयवे तयप् ॥

२६९. पा० ५,२,४३—द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा ॥

२७०. निरुक्त १,७;५,२२;७,२; अ० प्रा० २,४४;४,६९; आप० ध० सू० १, ४,१४,२३।

२७१. पा० १,१,२७ पर महाभाष्य—अन्वर्थग्रहणं तत्र विज्ञास्यते । सर्वेषां

यन्नाम तत्सर्वनाम ।

२७२. पा० ७,२,८६-९७; ७,१,२७-३३ ।

२७३. ऋ० ६,५५,१ में आने वाले सोदात्त पद वाम् को कतिपय पाश्चात्य विद्वान् अस्मद् का प्रथ० द्वि० (आवाम् का संक्षिप्त) रूप मानते हैं; दे० WZR., (under ahám); Ved. Gr., p. 300 f.n. 6; Ved. Gr. Stu, p. 105 f. n. 1; Skt. Gr., p. 187; Gr. Lg. Ved., p. 229; Skt. Lg., p. 266; Alt. Gr. III, p. 465. सायण वाम् का व्याख्यान "गन्तारं स्तोतारम्" करता है ।

२७४. तु०—पा० ७,२,८८ "प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्" में भाषायाम् का प्रयोग ।

२७५. यद्यपि वैदिक भाषा में कोई मह्य रूप नहीं है, तथापि पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि छन्दःपरिमाण के विचार से ऋ० के कतिपय मन्त्रों में मह्यम् का उच्चारण मह्य करना चाहिए; दे० WZR. (under ahám); Gr. Lg. Ved., p. 81; Skt. Lg., p. 264; Ved. Gr., p. 300; Ved. Gr. Stu., p. 104; Skt. Gr., p. 187.

२७६. अस्मे तथा युष्मे प्रगृह्य माने जाते हैं (दे० अनु० ४५ख) और पा० के अनुसार इन रूपों में विभक्ति को शे आदेश हो जाता है (टि० ९९) । ये दोनों रूप च० ब० तथा स० ब० के अर्थों में ऋ० में प्रयुक्त होते हैं । परन्तु इन का सप्तम्यर्थक प्रयोग अधिक मिलता है । कहीं-कहीं ष० ब० के अर्थ में भी इन का प्रयोग माना जाता है ।

२७७. पा० के अनुसार मे तथा त्वे में विभक्ति को शे आदेश हो जाता है (टि० ९९) और ये रूप प्रगृह्य माने जाते हैं (दे० अनु० ४५ख) । ध्यान रहे कि ये रूप सोदात्त हैं, जब कि च० ष० ए० के आदेश <u>मे</u> <u>ते</u> अनुदात्त हैं ।

२७८. पा० ८, १, २०-२३—युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ॥ बहुवचनस्य वस्नसौ ॥ तेमयावेकवचनस्य ॥ त्वामौ द्वितीयायाः ॥

२७९. वा० सं० १,११ के भाष्य में महीधर कहता है "आकारश्छान्दसः" ।

चतुर्थोऽध्यायः

अनेक पाश्चात्य विद्वान् इसे द्विती० ब० स्त्री० का रूप स्वीकार करते हैं; Ved. Gr., p. 300; Ved. Gr. Stu., p. 104 f. n. 3; Skt. Gr., p. 187; Gr. Lg. Ved., p. 228; वै० प० को० । राट प्रभृति कतिपय विद्वान् इसे अशुद्ध रूप मानते हैं; दे० SPW., s.v.; Alt. Gr. III, p. 468.

२८०. पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि छन्दःपरिमाण के विचार से तुभ्यम् का उच्चारण अनेक स्थलों पर तुभ्य करना चाहिए; दे० WZR. (under tva–); Gr. Lg. Ved., p. 230; टि० २७५ ।

२८१. पा० ८,१,१७-१८– पदात् ॥ अनुदात्तं सर्वमपादादौ ।

२८२. पा० ८,१,२४– न चवाहाहैवयुक्ते ॥

२८३. पा० २,१,१; तथा ८,१,१९ पर वार्तिक (सि० कौ०)— समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः ॥ पा० २,१, १ पर वार्तिक और महाभाष्य में वाक्य का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—वार्तिक १० "आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्"; महाभाष्य— "आख्यातं साव्ययं सकारकं सकारकविशेषणं वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्"। वार्तिक ११— "सक्रियाविशेषणं च"; महाभाष्य— "सक्रियाविशेषणं चेति वाक्यम्।" वार्तिक १२— "एकतिङ्"; महाभाष्य– "एकतिङ् वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्" ॥

२८४. पा० ७,१,१७—जसः शी ॥

२८५. पा० ७,१,१४-१५–सर्वनाम्नः स्मै ॥ ङसिङ्योः स्मात् स्मिनौ ॥ ७,१,५२– आमि सर्वनाम्नः सुट् ॥

२८६. पा० १,१,३२-३६–विभाषा जसि ॥ प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च ॥ पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् ॥ स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ॥ अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ॥ ७,१,१६—पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ॥

२८७. पा० ७,३,११४—सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ॥

२८८. पा० ७,२,१०२—त्यदादीनामः ॥

२८९. पा० ७,२,१०६—तदोः सः सावनन्त्ययोः ॥

२९०. पाश्चात्य विद्वान् त प्रातिपदिक मान कर इस से बनने वाले रूपों का व्याख्यान करते हैं; दे० Skt. Gr., p. 188; Ved. Gr., p. 300; Ved Gr. Stu., p. 105; Gr. Lg. Ved., p. 235.

२९१. ऋ० ६,२१,६; १०,९५,१६ में ये रूप मिलते हैं। ऋ० ६,२१,६ के भाष्य में सायण तात् का व्याख्यान "तैः" करता है और १०,९५.१६ में तात् का व्याख्यान "तेन" करता है। पा० ७,१,३९ पर काशि० "न ताद् ब्राह्मणाद् निन्दामि" उद्धृत करके कहती है कि इस में "तान् ब्राह्मणानिति प्राप्ते" आत् आदेश हो गया है। और पा० ७,१,३९ पर सि० कौ० (मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, १९५१) ऋ० ६,२१,६ के यात् तथा तात् का व्याख्यान करते हुए कहती है "यं तमिति प्राप्ते (आत्)"। पाश्चात्य विद्वान् इन व्याख्यानों को स्वीकार नहीं करते और इन रूपों में पं० ए० का प्राचीन रूप मानते हैं; दे० WZR., s.v.; MWD., s.v.; Alt. Gr. III, pp. 500-501, 102.

२९१क. सायण ने ऋ. भाष्य में सस्मिन् का व्याख्यान—"तस्मिन्, समाने, सर्वस्मिन्, तथा स्वकीये" किया है।

२९२. पाश्चात्य विद्वान् इसके रूपों में एत प्रातिपदिक मानते हैं और कहते हैं कि वास्तव में त प्रातिपदिक से पूर्व ए- जोड़ कर यह प्रातिपदिक बनाया गया है; दे० Ved. Gr., p. 301 f. n. 6; Ved. Gr. Stu., p. 106 f. n. 10; Gr. Lg. Ved., p. 235; Skt. Gr., p. 191, WZR., s. v.

२९३. पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार, इस का प्रातिपदिक रूप त्य है और त सर्वनाम के साथ –य प्रत्यय जोड़ने से यह प्रातिपदिक बना है; दे० WZR., s. v.; Ved. Gr., p. 301; Ved. Gr., Stu., p. 107; Alt. Gr. III, p. 550.

२९४. ह्विटने (Skt Gr., p. 191) के मतानुसार, प्रथ० ए० स्त्री० में त्या रूप भी मिलता है, परन्तु मैं ऐसा उदाहरण खोजने में असफल रहा हूँ।

चतुर्थोऽध्यायः

२९५. WZR., s. v.; MWD.; s. v; Ved. Gr., p. 305; Ved. Gr. Stu., p. 107.; Gr. Lg. Ved., p 239. पा० (टि० ३२९) के अनुसार, तद् के स्त्री० रूप सा से सका और पुं० रूप से सक बनता है; यथा प्रथ० ए० सुका (ऋ० १,१९१,११) ।

२९५क. पा० ५,३,७१—अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ॥

२९६. ग्रासमैन तथा ओल्डनबर्ग का मत है कि तृतीय उदाहरण का वा वास्तव में वाम् का विकृत रूप है और ग्रासमैन के अनुसार यहां वाम् का उच्चारण करना चाहिये; दे० WZR., s. v.; Rig. Noten 1, 86. कतिपय पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि अवोः = अयोः (अनु० १६८); दे० SPW., s. v.; JAOS., X, p. 344; MWD., under *idám*.

२९७. अधिकतर विद्वान् अवोः को ष० द्वि० का रूप मानते हैं; दे० WZR., s. v.; MWD., s. v.; Ved. Gr., p. 303; Ved. Gr. Stu., p. 110; Gr. Lg. Ved., p. 235. परन्तु कतिपय विद्वान् इन में स० द्वि० का रूप भी मानते हैं; दे० Skt. Gr., p. 194; Alt. Gr. III, p. 535. सायण प्रथम उदाहरण में अवोः का व्याख्यान "अवतोः", द्वितीय में "रक्षित्रोः" और तृतीय में "हविभिस्तर्पयितुः" (अवु का प० ए०) तथा विकल्प से "अवितुः रक्षितुः" करता है ।

२९८. अ० के इस मन्त्र-भाग के अन्य वैदिक प्रयोगों के लिये देखिये अ० १४,२,७१ पर ह्विटने की टिप्पणी HOS. Vol. 8, p. 766.

२९९. पा० १,१,२७ पर काशि०—"त्वशब्दोऽन्यवाची स्वरभेदाद् द्विः पठितः । एक उदात्तो द्वितीयोऽनुदात्तः । केचित्तकारान्तमेकं पठन्ति । त्वत्वदिति द्वावपि चानुदात्ताविति स्मरन्ति ।"; सि० कौ०—"त्व, त्व इति द्वावप्यदन्तावन्यपर्यायौ । 'एक उदात्तोऽपरोऽनुदात्तः' इत्येके । 'एकस्तान्तः' इत्यपरे ।"

निरुक्त १,७—त्व इति विनिग्रहार्थीयम् । सर्वनामानुदात्तम् ॥ १,८—निपात इत्येके । तत्कथमनुदात्तप्रकृति नाम स्यात् । दृष्टव्ययं तु भवति ॥

तु० वा० प्रा० २,१६; फिट्सूत्र ४,११—त्वत्वसमसिमेत्यनुच्चानि ॥

१००. पा० १,१,२७ पर सि० कौ० के व्याख्यान में बालमनोरमा टीका उदात्तयुक्त रूप के उदाहरणार्थ इस मन्त्रभाग को उद्धृत करती है—" 'एतं त्वं मन्ये' इत्युदात्तत्वस्य 'उत त्वः पश्यन्' इत्यादावनुदात्तत्वस्य च ऋग्वेदे दर्शनादिति भावः।" परन्तु मैंने जो भारतीय तथा पाश्चात्य संस्करण देखे हैं उन में से किसी में भी "एतं त्वं मन्ये" पाठ नहीं मिला है, प्रायेण "एतं तं मन्ये" अथवा "एदं तं मन्ये" पाठ मिलता है।

१०१. निरुक्त १, ७—अर्धनामेत्येके ॥ ३, २०—त्वो नेम इत्यर्धस्य। त्वोऽपततः। नेमोऽपनीतः।

१०२. ऋ० १०, ७१, ४ के उद्धरण के व्याख्यान में निरुक्त १, १९; सायणभाष्य; महाभाष्य, पस्पशाह्निक त्वः का अर्थ केवल "एकः" करते हैं। परन्तु ऋ० १०, ७१, ७ के व्याख्यान में निरुक्त १, ९ "त्वे... त्वे" का अर्थ "अपरे... एके" करता है। ऋ० १, १४७, २ (=वा० सं० १२, ४२) के 'त्वः...त्वः' का व्याख्यान शत० ब्रा० ६, ८, २, ९ में "एकः...एकः" किया गया है।

१०३. दे० Alt. Gr. III, p. 576.

१०४. दे० टि० १०१; पा० १, १, २७ पर सि० कौ०—'नेमः' इत्यर्धे।

१०५. ऋ० १, ५४, ८ पर सायणभाष्य—"नेमे इति सर्वनामशब्दः, एतच्छब्दसमानार्थः। नेमे एते"; ४, २४, ४—"नेमे केचन"; ४, २४, ५—"नेमे अन्ये"; ५, ६१, ८—"नेमोऽर्धः"; ६, १६, १८—"हे नेमानां वसो।' नेमशब्दोऽल्पवाची। मनुष्याणां मध्ये कतिपयानां यजमानानां वासक।"; ९,६८,५—"नेममर्धम्"; १०, २७, १८—"नेमः अर्धः"; १०, ४८, १०—"नेमशब्दोऽर्धपर्यायः"।

१०६. ऋ० ८, ४, १ पर सायण सिम का अर्थ श्रेष्ठ करता है और कहता है—" 'सिम इति वै श्रेष्ठमाचक्षते' इति वाजसनेयकम्।" पा० १,१,२७

पर सि० कौ० पर तत्त्वबोधिनी—"सिमः कृत्स्ने च शक्ते च स्यान्मर्यादावचद्धयोः"।

३०७. पा० ३, १,३ पर वार्तिक ११, पर महाभाष्य—"प्रत्ययाद्युदात्तत्वस्यावकाशः—यत्रानुदात्ता प्रकृतिः—समत्वम्, सिमत्वम्।"; फिट्सूत्र ४, ११—त्वत्वसमसिमेत्यनुच्चानि॥

३०८. पा० १, १, २७ पर काशि०—"समः। समस्मै। कथं यथासंख्यमनुदेशः समानां समे देशे यजेतेति। समस्य सर्वशब्दपर्यायस्य सर्वनामसंज्ञेष्यते न सर्वत्र।"; सि० कौ०—"समः सर्वपर्यायः। तुल्यपर्यायस्तु नेह गृह्यते,'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इति ज्ञापकात्।" सम सर्वनाम के अनुदात्तत्व के सम्बन्ध में दे० टि० ३०७; तु० निरुक्त ५, २२—"सममिति परिग्रहार्थीयम्। सर्वनामानुदात्तम्।" ५, २३—"तत्कथमनुदात्तप्रकृतिनाम स्यात्। दृष्टव्ययं तु भवति।"

३०९. वा० प्रा० २, १६ सर्वस्मात् को निपात मानता है।

३१०. पा० ७, २, १०८—११३—इदमो मः। दश्च। यः सौ। इदोऽय् पुंसि। अनाप्यकः। हलि लोपः।

३११. Skt. Gr., p. 193; Ved. Gr., pp. 301-302; Ved., Gr. Stu., pp. 108-109; Gr. Lg. Ved., p. 233; WZR., under *idám*, MWD., *idám*; Alt Gr. III, pp. 512 ff. अनेक पाश्चात्य विद्वान् इम को इ प्रातिपदिक का विकार मानते हैं।

३११क. एना रूप ऋ०, मै० सं०, का० सं०, अ० में मिलता है और अनेन ऋ० में केवल तीन बार आता है, परन्तु अ० तथा उत्तरकालीन भाषा में इसी का प्रयोग होता है।

३१२. पाश्चात्य विद्वान् आत् "तब, पश्चात्" निपात को अ का पं० ए० रूप मानते हैं।

३१३. पदकार के अनुसार, केवल दो मन्त्रों (ऋ० १, १८५, ९ तथा ६,२५,९) में अयोः पद आता है और अन्य चार मन्त्रों में (ऋ० १,१७४,६;२,५४,

२; १०,१०५,४.९) में वह सचायोः का विग्रह "सचा + आयोः" करता है। परन्तु अनेक पाश्चात्य विद्वान् पदकार के मत को स्वीकार नहीं करते और इस का विग्रह "सचा + अयोः" मानते हैं; दे० WZR., under *idám*; Alt. Gr., III, p. 518; Ved. Gr., p. 302 f. n. 9; ग्रासमैन ऋ० ३,१८५,१ के अयोः को प० द्वि० स्त्री० और ऋ० ३,५४, २ के अयोः को स० द्वि० स्त्री० मानता है।

३१४. पा० ६,१,१७१—ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः॥

३१५. यद्यपि ग्रासमैन इसे तृ० ए० स्त्री० का रूप मानता है, तथापि यह सन्दिग्ध है। सायण इस का व्याख्यान "अया अयेन गमनसाधनेन" करता है; दे० WZR, s. v. *idám*; Alt. Gr. III, p. 519; आचार्य विश्वबन्धु के मतानुसार, यह √अय् से निष्पन्न अय- प्रातिपदिक का रूप है; दे० वै० प० को०।

३१६. निरुक्त ४,२५—अस्या इति चास्येति चोदात्तं प्रथमादेशे। अनुदात्तमन्वादेशे। तीव्रार्थतरमुदात्तम्। अल्पीयोऽर्थतरमनुदात्तम्॥

पा० २, ४, ३२— इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ॥ इस सूत्र पर वार्तिक—"अन्वादेशश्च कथितानुकथितमात्रम्" तथा इस के महाभाष्य पर कैयटकृत प्रदीप—"तत्र समानाधिकरणग्रहणाच्छब्दान्तरेणेदमा वा कथितं यदाऽनु कथ्यते तदान्वादेशो भवति"; इस सूत्र पर काशि०—"आदेशः कथनम् अन्वादेशोऽनुकथनम्।…नेह पश्चादुच्चारणमात्रमन्वादेशः किं तर्हि, एकस्यैवाभिधेयस्य पूर्वं शब्देन प्रतिपादितस्य द्वितीयं प्रतिपादनमन्वादेशः।"

पा० २,४,३४ (टि० ३१७) पर काशि०— "यत्र किञ्चिद् विधाय वाक्यान्तरेण पुनरुपदिश्यते सोऽन्वादेशः"; सि० कौ०—"किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः।"

वा० प्रा० २, ७— "पूर्ववानमुदेशः" में ऐसे सर्वनामरूप को अनुदेश कहा गया है।

३१७. पा० २,४,३४—द्वितीयाटौस्स्वेनः॥ इस पर वार्तिक—एनदिति नपुंसकैकवचने वक्तव्यम्॥ दे० टि० ३१६।

चतुर्थोऽध्यायः

३१८. WZR., s. v.; Ved. Gr., p. 302; Ved. Gr. Stu., p. 109; Skt. Gr., p 191; Alt. Gr. III, pp. 520 ff.

३१९. ऋ० १,१७३,९ के संहितापाठ तथा पपा० में एन पाठ मिलता है, परन्तु ऋ० ५,२,११;९,९६,२;१०,१०८,३ के संहितापाठ में एना और पपा० में एन पाठ दिखलाया गया है। ग्रासमैन (WZR., s.v. *idám*) के अनुसार ये इदम् के तृ० ए० रूप हैं; दे० Ved. Gr., p. 302 f.n. 3; Ved. Gr. Stu., p. 108 f.n. 4.

३२०. Alt. Gr. III, pp. 523–24.

३२१. WZR., s.v. *idám* ; Skt. Gr., p. 193; Ved. Gr., p. 302; Ved. Gr. Stu., p. 108; Gr. Lg. Ved., p. 233; MWD., s.v. *idám*; Skt. Lg., p. 276.

३२२. वैदिकसंशोधनमण्डल पूना के संस्करण के अनुसार, सायणभाष्य की कतिपय पाण्डुलिपियों में एनाम् के स्थान पर एनं पाठ मिलता है। दे० Alt. Gr. III, p. 525; Gr. Lg. Ved., p. 234.

३२३. दे० Alt. Gr. III, pp. 521,525.

३२४. पा० ७,२,१०७—अदस औ सुलोपश्च ॥ इस पर वार्तिक—औत्वप्रतिषेधः साकच्काद्वा वक्तव्यः सादुत्वं च ॥ असुकः, असकौ ॥ दे० पा० ५, ३,७१।

३२५. पा० ८,२,८१—एत ईद्बहुवचने ॥

३२६. पा० ८,२,८०—अदसोऽसेर्दादु दो मः ॥

३२७. पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार अन्तोदात्त ऋग्वैदिक पद अमुया "उस प्रकार" अर्थ में क्रियाविशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है; दे० WZR. s v.; Ved. Gr., p. 302 f. n. 14; Ved. Gr. Stu., p. 109; Skt. Gr., p. 193.

३२८. सायण "अप योः" का व्याख्यान "अपयोजयिता" करता है, परन्तु पाश्चात्य विद्वान् "योः" को यद् का स० द्वि० मानते हैं; दे० WZR., s. v. ya; Ved. St., I, p. 197; Alt. Gr. III, p. 502; Ved.

Gr., p. 303; ZDMG., Vol. 50, p. 589; Ved. Gr. Stu., p. 111; Gr. Lg. Ved., p. 236; Skt. Gr., p. 195.

३२९. पा० ७, ३,४५— न यासयोः ॥ इस पर काशि०—"या सा इत्येतयोरिकारादेशो न भवति । यका । सका । या सा इति निर्देशो न तन्त्रं, यत्तदोरुपलक्षणमेतत् ।"

३३०. पा० ७,२,१०३— किमः कः ॥

३३१. सायण तथा अधिकतर पाश्चात्य विद्वान् किः का अर्थ "कः" मानते हैं, परन्तु निरुक्त ६,३४ में यास्क किः का व्याख्यान "कर्ता" करता है। दे० *WZR., s. v.; MWD., s. v.; Alt. Gr. III, p.* 559; Ved. St. Vol. III, p. 70; Gr. Lg. Ved., p. 236; तु० SPW., s. v.

३३२. पाश्चात्य विद्वान् इस प्रयोग में स्वयम् का कर्मवाचक अर्थ स्वीकार करते हैं; दे० Alt. Gr., III, p. 481; Ved. Gr. Stu., p. 112; परन्तु सायण के अनुसार इस प्रयोग में भी स्वयम् कर्तृवाचक ही है— "स्वयम् अनन्यप्रेरितः सन्"। मैक्डानल द्वारा उद्धृत (Ved. Gr., p. 304) अन्य प्रयोग में भी स्वयम् का अर्थ कर्तृवाचक है— वत्सं'''स्वयं गातुम्''' इच्छमानम् (ऋ० ४, १८ १०) "स्वयं मार्ग की इच्छा करते हुए बछड़े को"।

३३३. तै० ब्रा० ३, १०, ११, ४ तथा शत० ब्रा० ४, ५, ८,१४; १३,८,२, ९ में इतरत् रूप मिलता है और इस के लिये पा० ७, १, २५—"अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः" सूत्र लगता है। परन्तु पा० ७,२,२६—"नेतराच्छन्दसि" के अनुसार, छान्दसभाषा में प्रथ० द्विती० ए० नपुं० में इतरम् रूप बनता है। इस सूत्र पर काशि० ने निम्नलिखित उदाहरण दिये हैं—इतरमितरमण्डमजायत। वार्त्रघ्नमितरम्। शत० ब्रा० ४, ६, ९, ११ में इतरम् का उदाहरण मिलता है। इसी प्रकार तै० सं० ६, १, ९, १ तथा ६, ३,१०, ५ में "इतरम्'''इतरम्" प्रयोग मिलता है।

३३४. पा० १,१,३२-३४—विभाषा जसि॥ प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च॥ पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्॥

चतुर्थोऽध्यायः

पञ्चमोऽध्यायः

समास-प्रकरणम्

१७६ अर्थ की दृष्टि से सम्बद्ध पदों को एक पद के रूप में रखने की योग्यता वैदिक भाषा ने मूल इण्डो-योरोपीय भाषा से ग्रहण की है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर आधुनिक विद्वान् इस मत का प्रतिपादन करते हैं और इस मत की पुष्टि के लिये इण्डो-योरोपीय भाषा-परिवार की अन्य भाषाओं से समासों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं; यथा— वै० द्विपद् = Lat. bipes; वै० शतपद्=Lat. centipes. यद्यपि उत्तरकालीन संस्कृत में बीसों पदों को एक समास में रखने के उदाहरण मिलते हैं, तथापि वैदिक भाषा में प्रायेण दो पदों के समास दृष्टिगोचर होते हैं और अनेक पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि समासों के प्रयोग तथा लम्बाई के विचार से वैदिक भाषा और होमर की ग्रीक भाषा में समानता पाई जाती है। ऋ० तथा अ० में तीन से अधिक पदों के समास अति विरल हैं और ऐसे समासों के उदाहरण गिने चुने हैं; यथा—अदब्धव्रतप्रमतिः (ऋ० २, ९,१) "अहिंसित व्रतों वाली अच्छी बुद्धि है जिस की"; पूर्वकामकृत्वने (अ० ७,११६,१) "पहली इच्छाओं को पूरा करने वाले के लिये।"

ब्राह्मणग्रन्थों में तीन पदों के समासों के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं और कल्पसूत्रों में तीन से भी अधिक पदों के समासों के बहुत से उदाहरण उपलब्ध होते हैं। समासों का जितना विकास संस्कृत में हुआ है उतना किसी अन्य इण्डो-योरोपीय भाषा में नहीं हुआ है। परन्तु उत्तरकालीन संस्कृत में दीर्घ समास बनाने की जो प्रवृत्ति प्रचलित हुई वह कृत्रिम है, क्योंकि साधारण बोलचाल की भाषा में दो या तीन से अधिक पदों का समास अस्वाभाविक है।

समास की विशेषताएं— समास की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि अर्थ की दृष्टि से सम्बद्ध पदों के बीच ही समास हो सकता है। दूसरी मुख्य

विशेषता यह है कि समास का प्रधान स्वर (उदात्त) साधारणतया एक ही होता है और समस्त पदों का पृथक् उदात्त नहीं रहता है। तीसरी प्रमुख विशेषता यह है कि समास के पूर्वपद केवल प्रातिपदिक रूप में रहते हैं और अन्तिम पद के साथ विभक्तियां जोड़ी जाती हैं। वैदिक भाषा में समास के स्वर और पूर्वपद के प्रातिपदिक-रूप से सम्बद्ध नियम के अनेक अपवाद मिलते हैं। इन के अतिरिक्त, समास-सन्धि, समस्त पदों में होने वाले विकार तथा लिङ्ग इत्यादि की भी अनेक विशेषताएं हैं जिन का वर्णन यथा-प्रसङ्ग किया जायगा।

१७७. (क) **समास-सन्धि**—यद्यपि पदसन्धि के नियम ही साधारणतया समास-सन्धि में लागू होते हैं, तथापि इस की कुछ अपनी विशेषताएं हैं जिन का संक्षिप्त उल्लेख करना आवश्यक है।

१. अनेक समासों में पूर्वपद 'दुर्' के र् का लोप होकर उस का उकार दीर्घ हो जाता है और उत्तरपद का आदि दन्त्य वर्ण मूर्धन्य में परिणत हो जाता है (अनु० ५९ क); यथा—दुर्+दभः=दूळभः, दुर्+धीः=दूढीः। कुछ अन्य समासों में भी पूर्वपद के कारण उत्तरपद के दन्त्य वर्ण का मूर्धन्य बन जाता है (अनु० ६५ क); यथा—षट्+दश=षोडश, पुरः+दाशः=पुरोडाशः।

२. कुछ समासों के पूर्वपद में आए हुए र्, ऋ तथा ष् के निमित्त से उत्तरपद के न् का ण् हो जाता है (अनु० ६५ख); यथा—पितृ+यानम्=पितृयाणम्। इसी प्रकार पूर्वपद के अन्तिम इ ई उ ऊ ऋ ए ओ र् के निमित्त से उत्तरपद के आदि स् का ष् बन जाता है (अनु० ६५ग); यथा—होतृ+सदनम्=होतृ-षदनम्।

३. नकारान्त पूर्वपद के अन्तिम न् का लोप हो जाता है; यथा—राजन्+पुत्रः=राजपुत्रः "राजा का पुत्र"; ब्रह्मन्+ओदन=ब्रह्मौदन— "ब्रह्मा के लिये ओदन"।

(ख) **समासाश्रय-विधि** (पूर्वपदविकार)—समास का पूर्वपद होने पर कतिपय पदों में विशिष्ट विकार हो जाते हैं। यहां पर ऐसे विकारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

१. **पूर्वपद के अन्तिम स्वर का दीर्घत्व**—अनेक समासों में पूर्वपद के अन्तिम अ, इ, उ का दीर्घत्व हो जाता है[1]; यथा—ऋतावृध् (पपा० ऋतऽवृध्) "ऋत को बढ़ाने वाला"; परीणहम् (पपा० परिऽनहम्) "आच्छादन, बन्धन"; शत्रूषाहः (पपा० शत्रुऽसहः) "शत्रुओं को अभिभूत करने वाले।" पदपाठ में इस प्रकार के दीर्घत्व को हटाकर शब्द का मूल रूप दिखलाया जाता है। समास के पूर्वपद में जिन वैदिक शब्दों के अन्तिम स्वर का दीर्घत्व मिलता है उन में से प्रमुख शब्द ये हैं (१) अकारान्त शब्द—ऋत, प्र, विश्व; (२) इकारान्त शब्द—अधि, अभि, चर्षणि, तुवि, परि; (३) उकारान्त शब्द—अनु, पुरु, शत्रु।

२. कतिपय समासों में पूर्वपद के अन्तिम स्वर या अन्तिम स्वर तथा उस के पश्चात् आने वाले व्यञ्जन का भी लोप हो जाता है[2]; यथा—पृषोदराः (तै० सं० ५.६.१४,१) "जिन का उदर बिन्दुओं वाला (पृषत्) है"।

३. यदि किसी प्रातिपदिक के अनेक अङ्ग बनते हों, तो समास के पूर्वपद में प्रायेण ऐसे अङ्ग का प्रयोग किया जाता है जो असर्वनामस्थान विभक्ति से पूर्व आता है: यथा—आस्य के अर्थ में आस् तथा आसन् समास के पूर्वपद में आते हैं—आदुघ्न "मुख (आस्) तक पहुँचने वाला"[3], आसन्निषु "जिस के मुख (आसन्) में तीर हैं"। इसी प्रकार शकृत् (अनु० ११०) के अर्थ में शकन् "गोमय", शिरस् के अर्थ में शीर्षन् "सिर", उदक के अर्थ में उदन्[4] "जल", और पन्थन्, पथि तथा पथ् में से पथि समास के पूर्वपद में आता है (अनु० १११,१२७,१३०क, १३९ग)। परन्तु पाद तथा पद् और हृदय तथा हृद् दोनों प्रकार के अङ्ग समासों के पूर्वपद में मिलते हैं (अनु० ११२)। यथा—उद-ग्राभ "जल का ग्रहण करने वाला", उद-मेघ "जल बरसाने वाला"; पथि-कृत् "मार्ग बनाने वाला", पथि-रक्षि "मार्ग की रक्षा करने वाला"; शकृ-धूम (अ०) "गोबर का धूंआ", शकृ-पिण्ड (वा० सं०) "गोबर का पिण्ड"; शीर्ष-कपाल (अ०) "सिर की खोपड़ी"; पद्-घोष (अ०) "पांव की ध्वनि", पादुगृह्य "पांव से पकड़ कर"; हृद्-रोग "हृदय का रोग", हृदया-विध् "हृदय को बींधने वाला"।

४. कर्मधारय समास में महत् "बड़ा" के अर्थ में महा- शब्द पूर्वपद में आता है, परन्तु बहुव्रीहि समास में इसी अर्थ में महि पूर्वपद में प्रयुक्त होता है[५]; यथा—महा-धनम् (ऋ०) "बड़ा धन", महाग्रामः (ऋ०) "बड़ा समूह"; महि-क्षत्रौ (ऋ०) "बड़े शासन वाले" (मित्रावरुणौ); परन्तु अ० में महत्काण्ड "बड़ा खण्ड" प्रयोग भी मिलता है।

५. पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, कतिपय समासों के पूर्वपद में आने वाले सम् को स- आदेश हो जाता है। इस विषय में साधारण नियम यह है कि जब सम् से परे अजादि उत्तरपद आये या हलादि उत्तरपद के परे रहने पर भी सम् पर उदात्त रहता हो, तब समास के पूर्वपद में सम् अविकृत रहता है; परन्तु हलादि उत्तरपद से पूर्व अनुदात्त सम् को स आदेश हो जाता है[६]; यथा—समिध् (सम्+इध्) "ईन्धन"; सगति "साथ आना"; सन्धातृ "साथ रखने वाला"; सवाग्नि "साथ रहने वाला"; सपत्नी। परन्तु इस नियम के अनेक अपवाद भी मिलते हैं। हलादि उत्तरपद से पूर्व अनुदात्त सम् और सोदात्त स- के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं; यथा— संवत्सर "वर्ष"; संग्राम (अ०) "समूह, युद्ध"; सग्धि (वा० सं०, मै० सं०) "सह-भक्षण"; सच्युति (मै० सं०) "साथ गिरना"; सहूति "साथ आह्वान"।

पाणिनि के मतानुसार संज्ञा, अव्ययीभाव समास, बहुव्रीहि समास इत्यादि के विषय में सह को स- आदेश हो जाता है[७]; यथा— सगणः (ऋ०) 'गणसहित'; साङ्ग- (अ०) "अङ्गसहित"। कतिपय समासों में, पाणिनि के मतानुसार, समान को भी स- आदेश हो जाता है[८]; यथा— सनाभिः (ऋ०) "समान नाभि वाला"; सबन्धू (ऋ०) "समान सम्बन्ध वाली दो स्त्रियाँ"; सवर्णाम् (ऋ०) "समान वर्ण वाली"। वैदिक भाषा में ऐसे समास बहुत अधिक मिलते हैं जिन के पूर्वपद का स- समान का पर्यायवाचक है, परन्तु ऐसे समास कम हैं जिन के पूर्वपद का स- सह का समानार्थक है। बहुत से वैदिक समासों के पूर्वपद में सह भी मिलता है; यथा— सह-वत्सा (ऋ०) "बछड़े सहित" (धेनुः)।

(ग) **समासान्त**—समास के अन्त में आने वाले बहुत से पदों में विकार हो

जाते हैं। ऐसे विकारों का व्याख्यान करने के लिये पाणिनि समासान्त संज्ञा का व्यवहार करता है और कहता है कि अमुक पद यदि समास के अन्त में आए तो अमुक समासान्त प्रत्यय उस समास का अन्तिम अवयव बनता है। यद्यपि सभी प्रकार के समासों के लिये समासान्तों का विधान है, तथापि सब से अधिक समासान्तों का प्रयोग बहुव्रीहि-समास में आता है। प्रत्येक समास के साथ-साथ उस से सम्बद्ध समासान्तों का वर्णन समीचीन प्रतीत होता है। अत एव हम यथा-प्रसङ्ग समासान्तों का विवेचन करेंगे।

१७८. **समासों का वर्गीकरण**—समस्त पदों के अर्थ के विचार से प्राचीन वैयाकरण समासों के चार मुख्य भेद मानते हैं—(१) जिस में पूर्वपद के अर्थ की प्रधानता रहे वह **अव्ययीभाव** समास है; (२) जिस में उत्तरपद के अर्थ की प्रधानता रहे वह तत्पुरुष समास है; (३) जिस में अन्य पद के अर्थ की प्रधानता रहे वह बहुव्रीहि समास है; और (४) जिस में दोनों पदों के अर्थ की प्रधानता रहे वह द्वन्द्व समास कहलाता है[९]। परन्तु पा० २,१,४ पर महाभाष्य, काशि० तथा सि० कौ० के अनुसार, उपर्युक्त चार समासों के अतिरिक्त अन्य समास भी बनते हैं और ऐसे समासों के लिये किसी विशेष संज्ञा का प्रयोग नहीं मिलता है[१०]। भट्टोजिदीक्षित ने पूर्वाचार्यों के मतों पर विवेचन करके छः प्रकार का समास माना है[११]। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, समासों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया जाता है—

(१) अव्ययीभाव; (२) तत्पुरुष और इस का उपभेद **कर्मधारय** तथा कर्मधारय का उपभेद द्विगु; (३) बहुव्रीहि; (४) द्वन्द्व; (५) संज्ञाविशेषरहित समास जो 'सह सुपा' (पा० २,१,४) सूत्र से बनता है।

यद्यपि वैदिक समासों के वर्गीकरण तथा नामकरण के विषय में सभी पाश्चात्य विद्वानों में मतैक्य नहीं है, तथापि अधिकतर विद्वान् निम्नलिखित वर्गीकरण को स्वीकार करते हैं[१२]—

(१) द्वन्द्व समास (Co-ordinative or Copulative Compound);

(२) तत्पुरुष समास (Determinative Compound);

(३) बहुव्रीहि समास (Possessive Compound);

(४) पूर्वपदप्रधान समास (Governing Compound);

(५) द्विरुक्त समास (Iterative Compound);

(६) अव्यवस्थित समास (Anomalous Compound)। वैदिक समासों का विवेचन इसी क्रम से किया जायगा।

१७९. लिङ्ग-वैशिष्ट्य—साधारणतया इतरेतरयोगद्वन्द्व तथा तत्पुरुष समास का लिङ्ग उत्तरपद के लिङ्ग के अनुसार रहता है[13]; यथा—गो-आयुषी (शत० ब्रा०)। परन्तु इस नियम के अनेक अपवाद भी मिलते हैं और कतिपय द्वन्द्व समासों में पूर्वपद के अनुसार लिङ्ग माना जाता है[14]; यथा—उक्था-मदानि (अ० ५,२६,३) "स्तुति (उक्थ नपुं०) तथा आनन्द (मद पुं०)"; उक्थार्का (ऋ० ६,३४,१) प्रथ० व० "स्तुति (उक्थ नपुं०) तथा गान (अर्क पुं०)"; उक्षवशौ (तै० सं० २,१,४,४) "बैल (उक्षन्) तथा गाय (वशा)"; हेमन्तशिशिरौ (तै० सं०) "हेमन्त पुं० तथा शिशिर नपुं० (वेद में इस का पुं० प्रयोग भी मिलता है)"; अहोरात्रे (अ०) "दिन (अहन् नपुं०) तथा रात्रि स्त्री०"। समासान्त से बने हुए रात्र (रात्रि से) और अह्न तथा अह (अहन् से) सदा पुं० में प्रयुक्त होते हैं[15]। अपवादस्वरूप कतिपय तत्पुरुष समासों का रूप भी नपुं० में बनता है[16]; यथा—पत्नीशालम् (वा० सं०) "पत्नी की शाला"; अग्रजिह्वम् (मै० सं०, वा० सं०) "जिह्वा का अग्रभाग" (तु० जिह्वाग्रेण तै० सं०); पापसमम् (तै० सं०) "बुरा वर्ष (समा)"। समाहारद्वन्द्व, द्विगु तथा अव्ययीभाव नपुं० ए० में रहते हैं[17]; यथा—युगशम्यम् (शत० ब्रा०) "जुआ (युग पुं०) तथा कीली (शम्या स्त्री०)"; षडृचम् (अ०) "छः ऋचाओं का समूह"; अध्यात्मम् (शत० ब्रा०) "आत्मा में", प्रतिलोमम् (तै० सं०) "लोम के प्रतिकूल"। कर्मधारय तथा बहुव्रीहि समासों का लिङ्ग विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार रहता है।

समास के पूर्वपद में आने वाले पुं० तथा नपुं० शब्दों का लिङ्ग नहीं बदलता है, परन्तु जो स्त्री० शब्द समास के पूर्वपद में उत्तरपद के

विशेषण के रूप में आता है उस शब्द का पुं० प्रातिपदिक रूप समास के पूर्वपद में प्रयुक्त किया जाता है[१८]; यथा—प्रयतदक्षिणम् (नरम्- ऋ० १,३१,१५) "जिस पुरुष के द्वारा दक्षिणा दी गई है (प्रयता) उस को"।

१. द्वन्द्व समास

१८०. द्वन्द्व का शाब्दिक अर्थ "जोड़ा" है और इस अर्थ में इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग तै० सं० १,६,९,४ के "द्वादश द्वन्द्वानि" तथा ऐ० ब्रा० २,२७; ३,५० के "द्वन्द्वम्" इत्यादि में मिलता है। प्रातिशाख्यों में तथा पाणिनीय व्याकरण में द्वन्द्व शब्द समासविशेष की संज्ञा के लिये प्रयुक्त होता है[१९]। वाक्य में अर्थ की दृष्टि से जो सुबन्त पद परस्पर सम्बद्ध तथा समानतया प्रधान होते हैं उनके समास के लिये द्वन्द्व संज्ञा का व्यवहार किया जाता है[२०]। इस समास के दो भेद माने जाते हैं—(१) इतरेतरयोगद्वन्द्व (२) तथा समाहारद्वन्द्व। जिस समास में पदों के पारस्परिक साहचर्य का बोध होता है उसे इतरेतरयोगद्वन्द्व कहते हैं, परन्तु जिस समास में केवल समाहार या समूह के अर्थ की प्रधानता रहे उसे समाहारद्वन्द्व मानते हैं।

(क) **इतरेतरयोगद्वन्द्व**—इस समास के विकास की विभिन्न अवस्थाओं के परिचायक उदाहरण संहिताओं में उपलब्ध होते हैं। इस द्वन्द्व के विकास की प्राचीनतम अवस्था में समास के दोनों पदों (पूर्वपद तथा उत्तरपद) के साथ द्विवचन की विभक्ति जोड़ी जाती है और दोनों पदों पर अपना-अपना उदात्त भी रहता है[२१]; यथा—उषासा-नक्ता "उषा और रात"; मित्रा-वरुणा "मित्र और वरुण"; मातरा-पितरा "माता और पिता"; द्यावा-पृथिवी "द्युलोक और पृथिवी"। ऐसे द्वन्द्वसमासों के लिये देवताद्वन्द्व संज्ञा का प्रयोग किया जाता है और ऋ० में मिलने वाले द्वन्द्व समासों में से लगभग तीन-चौथाई देवताद्वन्द्व समास हैं। देवताद्वन्द्व समासों के कतिपय उदाहरणों में पूर्वपद और उत्तरपद के बीच अन्य पद का व्यवधान मिलता है; यथा—द्यावा ह क्षामा (ऋ० १०,१२,१) "द्युलोक और पृथिवी"; द्यावा यज्ञैः पृथिवी

(ऋ० ७,५३,१); इन्द्रा नो अत्र वरुणा (ऋ० ४,४१,६) "हे इन्द्र और मित्र यहां हमारे लिये"; आ नक्ता बर्हिः सदतामुषासा (ऋ० ७, ४२,५) "रात और उषा हमारे लिये पवित्र घास पर बैठें।" व्यवहित देवताद्वन्द्व के कुछ उदाहरणों में केवल पूर्वपद के साथ द्विवचन की विभक्ति मिलती है और उत्तरपद में एकवचन का रूप प्रयुक्त होता है; यथा—मित्रा···वरुणः (ऋ० ८,२५,२); इन्द्रा यो वां वरुण (पपा० वरुणा—ऋ० ६,६८,५) "हे इन्द्र और वरुण तुम दोनों के लिये जो।" कुछ गिने-चुने उदाहरणों में देवताद्वन्द्व के दोनों पदों में ष० द्वि० का रूप मिलता है; यथा—मित्रयोर्वरुणयोः (ऋ० ७, ६६, १); "मित्र और वरुण का।" और व्यवहित देवताद्वन्द्व में भी ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं, यथा—चक्षुर्मंहि मित्रयोराँ एति प्रियं वरुणयोः (ऋ० ६,५१,१) "मित्र और वरुण का बड़ा प्रिय नेत्र आता है"। दिवस्पृथिव्योः (ऋ० ३,२,३;१०,३,७;१०,३५,२) "द्युलोक और पृथिवी का" में पूर्वपद में ष० ए० और उत्तरपद में ष० द्वि० का रूप है (दे० पा० ६,३,३०)। ऐसे गिने-चुने उदाहरणों को छोड़ कर देवताद्वन्द्व के शेष रूपों के पूर्वपद में प्रथ० द्वितीo द्वि० की विभक्ति और उत्तरपद में यथाप्रसङ्ग अन्य विभक्ति के द्विवचन का रूप मिलता है; यथा—द्यावापृथिव्योः (अ०); द्यावापृथिवीभ्याम् (अ०); मित्रावरुणाभ्याम्; मित्रावरुणयोः; इन्द्रावरुणयोः।

द्वन्द्व समास के विकास की अगली अवस्था उन उदाहरणों में लक्षित होती है जिनमें पूर्वपद का उदात्त नष्ट हो जाता है और समास के अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहता है; यथा—सूर्याचन्द्रमसा (ऋ०); इन्द्रापूष्णोः (ऋ०); भवारुद्रौ (अ०)।

द्वन्द्व के विकास की अन्तिम अवस्था में पूर्वपद में केवल प्रातिपदिक रूप प्रयुक्त होता है और समास के अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहता है। ऋ० में ऐसे समासों के बहुत थोड़े उदाहरण मिलते हैं, परन्तु अन्य संहिताओं में तथा ब्राह्मणग्रन्थों में लगभग नियत रूप से ऐसा द्वन्द्व समास मिलता है; यथा—इन्द्र-वायू (ऋ० ७,९०,७); सत्यानृते (ऋ० ७,४९,

३); "सत्य और असत्य"; प्रस्तोतृ-प्रतिहर्तृभ्याम् (तै० सं० १,८,१८, १); "प्रस्तोता और प्रतिहर्ता के लिये"; दृक्षक्रतू (तै० सं०) "चातुर्य और बुद्धि"; शूद्रार्यौ (वा० सं०) 'शूद्र और आर्य"। परन्तु कतिपय ऋकारान्त प्रातिपदिकों का प्रथ० ए० रूप ही द्वन्द्व के पूर्वपद में प्रयुक्त होता रहा है[२२]; यथा—पिता‌पुत्रौ (अ०); "पिता और पुत्र"; नेष्टा-पोतारौ (पं० ब्रा०); "नेष्टृ-नामक और पोतृ-नामक ऋत्विज्"; नेष्टा-पोतृभ्याम् (तै० सं० १ ८,१८ १); त्वष्टा-वरुत्री (कपि० सं० ४६,४; तु० ऋ० ७,३४,२२) "त्वष्टा और वरुत्री"; होताध्वर्यू (का० श्रौ० सू० १५,६,४) "होता और अध्वर्यु"।

प्रयोग के प्राचुर्य के कारण कतिपय द्विवचनान्त द्वन्द्वों का एक पद भी प्रसिद्ध जोड़े के दोनों पदों के अर्थ का बोध करवाता है[२३]; यथा—पितरा "पिता और माता"; मातरा "माता और पिता"; द्यावा "द्युलोक और पृथिवी"; मित्रा "मित्र और वरुण"; उषासा "उषा और रात्रि"।

ऋ० में बहुवचनान्त द्वन्द्व के उदाहरण बहुत थोड़े हैं, परन्तु अन्य संहिताओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में इस के पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध होते हैं। ऐसे समासों के पूर्वपद में प्रायेण प्रातिपदिक रूप मिलता है और समास के अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहता है; यथा—अजावयः (ऋ०) "बकरियां और भेड़ें"; अहो-रात्राणि (ऋ०) "दिन और रात"; देव-मनुष्याः (अ० ८,१०,९) "देव और मनुष्य"; भद्रपापाः (अ०) "अच्छे और बुरे"; प्राणापानोदानेषु (तै० सं० ७,३,३,१) "प्राण, अपान और उदान में"। इस साधारण नियम के कुछ अपवाद भी मिलते हैं; यथा—षळहुर्द्यावा-पृथिवीः (ऋ० ८,९,१६) "वे छः द्युलोक और पृथिवीलोक बतलाते हैं"; अङ्गा-परूंषि (तै० सं० २,५,६,१) "अङ्ग और जोड़"; उक्था-मदानि (अ०) "स्तुति और आनन्द"।

(ख) **समाहार-द्वन्द्व**—समाहार-द्वन्द्व के कतिपय उदाहरणों के पूर्वपद में प्रथ० द्विती० द्वि० का आकारान्त रूप मिलता है; यथा—इष्टा-पूर्तम् "जो यज्ञ किया गया और दिया गया"[२४]। पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान है कि इस का मूल रूप व० *इष्टापूर्ता (नि) रहा होगा[२५]। वा० सं०

१८,६० में द्वि० रूप इष्टापूर्ते भी मिलता है। मै० सं० में मिलने वाले उदाहरण इध्मा-बर्हिः "ईन्धन और पवित्र घास" में पूर्वपद का द्वि० रूप और दोनों पदों पर उदात्त है[२६]। ऐसे कुछ गिने-चुने उदाहरणों को छोड़ कर समाहारद्वन्द्व समास का रूप नपुं० ए० में बनता है और समास के अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहता है; यथा—केश-श्मश्रु (अ०) "केश और दाढ़ी"। प्रायेण प्राणियों के अङ्गवाचक, यज्ञ तथा विद्यासम्बन्धी विषय के वाचक, अप्राणियों की जातिवाचक (यथा तृण इत्यादि की जातिवाचक); तथा परस्पर विरोधी प्राणियों या गुणों क वाचक शब्दों और ऐसे ही अन्य सम्बद्ध शब्दों का समाहार समास बनता है[२७]; यथा—क्लोम-हृदयम् (शत० ब्रा०) "फेफड़े और हृदय"; शिरो-ग्रीवम् (सं०) "सिर और गर्दन"; समिष्ट-यजुः (वा० सं०) "यज्ञ तथा याज्ञिक मन्त्र"; इतिहास-पुराणम् (शत० ब्रा०) "इतिहास और पुराण"; ओषधि-वनस्पति (शत० ब्रा०) "पौदे और वृक्ष"; कृता-कृतम् (अ०) "जो किया गया है और जो नहीं किया गया है"[२८]; भद्र-पापम् (अ०) "भला और बुरा"; भूत-भव्यम् (अ०) "भूत और भविष्य"; नील-लोहितम् (ऋ०) "नीला और लाल"; उत्कूल-निकूलम् (वा० सं०) "ऊपर जाना और नीचे आना"; अजाविकस्य (शत० ब्रा० ४,५,५,४) "बकरियों और भेड़ों का"।

(ग) **द्वन्द्व में पूर्वपद**—इकारान्त तथा उकारान्त, अजादि तथा अकारान्त, न्यूनतर अक्षरों वाला, और कहीं-कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण शब्द द्वन्द्व समास के पूर्वपद में आता है[२९]; यथा—कुरु-पञ्चालाः (का० सं०) "कुरुवासी और पञ्चालवासी"; इन्द्राग्नी (ऋ०) "इन्द्र और अग्नि"; सूर्या-चन्द्रमसा (ऋ०) "सूर्य और चन्द्रमा"; पर्जन्या-वाता (ऋ०) "पर्जन्य और वात"।

(घ) **द्वन्द्व में समासान्त**—इतरेतरयोगद्वन्द्व तथा समाहारद्वन्द्व के अन्त में आने वाले बहुत से हलन्त शब्दों को अकारान्त बना दिया जाता है[३०]; यथा—धेन्वनड्वाहौ (शत० ब्रा०) "गाय और बैल"; श्री-यशसानि (शत० ब्रा०) "लक्ष्मी और यश"; स्त्री-पुंसौ (मै० सं०) "स्त्री और पुरुष"; ऊर्वष्ठीवे द्वि० (वा० सं० १८,२३) "जंघा (ऊरु)

और घुटना (अष्ठीवत्)"; दण्डोपानहम् (शां० गृ० सू० ३,१,१८) "डण्डा और जूते"; ऋक्सामाभ्याम् (ऋ०) "ऋचाओं और साम-गान के द्वारा"; ऋग्यजुषम् (गौ० ध० सू०) "ऋचाएं और यजुर्वेद के मन्त्र"। द्वन्द्व (तथा तत्पुरुष) समास के अन्त में आने वाले रात्रि शब्द का रात्र बन जाता है (टि० ७०,१०,१५); यथा—अहोरात्रे (अ०, तै० सं०); अहोरात्राणि (ऋ०, तै० सं०)।

२. तत्पुरुष समास

१८१. तत्पुरुषः शब्द का अर्थ है "तस्य पुरुषः" और समास के इस उदाहरण को ही इस समास की संज्ञा के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यद्यपि पाणिनि ने तत्पुरुष का क्षेत्र बहुत व्यापक माना है, तथापि आधुनिक विद्वानों की पद्धति के अनुसार तत्पुरुष को दो मुख्य भेदों में विभक्त किया जा सकता है—(१) वह तत्पुरुष समास जिसका पूर्वपद द्वि०, तृ०, च०, पं०, ष० या स० में से किसी एक विभक्ति के अर्थ का वाचक है; (२) और वह तत्पुरुष समास जिसका पूर्वपद उत्तरपद का विशेषण या क्रियाविशेषण है। पाश्चात्य विद्वान् प्रथम प्रकार के तत्पुरुष के लिये पराश्रित-तत्पुरुष (Dependent Determinative) और दूसरे प्रकार के तत्पुरुष के लिये विशेषणात्मक तत्पुरुष (Descriptive Determinative) संज्ञा का व्यवहार करते हैं। पाणिनि द्वारा विहित तत्पुरुष के सभी भेदों को उपर्युक्त दो वर्गों में रखना पूर्णतया न्याय्य तो नहीं हो सकता, परन्तु सुविधा के विचार से प्रायेण ऐसा वर्गीकरण कर दिया जाता है। हम तत्पुरुष का वर्णन निम्नलिखित शीर्षकों के अधीन करेंगे— (१) द्वितीयासमास इत्यादि (२) एकदेशिसमास (३) उपपदसमास (४) कर्मधारयसमास (५) द्विगुसमास (६) नञ् समास (७) कुगतिप्रादिसमास। यह वर्गीकरण पाणिनीय व्याकरण के अनुसार है, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों की पद्धति से भिन्न है।

१८२. द्वितीयासमास इत्यादि—जिन तत्पुरुष समासों के पूर्वपद में द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी या सप्तमी विभक्ति के अर्थ को प्रकट करने वाला पद आता है वे समास उसी विभक्ति के नाम से जाने

जाते हैं; यथा—द्वितीयासमास, तृतीयासमास, चतुर्थीसमास, पञ्चमी-समास, षष्ठीसमास और सप्तमीसमास। वैदिकभाषा में षष्ठीसमास के उदाहरण सब से अधिक मिलते हैं और तृतीयासमास का प्रयोग इस से कुछ कम है। अन्य समासों के—विशेषतः चतुर्थीसमास तथा पञ्चमीसमास के—उदाहरण बहुत कम हैं।

(क) **द्वितीयासमास**—इस समास का पूर्वपद द्वितीयान्त रूप के अर्थ का वाचक होता है[११]; यथा—संवत्सर-भृत-(शत० ब्रा०) "एक वर्ष तक पाला हुआ"; गोष्ठगतम् (बौ० ध० सू०) "गोष्ठ में गया हुआ"; भूमि गताः (बौ० ध० सू०) "भूमि में गये हुए"।

(ख) **तृतीयासमास**—इस समास का पूर्वपद तृतीयान्त रूप के अर्थ को प्रकट करता है और इस की तृतीया विभक्ति प्रायेण कर्ता और करण के अर्थ में आती है, परन्तु कहीं-कहीं अन्य अर्थों में भी इस का प्रयोग मिलता है[१२]; यथा—बल-विज्ञायः (ऋ० १०,१०३,५) "बल के द्वारा जानने योग्य"; अग्नि-दग्ध (ऋ०) "अग्नि से जलाया गया"; रेष्म-छिन्न-(अ०) "तूफान से छिन्न किया गया"; नख-निर्भिन्न-(तै० सं०) "नाखून के द्वारा तोड़ा गया"; सोम-शित-(ऋ०) "सोम से तेज़ किया गया"; अद्रि-दुग्ध-(ऋ०) "शिला के द्वारा दुहा गया"; मधु-मिश्र-(तै० सं०); "मधु के साथ मिश्रित"; तिल-मिश्र-(अ०) "तिलों के साथ मिश्रित"।

(ग) **चतुर्थीसमास**—इस समास का पूर्वपद चतुर्थ्यन्त रूप के अर्थ को प्रकट करता है[१३]। प्राचीन वैदिक भाषा में चतुर्थीसमास के उदाहरण अतिविरल हैं, परन्तु उत्तरकालीन भाषा में इस के कुछ उदाहरण मिलते हैं; यथा—मनुर्हितम् (ऋ० ६,७०,२) "मनुष्यों के लिये हितकारी"[१४]; भूतबलिम् (गृ० सू०, ध० सू०) "भूतों के लिये बलि"।

(घ) **पञ्चमीसमास**—इस समास का पूर्वपद पञ्चम्यन्त रूप के अर्थ का वाचक होता है और उत्तरपद में प्रायेण भय या विश्लेष को प्रकट करने वाला शब्द रहता है[१५]। प्राचीन वैदिक भाषा में इस के उदाहरण अतिविरल हैं, परन्तु उत्तरकालीन भाषा में इस समास के कुछ उदाहरण

मिलते हैं; यथा— वृकभीतिः "भेड़िये का डर"।

(ङ) **षष्ठीसमास**—वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में षष्ठीसमास के उदाहरण सब से अधिक मिलते हैं। इस समास का पूर्वपद षष्ठ्यन्त रूप के अर्थ को प्रकट करता है[३६]; यथा—राज-पुत्र- (ऋ०) "राजा का पुत्र"; विश्पति- "प्रजा का स्वामी"; राज-कर्तारः (ऐ० ब्रा० ८,१७,५) राजा बनाने वाले"; क्षीर-होतृ (शत० ब्रा०) "दूध का होम करने वाला"; सोम-पीति- (ऋ०) "सोम का पान"; सोम-पीथम् (ऋ०) "सोम का पान"।

(च) **सप्तमीसमास**—इस समास का पूर्वपद सप्तम्यन्त रूप के अर्थ को प्रकट करता है[३७]; यथा—अर्हर्जात- (अ०) "दिन में उत्पन्न हुआ", उद-प्लुतम् (अ० १०,४,३) "जल में बहती हुई (लकड़ी)"।

(छ) **अलुक्समास**—सामान्य नियम के अनुसार समास के पूर्वपद की विभक्ति का लोप हो जाता है और शब्द का प्रातिपदिक-रूप पूर्वपद में आता है, परन्तु ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें पूर्वपद की विभक्ति का लोप नहीं होता है। सि० कौ० में ऐसे समासों के लिये अलुक्समास संज्ञा का प्रयोग किया गया है। अलुक् के अधिकतर उदाहरण षष्ठीसमास में मिलते हैं।

तृतीयासमास में अलुक् के निम्नलिखित उदाहरण दिये जाते हैं[३८]; शुनेषितम् (ऋ० ८, ४६, २८) "कुत्तों द्वारा पहुंचाया गया"[३९]; ग्रावा-स्तेनम् (ऋ० १०,८७,१५) "वाणी के द्वारा चोर को।"

षष्ठीसमास में अलुक् के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। कुछेक प्रमुख उदाहरण ये हैं—जास्पतिः (ऋ० ७,३८,६) "कुल का पति"; वास्तोष्पतिः (ऋ०) "घर का पति", जगतस्पतिः (का० सं०) "जगत् का पति"; शुनःशेपः (ऋ०) "कुत्ते की पूंछ (एक व्यक्ति का नाम)"[४०]; दिवोदास- (ऋ०) "स्वर्ग का दास (एक व्यक्ति का नाम)" (टि० ४०)।

सप्तमीसमास में अलुक् के जो उदाहरण मिलते हैं उनमें से कुछेक ये हैं—गविष्ठिर- (ऋ०, अ०, आश्व० श्रौ० सू०) "एक ऋषि का नाम

(गाय में स्थिर)"[४१]; मदेरघुः (ऋ० ८,१०१,३) "उत्साह या मस्ती में शीघ्र"; पदि-बद्ध- (तै० सं०) "पांव में बंधा हुआ"; वारे-वृत- (तै० सं०) "चुनाव में चुना गया"; नाव्युदक- (का० श्रौ० सू०) "नाव में जल"; मासि-श्राद्ध- (आप० ध० सू०) "मास में (मासिक) श्राद्ध"; स्वप्ने-दुःष्वप्न्यं- (अ०) "नींद में बुरा स्वप्न"।

१८३. **एकदेशिसमास**—इस समास की अपनी विशेषता है। अत एव इस का पृथक् विवेचन आवश्यक है। इस प्रकार के समासों के उत्तरपद में आने वाला शब्द ऐसे द्रव्य का वाचक होता है जो एक सम्पूर्ण है परन्तु जिस के अनेक देश या अवयव (हिस्से) माने जा सकते हैं। समास के पूर्वपद में आने वाला शब्द (पूर्व, अपर, या अर्ध इत्यादि) इस द्रव्य के एक देश (हिस्से) का वाचक होता है[४२]; यथा—पूर्वाह्ण- (सं०) "दिन का पूर्व भाग"; पूर्वकाय- (का० श्रौ० सू०) "शरीर का अग्र भाग"; अपराह्ण- (तै० सं०) "दिन का पिछला भाग"; अर्ध-मास- (सं०) "मास का आधा भाग"; अर्धर्च- (अ०, तै० सं०) "ऋचा का आधा भाग"; अग्र-जिह्व- (वा० सं०) "जिह्वा का अगला भाग"। दे० अनु० १८९।

१८४. **उपपदसमास**—पाश्चात्य विद्वानों ने द्वितीयासमास इत्यादि और उपपदसमास का वर्णन एक साथ किया है, परन्तु उपपदसमास का पृथक् विवेचन आवश्यक है क्योंकि इस की अपनी विशेषताएँ हैं। उपपदसमास की सब से प्रमुख विशेषता यह है कि इस के उत्तरपद में केवल कृदन्त शब्द होता है। और ऐसे कृदन्त शब्द का प्रयोग प्रायेण उपपदसमास के उत्तरपद में ही मिलता है, परन्तु स्वतन्त्र शब्द के रूप में कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है; यथा— हविरद् "हवि को खाने वाला" के उत्तरपद में आने वाले -अद् "खाने वाला" शब्द का इस अर्थ में कोई स्वतन्त्र प्रयोग नहीं मिलता है; जबकि द्वितीयासमास इत्यादि में आने वाले शब्द सामान्यतया स्वतन्त्र रूप से भी प्रयुक्त होते हैं। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार उपपदसमास के पूर्वपद में आने वाला शब्द उपपद कहलाता है और उपपद के पूर्वपद में रहने पर ही उत्तरपद का कृदन्त शब्द बन कर दोनों का नित्यसमास होता है[४३]।

पञ्चमोऽध्यायः

उपपदसमासों के पूर्वपद में आने वाले अधिकतर शब्द द्वितीयान्त रूप का अर्थ प्रकट करते हैं, परन्तु तृतीयान्त, पञ्चम्यन्त तथा सप्तम्यन्त रूप के अर्थ के वाचक शब्द भी उपपदसमासों के पूर्वपद में मिलते हैं। समासों के साथ दिये गये अर्थ से स्पष्ट है कि उन का पूर्वपद किस विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रसिद्ध कृत्प्रत्ययों के साथ उपपद-समास के कुछ प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं—

(१) **उत्तरपद में केवल धातुरूपी कृदन्त** (पा० क्विप्, ण्वि, विट्, ण्विन्, विच्, क्विन्)[४४]—हुविरद्– (ऋ०) "हवि को खाने वाला"; हुविर्वह्– (ऋ०) "हवि का वहन करने वाला"; ज्योतिष्कृत्– (ऋ०, तै० सं०) "प्रकाश करने वाला"; वृत्र-हन्– (ऋ०) "वृत्र को मारने वाला"; सोम-सुत्– (ऋ०) "सोम का सवन करने वाला"; अग्नि-चित्– (शत० ब्रा०) "अग्नि का चयन करने वाला"[४५]; बन्धु-क्षित् (ऋ०) "बन्धुओं के मध्य रहने वाला"।

(२) **अ प्रत्यय** (पा० अण्, क, टक्, अच्, ट, ड, कच्, कप्)[४६]—अन्नाद– (तै० सं०) "अन्न का भक्षण करने वाला"; गोघ्न– (ऋ०) "गाय को मारने वाला"; सुधर्दुघ– (ऋ०) "अमृत का दोहन करने वाला"; हुविरद– (अ०) "हवि को खाने वाला"; रायस्कामः (ऋ० १,७८,२) "धन की इच्छा करने वाला"[४६क]; **पतिकामा** (अ०) "पति की इच्छा करने वाली" (टि० ४६क)।

(३) **इ प्रत्यय** (पा० इन्)[४७]—पथिरक्षि - (ऋ०) "मार्ग की रक्षा करने वाला"; हुविर्मथि– (ऋ०) "हवि का मथन (नाश या वितरण) करने वाला"; क्षत्र-वनि– (वा० सं०) "क्षत्रियों से प्रीति करने वाला"; ब्रह्म-वनि– (वा० सं०) "ब्राह्मणों से प्रीति करने वाला"; गो-सनि– (अ०, वा० सं०, तै० सं०; ऋ० गो-षणि–) "गायें प्राप्त करने वाला"।

(४) **इन् प्रत्यय** (पा० णिनि)[४८]—उक्थ-शंसिन् (ऋ०) "सूक्त गाने वाला"; ब्रह्म-वादिन् (अ०) "वेद या यज्ञ पर विचार करने वाला"; व्रत-चारिन् (ऋ०) "व्रत का पालन करने वाला।"

५. **य प्रत्यय** (पा॰ क्यप्)[४९]—ब्रह्मोद्य- (ब्रा॰, श्रौ॰ सू॰) "ब्रह्म का विचार, ब्रह्म के सम्बन्ध में पहेली"; राजसूय- (अ॰, तै॰ सं॰, इत्यादि) "एक यज्ञ का नाम"; कृष्ट-पच्य- (वा॰ सं॰, पं॰ ब्रा॰) "जोते हुए (कृष्ट) खेत में पकने वाली (फसल)"; देव-हूय- (ऋ॰, शत॰ ब्रा॰) "देवताओं का आह्वान" ।

६. **वन् प्रत्यय** (पा॰ क्वनिप्)[५०]—सोम-पावन् (ऋ॰) "सोम पीने वाला"; बल-दावन् (अ॰) "बल देने वाला"; पाप-कृत्वन् (अ॰) "पाप करने वाला"; रथ-यावन् (ऋ॰) "रथ में जाने वाला" ।

अलुक्-समास—पूर्वोक्त द्वितीया-समास इत्यादि की भांति उपपद-समास के बहुत से उदाहरणों में भी पूर्वपद की विभक्ति का लोप नहीं होता है। इस प्रकार के अलुक्-समास के प्रमुख उदाहरण निम्न-लिखित हैं—

द्वितीया का अलुक्—पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार निम्नोक्त उदाहरणों में तथा ऐसे ही अन्य समासों के पूर्वपद में द्वितीया का रूप है[५१], परन्तु पाणिनीय व्याकरण के अनुसार कृत्प्रत्यय खश् या खच् के निमित्त से एकाच् ईजन्त शब्द को अम् और शेष अजन्त शब्दों को मुम् आगम हो जाता है[५२]; यथा—धनञ्जय- (ऋ॰) "धन को जीतने वाला"; पुरन्दर- (ऋ॰) "दुर्गों को नष्ट करने वाला (पुरम् व॰ के अर्थ में)"; सुतम्भर- (ऋ॰) "सोम-रस को पाने वाला"; पुष्टिम्भर- (ऋ॰) "पुष्टि-कारक"; धियंधा- (ऋ॰) "बुद्धिमान्"; उग्रम्पश्य- (अ॰) "उग्रता से देखने वाला"; अयक्ष्मङ्करण- (अ॰) "स्वस्थ करने वाला"; शृतङ्कर्तृ- (तै॰ सं॰) "पकाने वाला"; देवङ्गम- (अ॰) "देवताओं के पास जाने वाला" ।

तृतीया का अलुक्—गिरा-वृध्- (अ॰) "स्तुति से बढ़ने वाला"; दिवा-कर- (अ॰) "सूर्य"[५३]; धिया-जुर्- (ऋ॰) "प्रार्थना (करने) में बूढ़ा होता हुआ" ।

पञ्चमी का अलुक्—दिवोजा- (ऋ॰) "द्युलोक से उत्पन्न हुई (उषा)"; दिवोदुह्- (सा॰) "द्युलोक से दूध निकालता हुआ"; दिवोरुच्- (ऋ॰)

"द्युलोक से चमकता हुआ"; दक्षिणात्-सद्- (मै० सं० २, ६, ३) "दक्षिण की ओर बैठा हुआ"।

सप्तमी का अलुक्—दिवि-यज्- (ऋ०) "द्युलोक में यज्ञ करने वाला"; दिवि-चर्- (अ०) द्युलोक में घूमता हुआ"; दिवि-क्षय- (ऋ०) "द्युलोक में रहने वाला"; तल्पे-शय- (अ०) "पलंग पर सोया हुआ"; अप्सु-षद्- (सं०) "जल में रहता हुआ"।

१८५. **कर्मधारय-समास**—कर्मधारय-समास में प्रायेण विशेषण और विशेष्य का समास होता है[५४]; यथा—महा-ग्राम- (ऋ०) "बड़ा समूह"; कृष्ण-शकुनि- (अ०) "कौवा (शाब्दिक—काला पक्षी)"; पूर्ण-मासः (तै० सं० ३,४,४,१) "पूरा चन्द्रमा"; सप्तर्षयः "सात ऋषि"; एक-वीर "अनुपम वीर"; सप्त-गृध्राः (अ०) "सात गिद्ध"।

उपमा को प्रकट करने के लिये या कोई विशेषता प्रकट करने के लिये भी कतिपय शब्दों का समास होता है[५५]; यथा—शुक-बभ्रु (वा० सं०) "तोते के सदृश बभ्रु रंग का"; श्येन-जूत- (ऋ०) "बाज़ के सदृश तेज"; ऊर्णा-म्रदु (तै० ब्रा०) "ऊन के सदृश कोमल"; पुरुष-मृग- (वा० सं०, तै० सं०) "पुँल्लिङ्ग हिरण"; पुरुष-व्याघ्रः (वा० सं०) "पुँल्लिङ्ग बाघ (एक प्रकार का राक्षस)"। ऋ० ७,१०४,२२ तथा अ० ८,४, २२ में आने वाले समास उलूक-यातुम् "उल्लूरूपी या उल्लू सदृश राक्षस"; गृध्र-यातुम् "गिद्धरूपी या गिद्ध सदृश राक्षस" सन्दिग्ध हैं, क्योंकि इन का व्याख्यान अनेक प्रकार से किया जा सकता है[५६]।

१८६. **द्विगु-समास**—द्विगु-समास कर्मधारय-समास का ही एक भेद है। जिस कर्मधारय-समास के पूर्वपद में संख्या-वाचक शब्द हो उसे द्विगु कहते हैं[५७]। द्विगु का शाब्दिक अर्थ है "दो गायों का जोड़ा"। समाहार-द्विगु का प्रयोग केवल नपुं० एकवचन में होता है[५८]। स्वर-वैशिष्ट्य की समानता को ध्यान में रखते हुए अनेक पाश्चात्य विद्वान् द्विगु का वर्णन बहुव्रीहि-समास के साथ करते हैं[५९]। द्विगु-समास के कुछ प्रमुख उदाहरण निम्न-लिखित हैं—त्रि-युगम् (ऋ० १०,९७,१) "तीन युग"; दशाङ्गुलम् (ऋ० १०,९०,१) "दस अङ्गुलियों की लम्बाई"; षड्र्चम्

"छः ऋचाओं का समूह"; षड्गवम् (शत० ब्रा०) "छः बैलों का समूह"; षडह- (अ०, तै० सं०) "छः दिन तक, छः दिनों का सोमयाग"; त्रि-योजनम् (अ०) "तीन योजन की दूरी"; पञ्च-योजनम् (अ०) "पांच योजन की दूरी।" दे० अनु० १८९।

१८७. **नञ्समास**—निषेध-वाचक[10] अव्यय न पूर्वपद में जोड़ कर नञ्समास बनाया जाता है[11]। हलादि शब्दों से पूर्व न के स्थान पर केवल अ और अजादि शब्दों से पूर्व अन् जोड़ा जाता है[12]; यथा—अ-कवि- (ऋ०) "जो कवि नहीं है"; अ-साधु (शत० ब्रा०) "जो भला नहीं है"; अ-दभ्र (ऋ०) "जो छोटा नहीं है"; अ-मर्त्य- (ऋ०) "जो मरने वाला नहीं है"; अनृजु (ऋ०) "जो ऋजु (सरल) नहीं है"; अनाशु (ऋ०) "जो शीघ्रगामी नहीं है।" कतिपय समासों के पूर्वपद में न का रूप ज्यों का त्यों भी मिलता है[13]; यथा—न-चिकेतस् (तै० ब्रा०) "एक व्यक्ति का नाम"; न-पुंसक- (मै० सं०) "जो पुरुष (या स्त्री) नहीं है"; न-भ्राज्- (मै० सं०) "देवों के सोम-रक्षक का नाम"; न-मुचि- (ऋ०) "एक राक्षस का नाम"; नाकः (सं०) "स्वर्ग" (न+अक)।

१८८. **कुगतिप्रादिसमास**—अर्थ की दृष्टि से सम्बद्ध शब्द के साथ कु, सु, अति, दुर्, प्र, परि, निर्, इत्यादि निपातों का समास होता है और क्रियावाचक शब्दों के साथ भी प्र, परा इत्यादि उपसर्गों तथा पुरस्, तिरस्, अन्तर् इत्यादि गतिसंज्ञक शब्दों का समास होता है[14]। समास के पूर्वपद में आने वाले निपात कु तथा दुर् बुराई के अर्थ में और सु तथा अति प्रशंसा के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं[15]; यथा—कुयवम् (वा० सं० १८,१०) "बुरा (घटिया) अन्न (फसल)"; दुर्मतिः (ऋ०) "बुरी बुद्धि"; सु-मतिः (ऋ०) "अच्छी बुद्धि"; अति-जीव (अ०) "पूर्णतया जीवित"; अति-पुरुष- (शत० ब्रा०); "बहुत बड़ा पुरुष"। इस के अतिरिक्त "बढ़ जाना या आगे निकल जाना" के अर्थ में भी अति पद समास के पूर्वपद में आता है और उत्तरपद द्वितीयान्त रूप के अर्थ में प्रयुक्त होता है (टि० ६५); यथा—अतिमात्रम् (अ०) "मात्रा से बढ़ कर";

अति-रात्र- (सं०) "जो रातों रात किया जाय, एक सोम-याग"; अत्यंहस्- (वा० सं०) "दुःख से परे"; अत्यवि- (ऋ०) "ऊन के वस्त्र को पार करने वाला"; अतिमृत्यु (छा० उप०) "मृत्यु से परे"। ऐसे समासों को पूर्वपद-प्रधान मानते हैं (दे० अनु० १९१)।

प्र निपात "गत" के अर्थ में समास के पूर्वपद में प्रयुक्त होता है (टि० ६५); यथा—प्रपितामह- (सं०) "परदादा"; प्र-णपात्- (ऋ०) "परपोता"; प्राचार्य- (आप० धं० सू०) "आचार्य का आचार्य"।

पदकार तथा वार्तिककार आदि इव के साथ भी पूर्ववर्ती रूप का समास मानते हैं, परन्तु इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि रूपरचना तथा स्वर में इससे कोई विकार नहीं आता है[६६]; यथा—सुदुघामिव (ऋ० १, ४,१) "अच्छा दूध देने वाली गाय की तरह"।

प्र इत्यादि अव्यय का अव्यय के साथ भी समास मिलता है[६७]; यथा— प्रप्र (सं०)। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, यह द्विरुक्तसमास है (दे० अनु० १९२)।

क्रियावाचक शब्दों के साथ उपसर्गों तथा गतिसंज्ञक शब्दों के समास के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं और बहुत से उदाहरणों में एक क्रियावाचक शब्द के साथ अनेक उपसर्गों का समास मिलता है। कुछेक प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं—

नि-हित- "स्थापित किया हुआ"; पुरोहित- (ऋ०) "सामने स्थापित किया हुआ"; प्रणीतः (ऋ०) "नेतृत्व"; परा-भूत- (शत० ब्रा०) "लुप्त हुआ"; अनुनिर्वाप्यः (तै० सं०) "बखेरने के लिये निकाले जाने के योग्य"; तिरोहित- (ऋ०) "छिपाया हुआ"; अन्तर्याम- "अन्दर से रोकना"। तिङन्त पद (आख्यात) के साथ उपसर्ग का समास प्रायेण तभी होता है जब तिङन्त पद पर उदात्त हो, परन्तु एक से अधिक उपसर्गों का समास अनुदात्त आख्यात के साथ भी हो जाता है[६८]; यथा—उप-प्रयाथः (ऋ० १,३४,९) "तुम दोनों पास आते हो"; नि-षीदथः (ऋ० ८,९,२१) "तुम दोनों बैठते हो"; अति-रोहति (ऋ० १०, ९०,२) "विकास को प्राप्त होता है"; परि-प्रयाथ (ऋ० ४,५१,५)

"तुम सब चारों ओर बढ़ते हो"; अनुसंप्रयाहि (अ० ११,१,३६) "उन के पीछे मिल कर जाओ।"

१८९. **समासान्त**—अङ्गुलि का अङ्गुल— जिस द्विगु समास के अन्त में अङ्गुलि शब्द और पूर्वपद में कोई संख्यावाचक शब्द आए उस के अङ्गुलि का अङ्गुल (पा० अच् प्रत्यय) हो जाता है[69]; यथा— द्व्यङ्गुलम् (ऋ०)।

रात्रि का रात्र— कर्मधारय में सर्व, महा- इत्यादि से परे और एकदेशि-समास (अनु० १८३) द्विगु तथा प्रादिसमास (अनु० १८८) के अन्त में आने वाले रात्रि शब्द का रात्र (पा० अच् प्रत्यय) बन जाता है[70]; यथा— सर्वरात्र- (का० श्रौ० सू०) "सारी रात"; महारात्र- (ब्रा०, श्रौ० सू०) "आधी रात"; अपर-रात्रः "रात्रि का पिछला भाग"; पूर्व-रात्र- (ऐ० ब्रा०) "रात्रि का पूर्व भाग"; द्वि-रात्र- (अ०) "दो रात तक"; अति-रात्र- (सं०) "जो रातों-रात किया जाय, एक सोमयाग।"

अहन् का अह्न—कर्मधारय में सर्व से परे और एकदेशिसमास तथा प्रादि-समास के अन्त में आने वाले अहन् शब्द का अह्न बन जाता है[71]; यथा—सर्वाह्न- पुं० (मै० सं०) "सारा दिन"; पूर्वाह्न- पुं० (ऋ० इत्यादि) "दिन का पूर्व भाग (दोपहर से पहले)"; प्राह्न- पुं० (ष० ब्रा०) "प्रातः"।

अहन् का अह—उपर्युक्त उदाहरण से भिन्न कर्मधारय में यथा एक, पुण्य, भद्र इत्यादि से परे और समाहारद्विगु के अन्त में आने वाले अहन् का अह (पा० टच् प्रत्यय) बनता है[72]; यथा—एकाह- पुं० "एक दिन, सोम-यागविशेष"; पुण्याह-पुं० (ब्रा०, श्रौ०, गृ० सू०) "शुभ दिन"; भद्राहम् (अ०) "शुभ दिन"; षडह- पुं० (अ०, तै० सं०) "छः दिन, सोमयाग-विशेष"; द्व्यह- पुं० (शत० ब्रा०, श्रौ० सू०) "दो दिन, यागविशेष"।

राजन् का राज और सखि का सख—तत्पुरुष के अन्त में आने वाले राजन् का राज और सखि का सख (पा० टच् प्रत्यय) बनता है (टि० ७२); यथा—महाराज- (ब्रा०, श्रौ० सू०) "बड़ा राजा"; देव-राज- (तै० ब्रा०) "देवताओं का राजा"; कृतासखः (पपा० कृतऽसखः, ऋ० ५,

३४,३) "बुरे पुरुष का मित्र"[७३]; देवसख (वा० सं० २३,४९) "हे देवताओं के मित्र।"

गो का गव—तत्पुरुष के अन्त में आने वाले गो का गव (पा० टच् प्रत्यय) बन जाता है[७४]; यथा—षड्गवम् "छः बैलों का समूह"; ब्रह्मगवी स्त्री० (अ०, शत० ब्रा०) "ब्राह्मण की गाय"; पुङ्गव (ला० श्रौ०) "साण्ड।"

हलन्त शब्दों का अकारान्त में परिवर्तन—तत्पुरुष समासों के अन्त में आने वाले बहुत से हलन्त शब्द अकारान्त बन जाते हैं। कतिपय हलन्त शब्दों के अन्तिम व्यञ्जन का लोप हो जाता है और कतिपय हलन्त शब्दों के अन्तिम व्यञ्जन के पश्चात् अ जोड़ दिया जाता है[७५]; यथा—त्र्यायुष- नपुं० (वा० सं०) "तिगुनी आयु"; षडृचम् "छः ऋचाओं का समूह"; महोक्ष- (शत० ब्रा०) "बड़ा साण्ड"; ब्रह्म-वर्चसम् (अ० इत्यादि) "ब्रह्म का तेज"; देव-कर्मभिः (ऋ०) तृ० ब०; देव-च्छन्दसम् (का० सं०) "देवताओं का छन्द।"

बहुव्रीहि-समास

१९०. बहुव्रीहि का शाब्दिक अर्थ है "वह व्यक्ति जिस के पास बहुत व्रीहि (चावल) हैं" और तै० ब्रा० तथा आप० श्रौ० सू० में 'बहुव्रीहियव-' का प्रयोग भी मिलता है। कल्याणवाचक होने के हेतु से बहुव्रीहि उदाहरण इस समास की संज्ञा के लिये प्रयुक्त होने लगा। यह समास प्रायेण अन्यपदार्थप्रधान है[७६] अर्थात् विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त होता है। रूपरचना की दृष्टि से तत्पुरुष तथा बहुव्रीहि के बहुत से उदाहरण समान बनते हैं। केवल प्रसङ्ग तथा स्वर की सहायता से यह निर्णय किया जा सकता है कि इन दोनों में से कौन सा समास है; यथा राजपुत्र- "राजा का पुत्र" तत्पुरुष और राजपुत्र- "राजा जिस के पुत्र हैं" बहुव्रीहि समास है। इसी प्रकार सूर्यतेजस्- "सूर्य का तेज" तत्पुरुष और सूर्यतेजस्- "सूर्य के समान जिस का तेज है" बहुव्रीहि समास है; इन्द्रशत्रु "इन्द्र का शत्रु (नाशक)" तत्पुरुष और इन्द्र-शत्रु- "इन्द्र जिस का शत्रु (नाशक) है" बहुव्रीहि समास है।

(क) **समानाधिकरणपदबहुव्रीहि**— जिस बहुव्रीहि समास के दोनों पदों का **आधिकरण**[७७] (अभिधेय) समान हो उसे **समानाधिकरणपदबहुव्रीहि** कहते हैं। विशेषण तथा क्तान्त शब्द बहुव्रीहिसमास के पूर्वपद में रक्खा जाता है[७८]; यथा— उग्र-बाहुः (ऋ०) "जिस का बाहु उग्र है"; जीव-पुत्र– "जिस का पुत्र जीवित है"; रुशद्वत्सा (ऋ०) "जिस का बछड़ा प्रकाशमान है"; हिरण्य-नेमि– "जिस की नेमि सोने की है"; द्वि-पद् "जिस के दो पांव हैं"; अष्टा-पद् "जिस के आठ पांव हैं"; शुक्र-वर्ण– "जिस का वर्ण चमकीला है"; हुत-मातृ– "जिस की माता मारी गई है"; रात-हविस्– "जिस के द्वारा हवि दी गई है"; प्रयत्त-दक्षिण– (ऋ०) "जिस के द्वारा दक्षिणा दी गई है"। कतिपय समासों में क्तान्त शब्द उत्तरपद में भी मिलता है[७९]; यथा— गर-गीर्णः (अ० ५,१८,१३) "जिस ने विष निगल लिया है"[८०]। अनेक बहुव्रीहि समासों के पूर्वपद में **नाम** मिलता है; यथा— सुरोदक– (अ०) "सुरा जिस का पानी है"; वृक्ष-केश– (अ०) "वृक्ष जिस के केश हैं"; इन्द्रज्येष्ठाः (ऋ०) "जिन (देवों) में इन्द्र ज्येष्ठ है"; यम-श्रेष्ठ– (अ०) "जिन (पितरों) में यम श्रेष्ठ है"; सोम-श्रेष्ठ– (अ०) "जिन में सोम श्रेष्ठ है।" कतिपय बहुव्रीहिसमासों के पूर्वपद में उपमानवाचक शब्द मिलता है और वार्तिककार के अनुसार उपमान तथा उपमेय के मध्य अर्थतः विद्यमान पद का लोप माना जाता है[८१]; यथा—मनोजवस्– (ऋ०) "मन के वेग के सदृश जिस का वेग है"; मयूर-रोमन्– (ऋ०) "मोर के बालों के सदृश जिन के बाल हैं"; अग्नि-तेजस्– (अ०) "अग्नि के तेज के सदृश जिस का तेज है"; ऋक्ष-ग्रीव– (अ०) "रीछ की गर्दन के सदृश जिस की गर्दन है।"

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, प्रादि से परे आने वाले धातुज शब्द का अन्य पद के साथ बहुव्रीहि-समास होता है और धातुज शब्द का विकल्प से लोप भी हो जाता है[८२]। परिणाम-स्वरूप केवल प्रादि के साथ भी अन्य पद का बहुव्रीहि-समास मिलता है; यथा—वि-कर्ण– (अ०) "जिस के कान दूर दूर हैं"; वि-ग्रीव– (ऋ०) "जिस की गर्दन विच्छिन्न है"; उद्बाहु–(शत० ब्रा०) "जिस के बाहु ऊपर उठे

हुए (उद्गत) हैं"; नि-र्मन्यु- (अ०) "जिस का क्रोध उतर गया है"। सु-पर्ण- "जिस के पंख सुन्दर हैं"; दुष्पद् "जिस का पांव बुरा है"। कतिपय बहुव्रीहि-समासों के पूर्वपद में अन्य अव्यय भी मिलते हैं[८३]; यथा- पुरोरथ- (ऋ०) "जिस का रथ आगे (सामने) है"; इत्था-धी- "जिस की बुद्धि ऐसी है"; बहिर्लोम- (मै० सं०) "जिन के बाल बाहिर की ओर हैं"; आरे-शत्रु- (अ०) "जिस का शत्रु दूर है"; इह-चित्त- (अ०) "जिस का चित्त यहां पर है"; नीचा-वयाः (ऋ० १,३२,९) "जिस का बल नीचा है"; एवंरूप- (शत० ब्रा०) "जिस का रूप ऐसा है"।

कतिपय समासों के पूर्वपद में सह या स मिलता है[८४]; और ऐसा स प्रायेण 'समान' के अर्थ में आता है (अनु० १७७ ख, टि० ७.८) यथा— सह-वत्सा (ऋ०) "बछड़े सहित (धेनुः)"; सह-गोपाः (ऋ०) "ग्वाले सहित"; सह-पुरुष- (अ०) "पुरुषसहित"; सगणः (ऋ०) "गणसहित"; साङ्ग- (अ०) "अङ्गसहित"; सनाभिः (ऋ०) "जिस की नाभि समान है"; सबन्धू (ऋ०) "समान सम्बन्ध वाली दो स्त्रियां"; सवर्णाम् (ऋ०) "समान वर्ण वाली।"

निषेधवाचक अव्यय न का आदेश अ या अन् (अनु० १८७, टि० ६१-६२) कतिपय बहुव्रीहि समासों के पूर्वपद में मिलता है[८५]; यथा—अफलाम् "फलरहित" तथा अपुष्पाम् "फूलरहित" (वाणी को) (ऋ० १०,७१,७); अजानि- (अ०) "पत्नीरहित"; अनुदक- (ऋ०) "जलरहित"; अनपत्य- (ऋ०) "सन्तानरहित।"

(ख) व्यधिकरणपदबहुव्रीहि—जिस बहुव्रीहि-समास के दोनों पदों का अधिकरण (अभिधेय) भिन्न हो उसे व्यधिकरणपदबहुव्रीहि कहते हैं। वैदिक भाषा में इस के बहुत से उदाहरण मिलते हैं और अनेक उदाहरणों में पूर्वपद की विभक्ति का अलुक् रहता है; यथा—धिया-वसुः (ऋ०) "जो बुद्धि (या प्रार्थना) से धनी है"; भासा-केतु- (ऋ०) "जो प्रकाश के द्वारा ज्ञेय है"; क्रत्वा-मघासः (ऋ० ५,३३,९) "बुद्धि के द्वारा प्राप्त पुरस्कार रूपी (अश्व)"; वज्र-बाहुः (ऋ०) "जिस की बाहु

में वज्र है (या वज्रयुक्त है)", पात्र-हस्त- (अ०) "जिस के हाथ में पात्र है (या पात्रयुक्त है)"; मणि-ग्रीवम् (ऋ० १,१२२,१४) "जिस की गर्दन में मणि है (या मणियुक्त है)"; घृत-पृष्ठ- (ऋ०, अ०) "जिस की पीठ पर घी है (या घृतयुक्त है)"; मधु-जिह्व- (ऋ०, वा० सं०) "जिस की जिह्वा पर मधु है (या मधुयुक्त है)"; अश्रु-मुख- (अ०) "जिस के मुख पर अश्रु है (या अश्रुयुक्त है)"; दिवि-योनि- (ऋ०) "जिस का उत्पत्तिस्थान द्युलोक में है"; अप्सु-योनि- (शत० ब्रा०) "जिस का उत्पत्तिस्थान जलों में है"; दूरे-गव्यूती (अ० ४; २८,३) "जिन दोनों का संचरण-क्षेत्र दूर है"; आसन्निषून् (ऋ० १, ८४,१६) "जिन के मुख में तीर हैं उन्हें।"

(ग) **समासान्त—गो का गु तथा रै का रि**—बहुव्रीहिसमास के अन्त में आने वाले गो शब्द का गु बन जाता है[८६]; यथा—सुगु- (ऋ०, अ०, तै० ब्रा०) "अच्छी गायों वाला"; परन्तु ऋ० १,११६,२५ में सुगवः "अच्छी गायों वाला" तथा संगवे स० ए० (ऋ०, अ०, ब्रा०, श्रौ० सू०) "गायें एकत्र करने के समय पर" प्रयोग भी मिलते हैं (तत्पुरुष में गव- के लिये दे० टि० ७४) । इसी प्रकार बहुव्रीहि के अन्त में आने वाले रै "धन" का रि आदेश दृष्टिगोचर होता है; यथा—बृहद्रये च० ए० (ऋ० १,५७,१) "विशाल धन वाले (इन्द्र) के लिये" (टि० ८६) ।

इकारान्त शब्दों का अकारान्त में परिवर्तन—बहुव्रीहि-समास के अन्त में अनेक इकारान्त शब्दों का अकारान्त में परिवर्तन हो जाता है। ऐसे कुछ प्रमुख शब्द सक्थि, अक्षि, अस्थि, अस्त्रि इत्यादि हैं[८७]; जिन के वैदिक उदाहरण उपलब्ध होते हैं; यथा—लोमश-सक्थ- (वा० सं०) "लोमयुक्त जङ्घा वाला"; सहस्राक्ष- (सं०) "सहस्र आंखों वाला"; अनस्थ- (ऋ०, अ०) "अस्थिरहित"; चतुरस्र- (का० श्रौ० सू०) "चार कोनों वाला" । परन्तु वैदिक वाङ्मय में इन के अनेक अपवाद भी मिलते हैं।

नेतृ का नेत्र—बहुव्रीहि समास के अन्त में आने वाले नेतृ शब्द का

कतिपय वैदिक प्रयोगों में नेत्र बन जाता है[८]; यथा—अग्नि-नेत्राः (वा० सं०, तै० सं०) "जिन (देवों) का नेता अग्नि है।"

हलन्त शब्दों का अकारान्त में परिवर्तन—बहुव्रीहि समास के अन्त में आने वाले कतिपय हलन्त शब्द अकारान्त में परिणत हो जाते हैं[९]; और ऐसे कुछ प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं—बहिर्लोम- (मै० सं०) "जिस के बाल बाहिर की ओर हैं"; सु-दिव- (अ०) "जिस के लिये अच्छा दिन है"; अनाग- (ऋ०) "पाप (आगस्) रहित"; परन्तु अनागस् का प्रयोग अधिक है।

प्राचीनतर वैकल्पिक प्रातिपदिक का प्रयोग—हम चतुर्थ अध्याय में इस बात पर विचार कर चुके हैं कि वैदिक भाषा में समान अर्थ वाले अनेक ऐसे प्रातिपदिक मिलते हैं जो कहीं-कहीं एक दूसरे के पूरक भी हैं और जिन के रूप में विशेष सादृश्य भी है। भाषा के इतिहास की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि इन वैकल्पिक प्रातिपदिकों में हलन्त प्रातिपदिक प्रायेण प्राचीनतर हैं (दे० अनु० १३६)। जहां अनेक वैकल्पिक प्रातिपदिक उपलब्ध होते हैं वहां प्रायेण प्राचीनतर प्रातिपदिक बहुव्रीहि के अन्त में मिलता है। उदाहरणार्थ धर्मन् और धर्म प्रातिपदिकों में से केवल धर्मन् प्रातिपदिक जो प्राचीनतर है बहुव्रीहि के अन्त में मिलता है; यथा—सत्यधर्मन्- (सं०) "जिस के धर्म सत्य हैं"। उत्तरकालीन प्रातिपदिकों के आधार पर ऐसे समासों का समाधान करते हुए पाणिनि उत्तरकालीन प्रातिपदिक में कोई आदेशज विकार मानता है अथवा किसी समासान्त प्रत्यय का विधान करता है; यथा—धर्मशब्दान्त बहुव्रीहि के लिये पाणिनि अनिच् समासान्त प्रत्यय का विधान करता है[१०]। इस प्रकार के अन्य प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं—

ऊधस् = ऊधन्[११]—रुप्सदूधभिः (ऋ० २,३४,५) "जिन का आपीन पूर्ण है उन के साथ"; अच्छिद्रोध्नी (ऋ० १०,१३३,७) "जिस का आपीन छिद्र (या दोष) रहित है"।

जानु = ज्ञु[१२]—असित-ज्ञु- (अ०) "काले घुटने वाला"; मित-ज्ञु- (ऋ०) "दृढ घुटनों वाला"।

जाया = जानि[13]—प्राचीनतर वैदिक प्रातिपदिक जनि है और उस में अकार के दीर्घत्व के कारण जानि बनता है; यथा—युवं-जानिः (ऋ० ८,२,१९) "जिस की जाया युवति है"; अजानि- (अ०) "जो जायारहित है।"

दन्त = दन्त् (पा० दत्)[14]—शुचिं-दन् प्रथ० ए० (ऋ०) "चमकते हुए दांतों वाला (अग्नि)।"

धनुष् = धन्वन्[15]—शत-धन्वन्- (वा० सं०) "सौ धनुषों वाला"; अबल-धन्वन्- (अ०) "दुर्बल धनुष वाला।"

पाद = पाद्, पद्[16]—अपाद्- (सं०, ब्रा०) "पांव रहित"; सहस्र-पाद्- (सं०) "सहस्र पांवों वाला"; उत्तान-पद्- (ऋ०) "जिस के पांव फैले हुए हैं।"

प्रजा = प्रजस्[17]—सु-प्रजस्- (ऋ०) "अच्छी सन्तान वाला"; बहु-प्रजस्- (ऋ०) "बहुत सन्तान वाला।"

मेधा = मेधस् (टि० १७)—सु-मेधस्- (ऋ०) "अच्छी बुद्धि वाला"; पुरु-मेधस्- (सा०) "बहुत बुद्धि वाला।"

शिरस् = शीर्षन्[18]—सहस्र-शीर्षन्- (ऋ०) "सहस्र सिरों वाला"; त्रि-शीर्षन्- (सं०, ब्रा०) "तीन सिरों वाला।"

क (पा० कप्) समासान्त प्रत्यय—बहुव्रीहि के अन्त में आने वाले कतिपय हलन्त तथा अजन्त प्रातिपदिकों के पश्चात् क (पा० कप्) समासान्त प्रत्यय जोड़ा जाता है[19]; यथा—अपादक- (तै० सं०) "पांव-रहित"; सहकण्ठिका स्त्री० (अ०) "जो कण्ठ से युक्त है"; निर्मन्युक- (अ०) "क्रोध-रहित"; अकर्णक- (तै० सं०) "कान रहित"; अनक्षिक- (तै० सं०) "आंख-रहित"; अच्छन्दस्क- (मै० सं०) "छन्द रहित" बहुहस्तिका स्त्री० (तै० ब्रा०) "बहुत से हाथियों वाली"; पुण्यलक्ष्मीक- (शत० ब्रा०) "शुभ लक्षणों वाला"; शत-तन्त्रीक- (पं० ब्रा०) "सौ तार वाला।" यद्यपि कल्पसूत्रों की भाषा में आकारान्त प्रातिपदिकों के पश्चात् कप् प्रत्यय के उदाहरण

मिलते हैं यथा- अमातृक- (आप० सू०) "माता रहित" और जीव-पितृक- (का० श्रौ० सू०) "जिस का पिता जीवित है"; तथापि संहिताओं में ऋकारान्त प्रातिपदिक के पश्चात् कप् प्रत्यय नहीं आता है[१००]; यथा—सप्त-स्वसृ- (ऋ०) "सात बहिनों वाला"; हत मातृ- (अ०) "जिस की माता मारी गई है।"

पूर्वपदप्रधान-समास

१९१. पाश्चात्य विद्वान् Governing Compound के नाम से पूर्वपदप्रधान-समास का पृथक् वर्णन करते हैं और पूर्वपद के रूप के अनुसार इस समास के दो मुख्य उपभेद करते हैं— (1) Prepositional Compounds (अव्ययप्रधान समास), और (2) Participial Compounds (शत्रन्तप्रधान समास)[१०१]। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, अव्ययीभावसमास और प्रादिसमास में अव्ययप्रधान-समासों (Prepositional Compounds) का समावेश किया जा सकता है और शत्रन्तप्रधान-समास को तत्पुरुष का एक भेद माना जा सकता है। प्रादि-समासों में आने वाले पूर्वपदप्रधान-समास अतिमात्रम् (अ०) "मात्रा से बढ़ कर" इत्यादि का विवेचन पहले किया जा चुका है (दे० अनु० १८८)। अतएव यहां पर केवल अव्ययीभावसमास और शत्रन्त-प्रधानसमास का वर्णन किया जायगा।

(क) **अव्ययीभाव समास**—जैसा कि हम ने अभी स्पष्ट किया है पूर्वपद-प्रधान अव्ययीभाव समास में पूर्वपद कोई अव्यय होता है और समास में उसी के अर्थ की प्रधानता रहती है। पूर्वपद में आने वाले अव्यय कहीं किसी विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं और कहीं सामीप्य, सादृश्य, आनुपूर्व्य, इत्यादि अर्थों को प्रकट करते है[१०२], । वाक्य में अव्ययीभाव-समास का प्रयोग प्रायण अव्यय की भांति होता है[१०३]। अव्ययीभाव-समास के कतिपय प्रमुख वैदिक उदाहरण निम्नलिखित हैं—अधिरथम् "रथ पर"; अनुकामम् "इच्छा के अनुसार"; परोक्षम् (अ०, शत० ब्रा०) "आंखों से परे"; अभियुग्मम् "यज्ञ में"; अध्यात्मम् (शत०

ब्रा०) "आत्मा में"; बहिष्परिधि (तै० सं०, शत० ब्रा०) "घेरे से बाहिर"; आव्युषम् (अ० ४,५,७) "उषा-काल तक"; आजर-सम् (शत० ब्रा०, ऐ० ब्रा०) "बुढ़ापे तक"; यथा-स्थानम् (तै० सं०) "अपने स्थान के अनुसार"।

(ख) शत्रन्तप्रधान-समास- इस समास के उदाहरण मुख्यतया ऋ० में मिलते हैं। इस की विशेषता यह है कि पूर्वपद में सकर्मक धातु का शत्रन्त रूप आता है और उत्तरपद में कर्मवाचक पद होता है; यथा— यातयज्जन- "लोगों को प्रेरित या एकत्र करता हुआ"; धारयत्क्षिति- "प्रजा को धारण करता हुआ"; धारयत्कवि- "ऋषियों को धारण करता हुआ"; मन्दयत्सखम् (ऋ० १,४,७) "मित्रों को मुदित करते हुए को"; ऋधद्वार- "वरणीय वस्तुओं (वार) को बढ़ाता हुआ (ऋधत्)"; तरद्-द्वेषाः (ऋ० १,१००,३) "शत्रुओं को पार करता हुआ"; क्षयद्-वीर- "मनुष्यों पर शासन करता हुआ"; आभरद्-वसुः (ऋ० ५,७९,३) "धन लाती हुई (उषा)"; विदद्वसु- "धन को पाता हुआ"; द्रावयत्सखम् (ऋ० १०,३९,१०) "मित्र को दूर भगाता हुआ"; मंहयद्रयिः "धन देता हुआ"; मन्दद्वीर- "मनुष्यों को मुदित करता हुआ"। ऋग्वेदभाष्य में सायण शत्रन्त-प्रधान समासों को अधिकतर बहुव्रीहि मानता है और कहीं कहीं तत्पुरुष[१०५] मान कर भी व्याख्यान करता है। परन्तु ऐसे समासों को बहुव्रीहि मानने से इन के अर्थ में खींचा-तानी करनी पड़ती है। मेरे मतानुसार, शत्रन्तप्रधान-समास तत्पुरुष का ही एक भेद है और इस के अन्त में द्वितीयान्त पद उसी प्रकार आता है जिस प्रकार पा० २,२,४ "प्राप्तापन्ने च द्वितीयया" के द्वारा प्राप्तजीविकः इत्यादि के अन्त में द्वितीयान्त पद आता है। और मन्दयत्सखम् इत्यादि में तत्पुरुष का समासान्त प्रत्यय आता है (दे० अनु० १८९)। इस समास के पूर्वपद पर प्रकृतिस्वर रहता है, परन्तु उस के लिये कोई पाणिनीय सूत्र मुझे नहीं सूझा है (दे० टि० १०४)।

पञ्चमोऽध्यायः

द्विरुक्त-समास

१९२. द्विरुक्त-समास में एक ही पद को दो बार बोला जाता है। 'अत्यधिक', 'नित्य' 'प्रत्येक' या 'बार बार' के अर्थ को प्रकट करने के लिये द्विरुक्त का प्रयोग किया जाता है। वा० प्रा० में द्विरुक्त के लिये आम्रेडित संज्ञा का प्रयोग किया गया है[१०५]। परन्तु पाणिनि द्विरुक्त के उत्तर पद के लिये आम्रेडित संज्ञा का व्यवहार करता है और उसे अनुदात्त मानता है[१०६]। यद्यपि पाणिनि द्विरुक्त को समास नहीं मानता, तथापि स्वर के विषय में विचार करते हुए वह स्वीकार करता है कि कतिपय द्विरुक्तों का स्वर बहुव्रीहि के तुल्य, कहीं कर्मधारय के तुल्य, और शेष द्विरुक्तों के पूर्वपद पर उदात्त रहता है[१०७]। पद-पाठ में समास की भांति द्विरुक्त के दोनों पदों के मध्य अवग्रह दिखलाया जाता है। वैदिकभाषा में नाम, सर्वनाम, विशेषण, अव्यय तथा संख्यावाचक शब्दों के द्विरुक्त उपलब्ध होते हैं और आख्यात के द्विरुक्त के उदाहरण अति विरल हैं। द्विरुक्तों के कुछ प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं—

नामों का द्विरुक्त—अहरहः, दिवे-दिवे, द्यवि-द्यवि "प्रत्येक दिन"; गृहे-गृहे, दमे-दमे, विशे-विशे "प्रत्येक घर में"; पर्वणि-पर्वणि "प्रत्येक जोड़ में"; अङ्गादङ्गात् (ऋ० १०,१६३,६) "प्रत्येक अङ्ग से"; दिशोदिशः (अ०) "प्रत्येक दिशा से"; शत्रोःशत्रोः "प्रत्येक शत्रु से"; यज्ञस्य यज्ञस्य (ऋ० १०, १, ५) "प्रत्येक यज्ञ का"; अग्निमग्निम् (ऋ० ६,१५,६) "बार बार अग्नि को" अन्नमन्नम् (अ०) "अन्न को बार बार।"

सर्वनामों का द्विरुक्त—त्वंत्वमहर्यथाः (ऋ० १०,९६,५) "तुम ने नित्य चाहा"; यद्यद्यामि (ऋ० ८,६१,६) "जो जो मैं मांगता हूँ"; तत्तदग्निर्वयो दधे (ऋ० ८,३९,४) "अग्नि उस उस अन्न को प्रदान करता है"; वयंवयम् (ऋ० १०,२२,१२) "हम नित्य… ।"

विशेषणों का द्विरुक्त—प्रियम्प्रियम् (ऋ० ६,१५,६) "अत्यधिक प्रिय को"; पन्यंपन्यम् (ऋ० ८,२,२५) "बार बार या नित्य स्तुति करने योग्य"; प्राचींप्राचीं प्रदिशम् (अ० १२,३,७) "नित्य

पूर्व दिशा में"; उत्तरामुत्तरां समाम् (अ० १२,१,३३) "प्रत्येक उत्तरवर्ती वर्ष में।"

अव्ययों का द्विरुक्त—यथा-यथा "जैसे जैसे"; अद्यार्द्य "प्रतिदिन"; श्वःश्वः "प्रत्येक आगामी दिन में"; प्रप्र...शस्यते (ऋ० १,१३८,१) "नित्य स्तुति की जाती है" (दे० अनु० १८८, टि० ६७) उप, परा, सम् तथा उत् का द्विरुक्त भी मिलता है।

संख्यावाचक शब्दों का द्विरुक्त—पञ्च-पञ्च "पांच पांच"; सप्त-सप्त "सात सात"; एकैकम् (तै० सं०, अ०) "एक एक करके"; एकएकः (ऋ०) "प्रत्येक।"

आख्यातों का द्विरुक्त—पिब-पिब (ऋ० २,११,११) "बार बार पान करो"; यजस्व-यजस्व (शत० ब्रा०) "बार बार यज्ञ करो।"

अव्यवस्थित-समास

१९३. जिन समासों के लिये कोई निश्चित लक्षण नहीं दिया जा सकता, उन का वर्णन इस श्रेणी में किया जायगा। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, इस प्रकार के अव्यवस्थित समासों का समावेश तत्पुरुष में किया जा सकता है[१०८]। कतिपय प्रमुख वैदिक उदाहरण निम्नलिखित हैं—

याच्छ्रेष्ठाभिः (ऋ० ३.५३,२१) "जो सब से श्रेष्ठ (रक्षाएं) हैं उन के द्वारा"; यावाध्यम् (ऋ० २,३८,८) "जहां तक हो सके उतना शीघ्र"; इतिहासः (शत० ब्रा०) "प्राचीन कथा (शाब्दिक— इति 'ऐसा' ह 'निश्चय से' आस 'हुआ था'); अहमुत्तर- (अ०) "प्रतिस्पर्धा अर्थात् वह कर्म जिस में प्रत्येक चाहता है कि मैं उच्चतर रहूं"; अहम्पूर्वः (ऋ० १,१८१,३) "जो प्रथम रहने का इच्छुक है"; काचित्करम् (ऋ० १०,८६,११) "कुछ करने वाले को"; किंत्वः (वा० सं० २०,२८) "जो तिरस्कारपूर्वक कहता है 'तू क्या है'"; मम-सत्येषु (ऋ० १०,४२,४) "संग्रामों में (जिन में लोग कहते हैं कि यह धन निश्चय से मेरा ही है)"; ये-यजामहाः (वा० सं०)

प्रधानोऽव्ययीभावः। यथा अनुरूपम्। उत्तरपदप्रधानस्तत्पुरुषः। यथा अघशंसः… । उभयपदप्रधानो द्वन्द्वः। यथा… मित्रावरुणौ । अन्यपदप्रधानो बहुव्रीहिः। यथा अनमीवाः… ।"

१०. पा० २,१,४— "सह सुपा" पर महाभाष्य—"एवं तर्हि सिद्धे सति यत्सहग्रहणं करोति। तस्यैतत्प्रयोजनम्। योगाङ्ग यथा विज्ञायेत, सति च योगाङ्गे योगविभागः करिष्यते—'सह'। सुप् च समस्यते। केन सह? समर्थेन। अनुव्यचलद् अनुप्राविशत्। ततः 'सुपा' सुपा च सह सुप्समस्यते। अधिकारश्च लक्षणं च। यस्य समासस्यान्यल्लक्षणं नास्ति इदं तस्य लक्षणं भविष्यति। 'पुनरुत्स्यूतं वासो देयम्', 'पुनर्निष्कृतो रथः'" ॥
पा० २,१,४ पर काशि०—"सहग्रहणं योगविभागार्थं तिङापि सह यथा स्यात्। अनुव्यचलत्। अनुप्रावर्षत्" ॥

पा० २,१,४ पर सि० कौ०—"सह इति योगो विभज्यते। सुबन्तं समर्थेन सह समस्यते। योगविभागस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वात् कतिपयतिङन्तोत्तरपदोऽयं समासः। स च छन्दस्येव। पर्यभूषयत्। अनुव्यचलत्। 'सुपा'। सुप्सुपा सह समस्यते ॥"

११. सि० कौ० का 'सर्वसमासशेषप्रकरणम्'— "समासश्चतुर्विध इति तु प्रायोवादः। अव्ययीभावतत्पुरुषबहुव्रीहिद्वन्द्वाधिकारबहिर्भूतानामपि 'सह सुपा' (पा० २,१,४) इति समासविधानात्। पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः, अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः, उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः, इत्यपि प्रायो वादः प्रायोऽभिप्रायः। सूपप्रति उन्मत्तगङ्गम् इत्यव्ययीभावे, अतिमालादौ तत्पुरुषे, द्वित्राः इत्यादिबहुव्रीहौ, दन्तोष्ठम् इत्यादिद्वन्द्वे चाभावात्। तत्पुरुषविशेषः कर्मधारयः। तद्विशेषो द्विगुः। अनेकपदत्वं द्वन्द्वबहुव्रीह्योरेव। तत्पुरुषस्य क्वचिदेवेत्युक्तम्। किं च—

सुपां सुपा तिङा नाम्ना धातुनाऽथ तिङां तिङा।
सुबन्तेनेति विज्ञेयः समासः षड्विधो बुधैः ॥"

१२. Alt. Gr. II, I, pp. 142 ff.; Ved. Gr., pp. 154 ff.; Skt. Gr., pp. 480 ff.; Gr. Ṛg Ved., pp. 123 ff.

१३. पा० २,४,२६—परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः ॥

१४. पा० २,४,२८—हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च छन्दसि ॥

१५. पा० २,४,२९—रात्राह्नाहाः पुंसि ॥

१६. पा० २,४,२५—विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम् ॥

१७. पा० २,४,१७-१८—स नपुंसकम् । अव्ययीभावश्च ॥ २,४,१-२—द्विगुरेकवचनम् । द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् ॥ पा० २,४,१७ पर वार्तिक (काशि०) "अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते" के अनुसार, जिस द्विगु समास के उत्तरपद में अकारान्त शब्द हो उस का रूप स्त्री० में बनता है। परन्तु ऐसे रूप का वैदिक उदाहरण मुझे नहीं मिला है।

१८. पा० ६,३,३४-४२ ॥

१९. अ० प्रा० ४,४९; वा० प्रा० २,४८.५५; ३,१२८;५,२८.

२०. पा० २,२,२९—चार्थे द्वन्द्वः ॥

२१. यद्यपि पा० ६,३,२६.२९.३०.३१.३३—"देवताद्वन्द्वे च। दिवो द्यावा। दिवसश्च पृथिव्याम्। उषासोषसः। पितरामातरा च छन्दसि।" के अनुसार ऐसे समासों में पूर्वपद को आनङ् आदि आदेश होता है और ऐसा आ विभक्ति-प्रत्यय नहीं है, तथापि इन की रूप-रचना पर ध्यान देने से पाश्चात्य विद्वानों के इस मत की पुष्टि होती है कि पूर्वपद का अन्तिम आ वास्तव में प्रथ० द्वितीo द्वि० विभक्ति का प्राचीन रूप है। वा० प्रा० ३,१२८ "पूर्वो द्वन्द्वेष्ववायुषु" देवताद्वन्द्व समासों के पूर्वपद के अन्तिम स्वर को दीर्घ मानता है।

२२. पा० ६,३,२५—आनङ् ऋतो द्वन्द्वे ॥ इस सूत्र के द्वारा पाणिनि पूर्वपद के अन्त में आ (आनङ्) आदेश करता है और व्याख्यान के अनुसार विद्यावाचक तथा योनिवाचक ऋकारान्त शब्दों के द्वन्द्व में पूर्वपद को ऐसा आनङ् आदेश होता है।

२३. पाणिनीय व्याकरण में ऐसे रूपों को एकशेष कहते हैं, यद्यपि इन्हें समास तो नहीं माना जा सकता। पाणिनि के निम्नलिखित सूत्र इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं— पा० १, २, ६४-७३; विशेषतः— १,२,६८.७०.७१— भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्। पिता मात्रा। श्वशुरः श्वश्र्वा ॥

पञ्चमोऽध्यायः

" 'ये यजामहे' से प्रारम्भ होने वाले मन्त्र"; मुाम्पश्य-(अ०) "एक पौदे का नाम (प्रिय के प्रेम को पाने की इच्छुक स्त्री 'माम्पश्य' 'मुझे देखो' कह कर इस पौदे से कुछ आथर्वण कर्म करती है)।"

टिप्पणियां

१. ऋ० प्रा० ९,१-२४.२७.४६; तै० प्रा० ३,१-७; वा० प्रा० ३,९८.१०२.१०३.१०५.१०६; अ० प्रा० ३,१-३.९-१२ २३-२४; पा० ६,३,११४-१३१।

२. पा० ६,३,१०९—पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ॥

३. ऋ० १०,७१,७ में आने वाले आदघ्नासः के व्याख्यान में सायण आ को आस्य का आदेश मानते हुए कहता है—"आस्यशब्दस्य पृषोदरादित्वादाकारादेशः।" परन्तु पाश्चात्य विद्वान् इस में आस् तथा दघ्न का समास मानते हैं; दे० WZR., s. v.; MWD., s. v.; Alt. Gr. III, p. 57; Ved. Gr., p. 146; Gr. Lg. Ved., pp. 105, 116; अनु० १२२ख।

४. पा० ६, ३, ५७-६०—उदकस्योदः संज्ञायाम् । पेषंवासवाहनधिषु च । एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् । मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च ॥ पाणिनि उदक के स्थान पर उद (अकारान्त) आदेश करता है। परन्तु उदन् प्रातिपदिक के रूपों के लिये देखिये अनु० १३०ग।

५. अनेक पाश्चात्य विद्वान् मुहा, महि, मह् तथा महत् को पृथक् प्रातिपदिक मानते हैं और ऋ० २,२२,१;२,२४,११; तथा ३,४९,१ के मुहाम् पद को सायण के अनुसार ही महान्तम् के अर्थ में अर्थात् महा का द्विती० ए० मानते हैं; दे० MWD., s. v.; Skt. Gr., p.128; Ved. Gr., p. 146 f. n. 9; Alt. Gr. II, 1, p. 58; WZR., s. v.

परन्तु पाणिनि ६, ३, ४६ "आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः" के अनुसार, समानाधिकरण उत्तरपद से पूर्व महत् को महा आदेश हो जाता है।

६. Alt. Gr. II, I, pp. 73 ff.; Ved. Gr. p., 148; Gr., Lg. Ved., p. 118.

७. पा० ६,३,७८-८२—सहस्य सः संज्ञायाम्। ग्रन्थान्ताधिके च। द्वितीये चानुपाख्ये। अव्ययीभावे चाकाले। वोपसर्जनस्य॥ पा० ६,३,७८ पर काशि० "सादेश उदात्तो निपात्यते।"

८. पा० ६, ३, ८४-८९—समानस्य छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु। ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु। चरणे ब्रह्मचारिणि। तीर्थे ये। विभाषोदरे। दृग्दृशवतुषु॥

९. पा० २,१,६;२,१,२०; तथा २,१,४९ पर महाभाष्य—"इह कश्चित्समासः पूर्वपदार्थप्रधानः। कश्चिदुत्तरपदार्थप्रधानः। कश्चिदन्यपदार्थप्रधानः। कश्चिदुभयपदार्थप्रधानः। पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः। उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः। अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः। उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः।" पा० २,१,६ के महाभाष्य के व्याख्यान में कैयट कहता है—"अन्यतमप्राधान्यसम्भवे अन्वर्थसंज्ञाविज्ञानात् पूर्वपदार्थप्राधान्य एवाव्ययीभावसंज्ञा भवति। वचनसामर्थ्यात्तु पूर्वपदार्थप्राधान्यासम्भवेऽपि सूपप्रति उन्मत्तगङ्गमित्यादौ प्रवर्तत एव।"

पा० १,२,५७ पर काशि०—"अन्यदप्येवंजातीयकमशिष्यमिति। तथा च पूर्वाचार्याः परिभाषन्ते मत्वर्थे बहुव्रीहिः, पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्व इत्येवमादि, तदशिष्यमिति।" कात्यायन ने समास के चार भेद माने हैं। अतएव वा० प्रा० १,२७ में कहा गया है— "तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शब्दमयम्।"

वा० प्रा० ५,१ के भाष्य में उवट समास की परिभाषा तथा समास-भेद का विवेचन करते हुए कहता है— "द्वयोः पदयोर्बहूनां वा परस्पराकांक्षया सम्बद्धानां यत्र द्वित्र्यादिपदसमूहोच्चारणं स समासः। स च समासश्चतुःप्रकारो भवति। यथाव्ययीभावतत्पुरुषद्वन्द्वबहुव्रीहयः। तत्र पूर्वपद-

२४. ऋ० १०,१४,८ के इष्टापूर्तेन का व्याख्यान ग्रासमैन ने "इच्छाओं की पूर्ति या आनन्द के साथ" और सायण ने "श्रौतस्मार्तदानफलेन" किया है। वा० सं० १८,६० पर महीधर ने "श्रौतस्मार्तकर्मफले" व्याख्यान किया है।

२५. Alt. Gr. II, I, p. 160, Ved. Gr., p. 158; Ved. Gr. Stu., p. 270 f.n. 2 (इस ग्रन्थ में मैक्डानल समास के दोनों पदों में द्वि० रूप मानता है, परन्तु यह मत Ved. Gr. में दिये गए स्वयं अपने मत तथा वाकरनागल के मत के विरुद्ध है); Gr. Lg. Ved., p. 125.

२६. पा० २,४,१४ "न दधिपयआदीनि" में समाहार-द्वन्द्व का निषेध करके "इध्माबर्हिषी" रूप दिया है।

२७. पा० २,४,२-१३ ॥

२८. पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, यह द्वन्द्व समास है; दे० Alt. Gr., II. I, p. 161; Ved. Gr., p. 158; Ved. Gr. Stu., p. 270; Skt. Gr., p. 486; Skt. Lg., p. 217. परन्तु पा० २,१,६० "क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्" और इस पर काशि० तथा सि० कौ० के अनुसार, यह तत्पुरुष समास है।

२९. पा० २,२,३२-३४ द्वन्द्वे घि। अजाद्यदन्तम्। अल्पाच्तरम् ॥

३०. पा० ५,४,७७। ५,४,१०६- द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे ॥

३१. पा० २,१,२४- द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः। इस पर वार्तिक— श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसंख्यानम्। दे० पा० २, १, २७-२९. वाकरनागल (Alt. Gr. II, I. p. 199) पृश्नि-निप्रेषितासः (ऋ० ७,१८,१०) "पृथिवी में भेजे गये" में द्वितीयासमास मानता है; दे० Ved. Gr., p. 164 f. n.3. परन्तु सायण इस में तृतीयासमास मानता है— "मात्रा···प्रहिताः।"

३२. पा० २,१,३०-३५ ॥

३३. पा० २,१,३६—चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ॥

३४. ग्रासमैन प्रभृति पाश्चात्य विद्वान् मनुर्हितम् को कतिपय प्रयोगों में चतुर्थी-समास और अन्य ऋग्वैदिक प्रयोगों में तृतीया-समास मानते हैं; दे० WZR., s. v.; MWD., s. v.; Alt. Gr. II, I, p. 199; सायण अधिकतर प्रयोगों में इसे तृतीयासमास मानता है, परन्तु कहीं-कहीं भिन्न अर्थ भी करता है; यथा ऋ० १,१०६,५ पर— "यद्वा मनुष्याणामनुकूलम्"; ऋ० ६,७०,२ पर— "मनुष्येभ्यो हितम्।"

३५. पा० २,१,३७-३९—पञ्चमी भयेन । अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः । स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन ॥ पा० २,१,३७ पर वार्तिक—भयभीत-भीतिभीभिरिति वाच्यम् । २,१,३९ पर वार्तिक (काशि०) शतसहस्रौ परेणेति वक्तव्यम् ॥ यथा— पुरःशत–, पुरःसहस्र–।

३६. पा० २,२,८-९—षष्ठी । याजकादिभिश्च ॥ २,२,८ पर वार्तिक— "कृद्योगा च षष्ठी समस्यत इति वाच्यम्।"

३७. पा० २,१,४०-४८ ॥

३८. मैक्डानल (Ved. Gr., p. 166) के अनुसार, ऋ० के युवादत्त–, युवानीत–, युष्मादत्त– तथा युष्मानीत– के पूर्वपद में तृतीया का रूप है, परन्तु इन शब्दों का ऐसा कोई स्वतन्त्र रूप तृतीया विभक्ति में नहीं मिलता है।

३९. पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार इस समास में शुनः पद बहुवचन का अर्थ देता है और इषितम् का अर्थ "खींचा गया" है; दे० WZR., s. v.; MWD., s. v.; Ved. Gr., p. 166; Ved. Gr. Stu., p. 273 f. n. 1.

४०. पा० ६,३,२१ पर वार्तिक ४—शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः संज्ञायामुपसंख्यानम् । वार्तिक ५—दिवश्च दासे (महाभाष्य) ॥

४१. पा० ८,३,९५—गवियुधिभ्यां स्थिरः ॥

४२. पा० २,२,१-२— पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे । अर्धं नपुंसकम् ॥ दे० पा० २,२.३ ॥ पा० २,२,१ पर काशि०—"संख्याविसायपूर्वस्याह्नस्येति (६,३,११०) ज्ञापकात् सर्वेणैकदेशशब्देनाह्नः समासो भवति।"; सि०

कौ०—"सर्वोऽप्येकदेशोऽह्ना समस्यते । 'संख्याविसाय—' इति ज्ञापकात्। मध्याह्नः । सायाह्नः। केचित्तु सर्व एकदेशः कालेन समस्यते न त्वह्नैव । ज्ञापकस्य सामान्यपेक्षत्वात्। तेन मध्यरात्रः, उपारताः पश्चिमरात्रगोचरा इत्यादि सिद्धमित्याहुः ॥"

४३. पा० ३,१,९२—तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ॥ २,२,१९—उपपदमतिङ् ॥ ६,२,१३९—गतिकारकोपपदात् कृत् ॥

४४. पा० ३,२,५८-६४.६७-६९.७१-७३. ७६-७७.८७-९२ ॥

४५. पा० ३,२,८४.९०.९१ के अनुसार, <u>सोम</u>सुत् तथा <u>अग्नि</u>चित् में क्विप् प्रत्यय भूतकाल के अर्थ में आता है ।

४६. पा० ३,२,१-२२.४८-५०.५२-५५.६०.७०.७७.९७-१०१ ॥

४६क. पा० ३,२,१ पर वार्तिक (काशि०)—"शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम्" से ण प्रत्यय और पा० ६,३,१४—"तत्पुरुषे कृति बहुलम्" से विभक्ति का अलुक् । सायण इस में पा० ३,२,१ से अण् प्रत्यय मानता है। पाश्चात्य विद्वान् इस में तथा पतिकामा में बहुव्रीहि मानते हैं; दे० Ved. Gr., p. 172; Ved. Gr. Stu., p. 277; Skt. Gr. p. 503; Alt. Gr., II, I, p. 277; Gr. Lg. Ved., p. 135. पा० ३,२,१ पर महाभाष्य में यह विचार किया गया है कि ऐसे समासों को बहुव्रीहि भी माना जा सकता है; यथा—"भवति बहुव्रीहिरपि मांसे कामोऽस्य मांसकामः ।"

४७. पा० ३,२,२४-२७ ॥

४८. पा० ३,२,५१.७८-८६ ॥ ३,२,७८ पर वार्तिक—"ब्रह्मणि वदः ।"

४९. पा० ३,१,१०६-१२३ ॥

५०. पा० ३,२,९४-९६ ॥

५१. Alt. Gr., II, I, pp. 201 ff.; Ved. Gr., pp. 164-65; Ved. Gr. Stu., p. 272; Skt. Gr., pp. 491 ff.

५२. पा० ३,२,२८-३७ (खश्); ३८-४७ (खच्); ८३ (खश्) । ६,२, ६७ (मुम्); ६८ (अम्); ६९ ॥

५३. इस सम्बन्ध में पा० ३,२,२१ पर काशि० का मत है—"दिवाशब्दोऽधिकरणवचनः सुपीत्यस्य विशेषणम्।" इस सूत्र पर सि० कौ० पर तत्वबोधिनी कहती है—"दिवा दिवसं करोतीति विग्रहः।" और बालमनोरमाटीका का प्रणेता कहता है—"दिवेत्याकारान्तमव्ययमहीत्यर्थे। तस्याधिकरणशक्तिप्रधानस्यापि वृत्तिविषये कर्मत्वं बोध्यम्।"

५४. पा० १,२,४२; २,१,४९-५१.५७.५८.६१ ॥

५५. पा० २,१,५५-५६ ॥

५६. दे० सायणभाष्य; WZR., s. v.; Whitney, AV.; MWD., s. v.; Alt. Gr., II, I, p. 252; Ved. Gr., p. 169; Ved. Gr. Stu., p. 274.

५७. पा० २,१,५२—संख्यापूर्वो द्विगुः ॥

५८. पा० २,४,१—द्विगुरेकवचनम् ॥ समाहारद्वन्द्व के लिये, दे० पा० २, १, ५१ ॥

५९. Skt. Gr., p. 505; Alt.Gr. II, I, pp. 305-306; Ved. Gr.,p.174; Ved. Gr. Stu.,p. 278; Gr. Lg. Ved., p. 135.

६०. कतिपय आचार्य नञ् के निम्नलिखित छः अर्थ मानते हैं—

"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः॥"

६१. पा० २,२,६—नञ् ॥

६२. पा० ६,३,७३—नलोपो नञः। इस पर वार्तिक—नञो नलोपस्तिङि क्षेपे ॥ ७४—तस्मान्नुडचि ॥

६३. पा० ६, ३, ७५-७७— नभ्राट्-नपात्-नवेदा-नासत्या-नमुचि-नकुल-नख-नपुंसक-नक्षत्र-नक्र-नाकेषु प्रकृत्या। एकादिश्चैकस्य चादुक्। नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम् ॥

अनेक पाश्चात्य विद्वान् पाणिनि के मत को पूर्णतया स्वीकार नहीं करते हैं और उन के मतानुसार—नपात्, नवेदस्(क), नासत्या, नकुल,नख तथा

इत्यादि शब्दों में नञ्समास का न नहीं है; दे० SPW., s. v.; WZR., s. v.; MWD., s. v.

पा० ६,३,७६ के लिये, दे० अनु० १५३ और चतुर्थ अध्याय की टि० २३२क।

६४. पा० २, २, १८—कुगतिप्रादयः ॥ पा० १,४,५८-६० के अनुसार, प्र इत्यादि निपात क्रियावाचक शब्दों के योग में उपसर्ग तथा गति-संज्ञक कहलाते हैं, परन्तु पा० १,४,६१-७९ में परिगणित शब्द केवल गति-संज्ञक हैं।

६५. पा० २,२,१८ पर महाभाष्य में सौनागवार्तिक १-६—स्वती पूजायाम्। दुर्निन्दायाम्। आङीषदर्थे। कुः पापार्थे। प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया। अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया॥

६६. पा० २,२,१८ पर महाभाष्य में वार्तिक ६—इवेन विभक्त्यलोपः पूर्वपद-प्रकृतिस्वरत्वं च॥

६७. पा० २,२,१८ पर महाभाष्य में वार्तिक ७—अव्ययमव्ययेन॥ पा० ८, १,६—"प्रसमुपोदः पादपूरणे" पादपूर्ति के लिये इन अव्ययों का द्विरुक्त मानता है।

६८. पा० २,२,१८ पर महाभाष्य में वार्तिक ८—उदात्तगतिमता च तिङा॥ इस पर भाष्य—"उदात्तवता तिङा गतिमता च तिङाऽव्ययं समस्यत इति वक्तव्यम्।" दे० अ० प्रा० ४,१-२ (तृतीय अध्याय टि० २४)।

६९. पा० ५,४,८६—तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः॥

७०. पा० ५,४,८७—अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः॥

७१. पा० ५,४,८८—अह्नोऽह्न एतेभ्यः॥

७२. पा० ५,४,८९-९१—न संख्यादेः समाहारे। उत्तमैकाभ्यां च। राजाहस्सखिभ्यष्टच्॥

७३. कतिपय विद्वान् इसे बहुव्रीहि समास मानते हैं; दे० Ved. Gr., p. 154; Ved. Gr. Stu., p. 279; Alt. Gr., II, I, p. 119;

नक्षत्र, (ऋ०) MWD., s. v.; परन्तु समास-स्वर के विचार से तत्पुरुष मानना अधिक युक्तियुक्त है।

७४. पा० ५,४,९२—गोरतद्धितलुकि ॥ इस सूत्र के अनुसार तद्धितलुग्विषयक तत्पुरुष में टच् समासान्त प्रत्यय नहीं आता है, यथा पा० ५,१,२८ द्वारा तद्धितप्रत्यय ठक् का लोप होने पर बने पञ्चगुः तथा दशगुः द्विगुसमासों में टच् प्रत्यय नहीं आता है (काशि०)। परन्तु मुझे इन उदाहरणों के वैदिक प्रयोग नहीं मिले हैं।

७५. पा० ५,४,७७-८६.९३-९७.१०३-१०५ ॥

७६. पा० २,२,२४—अनेकमन्यपदार्थे ॥

७७. पा० २,१,४९ पर काशि०—भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तस्य शब्दस्यैकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम् ॥

७८. पा० २,२,३५-३६—सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ। निष्ठा ॥

७९. पा० २,२,३७—वाऽऽहिताग्न्यादिषु ॥ पा० २,२,३६ पर वार्तिक १—निष्ठायाः पूर्वनिपाते जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम् ॥ काशि० तथा सि० कौ० पा० २,२,३७ के 'आहिताग्न्यादि' को 'आकृतिगण' मानते हैं।

८०. मैक्डानल इसे तत्पुरुष समास मानता है (Ved. Gr., p. 163; Ved. Gr. Stu., p. 271) और Ved. Gr. Stu., p. 271 f. n. 6 में कहता है—"An example of the rare use of a past pass. part. in a transitive sense." परन्तु आश्व० श्रौ० सू० ९, ५,१ के व्याख्यान में नारायण इसे बहुव्रीहि मानते हुए कहता है—"गरो विषम्। गरो गीर्ण (?गीर्णो) येन स गरगीर्णः।" पा० ६,२,१७० के अनुसार, यह बहुव्रीहि समास अन्तोदात्त है।

८१. पा० २,२,२४ के महाभाष्य पर वार्तिक ९—सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च ॥

८२. पा० २,२,२४ पर वार्तिक (सि० कौ०)—प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः ॥

८३. पा० २,२,२४ पर वार्तिक (सि० कौ०)—अव्ययानां च ॥

पञ्चमोऽध्यायः

८४. पा० २,२,२८—तेन सहेति तुल्ययोगे ॥

८५. पा० २,२,२४ पर वार्तिक (सि० कौ०)—नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः ॥

८६. पा० १,२,४८—गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य ॥ पा० के मतानुसार, उपसर्जन-भूत गो शब्द के ओ का ह्रस्व उ बनता है; दे० पा० १,१,४८ ॥ पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, स्वरावस्था-विकृति (Vowel gradation) के कारण ह्रासावस्था में गो का गु और रै का रि बनता है; दे० Ved. Gr.,pp. 151-52; Alt. Gr. II, I, pp. 99-100.

८७. पा० ५,४,११३—बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् ; ५,४,१२१; दे० सक्थि के लिये पा० ५,४,१२० ॥

८८. पा० ५,४,११६ पर वार्तिक २—छन्दसि च नेतुरुपसंख्यानम् ॥ दे० तै० सं० १,८,७,१=वा० सं० ९,३५-३६ ।

८९. पा० ५,४,११७-१२०.

९०. पा० ५,४,१२४—धर्मादनिच् केवलात् ।

९१. पा० ५,४, १३१—ऊधसोऽनङ् ॥ कतिपय पाश्चात्य विद्वान् ऋ० १०, ११५,१ के "अनूधा यदि" में अनूधा "आपीनरहित" पद मानते हैं; दे० Alt. Gr. II, I, p. 99 n.; Ved. Gr., p. 150. परन्तु अन्य विद्वान् पदकार के मत को स्वीकार करते हुए "अनूधाः" पद मानते हैं; दे० WZR., s. v.; MWD., s. v.

पा० ५,४,१२९—प्रसम्भ्यां जानुनोर्ज्ञुः ॥ ज्ञु का कोई स्वतन्त्र रूप नहीं मिलता है ।

९३. पा० ५,४,१३४—जायाया निङ् ॥

९४. पा० ५,४,१४१-१४५ ॥

९५. पा० ५,४,१३२-३३—धनुषश्च । वा संज्ञायाम् ॥

९६. पा० ५,४,१३८-४० ॥ पाश्चात्य विद्वान् पाद् को पद् का सबलाङ्ग (Strong Stem) मानते हैं ।

९७. पा० ५,४,१२२-२३—नित्यमसिच् प्रजामेधयोः । बहुप्रजाश्छन्दसि ॥ पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि प्रजा का प्रजस् रूप केवल अनुकृति के प्रभाव से हुआ है, क्योंकि कोई प्रजस् प्रातिपदिक नहीं मिलता है; दे० Ved. Gr., p. 151.

९८. पा० ६,१,६०—शीर्षंश्छन्दसि ॥

९९. पा० ५,४,१५१-५४ ॥

१००. पा० ५,४,१५८—ऋतश्छन्दसि ॥

१०१. Skt. Gr., pp. 511ff; Ved. Gr., pp. 175ff.; Ved. Gr. Stu., pp. 279-80; Gr.. Lg. Ved., pp. 137 ff.; Alt. Gr. II, I, pp. 308 ff.

१०२. पा० २,१,६-१६ ॥

१०३. पा० १,१,४१;२,४,१८ ॥

१०४. ऋ० १,४,७ के भाष्य में मन्दयत्सखम् का व्याख्यान करते हुए सायण कहता है—" य इन्द्रो मन्दयति यजमानान् हर्षयति तस्मिन्निन्द्रे सखिभूतोऽयं सोमः ।······ । एवं मन्दयच्छब्दोऽन्तोदात्तः । मन्दयतीन्द्रे सखा । 'सप्तमी' (पा० २,१,४०) इति योगविभागात् समासः । 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०' (पा० ६,२,२) इति सप्तमीपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ।" सि० कौ० में पा० ६,२,२ का व्याख्यान करते हुए भट्टोजिदीक्षित भी सायण का अनुकरण करता है और कहता है—"पतयन्मन्दयत्सखम् । मन्दयति मादके इन्द्रे सखेति सप्तमीतत्पुरुषः ।" मैं इस प्रकार के व्याख्यान से सहमत नहीं हूं ।

१०५. वा० प्रा० १,१४६—द्विरुक्तमाम्रेडितं पदम् ॥ दे० वा० प्रा० ५,१८;६,३॥

१०६. पा० ८,१,२-३ तस्य परमाम्रेडितम् ॥ अनुदात्तं च ॥

१०७. पा० ८,१,९-११; दे० टि० १०६ ॥

१०८. पा० २,१,७२—मयूरव्यंसकादयश्च ॥ इस सूत्र पर काशि० कहती है—"अविहितलक्षणस्तत्पुरुषो मयूरव्यंसकादिषु द्रष्टव्यः ;"



पञ्चमोऽध्यायः

षष्ठोऽध्यायः

तद्धित-प्रकरणम्

१९४. नाम, सर्वनाम, संख्यावाचक शब्द तथा अव्ययों से नये शब्द बनाने के लिये जो प्रत्यय जोड़े जाते हैं उन के लिये पाणिनीय व्याकरण में तद्धित संज्ञा का प्रयोग किया जाता है और पाश्चात्य विद्वान् इन्हें गौण-प्रत्यय (Secondary Suffixes) कहते हैं। कतिपय समासों के साथ भी तद्धित प्रत्यय जोड़े जाते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा कल्पसूत्रों की तुलना में संहिताओं की भाषा में तद्धित-प्रत्ययान्त शब्द अल्पतर हैं और विशेषतः ऋ० में अल्पतम हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तद्धित प्रयोगों की प्रवृत्ति क्रमशः संस्कृत में बढ़ती गई है और कालान्तर में कतिपय विद्वान् स्वार्थ में भी (अर्थात् अर्थ-परिवर्तन के बिना भी) तद्धित शब्दों का प्रयोग करने लगे। महाभाष्यकार पतञ्जलि के कथन से प्रतीत होता है कि दाक्षिणात्य विद्वानों को तद्धित प्रयोग अधिक प्रिय था। अतएव पस्पशाह्निक में पतञ्जलि वार्तिककार कात्यायन के सम्बन्ध में कहता है—"प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। 'यथा लोके वेदे च' इति प्रयोक्तव्ये 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इति प्रयुञ्जते।"

तद्धित प्रत्यय अनेक अर्थों में जोड़े जाते हैं; यथा—तुलना, भाव, नित्ययोग, सादृश्य, अपत्यत्व, परिमाण, अनुकम्पा, ह्रस्वत्व, विभक्ति इत्यादि अर्थों को प्रकट करने के लिये तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग होता है, परन्तु सब से अधिक तद्धित-शब्दों में सम्बन्ध को दर्शाने के लिये प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है और उन में मुख्य अर्थ रहता है "उस से सम्बन्धी या उस से सम्बद्ध।" प्रसङ्ग के अनुसार, सम्बन्ध-वाचक अर्थ में साधारण परिवर्तन हो जाता है। हम सर्वप्रथम अन्य अर्थों के वाचक तद्धित प्रत्ययों पर विचार करेंगे और अन्त में सम्बन्ध-वाचक तद्धित-प्रत्ययों पर विचार किया जायगा। पाणिनि के अनुसार, समासान्त प्रत्यय भी तद्धितों में सम्मिलित हैं।

२९५(क) तद्धित प्रत्ययों से होने वाले विकार—तद्धित प्रत्यय जोड़ने से मूल शब्द में जो विकार होते हैं उन का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

वृद्धि—पाणिनीय व्याकरण के अनुसार जिन तद्धित प्रत्ययों में इत् (लुप्त) होने वाला ञ्, ण्, अथवा क् आए, उन प्रत्ययों से पूर्व आने वाले शब्द के आदि अच् को वृद्धि आदेश हो जाता है[१]; यथा—देव+यञ्=दैव्य- (सं०) "देव-सम्बन्धी।"

गुण— यकारादि तद्धित प्रत्यय से पूर्व आने वाले उवर्णान्त शब्द के अन्तिम अच् को गुण हो जाता है[२] और फिर यकारादि प्रत्यय से पूर्व ओ का अव् बन जाता है[३]; यथा—वायु+यत्=वायव्य- (मै० सं०) "वायु-सम्बन्धी"; मधु+यत्=मधव्य- "मधु से युक्त।"

इ तथा अ का लोप—यकारादि तथा अजादि प्रत्यय से पूर्व इवर्णान्त (इ ई) और अवर्णान्त (अ आ) शब्द के अन्तिम अच् का लोप हो जाता है[४]; यथा—देव+यञ्=दैव्य-; पृथिवी+अ=पार्थिव- (सं०) "पृथिवी-सम्बन्धी।"

अन्तिम न् का लोप—कतिपय तद्धित प्रत्ययों से पूर्व नकारान्त शब्द के न् का लोप हो जाता है; यथा—वृषन्+त्व=वृषत्व- "पौरुष।" परन्तु कतिपय तद्धित प्रत्ययों से पूर्व अन्तिम न् का लोप नहीं होता है; यथा—राजन्+यत्=राजन्य- (सं०) "क्षत्रिय।"

(ख) **पाणिनीय प्रत्ययों का वास्तविक रूप**—पाणिनीय व्याकरण में कतिपय तद्धित प्रत्यय साधारण अनुबन्धों के साथ प्रयुक्त किये गये हैं और उन का वास्तविक रूप पहचानना सरल है; यथा—यत्, यञ्, ण्यत् इत्यादि का अनुबन्धरहित रूप केवल य है और अण्, अञ्, ढण्, ण इत्यादि का अनुबन्धरहित रूप केवल अ है। परन्तु कतिपय प्रत्ययों का वास्तविक स्वरूप सर्वथा भिन्न है। ऐसे प्रत्ययों का संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—यु=अन; वु=अक; ख=ईन; घ=इय; छ=ईय; ढ=एय; फ=आयन[५]। साधारणतया ठ=इक, परन्तु जिन शब्दों के अन्त में इस्, उस्, उ, ऋ या त् आए उन से परे ठ का केवल क बनता है[६]। प्रत्ययों के अन्त में जुड़े हुए अनुबन्ध- ण्, ञ्, क्- इत्यादि वृद्धि के

लिये और कुछ स्वर के लिये होते हैं। अतएव उन का लोप हो जाता है।

१९६. **तुलना-वाचक प्रत्यय**—दो वस्तुओं या व्यक्तियों की तुलना में जिस का उत्कर्ष दिखलाया जाय उस के विशेषण के साथ **'तर'** (पा० तरप्) या **'ईयस्'** (पा० ईयसुन्) प्रत्यय जोड़ा जाता है[७]; और दो से अधिक की तुलना में जिस को सब से उत्कृष्ट बतलाया जाय उस के विशेषण के साथ **'तम'** (पा० तमप्) या इष्ठ (पा० इष्ठन्) प्रत्यय जोड़ा जाता है[७क]। **तर, तम** तथा इष्ठ प्रत्यय वाले तद्धित शब्दों के रूप पुं० तथा नपुं० में अकारान्त प्रातिपदिकों की भांति बनते हैं और आ प्रत्यय जोड़ने से स्त्री० रूप बनता है। ईयस्- प्रत्ययान्त के रूप -यस् अन्त वाले प्रातिपदिकों (अनु० १२८) के समान बनते हैं और इस से स्त्री० बनाने के लिये ई प्रत्यय जोड़ा जाता है।

(क) **ईयस् तथा इष्ठ**—ये दोनों प्रत्यय प्रायेण विशेषणों के साथ जोड़े जाते हैं[७ख]; परन्तु वैदिक भाषा में कतिपय ऋकारान्त प्रातिपदिकों के साथ भी इन का प्रयोग मिलता है[८]; यथा—कर्तृ+इष्ठ=करिष्ठ- (ऋ०) "सब से अधिक करने वाला।" पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ये दोनों प्रत्यय सीधे धातु के साथ जोड़े जाते हैं और धातु के अच् पर उदात्त रहता है[९]; यथा— √तिज् "तेज करना" से तेजीयस् "अधिक तेज" और तेजिष्ठ "सब से अधिक तेज"; √जू "शीघ्र जाना" से जवीयस् "अधिक शीघ्रगामी" और जविष्ठ "सब से अधिक शीघ्रगामी"; √यज् "यज्ञ करना" से, यजीयस् "अधिक अच्छा यज्ञ करने वाला" और यजिष्ठ "सब से अच्छा यज्ञ करने वाला।" पाणिनि के मतानुसार ईयस् तथा इष्ठ प्रत्ययों से पूर्व, प्रशस्य का श्र तथा ज्य, वृद्ध का भी ज्य, अन्तिक "समीप" का नेद, दाढ "दृढ" का साध, और युवन् तथा अल्प का कन् बन जाता है[१०]; यथा–श्रेष्ठ "सब से अच्छा"; ज्येष्ठ "आयु में सब से बड़ा"; नेदीयस् "समीपतर", नेदिष्ठ "समीपतम"; साधिष्ठ "सब से अधिक सीधा या अच्छा"; कनिष्ठ (तै० सं०) "सब से छोटा"; कनिष्ठ "आयु में सब से छोटा"; कनीयस् "दूसरे से न्यूनतर या आयु में छोटा।"

पाश्चात्य विद्वान् ज्येष्ठ इत्यादि को √ज्या से, कनिष्ठ इत्यादि को √कन् से, तथा साधिष्ठ इत्यादि को √साध् से बना हुआ मानते हैं। इन के अतिरिक्त युवन् से यविष्ठ "सब से अधिक जवान" और वृद्ध से वर्षीयस् "अधिक बड़ा" तथा वर्षिष्ठ "सब से बड़ा" तद्धितान्त शब्द भी बनते हैं (टि० ११ तथा १२)।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार ईयस् तथा इष्ठ प्रत्यय से पूर्व स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र तथा क्षुद्र के अन्तिम अन्तःस्था से प्रारम्भ करके उस से परे आने वाले वर्णों का लोप हो जाता है और इन शब्दों के अच् को गुण हो जाता है[11]; यथा—स्थविष्ठ (तै० सं०); दवीयस्, दविष्ठ; यविष्ठ; ह्रसीयस् (शत० ब्रा०), ह्रसिष्ठ; (शत० ब्रा०); क्षेपीयस् (शत० ब्रा०), क्षेपिष्ठ (तै० सं०); क्षोदिष्ठ (मै० सं०)। और पाणिनि के अनुसार, प्रिय का प्र, स्थिर का स्थ, उरु का वर्, वृद्ध का वर्षि, तथा दीर्घ का द्राघि बन जाता है[12]; यथा—प्रेयस्, प्रेष्ठ; स्थेयस् (तै० सं०); वरीयस्, वरिष्ठ; वर्षीयस्, वर्षिष्ठ; द्राघीयस्, द्राघिष्ठ। ईयस् तथा इष्ठ से पूर्व शब्द के अन्तिम अच् तथा उस से परे आने वाले व्यञ्जनों का भी लोप हो जाता है[13]; यथा—वसु "अच्छा, धनी, प्रकाशमान" से वसीयस् (तै० सं०, ब्रा०), वसिष्ठ; अणु "सूक्ष्म" से अणीयस्, अणिष्ठ; लघु "छोटा" से लघीयस्; आशु "शीघ्र" से आशीयस् (ऋ०), आशिष्ठ (ऋ०); स्वादु "मज़ेदार" से स्वादीयस्, स्वादिष्ठ; नव "नया" से नवीयस्, नविष्ठ; ब्रह्मन् से ब्रह्मिष्ठ (तै० सं०) "सब से अच्छा ब्राह्मण"; धर्मन् से धर्मिष्ठ (तै० आ०) "सब से अच्छा धर्म।" पाणिनि के मतानुसार, ईयस् तथा इष्ठ से पूर्व आने वाले हलादि शब्द के लघु ऋ का र और विकल्प से ऋजु "सरल" के ऋ का भी र बनता है[14]; यथा—पृथु "विशाल" से प्रथीयस् (शत० ब्रा०), प्रथिष्ठ (ऋ०, शत० ब्रा०); रजिष्ठ (ऋ०) तथा ऋजिष्ठ (पा०)। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, √प्रथ् इत्यादि धातुओं के साथ प्रत्यय जोड़ कर ऐसे रूप बनाये जाते हैं।

कतिपय शब्दों में तुलनावाचक ईयस् प्रत्यय के स्थान पर यस्

लिये और कुछ स्वर के लिये होते हैं। अतएव उन का लोप हो जाता है।

१९६. **तुलना-वाचक प्रत्यय**—दो वस्तुओं या व्यक्तियों की तुलना में जिस का उत्कर्ष दिखलाया जाय उस के विशेषण के साथ 'तर' (पा० तरप्) या 'ईयस्' (पा० ईयसुन्) प्रत्यय जोड़ा जाता है[७]; और दो से अधिक की तुलना में जिस को सब से उत्कृष्ट बतलाया जाय उस के विशेषण के साथ 'तम' (पा० तमप्) या इष्ठ (पा० इष्ठन्) प्रत्यय जोड़ा जाता है[७क]। तर, तम तथा इष्ठ प्रत्यय वाले तद्धित शब्दों के रूप पुं० तथा नपुं० में अकारान्त प्रातिपदिकों की भांति बनते हैं और आ प्रत्यय जोड़ने से स्त्री० रूप बनता है। ईयस्- प्रत्ययान्त के रूप -यस् अन्त वाले प्रातिपदिकों (अनु० १२८) के समान बनते हैं और इस से स्त्री० बनाने के लिये ई प्रत्यय जोड़ा जाता है।

(क) **ईयस् तथा इष्ठ**—ये दोनों प्रत्यय प्रायेण विशेषणों के साथ जोड़े जाते हैं[७ख]; परन्तु वैदिक भाषा में कतिपय ऋकारान्त प्रातिपदिकों के साथ भी इन का प्रयोग मिलता है[८]; यथा—कर्तृ+इष्ठ=करिष्ठ- (ऋ०) "सब से अधिक करने वाला।" पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ये दोनों प्रत्यय सीधे धातु के साथ जोड़े जाते हैं और धातु के अच् पर उदात्त रहता है[९]; यथा— √तिज् "तेज करना" से तेजीयस् "अधिक तेज" और तेजिष्ठ "सब से अधिक तेज"; √जू "शीघ्र जाना" से जवीयस् "अधिक शीघ्रगामी" और जविष्ठ "सब से अधिक शीघ्रगामी"; √यज् "यज्ञ करना" से, यजीयस् "अधिक अच्छा यज्ञ करने वाला" और यजिष्ठ "सब से अच्छा यज्ञ करने वाला।" पाणिनि के मतानुसार ईयस् तथा इष्ठ प्रत्ययों से पूर्व, प्रशस्य का श्र तथा ज्य, वृद्ध का भी ज्य, अन्तिक "समीप" का नेद, बाढ "दृढ" का साध, और युवन् तथा अल्प का कन् बन जाता है[१०]; यथा—श्रेष्ठ "सब से अच्छा"; ज्येष्ठ "आयु में सब से बड़ा"; नेदीयस् "समीपतर", नेदिष्ठ "समीपतम"; साधिष्ठ "सब से अधिक सीधा या अच्छा"; कनिष्ठ (तै० सं०) "सब से छोटा"; कनिष्ठ "आयु में सब से छोटा"; कनीयस् "दूसरे से न्यूनतर या आयु में छोटा।"

पाश्चात्य विद्वान् ज्येष्ठ इत्यादि को √ज्या से, कनिष्ठ इत्यादि को √कन् से, तथा साधिष्ठ इत्यादि को √साध् से बना हुआ मानते हैं। इन के अतिरिक्त युवन् से यविष्ठ "सब से अधिक जवान" और वृद्ध से वर्षीयस् "अधिक बड़ा" तथा वर्षिष्ठ "सब से बड़ा" तद्धितान्त शब्द भी बनते हैं (टि० ११ तथा १२)।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार ईयस् तथा इष्ठ प्रत्यय से पूर्व स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र तथा क्षुद्र के अन्तिम अन्तःस्था से प्रारम्भ करके उस से परे आने वाले वर्णों का लोप हो जाता है और इन शब्दों के अच् को गुण हो जाता है[११]; यथा—स्थविष्ठ (तै० सं०); दवीयस्, दविष्ठ; यविष्ठ; ह्रसीयस् (शत० ब्रा०), ह्रसिष्ठ; (शत० ब्रा०); क्षेपीयस् (शत० ब्रा०), क्षेपिष्ठ (तै० सं०); क्षोदिष्ठ (मै० सं०)। और पाणिनि के अनुसार, प्रिय का प्र, स्थिर का स्थ, उरु का वर्, वृद्ध का वर्षि, तथा दीर्घ का द्राघि बन जाता है[१२]; यथा—प्रेयस्, प्रेष्ठ; स्थेयस् (तै० सं०); वरीयस्, वरिष्ठ; वर्षीयस्, वर्षिष्ठ; द्राघीयस्, द्राघिष्ठ। ईयस् तथा इष्ठ से पूर्व शब्द के अन्तिम अच् तथा उस से परे आने वाले व्यञ्जनों का भी लोप हो जाता है[१३]; यथा—वसु "अच्छा, धनी, प्रकाशमान" से वसीयस् (तै० सं०, ब्रा०), वसिष्ठ; अणु "सूक्ष्म" से अणीयस्, अणिष्ठ; लघु "छोटा" से लघीयस्; आशु "शीघ्र" से आशीयस् (ऋ०), आशिष्ठ (ऋ०); स्वादु "मज़ेदार" से स्वादीयस्, स्वादिष्ठ; नव "नया" से नवीयस्, नविष्ठ; ब्रह्मन् से ब्रह्मिष्ठ (तै० सं०) "सब से अच्छा ब्राह्मण"; धर्मन् से धर्मिष्ठ (तै० आ०) "सब से अच्छा धर्म।" पाणिनि के मतानुसार, ईयस् तथा इष्ठ से पूर्व आने वाले हलादि शब्द के लघु ऋ का र और विकल्प से ऋजु "सरल" के ऋ का भी र बनता है[१४]; यथा—पृथु "विशाल" से प्रथीयस् (शत० ब्रा०), प्रथिष्ठ (ऋ०, शत० ब्रा०); रजिष्ठ (ऋ०) तथा ऋजिष्ठ (पा०)। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, √प्रथ् इत्यादि धातुओं के साथ प्रत्यय जोड़ कर ऐसे रूप बनाये जाते हैं।

कतिपय शब्दों में तुलनावाचक ईयस् प्रत्यय के स्थान पर यस्

प्रत्यय मिलता है; यथा—भूयस् "अधिकतर"[१५]; ज्यायस् "अधिक बड़ा"[१६]; नव्यस् "अधिक नया"; तव्यस् "अधिक बलवान्"; पन्यस् "अधिक आश्चर्यमय"; रभ्यस् "अधिक साहसी"; सह्यस् "अधिक बलवान्"[१७]।

(ख) **तर तथा तम** प्रत्यय—इन तुलनावाचक प्रत्ययों का प्रयोग वैदिक-भाषा में उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। इन का प्रयोग नाम, विशेषण तथा अव्ययों के साथ भी मिलता है; यथा—रथी "रथ का सवार" से रथीतर (ऋ०), रथीतम (ऋ०)[१७क]; वह्नि "ले जाने वाला" से वह्नितम (ऋ०, वा० सं०); प्रियतर "अधिक प्रिय"; तवस्तर "अधिक बलवान्"; वपुष्टर "अधिक आश्चर्यजनक"; भगवत्तर "अधिक भाग्यशाली"; वृत्रतर (ऋ०) "अधिक बुरा वृत्र"; विदुष्टर "अधिक विद्वान्"; मीळ्हुष्टम "अधिक दयालु"; मातृतमा (ऋ०) "सब से अच्छी माता (हित-कारिणी)"; उद् अव्यय से उत्तर "अधिक ऊँचा"; तथा उत्तम "सब से अधिक ऊँचा"। तर तथा तम से पूर्व प्रातिपदिकों के अन्तिम न् का लोप नहीं होता है और कतिपय अजन्त प्रातिपदिकों के पश्चात् न् का आगम होता है[१८]; यथा—मदिन् "आनन्दकारक" से मदिन्तर; वृषन् "पौरुष-युक्त" से वृषन्तम; मधु से मधुन्तम; सुरभि "सुगन्ध" से सुरभिन्तर; रयिन् "धनी" से रयिन्तम। समासों के साथ भी इन प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है; यथा—रत्नधा "रत्न देने वाला" से रत्नधातमः (ऋ०); पूर्भिद् "दुर्गों का भेदन करने वाला" से पूर्भित्तम। इष्ठप्रत्ययान्त शब्द के साथ भी तम का प्रयोग मिलता है[१८क]; यथा—श्रेष्ठतम (ऋ०, शत० ब्रा०); ज्येष्ठतम (ऋ०)।

१९७. **भाव-वाचक तथा कर्म-वाचक प्रत्यय**—भाव को प्रकट करने के लिये निम्नलिखित प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है—

त्व[१९]— अमृतत्वम् "अमरपन"; मघवत्वम् "दान-शीलता"; भ्रातृत्वम् "भाई-पना।" त्वान्त शब्द नपुं० में प्रयुक्त होते हैं।

ता (पा० तल् टि० १९)—बन्धुता "रिश्तेदारी"; वसुता "अच्छापन या

धनवत्ता"; पुरुषता "पुरुषपन"। ता- प्रत्ययान्त शब्द का प्रयोग केवल स्त्री० में होता है।

इमन् (पा० इमनिच्)[20]—पृथु से प्रथिमन् "विशालता"; स्वादु से स्वादिमन् (का० श्रौ० सू०) "स्वादुपन"।

य (पा० ष्यञ्, यत्, य, यक्)[21]—ब्राह्मण्यम् (शत० ब्रा०) "ब्राह्मणपन"; स्तेन से स्तेयम् (सं० इत्यादि) "चोरी"; सख्यम् "मित्रता"; गार्हपत्यम् (सं० इत्यादि) "गृहस्थ"।

अ (पा० अञ्, अण्)[22]—अध्वर्यु से आध्वर्यवम् (ऋ०, वा० सं०, शत० ब्रा०) "अध्वर्युपन"; युवन् से यौवनम् "जवानी"; स्थाविरम् (ला० श्रौ० सू०) "बुढापा"।

उपर्युक्त प्रत्यय अनेक शब्दों के साथ जुड़ कर कर्म का बोध भी कराते हैं[23]; यथा—उपर्युक्त उदाहरणों में ब्राह्मण्यम् का अर्थ "ब्राह्मण का कर्म" भी है। सख्यम् का अर्थ "मित्रता या मित्र का कर्म"; और आध्वर्यवम् का अर्थ "अध्वर्युपन या अध्वर्यु का कर्म" भी है। स्तेयम् "चोरी" इत्यादि में कर्म का अर्थ ही प्रधान है।

१९८. **"युक्त" (वाला) अर्थ में मतुबादि प्रत्यय**—जब किसी व्यक्ति के पास या अधिकार में किसी वस्तु का होना प्रकट किया जाता है, तब उस वस्तु के वाचक शब्द के साथ मतुप् इत्यादि प्रत्यय जोड़े जाते हैं और श्लोकवार्तिक के अनुसार ये प्रत्यय—बहुत्व, निन्दा, प्रशंसा, नित्ययोग, अतिशायन (बहुत आधिक्य या श्रेष्ठता), तथा संसर्ग (सम्बन्ध) के अर्थों में प्रयुक्त होते हैं[24]; यथा—गोमत् "गायों वाला"। ये प्रत्यय मत्, वत्, ल, इल, वल, श, न, इन्, इर, ई, वन्, विन्, र, युस तथा ग्मिन् हैं।

मत् (पा० मतुप् टि० २४)—गोमत् "गायों वाला"; अशनिमत् "वज्र वाला"; क्रतुमत् "बौद्धिक शक्ति वाला"।

वत् (पा० वतुप्)[25]—अश्ववत् तथा अश्वावत् (पपा० अश्वऽवत्) "घोड़ों वाला"; सखिवत् "मित्र से युक्त", पयस्वत् "दूध से सम्पन्न"; मघवत् "दानशील"।

ल (पा० लच्)[26]—जीव-ल- (अ०) "जीवन-युक्त"; बहु-ल- "बहुल वाला"; मधुल- (ऋ०) "माधुर्य वाला"; पांसुल- (शत० ब्रा०) "धूलियुक्त"।

इल (पा० इलच्)[27]— तुन्द "तोंद" से तुन्दिल (गृ० सू०)।

वल (पा० वलच्)[28]—रजस् "धूलि" से रजस्वला (गृ० सू०) "ऋतुमती स्त्री"; दन्तावल (गो० ब्रा०) व्यक्तिविशेष का नाम"।

श[29]-रोमन् तथा लोमन् से रोमश- (ऋ० इत्यादि) "रोमयुक्त"; लोमश- (तै० ब्रा०) "रोम-युक्त"।

न (टि० २९)—पामन् से पामन- (शत० ब्रा०) "पामन् (खुजली) रोग से ग्रस्त"; श्लेष्मन् "कफ" से श्लेष्मण (शत० ब्रा०) "कफ वाला"; सामन् से सामन- (ऋ०) "शान्तियुक्त"।

इन् (पा० इनि)[30]—अश्व से अश्विन् "घोड़े वाला"; मनीषा से मनीषिन् "बुद्धिमान्"; सहस्रिन् (ऋ०) "सहस्र वाला"; माया से मायिन् (सं०) "कपटी"।

इर (वार्तिक इरन्, इरच्)[30क]—मेधा से मेधिर- (ऋ०) 'बुद्धिमान्"; रथ से रथिर- (ऋ०) "रथ वाला, शीघ्रगामी"।

ई[30ख]—रथ से रथीः प्रथ० ए० (ऋ०, ऐ० ब्रा०) "रथ वाला"। सुमङ्गलीः प्रथ० ए० (ऋ०, अ०) "कल्याणवाली"।

वन् (वार्तिक-वनिप्)[30ख]— मघ से मघवानम् द्वितीय० ए० (ऋ०) "दानयुक्त इन्द्र को"; ऋत से ऋतावानम् द्विती० ए० (ऋ०, अ०) "ऋत का पालन करने वाले को"।

विन् (पा० विनि)[31]—यशस् से यशस्विन् (अ०) "यश वाला"; तपस् से तपस्विन् (तै० सं०) "तपस्या करने वाला"; मेधा से मेधाविन् (अ० इत्यादि) "मेधा वाला"; अष्ट्रा "अङ्कुश" से अष्ट्राविन् (ऋ०) "अङ्कुश के संकेत पर चलने वाला"।

र[32]— पांसु से पांसुर- (ऋ०) "धूलियुक्त"; ऊष से ऊषर- (शत० ब्रा०) "लवणयुक्त भूमि"; मुष्क से मुष्कर- (तै० सं०, ब्रा०) "साण्ड"।

युस्[33]—ऊर्णा से ऊर्णायु- (तै० सं०) "ऊन से युक्त"; शम् से शंयु- (सं०)

"कल्याणमय"; अहम् से अहंयुः (ऋ० १,१६७,७) "अहंकारवती"; शुभम् से शुभंयवः प्रथ० व० (ऋ० १०,७८,७)[३४]।

ग्मिन् (पा० ग्मिनि)[३५]—वाच् से वाग्मिन् (प्रायेण वाग्मिन् लिखा जाता है; शत० ब्रा०, ला० श्रौ० सू०) "अच्छा वक्ता"।

१९९. **तुल्यता-वाचक वत् (पा० वति) प्रत्यय**—किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ तुल्यता, सादृश्य इत्यादि को दिखलाने के लिये उस के वाचक शब्द के साथ वत् (पा० वति) प्रत्यय जोड़ा जाता है[३६]; यथा—मनुवत् और मनुष्वत् (ऋ०) "मनु या मनुष्यों की तरह"; अङ्गिरस्वत् (ऋ०, वा० सं०) "अङ्गिरा की तरह"; जमदग्निवत् "जमदग्नि की तरह"; पुराणवत्, पूर्ववत् तथा प्रत्नवत् "जैसे प्राचीनकाल में था"। प्राचीन वैदिकभाषा में अकेले उपसर्ग के साथ धातु के अर्थ में वत् (पा० वति) प्रत्यय का प्रयोग मिलता है[३७]; यथा—उद्+वत् = उद्वत् "ऊंचाई"; नि+वत् = निवत् "नीचाई"।

२००. **अपत्य-वाचक प्रत्यय**—वैदिक भाषा में निम्नलिखित अपत्य-वाचक प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है—

अ (पा० अण्, अञ्)[३८]—भारतः (ऋ० इत्यादि) "भरत का वंशज"; भारद्वाजः (शत० ब्रा० इत्यादि) "भरद्वाज का वंशज"; आर्ष्टिषेणः (ऋ०) "ऋष्टिषेण का पुत्र"।

आयन (पा० फञ्, फक्)[३९]—दाक्षायण- (अ०, वा० सं०) "दक्ष का वंशज"; काण्वायनाः ब० सम्बो० (ऋ०) "कण्व के वंशज"; आमुष्यायण- (अ० इत्यादि) "अमुक का वंशज"।

इ (पा० इञ्)[४०]—आग्निवेशि- "अग्निवेश का वंशज"; पौरुकुत्सि- "पुरुकुत्स का वंशज"; प्रातर्दनि- "प्रतर्दन का वंशज"; प्राह्रादि- (अ०) "प्रह्राद का पुत्र"; सांवरणि- (ऋ०) "संवरण का वंशज"।

ईय (पा० छ)[४१]—स्वस्रीय- (तै० सं० इत्यादि) "बहिन का अपत्य"।

एय (पा० ढक्, ढञ्)[४२]—आदितेय- (ऋ० इत्यादि) "अदिति का पुत्र"; आत्रेय- (शत० ब्रा०) "अत्रि का वंशज"।

षष्ठोऽध्यायः

य (पा० ण्य, यञ्, यत्)[५३]— आदित्य- "अदिति का पुत्र"; साहदेव्य- (ऋ० ४,१५) "सहदेव का पुत्र"; माण्डव्य- (शत० ब्रा०) "मण्डु का वंशज" ।

२०१. सर्वनामों तथा संख्यावाचक शब्दों के साथ तद्धित प्रत्यय—

(क) **सर्वनामों के साथ परिमाण-वाचक प्रत्यय—** (वत्, यत्, अति) परिमाण को प्रकट करने के लिये यद्, तद् तथा एतद् के साथ वत् (पा० वतुप्) प्रत्यय जोड़ा जाता है[५४] और वत् प्रत्यय से पूर्व सर्वनाम को आकार अन्तादेश हो जाता है[५५]; यथा—यावत् "जितना"; तावत् "उतना"; एतावत् "इतना" । किम् तथा इदम् के पश्चात् यत् प्रत्यय जोड़ा जाता है[५६] और प्रत्यय से पूर्व किम् का कि तथा इदम् का इ शेष बचता है[५७]; यथा—कियत् "कितना"; इयत् "इतना" । संख्याविषयक परिमाण के लिये प्रयुक्त होने वाले किम् के साथ अति (पा० डति) प्रत्यय जोड़ा जाता है[५८] और किम् के अन्तिम इम् का लोप हो जाता है; यथा—कति "कितने" । इसी प्रकार यद् से यति "जितने" और तद् से बने तति "उतने" का वैदिक प्रयोग भी उपलब्ध होता है ।

(ख) **सर्वनामों के साथ सादृश्य-वाचक प्रत्यय (वत्)—** प्राचीन वैदिकभाषा में सादृश्य को प्रकट करने के लिये युष्मद् तथा अस्मद् के साथ वत् (पा० वतुप्) प्रत्यय का प्रयोग मिलता है[५९]; यथा—त्वावत्- (ऋ०) "तेरे जैसा"; मावत्- (ऋ०) "मेरे जैसा" । सर्वनामों के साथ दृश् का उपपदसमास (अनु० १८४) बना कर भी सादृश्य को प्रकट किया जाता है[६०]; यथा—एतादृश्- "ऐसा"; तादृश्- "वैसा"; यादृश् "जैसा"; कीदृश्- "कैसा"; ईदृश्- "ऐसा"; तादृश- (ब्रा०) "वैसा"; यादृश- (ब्रा०) 'जैसा'; ईदृश- (ब्रा०) "ऐसा"; ईदृक्ष- (वा० सं०) "ऐसा"; एतादृक्ष- (वा० सं०) "ऐसा" ।

(ग) **अतर (पा० डतरच्) तथा अतम (पा० डतमच्) प्रत्यय—** जब दो में से किसी एक के विषय में निश्चय करना हो तब किम्, यद् तथा तद् के साथ अतर (पा० डतरच्) प्रत्यय जोड़ा जाता है[६१]; और जब बहुतों में से एक के विषय में निश्चय करना हो तब अतम (पा० डतमच्)

प्रत्यय जोड़ा जाता है[५२]; यथा—कतर "दो में से कौन सा"; यतर "दो में से जौन सा"; ततर "दो में से वही"; कतम "वहुतों में से कौन सा"; यतम "वहुतों में से जौन सा"; ततम (ऐ० उप०) "वहुतों में से वही"।

(घ) **प्रकारवाचक प्रत्यय था और थम्**—"प्रकार" अर्थ को प्रकट करने के लिये सर्वनामों के साथ था (पा० थाल्, था) प्रत्यय जोड़ा जाता है और इदम् तथा किम् के साथ थम् (पा० थमु) प्रत्यय जोड़ कर भी शब्द बनाये जाते हैं[५२क]; यथा—तथा "उस प्रकार से"; यथा "जिस प्रकार से"; इत्था (ऋ०) तथा इत्थम् "इस प्रकार से"; कथा तथा कथम् "किस प्रकार से"। "इव" के अर्थ में भी थाल् प्रत्यय कतिपय शब्दों के साथ जुड़ता है[५२ख]; यथा—प्रत्नथा, पूर्वथा "पूर्वकाल की तरह"; विश्वथा "सव की तरह"।

(ङ) **युष्मद् तथा अस्मद् के साथ सम्वन्ध-वाचक प्रत्यय**—साधारण सम्वन्धवाचक प्रत्यय अ (पा० अण्) जोड़ने पर युष्मद् से युष्माक- (ऋ०) "तुम सव का"; तथा तावक- "तुम्हारा" और अस्मद् से अस्माक- (ऋ०) तथा आस्माक- (वा० सं०) "हम सव का" और ममक- (ऋ०) तथा मामक- (ऋ०) "मेरा" तद्धितान्त शब्द वनते हैं[५३]।

(च) **संख्यावाचक शब्दों से वने तद्धितान्त शब्द**—संख्यावाचक शब्दों से वनने वाले तद्धितान्त शब्दों का वर्णन चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है (अनु० १५९-१६२)।

२०२. **विभक्त्यर्थक प्रत्यय**—बहुत से सर्वनामों के पञ्चम्यन्त तथा सप्तम्यन्त रूप के अर्थ को प्रकट करने के लिये उन के साथ तद्धित प्रत्यय जोड़े जाते हैं और इन प्रत्ययों से पूर्व कतिपय सर्वनामों के रूपों में कुछ विकार भी हो जाते हैं। इन विकारों के सम्वन्ध में पाणिनि तथा पाश्चात्य विद्वानों में कुछ मतभेद है। पाणिनि के मतानुसार, विभक्ति-संज्ञक (टि० ५७) प्रत्ययों से पूर्व इदम् का इ (इश्) तथा एतद् का अ (अन्) वनता है परन्तु रेफादि प्रत्यय से पूर्व इन दोनों का एत और थकारादि प्रत्यय से पूर्व इत् वनता है[५४]। दकारादि प्रत्यय से पूर्व सर्व

का विकल्प से स बन जाता है[५५]। तकारादि तथा हकारादि प्रत्यय से पूर्व किम् का कु बन जाता है[५६]। इन प्रत्ययों से पूर्व यद्, तद्, अदस् इत्यादि सर्वनामों का वही अङ्ग प्रयुक्त होता है जो पञ्चमी तथा सप्तमी विभक्ति से पूर्व आता है[५७]। सर्वनामों के अतिरिक्त, अभि, परि अव्ययों के साथ भी तस् प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। इन तद्धित प्रत्ययों के जुड़ने से बनने वाले सभी शब्द अव्ययों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, विभक्तिसंज्ञक (टि० ५७) प्रत्यय पञ्चमी या सप्तमी विभक्ति के स्थान पर आदेश रूप में नहीं आते हैं अपितु पञ्चम्यन्त या सप्तम्यन्त रूप से परे स्वार्थ में आते हैं और इन के जुड़ने पर विभक्ति का लोप (पा० लुक्) हो जाता है (दे० पा० ५, ३, ७ तथा १० पर महाभाष्य)। यद्यपि पाणिनीयव्याकरण-प्रक्रिया के औचित्य के विचार से यह मत न्याय्य है, तथापि वास्तव में यह मानना ही स्वाभाविक है कि प्रातिपदिकों के साथ इन विभक्तियों के अर्थ में ये प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं।

(क) **पञ्चम्यन्त रूप के लिये तस् प्रत्यय**—पञ्चम्यन्त रूप के अर्थ को प्रकट करने के लिये सर्वनामों के साथ तस् (पा० तसिल्) प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है[५८]; यथा—अतः "इस से"; इतः "यहां से"; ततः "उस से"; अमुतः "वहां से"; यतः "जहां से, जिस से"; कुतः "कहां से"। अभि तथा परि के साथ भी इस प्रत्यय का प्रयोग मिलता है[५९]; यथा—अभितः तथा परितः "सब ओर से"। लगभग इसी अर्थ को प्रकट करने के लिये नामों तथा सर्वनामों के साथ उदात्त तस् (पा० तसि) भी जोड़ा जाता है (टि० ५८); यथा—हृत्तः "हृदय से"; मत्तः "मेरे से"; ऋभुतः "ऋभु से"; मुखतः "मुख से"।

(ख) **सप्तम्यन्त रूप के लिये त्र, त्रा तथा ह प्रत्यय**—सप्तम्यन्त रूप के अर्थ को प्रकट करने के लिये सर्वनामों के साथ त्र (पा० त्रल्) प्रत्यय का प्रयोग मिलता है[६०]; यथा—अत्र "यहां"; यत्र "जहां"; तत्र "वहां"; कुत्र "कहां"; अमुत्र "वहां उस दूर स्थान पर"; अन्यत्र "अन्य स्थान पर"; विश्वत्र "सब स्थानों पर"।

कतिपय नामों तथा सर्वनामों के साथ इसी अर्थ में उदात्त **त्रा** प्रत्यय का प्रयोग भी उपलब्ध होता है और पाणिनि के मतानुसार **त्रा** प्रत्यय द्वितीयान्त तथा सप्तम्यन्त रूपों के साथ जोड़ा जाता है[११]; यथा—देवत्रा "देवों में"; मनुष्यत्रा "मनुष्यों में"; पुरुषत्रा "पुरुषों में"; पुरुत्रा "बहुत से स्थानों में"; मर्त्यत्रा 'मनुष्यों में'; शयुत्रा "पलंग पर"; सत्रा "समान स्थान पर"; दक्षिणत्रा "दक्षिण (हाथ) की ओर, दक्षिण में"; अस्मत्रा "हम लोगों में"।

इदम् तथा किम् के साथ इसी अर्थ में ह प्रत्यय भी जोड़ा जाता है[१२]; यथा—इह "यहां पर"; कुह "कहां पर"; विश्व से विश्वह तथा विश्वहा "सदा" शब्द बनते हैं। किम् से **क्व** (कु + अत्) शब्द भी इसी अर्थ में बनता है[१३]।

(ग) **कालवाची सर्वनामों के साथ दा, र्हि इत्यादि प्रत्यय**—जब सर्वनामों का प्रयोग कालविशेष का बोध कराने के लिये किया जाता है, तब उन के सप्तम्यन्त रूप के अर्थ को प्रकट करने के लिये सर्व, किम्, यद्, तद् के साथ दा प्रत्यय जोड़ा जाता है[१४]; यथा—सर्वदा तथा सदा; कदा तथा कदा (ऋ०); यदा; तदा। ऋ० में इदम् से बना इदा "अब" शब्द भी मिलता है[१५]। इसी अर्थ में कतिपय सर्वनामों के साथ दानीम् तथा र्हि (पा० र्हिल्) प्रत्यय भी जोड़े जाते हैं[१६]; यथा—इदानीम् "अब"; तदानीम् "तब"; विश्वदानीम् "सदा"; एतर्हि (तै० सं०, शत० ब्रा०) "अब"; तर्हि (अ० इत्यादि) "तब"; कर्हि (ऋ०) "कब"; यर्हि (तै० सं०, ऐ० ब्रा०) "जब"; अमुर्हि (शत० ब्रा०) "उस समय"।

(घ) **दिक्शब्दों के साथ तस्, तात् तथा आहि प्रत्यय**—दिक्शब्दों के साथ तस् (पा० अतसुच्) तथा तात् (पा० अस्ताति) प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है। पाणिनि के मतानुसार, दिशा, देश और काल को प्रकट करने वाले दिक्शब्दों के प्रथमान्त, पञ्चम्यन्त तथा सप्तम्यन्त रूपों के साथ अस्ताति प्रत्यय स्वार्थ में जोड़ा जाता है और दक्षिण, उत्तर इत्यादि के साथ अतसुच् प्रत्यय का प्रयोग होता है[१७]; यथा—पुरस्तात्

प्राक्तात् (ऋ०) "सामने, पूर्व में, या पूर्व की ओर से"; अधस्तात्, अवस्तात् "नीचे, या नीचे की ओर से"; परस्तात् "दूर, या दूर से"; पश्चातात् (ऋ०) "पीछे, या पीछे की ओर से"; उपरिष्टात् "ऊपर, या ऊपर की ओर से"; उत्तरतः (अ०, वा० सं०) "ऊपर, उत्तर में, या उत्तर की ओर से"; दक्षिणतः "दक्षिण में, या दक्षिण की ओर से"।

दूरी के अर्थ में उत्तर तथा दक्षिण शब्दों के साथ तात् (पा० अस्ताति) के स्थान पर आहि प्रत्यय का प्रयोग होता है[६८]; यथा—उत्तराहि (शत० ब्रा०) "दूर उत्तर में"; दक्षिणाहि "दूर दक्षिण में"।

पाणिनि ने कतिपय पञ्चम्यन्त रूपों को तद्धितान्त अव्यय बनाने के लिये आति प्रत्यय[६९] और तृतीयान्त रूपों को अव्यय बनाने के लिये एनप् तथा आच् प्रत्ययों का विधान किया है[७०]; यथा—उत्तरात्, दक्षिणात्, अधरात् पश्चात्, उत्तरेण, दक्षिणेन, दक्षिणा। इस में सन्देह नहीं कि ये शब्द अव्ययों के रूप में प्रयुक्त होते हैं, परन्तु इस तथ्य का भी अपलाप नहीं किया जा सकता कि ये शब्द मूलतः विभक्त्यन्त थे।

२०३. **समूहवाचक प्रत्यय**—वैदिकभाषा में समूहवाचक प्रत्ययों के कुछ प्रयोग मिलते हैं। कतिपय प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं—

अ (पा० अण्)[७१]—साहस्रम् (तै० ब्रा०) "सहस्रों का समूह"; भैक्षम् (गृ० सू०) "भिक्षाओं का समूह"।

ता (पा० तल्)[७२]—ग्रामता (ऐ० ब्रा०) "ग्रामों का समूह"; जनता (अ०, तै० सं० इत्यादि) "जनों का समूह"।

२०४. **ह्रस्वत्व-वाचक क (पा० कन्) प्रत्यय**—जब किसी वस्तु की ह्रस्वता, अल्पता, अनुकम्पनीयता या ह्रस्वता के विचार से प्रतिकृति (नमूना) प्रकट करना अभिप्रेत हो, तब उस के वाचक शब्द के साथ क (पा० कन्) प्रत्यय जोड़ा जाता है[७३]; यथा—राजका इदन्यके यके (ऋ० ८,२१,१८) "जो दूसरे छोटे-छोटे राजा"; कुमारक- (ऋ०, शत० ब्रा०) "छोटा सा लड़का"; कुमारिका- (अ०) "छोटी सी लड़की"; पादक- (ऋ०) "छोटा सा पांव"; शकुन्तक- (वा० सं०)

"छोटा सा पक्षी"; शकुन्तिका- (ऋ०) "छोटी सी चिड़िया"; पुत्रक- (ऋ० इत्यादि) "छोटा (प्यारा) बेटा"; अश्वकः (वा० सं० २३,१८) "छोटा सा (या निकम्मा) टट्टू"।

२०५. ताति (पा० तातिल्) तथा तात् (?) प्रत्यय—ताति-प्रत्ययान्त रूप प्रायेण ऋ० में मिलते हैं और कतिपय गिने चुने उदाहरण अ० तथा वा० सं० इत्यादि में उपलब्ध होते हैं। ताति-प्रत्यय के अर्थ के विषय में अनेक मत-भेद हैं। अधिकतर पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि ताति प्रत्यय ता (पा० भाववाचक तल् अनु० १९७) प्रत्यय से सम्बद्ध है और यह भी ता की भांति भाव-वाचक है[७५]; यथा—देवताति- "देवत्व"; सर्वताति- "सम्पूर्णता"; अरिष्टताति- "सुरक्षा"; ज्येष्ठ-ताति- "ज्येष्ठता"; अयक्ष्मताति- "नीरोगता"; दक्ष-ताति- "दक्षता (चतुराई)"। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों में भी ताति-प्रत्ययान्त शब्दों के अर्थ के विषय में पूर्ण मतैक्य नहीं है और उन्होंने एक ही शब्द के अनेक अर्थ सुझाये हैं; यथा—मैक्डानल ने Ved. Gr. में सर्वताति- का अर्थ "completeness" (सम्पूर्णता) दिया है, जबकि Ved. Gr. Stu. में इसी शब्द का अर्थ "complete welfare (Lat. salu-tāti-)" (पूर्ण कुशलता) दिया है (टि० ७४)। मोनियर विलियम्स ने "totality" और "completeness" के अतिरिक्त "perfect happiness or prosperity" (पूर्ण आनन्द या समृद्धि) तथा "soundness" (ठोसता) भी इस शब्द के अर्थों में गिनाये हैं (टि० ७४)। इसी प्रकार देवताति- शब्द के भी अनेक अर्थ सुझाये गये हैं (टि० ७४); यथा—"divine service" (देवों की परिचर्या); "the gods collectively" (समस्त देवगण) इत्यादि। इस के अतिरिक्त, मैक्डानल ने यह भी स्वीकार किया है कि शंताति- "good fortune" (सौभाग्य) तथा सत्यताति- "truth" (सत्यता) शब्द विशेषणों के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं और उस रूप में इन का अर्थ क्रमशः "beneficent" (हितकारक) तथा "truthful" (सत्यपूर्ण) है[७५]।

पाणिनि ने ताति (तातिल्) प्रत्यय के चार अर्थ दिखलाये हैं—(१) वह सर्व तथा देव के साथ स्वार्थ में (अर्थात् इन शब्दों के अपने

ही अर्थों में) ताति का प्रयोग मानता है[७६]; (२) शिव, शम् तथा अरिष्ट के साथ करने के अर्थ में[७७]; (३) और भाव के अर्थ में पाणिनि ताति का विधान करता है[७८] यथा—शिवताति- और शंताति-"कल्याण करने वाला, कल्याणत्व"; (४) और ज्येष्ठ (तथा वृक ?) के साथ ताति का प्रयोग प्रशंसा के अर्थ में दिखलाया गया है[७९]।

सायण प्रभृति भाष्यकार भी ताति-प्रत्ययान्त शब्दों के अर्थों का सुनिश्चित समाधान नहीं सुझा सके हैं। देवताति- तथा सर्वताति- इत्यादि कतिपय शब्दों के व्याख्यान में सायण पाणिनि के मतानुसार 'स्वार्थ' में तातिल् प्रत्यय मानता है[८०]; परन्तु अरिष्टताति- तथा शंताति-इत्यादि कतिपय शब्दों के व्याख्यान में कहीं-कहीं पाणिनि के मत के विरुद्ध भी सायण ने इन में स्वार्थिक तातिल् प्रत्यय माना है[८१]। कतिपय स्थलों में सायण ने पाणिनि के मत के सर्वथा अनुकूल अरिष्टताति- तथा शंताति-शब्दों में "करने" के अर्थ में तातिल् प्रत्यय माना है[८२]। कतिपय वैदिक शब्दों के व्याख्यान में सायण, उवट तथा महीधर, पाणिनि के मतानुसार तातिल् प्रत्यय मानने के साथ-साथ, विकल्प से -ताति की व्युत्पत्ति √तन् धातु से भी दिखलाते हैं[८३]। सर्वताति- तथा देवताति- के व्याख्यान में कहीं-कही सायण ने तातिल् प्रत्यय को सर्वथा नहीं माना है और इन में आने वाले -ताति की व्युत्पत्ति केवल √तन् धातु से दिखलाई है और इन शब्दों का अर्थ 'यज्ञ" इत्यादि किया है[८४]। ताति-प्रत्ययान्त शब्दों के उपर्युक्त विभिन्न व्याख्यानों से स्पष्ट है कि भाष्यकारों के समक्ष कोई निश्चित परम्परा नहीं थी और वे अपनी विद्वत्ता के आधार पर आनुमानिक व्याख्यान करते थे।

इस में कोई सन्देह नही है कि कतिपय शब्दों में ताति प्रत्यय ता प्रत्यय (अनु० १९७) की भांति भाव-वाचक है जैसा कि पाणिनि ने भी सीमित रूप में स्वीकार किया है (टि० ७८)। यह भी लगभग निश्चित है कि पाणिनि के व्याख्यानानुसार (टि० ७७) कतिपय शब्दों का ताति प्रत्यय "करने" के अर्थ को प्रकट करता है। ऋ० में आने वाले

देवताति- तथा सुर्वताति- इत्यादि शब्दों के प्रासङ्गिक अर्थ पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि कतिपय स्थलों में ताति प्रत्यय ता प्रत्यय (अनु० २०३) की भांति समूहवाचक भी है।

पाश्चात्य विद्वान् कतिपय शब्दों में तात् प्रत्यय मानते हैं और यह अनुमान लगाते हैं कि सम्भवतः अन्तिम इकार के लोप के कारण तात् प्रत्यय उपर्युक्त ताति का ही संक्षिप्त रूप है[८५]। तात् प्रत्यय से बनने वाले शब्द केवल ऋ० में मिलते हैं और उन के रूप केवल तृ० च० स० ए० में उपलब्ध होते हैं; यथा—देवतात् से तृ० ए० देवताता, च० ए० देवताते; स० ए० देवताति; सुर्वतात् का तृ० ए० सुर्वताता; सत्यतात् का तृ० ए० सत्यताता; वृकतात् का स० ए० वृकताति; और उपरतात् "सामीप्य" का स० ए० उपरताति। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, मुझे तात् प्रत्यय का कोई आधार नहीं सूझा है। सायण अपने ऋग्वेद-भाष्य में अनेक स्थलों पर तात्-प्रत्ययान्त तृ० ए० तथा स० ए० के रूपों को ताति-प्रत्ययान्त मान कर व्याख्यान करता है और कहीं-कहीं -"ताते" तथा -"ताति" इत्यादि की व्युत्पत्ति √तन् से दिखलाता है[८६]। इस में सन्देह नहीं कि तात्-प्रत्ययान्त का तृ० ए० और ताति-प्रत्ययान्त का स० ए० सर्वथा अभिन्न है; यथा—सुर्वताता। इसी प्रकार तात्-प्रत्ययान्त का स० ए० ताति-प्रत्ययान्त के प्रथ० द्विती० ए० नपुं० के समान है; यथा—देवताति।

२०६. **सम्बन्ध-वाचक प्रत्यय**—यद्यपि पाणिनि ने सम्बन्ध-वाचक प्रत्ययों के अर्थों की सूक्ष्मता पर भी प्रकाश डाला है, तथापि हम यहां पर प्रमुख सम्बन्ध-वाचक प्रत्ययों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे और तत्सम्बन्धी वैदिक उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

अ (पा० अण्, अञ्)—मारुत- "मरुत्-सम्बन्धी"; दैव- "देव-सम्बन्धी"; मानव-"मनु (मनुष्य) -सम्बन्धी"; सारस्वत- "सरस्वती-सम्बन्धी"; यामुन- (अ०) "यमुना-सम्बन्धी"; वैश्वदेव- (अ०, वा० सं०) "सब देवों से सम्बद्ध"; त्रैककुद- (अ०) "त्रिककुद् में उत्पन्न"; मानुस-

ही अर्थों में) ताति का प्रयोग मानता है[७६]; (२) शिव, शम् तथा अरिष्ट के साथ करने के अर्थ में[७७]; (३) और भाव के अर्थ में पाणिनि ताति का विधान करता है[७८] यथा—शिवताति- और शंताति-"कल्याण करने वाला, कल्याणत्व"; (४) और ज्येष्ठ (तथा वृक ?) के साथ ताति का प्रयोग प्रशंसा के अर्थ में दिखलाया गया है[७९]।

सायण प्रभृति भाष्यकार भी ताति-प्रत्ययान्त शब्दों के अर्थों का सुनिश्चित समाधान नहीं सुझा सके हैं। देवताति- तथा सर्वताति- इत्यादि कतिपय शब्दों के व्याख्यान में सायण पाणिनि के मतानुसार 'स्वार्थ' में तातिल् प्रत्यय मानता है[८०]; परन्तु अरिष्टताति- तथा शंताति-इत्यादि कतिपय शब्दों के व्याख्यान में कहीं-कहीं पाणिनि के मत के विरुद्ध भी सायण ने इन में स्वार्थिक तातिल् प्रत्यय माना है[८१]। कतिपय स्थलों में सायण ने पाणिनि के मत के सर्वथा अनुकूल अरिष्टताति- तथा शंताति-शब्दों में "करने" के अर्थ में तातिल् प्रत्यय माना है[८२]। कतिपय वैदिक शब्दों के व्याख्यान में सायण, उवट तथा महीधर, पाणिनि के मतानुसार तातिल् प्रत्यय मानने के साथ-साथ, विकल्प से -ताति की व्युत्पत्ति √तन् धातु से भी दिखलाते हैं[८३]। सर्वताति- तथा देवताति- के व्याख्यान में कहीं-कहीं सायण ने तातिल् प्रत्यय को सर्वथा नहीं माना है और इन में आने वाले -ताति की व्युत्पत्ति केवल √तन् धातु से दिखलाई है और इन शब्दों का अर्थ 'यज्ञ" इत्यादि किया है[८४]। ताति-प्रत्ययान्त शब्दों के उपर्युक्त विभिन्न व्याख्यानों से स्पष्ट है कि भाष्यकारों के समक्ष कोई निश्चित परम्परा नहीं थी और वे अपनी विद्वत्ता के आधार पर आनुमानिक व्याख्यान करते थे।

इस में कोई सन्देह नहीं है कि कतिपय शब्दों में ताति प्रत्यय ता प्रत्यय (अनु० १९७) की भांति भाव-वाचक है जैसा कि पाणिनि ने भी सीमित रूप में स्वीकार किया है (टि० ७८)। यह भी लगभग निश्चित है कि पाणिनि के व्याख्यानानुसार (टि० ७७) कतिपय शब्दों का ताति प्रत्यय "करने" के अर्थ को प्रकट करता है। ऋ० में आने वाले

देवताति- तथा सर्वताति- इत्यादि शब्दों के प्रासङ्गिक अर्थ पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि कतिपय स्थलों में ताति प्रत्यय ता प्रत्यय (अनु० २०३) की भांति समूहवाचक भी है।

पाश्चात्य विद्वान् कतिपय शब्दों में तात् प्रत्यय मानते हैं और यह अनुमान लगाते हैं कि सम्भवतः अन्तिम इकार के लोप के कारण तात् प्रत्यय उपर्युक्त ताति का ही संक्षिप्त रूप है[८५]। तात् प्रत्यय से बनने वाले शब्द केवल ऋ० में मिलते हैं और उन के रूप केवल तृ० च० स० ए० में उपलब्ध होते हैं; यथा—देवतात् से तृ० ए० देवताता, च० ए० देवताते; स० ए० देवताति; सर्वतात् का तृ० ए० सर्वताता; सत्यतात् का तृ० ए० सत्यताता; वृकतात् का स० ए० वृकताति; और उपरतात् "सामीप्य" का स० ए० उपरताति। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार, मुझे तात् प्रत्यय का कोई आधार नहीं सूझा है। सायण अपने ऋग्वेद-भाष्य में अनेक स्थलों पर तात्-प्रत्ययान्त तृ० ए० तथा स० ए० के रूपों को ताति-प्रत्ययान्त मान कर व्याख्यान करता है और कहीं-कहीं -"ताते" तथा -"ताति" इत्यादि की व्युत्पत्ति √तन् से दिखलाता है[८६]। इस में सन्देह नहीं कि तात्-प्रत्ययान्त का तृ० ए० और ताति-प्रत्ययान्त का स० ए० सर्वथा अभिन्न है; यथा—सर्वताता। इसी प्रकार तात्-प्रत्ययान्त का स० ए० ताति-प्रत्ययान्त के प्रथ० द्विती० ए० नपुं० के समान है; यथा—देवताति।

२०६. **सम्बन्ध-वाचक प्रत्यय**—यद्यपि पाणिनि ने सम्बन्ध-वाचक प्रत्ययों के अर्थों की सूक्ष्मता पर भी प्रकाश डाला है, तथापि हम यहां पर प्रमुख सम्बन्ध-वाचक प्रत्ययों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे और तत्सम्बन्धी वैदिक उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

अ (पा० अण्, अञ्)—मारुत- "मरुत्-सम्बन्धी"; दैव- "देव-सम्बन्धी"; मानव-"मनु (मनुष्य) -सम्बन्धी"; सारस्वत- "सरस्वती-सम्बन्धी"; यामुन- (अ०) "यमुना-सम्बन्धी"; वैश्वदेव- (अ०, वा० सं०) "सब देवों से सम्बद्ध"; त्रैककुद- (अ०) "त्रिककुद् में उत्पन्न"; मानस-

"मनः सम्बन्धी"; शारद- "शरत्सम्बन्धी"; त्वाष्ट्र- "त्वष्टा से सम्बद्ध"।

इक (पा० ठक्, ठञ्)—वार्षिक- "वर्ष-सम्बन्धी, वर्षा सम्बन्धी, एक वर्ष में किया जाने वाला"; मासिक- "मास-सम्बन्धी, एक मास में किया जाने वाला"; वासन्तिक- "वसन्त-सम्बन्धी"; कैरातिका- (अ०) "किरात-सम्बन्धी"।

इय (पा० घ)—इन्द्रिय- "इन्द्र-सम्बन्धी"; समुद्रिय- "समुद्र-सम्बन्धी"; अभ्रिय- "अभ्र (बादल) से उत्पन्न हुआ"; अश्विय- (ऋ०) "अश्व-सम्बन्धी"; अग्रिय- "अग्रिम"; यज्ञिय- "यज्ञ के योग्य"; ऋत्विय- "उचित ऋतु में होने या करने वाला" (पा० घस् प्रत्यय)।

ईन (पा० ख, खञ्)—अर्वाचीन- तथा अर्वाचीन- "सामने की ओर मुड़ा हुआ"; विश्वजनीन- (अ०, मै० सं०) "सब लोगों का, सब के लिये हितकारी"।

ईय (पा० छ)—गृहमेधीय- "गृह्य-यज्ञ से सम्बद्ध"; आहवनीय- "आहवन (होम) से सम्बद्ध"; पर्वतीय- (अ०) "पर्वत-सम्बन्धी"।

एय (पा० ढ, ढक्, ढञ्)—पौरुषेय- "पुरुष-सम्बन्धी"; सभेय- "सभा के योग्य चतुर"; वास्तेय- (अ०) "वस्ति (अङ्गविशेष) में होने वाला"; वासतेय- (अ०) "वसति (निवास) के योग्य"; आग्नेय- (वा० सं० इत्यादि) "अग्नि-सम्बन्धी"।

म (पा० म)—मध्यम- "मध्य का"; अधम- तथा अधम- "नीचे का"; परम- "दूर का"।

य (पा० य, यञ्, यत्, ण्य)—उषस्य- (वा० सं०) "उषा-सम्बन्धी"; ऋतव्य- (तै० सं० इत्यादि) "ऋतुसम्बन्धी"; वायव्य- (मै० सं०) "वायु-सम्बन्धी"; दैव्य- "देव-सम्बन्धी"; प्राजापत्य- (अ०) "प्रजापति-सम्बन्धी"; अश्व्य- "अश्व-सम्बन्धी"; पित्र्य- "पितृ-सम्बन्धी"; मर्य- "पुरुष-सम्बन्धी, पुरुष के लिये उचित, या पुरुष-सम्बन्धी गुणों वाला"; रथ्य- "रथ-सम्बन्धी", गव्य- "गाय का या गाय-सम्बन्धी"।

टिप्पणियां

१. पा० ७,२,११७-१८—तद्धितेष्वचामादेः। किति च ॥

२. पा० ६,४,१४६—ओर्गुणः ॥

३. पा० ६,१,७९—वान्तो यि प्रत्यये। इस पर वार्तिक—गोर्यूतौ छन्दसि; अध्वपरिमाणे च ॥

४. पा० ६,४,१४८—यस्येति च ॥

५. पा० ७,१,१-२ ॥

६. पा० ७,३,५०-५१ ॥

७. पा० ५,३,५७—द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ॥

७क. पा० ५,३,५५—अतिशायने तमबिष्ठनौ ॥

७ख. पा० ५,३,५८—अजादी गुणवचनादेव ॥

८. पा० ५,३,५९—तुश्छन्दसि ॥

९. Skt. Gr., p. 173; Ved. Gr. Stu., p. 95; Gr. Lg. Ved., pp. 163-64.

१०. पा० ५,३,६०-६४ प्रशस्यस्य श्रः। ज्य च। वृद्धस्य च। अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ। युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् ॥

११. पा० ६,४,१५६—स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः ॥

१२. पा० ६,४,१५७ ॥

१३. पा० ६,४,१५५— टेः ॥

१४. पा० ६,४,१६१-६२—र ऋतो हलादेर्लघोः। विभाषर्जोश्छन्दसि ॥

१५. पा० ६,४,१५८—"बहोर्लोपो भू च बहोः" के अनुसार, बहु का भू बनता है और ईयस् के ई का लोप हो जाता है, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार √भू के साथ यस् प्रत्यय जोड़ा जाता है।

१६. पा० ६,४,१६०—"ज्यादादीयसः" के अनुसार ज्य के पश्चात् ईयस् के ई का आ बनता है, परन्तु पाश्चात्य विद्वान् √ज्या के साथ यस् प्रत्यय मानते हैं।

१७. ऋ० पर सायणभाष्य इत्यादि के अनुसार, इन में से कुछ कृदन्त रूप माने जाते हैं।

१७क. पा० ८,२,१७ (टि० १८) पर वार्तिक "ईद्रथिनः" के अनुसार, रथिन् के अन्त में तर तथा तम से पूर्व ई आदेश हो जाता है। इस पर काशि० कहती है—"रथशब्दादेव वा मत्वर्थीयोऽयमीकारः, छन्दसीवनिपाविति"।

१८. पा० ८,२,१७—नाद् घस्य।

१८क. पा० ५,३,५५ (टि० ७क) पर काशि०—"यदा च प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षो विवक्ष्यते तदातिशायिकान्तादपरः प्रत्ययो भवत्येव"।

१९. पा० ५,१,११९—तस्य भावस्त्वतलौ॥

२०. पा० ५,१,१२२॥

२१. पा० ५,१,१२३-२६,१२८॥

२२. पा० ५,१,१२९-३१॥

२३. पा० ५,१,१२४—गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च॥

२४. पा० ५,२,९४—तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्। इस पर वार्तिक—भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुपादयः॥

२५. पा० ८,२,९-१५ के अनुसार, कतिपय अपवादों को छोड़ कर निम्नलिखित प्रातिपदिकों के साथ जुड़ने वाले मतुप् प्रत्यय के म् का व् (अर्थात् वतुप् प्रत्यय) बन जाता है—(१) जिस प्रातिपदिक के अन्त में या उपधा में मकार वर्ण आए (२) जिस प्रातिपदिक के अन्त में या उपधा में अकार वर्ण आए (३) जिन प्रातिपदिकों के अन्त में वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ वर्णों में से कोई वर्ण आए (४) कतिपय ऐसे प्रातिपदिक जिन के अन्त में इकार, ईकार या रेफ आए (५) कतिपय

संज्ञावाचक शब्दों में तथा उदुन्वत् "समुद" इत्यादि में भी मतुप् का यतुप् बन जाता है।

२६. पा० ५,२,९६-९८ ॥

२७. पा० ५,२,९९-१००.१०५.११७ ॥

२८. पा० ५,२,११२-१४ ॥

२९. पा० ५,२,१०० ॥

३०. पा० ५,२,१०२.११५-११७,१२८-१३७ ॥

३०क. पा० ५,२,१०९ पर वार्तिक ३ (महाभाष्य)—मेधारथाभ्यामिरनिरचौ ॥ दे० काशि० ॥

३०ख. पा० ५,२,१०९ पर वार्तिक २ (महाभाष्य)—छन्दसीवनिपौ च ॥ दे० काशि०; और पा० ५,२,१२२ पर सि० कौ० ॥

३१. पा० ५,२,१०२.१२१-२२ ॥

३२. पा० ५,२,१०७ ॥

३३. पा० ५,२,१२३.१३८.१४० ॥

३४. पा० ५,२,१४० पर काशिका शुभंयु का व्याख्यान "कल्याणवान्" और सि० कौ० "शुभान्वित" करती हैं। परन्तु ऋ० १०,७८,७ पर सायण शुभंयवः का व्याख्यान "कल्याणकामा" और ग्रासमैन तथा मोनियर विलियम्स प्रभृति इस का अर्थ "आभूषण चाहने वाले" करते हैं।

३५. पा० ५,२,१२४—वाचो ग्मिनिः ॥

३६. पा० ५,१,११५-१७—तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः। तत्र तस्येव। तदर्हम् ॥

३७. पा० ५,१,११८—उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे ॥

३८. पा० ४,१,८३-८४.८६.१०४.११२-११८.१७० ॥

३९. पा० ४,१,९८-१०३.११०-१११ ॥

४०. पा० ४,१,९५-९७.१५३.१७३ ॥

४१. पा० ४,१,१४३ ॥

४२. पा० ४,१,११९-१२७.१३५-१३६.

षष्ठोऽध्यायः

४३. पा० ४,१,८५.१०५-१०८.१३७.१५१-१५२.१७२ ॥

४४. पा० ५,२,३९—यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ॥

४५. पा० ६,३,९१—आ सर्वनाम्नः ॥ इस पर वार्तिक—दृक्षे चेति वक्तव्यम् ॥

४६. पा० ५,२,४०—"किमिदंभ्यां वो घः" के अनुसार इन सर्वनामों से परे वतुप् प्रत्यय के व् का घ् अर्थात् इय् बन जाता है।

४७. पा० ६,३,९०—"इदङ्किमोरीश्की" के द्वारा दृश्, दृश तथा वतुप् से पूर्व इदम् का ई और किम् का की बनता है और पा० ६,४,१४८ (टि० ४) के द्वारा अजादि प्रत्यय से पूर्व इन के अन्तिम ईकार का लोप हो जाता है।

४८. पा० ५,२,४१—किमः संख्यापरिमाणे डति च ॥

४९. पा० ५,२,३९ पर वार्तिक- (काशि०)—वतुप्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम् ॥

५०. पा० ३,२,६०—त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च। इस पर वार्तिक (काशि०)—समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्। दृशेः क्सश्च वक्तव्यः॥ इस सूत्र पर काशि०—"तादृगादयो हि रूढिशब्दप्रकारा नैवात्र दर्शनक्रिया विद्यते"। दृश् इत्यादि से पूर्व सर्वनामों के आकारान्त तथा ईकारान्त आदेश के लिये दे० टि० ४५ तथा ४७ ॥

५१. पा० ५,३,९२—किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ॥

५२. पा० ५,३,९३—वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ॥

५२क. पा० ५,३,२३-२६—प्रकारवचने थाल्। इदमस्थमुः। किमश्च। था हेतौ च छन्दसि। दे० टि० ५७ ॥

५२ख. पा० ५,३,१११—प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल् छन्दसि ॥

५३. पा० ४,३,१-३ ॥ ऋ० १,३९,८ के भाष्य में युष्माकोभिः के व्याख्यान में सायण कहता है कि छान्दस रूप होने के कारण आदि अच् की वृद्धि नहीं की गई है। ऋ० के भाष्य में अस्माक- की रूप-रचना पर विचार करते हुए सायण एक स्थल (१,९७,३) पर कहता है— "छान्दसो-

ऽ०प्रत्ययस्य लोपः । संज्ञापूर्वकस्य विधेरनित्यत्वाद् वृद्ध्यभावः" और अन्यत्र (५,१०,६) कहता है— "छान्दसत्वादणो लोपः" ।

५४. पा० ५,३,३-५—इदम इश् । एतेतौ रथोः । एतदोऽन् (सि० कौ० तथा महाभाष्य); परन्तु काशि० में "एतदोऽश्" पाठ मिलता है। पाश्चात्य विद्वान् अ और इ को पृथक् प्रातिपदिक मानते हैं; दे० अनु० १६८।

५५. पा० ५,३,६—सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ॥

५६. पा० ७,२,१०४—कु तिहोः ॥

५७. पा० ५,३,१ पर वार्तिक ४—त्यदादिविषयश्च ॥ इस सूत्र पर काशि०— "तसिलादीनां विभक्तित्वे प्रयोजनं त्यदादिविधयः, इदमो विभक्तिस्वरश्च ॥" पा० ५,३,१ के अनुसार, ५,३,२ से ५,३,२६ तक परिगणित प्रत्यय—तसिल्, त्रल्, ह, दा, दानीम्, र्हि, था, थाल् इत्यादि—विभक्तिसंज्ञक हैं ।

५८. पा० ५,३,७-८—पञ्चम्यास्तसिल् । तसेश्च ॥ 'तसि' प्रत्यय के लिये दे० पा० ५,४,४४-४९ ॥ तसि-प्रत्ययान्त के अन्तिम अक्षर पर उदात्त रहता है, परन्तु तसिल्-प्रत्ययान्त शब्द के प्रत्यय से पूर्ववर्ती अक्षर पर उदात्त रहता है ।

५९. पा० ५,३,९—पर्यभिभ्यां च ॥

६०. पा० ५,३,१०—सप्तम्यास्त्रल् ॥

६१. पा० ५,४,५६—देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् ॥

६२. पा० ५,३,११.१३—इदमो ह । वा ह च च्छन्दसि ॥

६३. पा० ५,३,१२—किमोऽत् ॥ ७,२,१०५—क्वाति ॥

६४. पा० ५,३,१५—सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा ॥

६५. पा० ५,३,२०—तयोर्दार्हिलौ च च्छन्दसि ॥

६६. पा० ५,३,१६.१८.१९.२१—इदमो र्हिल् । दानीं च । तदो दा च । अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ॥ दे० टि० ६५ ॥

६७. पा० ५,३,२७-२९—दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देश-

कालेष्वस्तातिः । दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् । विभाषा परावराभ्याम् ॥ दे० पा० ५,३,३१.३९-४१ ॥

६८. पा० ५,३,३७-३८—आहि च दूरे । उत्तराच्च ॥

६९. पा० ५,३,३४—उत्तराधरदक्षिणादातिः ॥ दे० पा० ५,३,३२-३३—पश्चात् । पश्च पश्चा च छन्दसि ॥

७०. पा० ५,३,३५-३६—एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः । दक्षिणादाच् ॥ दे० Ved. Gr., pp. 428-29; Skt. Gr., pp. 409-10.

७१. पा० ४,२,३८—भिक्षादिभ्योऽण् ॥

७२. पा० ४,२,४३—ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल् ॥

७३. पा० ५,२,८५-८७.९६-९७; ५,२,७५-८२ ॥

७४. Skt. Gr., pp. 476-77; Ved. Gr., p. 138; Ved. Gr. Stu., p. 262; Gr. Lg. Ved., p. 172; उदाहृत शब्दों के अर्थों के लिये दे० SPW., WZR., MWD.

७५. Ved. Gr., p. 138.

७६. पा० ४,४,१४२—सर्वदेवात्तातिल् ॥

७७. पा० ४,४,१४३—शिवशमरिष्टस्य करे ॥ इस पर काशि०— "शिवं करोतीति, शिवतातिः ।"

७८. पा० ४,४,१४४—भावे च ॥

७९. पा० ५,४,४१—वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च छन्दसि । इस पर काशि०— 'प्रशंसायामित्येव । वृकज्येष्ठाभ्यां प्रशंसोपाधिकेऽर्थे वर्तमानाभ्यां यथासंख्यं तिल्तातिलौ प्रत्ययौ भवतश्छन्दसि विषये । रूपपोऽपवादः । वृकतिः । ज्येष्ठतातिः ।" सि० कौ० में भट्टोजिदीक्षित इन दोनों प्रत्ययों का प्रयोग स्वार्थ में मानता है और सि० कौ० के "स्वार्थे" के व्याख्यान में तत्त्वबोधिनी टीका का प्रणेता ज्ञानेन्द्रसरस्वती कहता है— "प्राशस्त्यविशिष्टस्वार्थे इत्यर्थः"। ऋ० २,३४,९ के भाष्य में वृकताति का व्याख्यान करते हुए सायण वृक के साथ भी स्वार्थ में तातिल् प्रत्यय का प्रयोग मानते हुए कहता है— "वृकताति आदाता वृकः । 'वृक आदाने ।' 'वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च छन्दसि' इति स्वार्थिकस्तातिल्प्रत्ययः ।" परन्तु

काशि० तथा सि० कौ० के अनुसार, वृक के साथ ति (तिल्) और ज्येष्ठ के साथ ताति (तातिल्) प्रत्यय का प्रयोग होता है। ऋ० ४, ४१,४ के भाष्य में सायण ने वृकतिः का व्याख्यान "अतिशयेनादाता" किया है। वा० सं० ७,१२ में आने वाले "ज्येष्ठतातिम्" के भाष्य में महीधर तथा उवट भी इस पाणिनीय सूत्र के ताति प्रत्यय का प्रयोग विकल्प से प्रशंसा के अर्थ में मानते हैं; यथा महीधर कहता है— "प्रशस्तो ज्येष्ठो ज्येष्ठेषु प्रशस्तो वा ज्येष्ठतातिः"।

८०. ऋ० १,३४,५; ३,१९,१.२.४ इत्यादि में देवताति- का व्याख्यान। ऋ० ३,५४,११ में सर्वताति- का व्याख्यान। ऋ० ५,६४,१ तथा अ० ६,३९,१ में ज्येष्ठताति- का व्याख्यान।

८१. ऋ० १०,६०,८ में अरिष्टताति- का व्याख्यान। अ० १९,४४,१ में शंताति- का व्याख्यान। द्र० टि० ७७-७८।

८२. ऋ० १०,१३७,४; १०,९७,७ अरिष्टताति- का व्याख्यान। ऋ० ८, १८,७; १,११२,२० में शंताति- का व्याख्यान।

८३. ऋ० ६,१२,२; १०,१००,१ इत्यादि में सर्वताति- का व्याख्यान। ऋ० १०,१११,४ में सत्यताता का व्याख्यान। वा० सं० ७,१२ में ज्येष्ठताति- का व्याख्यान।

८४. ऋ० १,१०६,२; ५,६९,३; ६,१५,१८; १०,७४,३; ९,९६,४; ६,५६, ६, इत्यादि में सर्वताति- का व्याख्यान। ऋ० १,१२८,२; १,५८,१; १,९५,८; ४,६,१.३.९; १.१४१,१०; ९,९६,३; ८,७४,३; १०,८,२; इत्यादि में देवताति- का व्याख्यान।

८५. Skt. Gr., pp. 144. 477; Ved. Gr., p. 138.

८६. ऋ० १०,१११,४ (सत्यताता); १,१५१,५ (उपरताति); २,३४, ९ (वृकताति); ४,२६,३; ७,१८,१९; तथा ७,५७,७ में सर्वताता; ४,४,१४ (सत्यताते); ९,९६,३ तथा ९,९७,१९.२७ में देवताते; १०,८,२ तथा ८,७४,३ में देवताति।

षष्ठोऽध्यायः

INDIA OF VEDIC KALPA SŪTRAS

By

Dr. RAM GOPAL, M.A., Ph.D.

Royal Octavo pp. xvi–504 Cloth bound Rs. 35.00

REVIEWS AND OPINIONS

The Journal Asiatique, Paris (reviewed by Prof. L. Renou): Dr. Ram Gopal's work is precious on account of abundance of facts, well classified and very well interpreted...Each text quoted is accompanied by a precise reference; many translations have been improved; and concordances with the Arthaśāstra and the Smṛitis have been furnished. In brief, it is a work of reference that completes the Vedic Index of Macdonell and Keith which, as we know, rarely went up to Kalpa.

The Journal of American Oriental Society: The book is a storehouse of information on pre-Buddhistic India.

The Hindu, Madras: The book is a mine of information about the conditions of the people of pre-Buddhistic and post-Vedic periods. The author is a deep and erudite research scholar as will be seen from the extensive quotations given by him from published and unpublished books.

Prof. T. Burrow, Oxford University: You have done a very thorough piece of work and I shall find it most useful as a book of reference.

Dr. P. V. Kane, National Professor of Indology: Your documentation is good and notes are exhaustive. As far as it goes, your work is a creditable performance.

Dr. J. Gonda, University of Utrecht (Holland): Your book 'India of Vedic Kalpa Sūtras' is a very learned and useful achievement which in my opinion will prove to be of great value, not only to every student of Veda, but also to students of Indian History, Law, and Sociology. It is a worthy complement to Mr. P. V. Kane's famous History of Dharmaśāstra and a modern continuation of such books as Zimmer's Altindisches Leben. It will be a mine of information for many years...

East and West, Rome (reviewed by Prof. G. Tucci): When the author comes to the contents of the Sūtras, the rituals, the social conditions, the saṃsakāras, the ornaments, the marriage ceremonies, the system of Government, economic life, etc., he fully shows his mastery of the subject, his very extensive information, his acquaintance with the researches of his predecessors, Indians as well as Europeans. Therefore, to my mind, this is a digest of the Sūtras which is likely to be consulted with great profit.